

THE ADYAR LIBRARY SERIES

VOLUME SEVENTY-EIGHT

GENERAL EDITOR

K. KUNJUNNI RAJA

Hon. Director

संगीतरत्नाकर : ३

SAMGĪTARATNĀKARA

OF

ŚĀRṆGADEVA

WITH THE KALĀNIDHI OF KALLINĀTHA
AND THE SUDHĀKARA OF SIMHABHŪPĀLA

Vol. III — Adhyāya-s 5 and 6

EDITED BY

PANDIT S. SUBRAHMANYA SASTRI

REVISED BY

SMT. S. SARADA



CENTENARY-YEAR
1986

THE ADYAR LIBRARY AND RESEARCH CENTRE
MADRAS

© 1986 The Adyar Library and Research Centre
Adyar, Madras 600 020, India

First Edition o 1951
Second Edition 1986

ISBN 0-8356-7342-1

Agents for publication of
The Adyar Library and Research Centre

AMERICAS AND JAPAN
The Theosophical Publishing House,
P.O. Box 270, Wheaton,
Illinois 60189-0270, U.S.A.

AUSTRALIA, NEW ZEALAND, INDONESIA AND FIJI
Quest Book Agency,
The Theosophical Society in Australia,
121 Walker Street,
North Sydney, New South Wales 2060,
Australia.

EUROPE AND THE UNITED KINGDOM
The Theosophical Publishing House Ltd.,
68 Great Russell Street,
London, W.C. 1B 3 BU, England.

INDIA AND OTHER COUNTRIES
The Theosophical Publishing House,
The Theosophical Society,
Adyar, Madras 600 020, India.

PRINTED IN INDIA
The Vasanta Press, The Theosophical Society
Adyar, Madras 600 020

PREFACE

WE have great pleasure in issuing the revised edition of Volume III of the *Samgitaratnākara* containing Books Five and Six dealing with *Tāla* and *Vādyā* respectively. The revision was made by Smt. S. Sarada, granddaughter of the editor, Pandit S. Subrahmanya Sastri. Pandit K. Ramachandra Sarma has prepared the Indexes and detailed contents and helped in the correction of the proofs. This volume has been out of stock for a long time and due to unavoidable circumstances the printing had been delayed. We hope that this edition will be received by the public with the same enthusiasm as in the case of the other volumes.

K. KUNJUNNI RAJA
Hon. Director

विषयानुक्रमः

पुटाङ्काः

| | |
|--------------------------------------|--------|
| (५) तालाध्यायः— | १-३१३ |
| मङ्गलाचरणम् | १-३ |
| तालशब्दव्युत्पत्तिः | ४ |
| तालस्वरूपनिरूपणम् | ४-६ |
| मार्गतालप्रकरणम्— | ७-१६८ |
| तालानां मार्गदेशीत्वेन विभागः— | ६ |
| तत्र मार्गताललक्षणम् | ” |
| क्रियाविशेषकथनम् | ” |
| मात्राणां लक्षणानि | ७-१० |
| मार्गतालस्य विभागः | १०, ११ |
| चञ्चत्पुटचाचपुटयोः लक्षणम् | १२, १३ |
| षट्पितापुत्रकस्य लक्षणम् | १३, १४ |
| तत्र मतान्तरकथनम् | १४, १५ |
| पातकलाविधिः | १६, २० |
| अङ्गुलिनियमः | २०, २१ |
| आवापादिनिःशब्दक्रियाः | २२-२४ |
| तालधारणप्रकारकथनम् | २४-२६ |
| संकीर्णतालनिरूपणम् | २६, २७ |
| परिवर्तदीनां लक्षणम् | २७, २८ |
| लयाश्रिता यतयः | २८-३० |
| तासां लक्षणकथनम् | ३०-३२ |

| | पुटाङ्काः |
|--|-----------|
| प्रहादीनां लक्षणकथनम् | ३२, ३३ |
| मार्गतालस्योपसंहारः | ३४ |
| प्रकरणाख्यं गीतप्रकरणम्— | ३४-१६७ |
| तत्र मद्रकगीतानामुद्देशकथनम् | ३४ |
| तेषां विभागः | ३५, ३६ |
| तत्रैककलमद्रकम् | ३७-४४ |
| द्विकलमद्रकम् | ४४-४६ |
| चतुष्कलमद्रकम् | ४६-५१ |
| मद्रकेषु अङ्गुलिनियमकथनम् | ५१, ५२ |
| अपरान्तकलक्षणम्; तस्य विभागः | ५२ |
| तत्र विशाखिलमतभेदनिरूपणम् | ५३ |
| एककलमपरान्तकम् | ५४-६२ |
| द्विकलमपरान्तकम् | ६२-७० |
| चतुष्कलमपरान्तकम् | ७०-७६ |
| विभागपूर्वकमुल्लोप्यकलक्षणम् | ७६-८० |
| तस्य विभागः | ८० |
| वृत्तस्वरूपनिरूपणम् | ८०, ८१ |
| विशाखिलमतेन विदारीनिरूपणम् | ८१, ८२ |
| वैहायसिनिरूपणम् | ८२-८५ |
| स्थितादीनां लक्षणकथनम् | ८५-८६ |
| उल्लोप्यकानां पातकलायोगकथनम् | ८६-१०२ |
| प्रकरीलक्षणम् | १०२-१०८ |
| ओवेणकलक्षणम् | १०८-१२० |
| रोविन्दकलक्षणम् | १२०-१२६ |
| उत्तरलक्षणम् | १२७-१३० |

| | पुटाङ्काः |
|--|-----------|
| छन्दकस्य लक्षणम् | १३०-१३२ |
| आसारितानामुद्देशकथनम्— | १३२-१६० |
| तेषां भेदकथनम् | १३२ |
| तत्र कनिष्ठासारितम् | १३२, १३३ |
| लयान्तरासारितम् | १३३, १३४ |
| मध्यमासारितम् | १३४, १३५ |
| ज्येष्ठासारितम् | १३५, १३६ |
| आसारितानामुपोहनानि | १३६-१३६ |
| उपोहनेष्वक्षरसंख्यानियमः | १३६-१४२ |
| विभागपूर्वकं कण्डिकावर्धमानस्य लक्षणम् | १४२-१५० |
| आसारिताभासानां लक्षणकथनम् | १५०-१६० |
| पाणिकलक्षणम् | १६०-१६२ |
| ऋङ्गलक्षणम् | १६३-१६५ |
| गाथालक्षणम् | १६५, १६६ |
| सामलक्षणम् | १६६, १६७ |
| मार्गतालप्रकरणस्योपसंहारः | १६८ |
| देशीतालप्रकरणम्— | १६८-१६८ |
| तत्र मङ्गलाचरणम् | १६८ |
| देशीतालानां नाम्नां परिगणनम् | १६६-१७३ |
| तेषां खण्डतालत्वोपपादनम् | १७३-१७५ |
| उद्देशक्रमेण तालानां लघुगुर्वादिलक्षणकथनम् | १७५-१८८ |
| अधिकतालस्य प्रस्तावः | १८६, २०० |
| प्रस्तारलक्षणम् | २००-२०४ |
| प्रस्तारसंख्यानिरूपणम् | २०४-२०६ |
| संख्यानिरूपणप्रयोजनकथनम् | २०६-२१६ |

पुटाङ्काः

| | |
|--|----------|
| नष्टस्य लक्षणम् | २१५-२२५ |
| उद्दिष्टस्य लक्षणम् | २२५-२४० |
| पातालस्य लक्षणम् | २४०-२४४ |
| द्रुतमेरुलक्षणम् | २४४-२५१ |
| लघुमेरुलक्षणम् | २५१-२५६ |
| गुरुमेरुलक्षणम् | २५६-२६० |
| प्लुतमेरुलक्षणम् | २६०-२६५ |
| संयोगमेरुलक्षणम् | २६५-२८४ |
| खण्डप्रस्तारलक्षणम् | २८४-२८८ |
| द्रुतमेरुसमकोष्ठनष्टलक्षणम् | २८८-२९५ |
| द्रुतमेरुविषमकोष्ठनष्टनिरूपणम् | २९५-२९६ |
| द्रुतमेरुवैधः पङ्क्तिविषमकोष्ठनिरूपणम् | २९६-२९८ |
| द्रुतमेरुपरपङ्क्तिनिरूपणम् | २९८-३०० |
| द्रुतमेरुपरपङ्क्त्युद्दिष्टनिरूपणम् | ३०१, ३०२ |
| लघुमेरुवैधः पङ्क्तिनष्टम् | ३०२-३०४ |
| लघुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम् | ३०४-३०६ |
| गुरुमेरुवैधः पङ्क्तिनष्टम् | ३०७, ३०८ |
| गुरुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम् | ३०८-३१० |
| प्लुतमेरुवैधः पङ्क्तिनष्टम् | ३१०, ३११ |
| प्लुतमेरुपरपङ्क्तिनष्टम् | ३११, ३१२ |
| लघुमेरुवैधः पङ्क्तिनष्टम् | ३१३ |
| (६) वाद्याध्यायः— | ३१४-३४८ |
| मङ्गलाचरणम् | ३१४-३१६ |
| पूर्वाध्यायेन सह सङ्गतिकथनम् | ३१६-३१७ |
| ततवाद्यानि— | ३१८-४३० |

पुटाङ्काः

| | |
|---|----------|
| श्रुतिस्वरभेदेन वीणाया द्वैविध्यकथनम् | ३१८ |
| स्वरवीणालक्षणम् | ३१९, ३२० |
| सुषिरावनद्वाद्यानामुद्देशकथनम् | ३२१ |
| तेषां शुष्कादिभेदेन चातुर्विध्यनिरूपणम् | " |
| वाद्यस्येश्वरकर्तृत्वकथनम् | ३२१, ३२२ |
| पदार्थसंग्रहणम् | ३२३, ३२४ |
| एकतन्त्रीवीणालक्षणम् | ३२४-३२६ |
| एकतन्त्रीवीणाप्रशंसा | ३२६, ३३० |
| सारणालक्षणम्— | ३३०-३४० |
| तस्याः चातुर्विध्यनिरूपणम्— | |
| उत्क्षिप्ता, संनिविष्टा, उभ्रयी, कम्पितेति | ३३०, ३३१ |
| वीणावादने करयोर्व्यापाराः, तत्र दक्षिणहस्तव्यापाराः— | |
| घातः, पातः, संलेखः, उल्लेखः, अश्लेखः, उल्लेखावलम्बयोः | |
| मतान्तरकथनम् | ३३२ |
| भ्रमरः, सधितः, छिन्नः नखकर्तरीति | ३३३, ३३४ |
| वामहस्तव्यापारी, स्फुरितः, खलितश्चेति | ३३४ |
| उभयहस्तव्यापाराः— | |
| घोषः, रेफः, बिन्दुः, कर्तरी, अर्धकर्तरी, निष्कोटितः, | |
| स्खलितः, शुकवक्त्रकः, मूर्छना, तलहस्तः, | |
| वर्धचन्द्रः, प्रसारकः, कुहर इति | ३३४-३३७ |
| दशविधवाद्यानां लक्षणकथनम्— | |
| तेषां विभागः—छन्दः, धारा, कैकुटी, कङ्कालम्, | |
| वस्तु, द्रुतम्, गजलीलम्, दण्डकम्, उपरिवाद्यकम्, | |
| पक्षिस्तमिति | ३३८-३४१ |

पुटाङ्काः

| | |
|---|----------|
| बाद्यनिरूपणप्रयोजनपूर्वकमेकतन्त्रीवीणाया | |
| उपसंहारः | ३४१, ३४२ |
| नकुलादिपञ्चवीणालक्षणम्— | ३४३-३८५ |
| तत्र करणलक्षणम्; तस्य भेदाः— | |
| रूपम्, प्रतिकृतम्, प्रतिभेदः, रूपशेषः, ओधः, | |
| प्रतिशृङ्गेति | ३४३, ३४६ |
| धातूनां लक्षणम् | ३४६-३४८ |
| तेषां भेदाः—विस्तरजः, संधातज इति; तत्र | |
| संधातजस्य भेदाः—द्विस्तरः, द्विरधरः, | |
| अधराद्युत्तरान्तकः, उत्तराद्यधरान्तकः, | |
| अनुबन्ध इति | ३४८, ३४९ |
| समवायजस्य भेदाः—त्रिस्तरः, त्रिरधरः, | |
| द्विस्तराद्यधरान्तः, द्विरधरोत्तरान्तः, | |
| उत्तरद्विरधरः, अधराद्विस्तरः, मध्योत्तर- | |
| द्विरधरः अधरमध्यद्विस्तर इति | ३५०-३५३ |
| करणधातुभेदाः—रिभितः, उच्चयः, नीरदितः, | |
| ह्लादः, अनुबन्ध इति | ३५३ |
| आविद्धधातुभेदाः—क्षेपः, प्लुतः, अतिपातः | |
| अतिकीर्णः, अनुबन्ध इति | ३५४-३५६ |
| व्यञ्जनधातुभेदाः—पुष्पम्, कलम्, तलम्, | |
| बिन्दुः, रेफः, अनुस्वनितम्, निष्कोटितम्, | |
| उन्मुष्टम्, अवमुष्टम्, अनुबन्ध इति | ३५६-३५८ |
| धातूनामुपसंहारः | ३५८, ३५९ |
| धात्वाश्रिता वृत्तयः, तासां भेदाः—चित्रा, | |
| वृत्तिः, दक्षिणा चेति | ३५९-३६१ |

पुटाङ्काः

| | |
|--|----------|
| गीतानुगवाद्यनिरूपणम्, तस्य भेदाः— | |
| तत्त्वम्, अनुगतम्, ओघश्चेति | ३६१-३६३ |
| प्रसङ्गाद् वाद्यभेदनिरूपणम्— | ३६४, ३६५ |
| तत्र आश्रवणा, तस्या ध्रुवालक्षणम् | ३६५, ३६६ |
| आश्रवणायां पातकलाविधिः | ३६७-३७० |
| आश्रवणायां मतभेदेन विदारीनिरूपणम् | ३७०, ३७१ |
| आरम्भविधिः, तस्य ध्रुवालक्षणं च | ३७१-३७४ |
| वक्रवपाणिः, तस्य ध्रुवालक्षणं च | ३७५, ३७६ |
| संखोटनालक्षणं, तस्या ध्रुवालक्षणं च | ३७६-३७९ |
| परिघट्टनालक्षणं, तस्या ध्रुवालक्षणं च | ३७९, ३८० |
| मागसांसारितलक्षणम् | ३८१, ३८२ |
| निर्गीतवाद्यलक्षणं, तत्र मतान्तरकथनं च | ३८३, ३८४ |
| आसांसारितव्रितयनिरूपणम् | ३८५ |
| नकुलादिवाद्यानामुपसंहारः | ३८५, ३८६ |
| आलापिनीलक्षणम् | ३८६-३८९ |
| किनर्या लघ्वीबृहतीभेदेन द्वैविध्यकथनम् | ३८९-३९३ |
| देशीप्रसिद्धत्वेन किनर्या त्रैविध्यनिरूपणम्— | |
| तत्र बृहतीकिनरी | ३९३-३९८ |
| मध्यमाकिनरी | ३९८-४०० |
| लघ्वीकिनरी | ४००-४०२ |
| किनर्या केषांचित्प्रसिद्धरागाणां वादनक्रम- | |
| निरूपणम्— | ४०२-४३० |
| तत्र रागाङ्गानि—मध्यामादिः, बङ्गालः, | ४०२-४०४ |
| बङ्गालरागस्य लक्ष्यलक्षणविरोधमुद्भाव्य | |
| तत्परिहारकथनम् | ४०४-४१० |

पुटाङ्काः

| | |
|--|----------|
| भैरवः, वराटी, गुर्जरी, वसन्तः, धन्नासी, देशी, देशाख्येति | ४४१-४१५ |
| भाषाङ्गानि—डोम्बक्री, प्रथममञ्जरी, कामोदेति | ४१६, ४१७ |
| क्रियाङ्गानि—रामकृतिः, गौडकृतिः, देवकृतिरिति | ४१७-४१६ |
| उपाङ्गानि—भैरवी, छायातट्टा, बहुलीरामक्री, मल्हारः, कर्णाटगौडः, तुल्कगौडः, द्राविडगौडः, ललितेति | ४१६-४२४ |
| किनरीवीणाया उपसंहारः | ४२५ |
| पिनाकीलक्षणम् | ४२५-४२७ |
| निःशङ्कवीणालक्षणम् | ४२७-४२६ |
| स्वनाम्नोट्टङ्कितवीणाया हेतुत्वकथनम् | ४२६ |
| वीणावादनप्रशंसापूर्वकं ततवाद्यस्यो- पसंहारः | ४३० |
| मुषिरवाद्यानि— | ४३०-५१७ |
| तत्र वंशलक्षणम् | ४३०-४३२ |
| वंशरन्ध्राणां प्रमाणकथनम् | ४३२-४३३ |
| वंशवाद्यानां भेदाः | ४३३-४३५ |
| अङ्गुलीनां मानकथनम्, मानविषये मतान्तर- पन्यासः | ४३५, ४३६ |
| स्वरोत्पत्तिः, तत्र मतान्तरपन्यासः | ४३६-४४१ |
| तीव्रादिभेदेन नानास्वरोत्पादनकथनम् | ४४२ |
| कीर्तिधरमतोपन्यासः | ४४३ |
| देशीविदां मतेनैकवीरादिवंशानां लक्षणम् | ४४४, ४४५ |

पुटाङ्काः

| | |
|--|----------|
| उपापत्यादीनां वंशानां विस्तरेण दण्डमान- कथनम् | ४४५-४६१ |
| केषाचिद् वंशानां रक्तिमाधुर्याद्यभावप्रसङ्गः | ४६१-४७० |
| स्वाभिमतैकवीरादिवंशस्य दण्डमानकथनम् | ४७०-४७४ |
| वंशेऽपि वीणायामिव धात्वादीनां कर्तव्यत्वा- पदेशः | ४७४, ४७५ |
| वंशवीणाया ध्वने रक्तिप्रशंसनम् | ४७५ |
| फूत्कारगुणाः | ४७६, ४७७ |
| फूत्कारदोषाः | ४७७, ४७८ |
| वांशिकगुणाः | ४७६, ४८० |
| वांशिकदोषाः | ४८०, ४८१ |
| वांशिकबृन्दम् | ४८१ |
| वंशेऽपि किनर्यामिव केषाचिद्वरागाणां वादन- क्रमोपन्यासः | ४८१-५१२ |
| तत्र रागाङ्गानि—मध्मादिः, मालवश्रीः, तोडी, वज्रालः, भैरवः, वराटी, गुर्जरी, वसन्तः, धन्नासी, देशी, देशाख्येति | ४८१-४६४ |
| भाषाङ्गानि—डोम्बक्री, वेलावली, प्रथममञ्जरी, आदिकामोदिका, शुद्धवराटी, शुद्धनट्टेति | ४६४-४६८ |
| क्रियाङ्गानि—रामक्री, गौडक्री, देवक्रीरिति | ४६६-५०१ |
| उपाङ्गानि—भैरवी, छायातट्टा चिन्धमरामक्रीः, नाट्यरामक्रीः, मल्हारः, कर्णाटगौडः, देशवालगौडः, तुल्कगौडः, द्राविडगौड इति | ५०१-५०८ |
| भाषाद्वयम्—कैशिकी, ललिता, (श्रीराग) इति | ५०६, ५१० |
| वंशप्रकरणस्योपसंहारः | ५११, ५१२ |

पुटाङ्काः

| | |
|---|----------|
| पावाविशङ्कान्तानां लक्षणकथनम्— | ५११-५१७ |
| तत्र पावलक्षणम् | ५१२ |
| पाविकालक्षणम् | ५१२, ५१३ |
| मुरलीलक्षणम् | ५१३ |
| मधुकरीलक्षणम् | ५१३, ५१४ |
| काहलालक्षणम् | ५१४ |
| तुण्डिकनीलक्षणम् | ५१४ |
| चुक्कालक्षणम् | ५१४, ५१६ |
| शृङ्गलक्षणम् | ५१६ |
| शङ्खलक्षणम् | ५१६, ५१७ |
| सुषिरवाद्यस्योपसंहारः | ५१७ |
| अवनद्धवाद्यानि— | ५१७-६३४ |
| तत्र मार्गदेशीभेदेन पटहस्य द्वैविध्यनिरूपणम् | ५१७ |
| मार्गपटहस्य लक्षणम् | ५१८-५२० |
| देशीपटहस्य लक्षणम् | ५२० |
| तेषां वर्णक्रमलक्षणम्, पटहलक्षणस्यो- पसंहारश्च | ५२०-५२२ |
| पटहोवाद्भूनां हस्तपाटानां लक्षणम् | ५२३ |
| तत्र सद्योजातपटहलक्षणम् | ५२४-५२६ |
| तस्य मतान्तरोपन्यासः | ५२६-५२८ |
| नागबन्धादीनां हस्तपाटानां स्वरूपकथनम्— | ५२८ |
| तत्र सद्योजातोद्भवहस्तपाटः, तस्य भेदाः— नागबन्धः, पवनः, एकः, एकसरः, दुःसरः संचरः, विक्षेप इति | ५२८, ५२९ |

पुटाङ्काः

| | |
|---|----------|
| वामदेवोद्भवहस्तपाटः, तस्य भेदाः— स्वस्तिकः, वलिकोहलः, फुल्लविक्षेपः, कुण्डलीविक्षेपः, संचारविखली, खण्ड- नागबन्धः, पूरक इति | ५२९ |
| अघोरोद्भवहस्तपाटः, तस्य भेदाः— अलग्नः, उत्सारः, विश्रान्तः, विषमखली, सरी, स्फुरी स्फुरण इति | ५३० |
| तत्पुरुषोद्भवहस्तपाटः, तस्य भेदाः— शुद्धिः, स्वरस्फुरणः, उत्फुल्लः, वलितः, अवघटः, तकारः, माणिक्यवल्लीति | ५३० |
| ईशानोद्भवहस्तपाटः, तस्य भेदाः— समस्खलितः, विकटः, सदृशः, खली, अङ्गखली, अनुच्छन्नः, खुत इति | ५३१, ५३२ |
| नन्दिकेश्वरप्रोक्तहस्तपाटः, तस्य भेदाः— कोणाहतः, संध्रान्तः, विषमः, अर्धसम इति | ५३२, ५३३ |
| उत्फुल्लाद्येकविंशतिहस्तपाटानां विभागः— उत्फुल्लः, खलकः, पाण्यन्तरनिकुट्टकः, दण्डहस्तः, पिण्डहस्तः, युगहस्तः, उर्ध्वहस्तः, स्थूलहस्तः, अर्धघंषाणिः, पार्श्वपाणिः, अर्धपाणिः, कर्तरी, समकर्तरी, विषमकर्तरी, समपाणिः, विषमपाणिः, पाणिहस्तकः, नागबन्धः, अवघटः, स्वस्तिकः, समग्रह इति | ५३३-५३९ |
| प्रायिकहोद्भवहस्तपाटानां विभागः— | ५३९-४४४ |

| | |
|--|----------|
| लोलः, पाण्यन्तरः, निर्घोषः, खण्डकर्तरी, दण्डहस्तः, समनखः, बिन्दुः, यमलहस्तः, रेचितः, भ्रमरः, विबुद्धिलासः, अर्धकर्तरी, अलमनः, रेफः, समपाणिः, परिवृत इति | ५३६-५४४ |
| अपाटाख्यपाटानां लक्षणम्, तस्य भेदाः— | ५४४-५४६ |
| तलप्रहारः, प्रहरः, वलितः, गुरुगुञ्जितः, अर्धसञ्चः, तिसञ्चः, विषमः, अभ्यस्त इति | ५४४-५४६ |
| अलगपाटलक्षणम्; तस्य भेदौ—सञ्चः, विच्छुरित इति | ५४७ |
| चित्रपाटलक्षणम्; तस्य भेदौ—भ्रमरः, कुञ्चित इति | ५४८ |
| पञ्चसञ्चलक्षणम्— | ५४८, ५४९ |
| पटहादिसाधारणवाद्यलक्षणम्, तेषां विभागः— | ५४९-५५६ |
| बोलावणी, चलावणी, उडुवः, कुचुम्बिणी, चारुश्रवणिका, अलमनः, परिश्रवणिका, समप्रहारः, कुडुवचारणा, करचारणा, दण्ड- हस्तः, घनरव इति | ५५१-५५६ |
| बल्ल्यादिप्रायिकहोडुक्कवाद्यलक्षणम्, तेषां विभागः— | ५५६-५६१ |
| वल्लिः, वल्लिपाटः घत्ता, भेदः, झडपणी, अनुश्रवणिका, हस्तः, जोडणी, त्रिगुणा, पञ्चहस्तः, पञ्चपाणिः, पञ्चकर्तरी, चन्द्रकलेति | ५५६-५६१ |
| वाद्यप्रबन्धलक्षणम्, तेषां विभागः— | ५६१-५८८ |

| | |
|--|----------|
| यतिः, ओता, गजरः, रिसोणी, कवितम्, पदम्, मैलापकः, उपशमः उद्ग्राहः, प्रहरणम्, अवसक्तः, छण्डणः, तुडुका, मलपः, मलपाङ्गम्, मलपाटः, छेद इति | ५६१-५८८ |
| रूपकादीनां लक्षणम्, तेषां विभागः— | ५८८-५९३ |
| रूपकम्, अन्तरः, अन्तरपाटः, खोजः, खण्ड- यतिः, खण्डछेदः, अवयतिः, खण्डपाटः, खण्डकः, खण्डहुल्लः, समः, पाटः, ध्रुवकः, अङ्गम्, अङ्गरूपकम्, तालः, वितालः, खलकः, समुदायः, जोडणी, उडवः, उट्टवणी, तलपाटः, तुण्डकः, अङ्गपाटः, पैसार इति | ५८८-५९३ |
| वाद्यप्रबन्धस्योपसंहारः | ५९४ |
| मर्दललक्षणम्— | ५९४-६११ |
| तत्र मतान्तरोपन्यासः | ५९४-५९६ |
| मार्दलिकभेदाः | ६००-६०४ |
| टाकणीलक्षणम् | ६०४, ६०५ |
| एकसरवादः | ६०५, ६०६ |
| वादकलक्षणम् | ६०७, ६०८ |
| मुखरीलक्षणम् | ६०८ |
| प्रतिमुखरीलक्षणम् | ६०९ |
| गीतानुमलक्षणम् | ६०९, ६१० |
| मार्दलिकगुणदोषाः | ६१०, ६११ |
| मार्दालिकबुन्दम् | ६११ |
| हुडुक्कादितुम्बक्यन्तानां वाद्यानां लक्षणकथनम्— | ६११-६३२ |

पुटाङ्काः

| | |
|------------------|----------|
| हुङ्कालक्षणम् | ६११-६१३ |
| करटालक्षणम् | ६१४, ६१५ |
| घटलक्षणम् | ६१५, ६१६ |
| घडसलक्षणम् | ६१६, ६१७ |
| ढवसलक्षणम् | ६१७, ६१८ |
| ढकालक्षणम् | ६१८ |
| कुङ्कालक्षणम् | ६१८ |
| कुडुवालक्षणम् | ६१९ |
| रुञ्जालक्षणम् | ६२०, ६२१ |
| डमरुकलक्षणम् | ६२२, ६२३ |
| डकालक्षणम् | ६२३, ६२३ |
| मण्डिङ्कालक्षणम् | ६२३, ६२४ |
| डक्कुलीलक्षणम् | ६२४, ६२५ |
| सेल्लुलक्षणम् | ६२५, ६२६ |
| शल्लरीलक्षणम् | ६२६, ६२७ |
| वाणलक्षणम् | ६२७ |
| त्रिवलीलक्षणम् | ६२७, ६२८ |
| दुन्दुभिलक्षणम् | ६२८, ६२९ |
| भेरीलक्षणम् | ६२९, ६३० |
| निःसाणलक्षणम् | ६३०, ६३१ |
| तुम्बकीलक्षणम् | ६३१, ६३२ |
| काण्डलक्षणम् | ६३१-६३३ |
| काण्डदोषाः | ६३३ |
| चर्मगणाः | ६३३, ६३४ |
| चर्मदोषाः | ६३४ |

पुटाङ्काः

| | |
|------------------------------|----------|
| अवनद्धवाद्यप्रकरणस्योपसंहारः | ६३५ |
| घनवाद्यलक्षणम्— | ६३५-६४४ |
| तल ताललक्षणम् | ६३५-६३८ |
| कांस्यताललक्षणम् | ६३८, ६३९ |
| घण्टालक्षणम् | ६३९, ६४० |
| क्षुद्रघण्टालक्षणम् | ६४० |
| जयघण्टालक्षणम् | १४०, ६४१ |
| कम्रालक्षणम् | ६४१, ६४२ |
| शुक्तिकालक्षणम् | ६४२, ६४३ |
| पट्टवाद्यलक्षणम् | ६४३, ६४४ |
| घनवाद्यस्योपसंहारः | ६४४ |
| वाद्यगुणदोषाः | ६४४-६४६ |
| वादकगुणदोषाः | ६४६, ६४७ |
| हस्तगुणाः | ६४७, ६४८ |
| श्लोकाध्यानामनुक्रमः | ६४९-७०८ |
| विशेषपदानुक्रमः | ७०९-७४९ |
| उदाहृतप्रमाणवाक्यानामनुक्रमः | ७५०, ७५१ |
| शोधनम् | ७५२ |

ॐ

शिवाभ्यां नमः

श्री-निःशङ्कशार्ङ्गदेव-प्रणीतः

संगीतरत्नाकरः

चतुरकल्लिनाथ-विरचितया कलानिध्याख्यटीकया सिंह-
भूपालविरचितया संगीतसुधाकराख्यटीकया च समेतः

पञ्चमस्तालाध्यायः

नानामार्गैर्लयो यत्र यतीनां स्यात् कलानिधौ ।

तं दक्षिणं शिवं नौमि ¹चित्रं वृत्तिमयं ध्रुवम् ॥ १ ॥

कलानिधिः

प्रबन्धाङ्गत्वेन प्रसक्तं तूर्यत्रयाधिष्ठानभूतं तालं लक्षयि-
ष्यन् तं चात्र विशेषणसाम्यादवगमयन् प्रकरणादाविष्टदेवतां
स्तीति—नानामार्गैरित्यादिना । कलानिधाविति । शिवपक्षे
कलाशब्देन शिवाश्रयाः शक्तय उच्यन्ते । यथोक्तं किरणादिष्वा-
गमेषु—

¹ चित्रवृत्तिमयमिति सुधाकरपाठः.

‘निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।

‘शान्त्यतीतेति संप्रोक्ताः कलाः पञ्चविधा बुधैः ॥’

इति । तथात्याः श्वेतादयोऽपि बह्व्यः कलास्तत्रैवोक्ताः । ताः सर्वाः कला अस्मिन्निधीयन्ते इति शिवः कलानिधिरुक्तः । एवं-विधे यत्र यस्मिन् शिवे । यतीनाम् यमनियमाद्यष्टाङ्गयोग-निरतानां मुमुक्षूणाम् । नानामार्गैः सांख्ययोगादिभिः बहुभिः प्राप्त्युपायैः । लयः अन्तर्भावः, परमात्मना शिवेनैक्यमिति यावत् । स्यात् भवेत् । दक्षिणम् दक्षिणामूर्तिम् । अत्र नामैक-देशेन व्यपदेशो द्रष्टव्यः । यथा भीमसेनो भीम इति, सत्य-भामा भामेति च । पुनः किंविधम्? चित्रम् प्रपञ्चाकारतया नानारूपम् । वृत्तिमयम् सविषयज्ञानानि वृत्तिशब्देनोच्यन्ते, तन्मयं तदाकारम् । ध्रुवम् निरुपाधिकतया नित्यम् । शिवं नौमीति प्राकरणिकत्वेन वाच्योऽर्थः । एतरेव विशेषणैर्गम्यमानो-ऽर्थस्तु—कलानिधौ; अत्र कलाशब्देन वक्ष्यमाणा आवापादयो निःशब्दाः, ध्रुवादयः सशब्दाश्चोच्यन्ते; तासामाश्रयः । यत्र यस्मिन् ताले; यतीनाम् वक्ष्यमाणानां समासोतोवहागो-पुच्छानाम् । नानामार्गैः वक्ष्यमाणैः ध्रुवादिभिः । लयो विश्रान्तिर्भवति । मार्गभेदेन दक्षिणादिव्यपदेशभाजं शिवं मङ्गलं तं तालं स्तोमीति । अनेनात्र समासोक्त्यलंकार उद्भावितो भवति । ‘विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः’ (अलं. सू. ३१) इति हि तस्य लक्षणम् । अत्र स्तुती प्रस्तुतः शिवः; तालोऽप्रस्तुतः ॥ १ ॥

¹ शान्तातीतेति सा प्रोक्ता कला (C).

सुपाकरः

चतुर्थेऽध्याये प्रबन्धलक्षणमुक्तम् । तेषु तालानामुपयोग उक्तः । एलासु मण्डद्वितीयकङ्कालप्रतितालाः, रासकंऽष्टी आराटकी तालाः, शोम्बडे दश ताला इति । तत्र कोऽयं तालः? के तद्विशेषा इत्याकाङ्क्षायां तालान् विवक्षुस्तद्वृत्तिं मङ्गलमाचरति—नानामार्गेरिति । तं शिवं महेशं नौमि स्तोमि । दक्षिणम् दाक्षिण्यवन्तम्, भक्तेषु¹ वत्सलमित्यर्थः । चित्रवृत्तिमयम् चित्रा विचित्रा सृष्टिस्थितिसंहारादिकार्यकारिणी वृत्तिः व्यापारः; तन्मयं तत्प्रचुरम्; प्राचुर्यार्थं मयट् । श्रान्तस्य प्रयत्ने श्चाचुर्यासंभवात् नित्यत्वमेव । ततश्च नित्यप्रयत्नवन्तमित्यर्थः । ध्रुवम् नित्यम् । तं कम्? यत्र यस्मिन् । यतीनाम् नियमवतां संन्यासिनाम्; स्वधर्मनिरतानां गृहस्थानामपि । तथाच—

‘न्यायागदघनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।

श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥’

इति श्रुतेः । नानामार्गैः² स्वस्वधर्मरूपत्वमर्थः । लयः ध्यानविशेषेण प्रवेशो यस्मिन्; निलीनत्वम्, तत्स्वरूपत्वमिति यावत् । कथंभूते? यस्मिन् कलानिधौ कला चन्द्रकला, तस्या निधिराश्रयः तस्मिन् चन्द्रकलाधारिणी-त्यर्थः । अस्मिन्नध्याये तालस्य प्रकृतत्वात् अनेनैव श्लेषश्लोकेन ताल-व्यवस्थास्थापकमार्गान् स्तोति—तम्; दक्षिणं चित्रवृत्तिमयं वातिकं ध्रुवं चेति चतुर्विधं मार्गं नौमि प्रणमामि । शिवम् कल्याणदायकम् । सम्यक् मार्गतालप्रयोगस्य; ‘श्रेयसे व्याहरामहे’ (श्लो. २६ अत्रैव) इत्यादिना वक्तुराकाङ्क्षया श्रेयोहेतुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । यत्र यस्मिन् मार्गे; यतीनां समासोतोयतागोपुच्छानाम् । नानामार्गैः नानाप्रकारैरुपलक्षितः; लयः द्रुतमध्यविलम्बिताख्यो विद्यते यत्र । कलानां तालक्रियाणां निःशब्दाना-मावापादीनाम्, सशब्दानां ध्रुवादीनां निधानमाश्रय इति ॥ १ ॥

¹ वदान्यमित्यर्थः A. ² प्राचुर्यं चात्र प्रयतस्य बहुत्वासंभवाभित्यत्वमेव ।

ततश्च नित्यप्रयत्नत्वमित्यर्थः A.

³ नानामार्गैः शैववैष्णवपाशुपतादिभिः वेदाविरुद्धैः A.

अथ तालः—

तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्धनि स्मृतः ।

गीतं वाद्यं तथा 'नृतं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥

(क०) अधिकारार्थमाह—अथ ताल इति । ताल-
शब्दं व्युत्पादयति—तालस्तलप्रतिष्ठायामित्यादिना । अस्मा-
द्धातोः, 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' (पा. ३. ३. १६) इत्यनुवर्त-
माने, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा. ३. ३. १६)
इत्यनेन सूत्रेणाधिकरणेऽर्थे घञ्प्रत्यये विहिते ताल इति
रूपम् ॥ २ ॥

(सु०) एवं मङ्गलमारचय्य एतस्मिन्नध्यायेऽभिधेयं कथयति—
अथ ताल इति । अथ प्रबन्धनिरूपणानन्तरं तालो निरूप्यते । कोऽयं तालः?
इत्यपेक्षायां तालशब्दव्युत्पत्तिं तावदाह—ताल इति । तल प्रतिष्ठायामि-
तितीति । अस्माद्धातोः अधिकरणकारके घञ्प्रत्यये कृते आदिवृद्धौ ताल
इति रूपम् । तल्यते प्रतिपाद्यते गीतं नृतं वाद्यं च यस्मिन्निति ॥ २ ॥

कालो लघ्वादिमितया क्रियया संमितो मितिम् ।

गीतादेविदधत्तालः स च द्वेधा बुधेः स्मृतः ॥ ३ ॥

मार्गदेशीगतत्वेन तत्राद्यस्य क्रिया द्विधा ।

निःशब्दा शब्दयुक्ता च निःशब्दा तु कलोच्यते ॥ ४ ॥

स्यादावापोऽथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशकः ।

निःशब्देति चतुर्थोक्ता सशब्दापि चतुर्विधा ॥ ५ ॥

ध्रुवः शम्या ततस्तालः संनिपात इतीरिता ।

(क०) तालस्य स्वरूपं निरूपयितुमाह—काल

इत्यादि । लघ्वादिमितयेति । आदिशब्देन द्रुतगुरुप्लुता यथा-
संभवं गृह्यन्ते । अत्र यद्यपि लघ्वपेक्षया द्रुतस्याल्पत्वात् द्रुतादीति
वक्तव्ये लघ्वादीति वचनं मार्गदेशीगतोभयतालसाधारण्यायेति
मन्तव्यम् । अन्यथा मार्गतालो न लक्षितः स्यात् । तत्र द्रुतप्रयोगा-
भावादिति भावः । तैः लघ्वादिभिः मितया संमितया समी-
कृतयेत्यर्थः । क्रिययेति निःशब्दया सशब्दया चेत्यर्थः । गीता-
देरिति, आदिशब्देन वाद्यनृतयोः परिग्रहः । एवंविशिष्टः काल
एव मुख्यस्तालशब्दार्थः । कांस्यनिर्मितो घनवाद्यभेदस्तु ध्वन-
नेनास्याभिव्यञ्जकत्वात् लक्षणया तथा व्यपदिश्यते । तत्राद्य-
स्येति; तत्र तयोर्मध्ये, आद्यस्य मार्गगतस्य^१ ॥ ३-५-॥

(सु०) तालस्य लक्षणमाह—काल इति । गीतादेः मितिं मानं
विदधत् कुर्वन् कालः ताल इत्युच्यते । नन्वनवच्छिन्नस्य कालस्य कथं
तत्परिच्छेदकत्वम्? तत्राह—लघ्वादीति । लघ्वादयो लघुगुरुप्लुत-
द्रुतादयः, तैः मित्ता परिच्छिन्ना या क्रिया वक्ष्यमाणा सशब्दा निःशब्दा
स्वेच्छाकृता वा अनया परिच्छिन्ना, कालस्ताल इत्युच्यते । स तालो
द्विप्रकारः । मार्गतालः, देशीतालश्चेति । तत्र मार्गतालस्य क्रियाद्वैविध्य-
माह—तत्रेति । तत्र तयोः मार्गतालदेशीतालयोर्मध्ये; आद्यस्य
मार्गतालस्य, क्रिया द्विप्रकारा निःशब्दक्रिया सशब्दक्रिया चेति । तत्र
निःशब्दक्रिया कलाशब्देनोच्यते । सा चतुर्विधा; आवापः, निष्क्रामः,
विक्षेपः, प्रवेशक इति । सशब्दक्रिया चतुःप्रकारा—ध्रुवः, शम्या, तालः,
संनिपात इति ॥ ३-५-॥

पातः कला तु सा ज्ञेया तासां लक्ष्माभिदधमहे ॥ ६ ॥

आवापस्तत्र हस्तस्योत्तानस्याङ्गुलिकुञ्चनम् ।

^१ नृत्यं । १ ed.

^१ ख. ड. तालस्य । १ ed. fn.

निष्कामोऽधस्तलस्य स्यादङ्गुलीनां प्रसारणम् ॥ ७ ॥

क्षेपो दक्षिणपार्श्वस्थोत्तानस्य प्रसृताङ्गुलेः ।

विक्षेपोऽधस्तलस्यास्य प्रवेशोऽङ्गुलिकुञ्चनम् ॥ ८ ॥

ध्रुवो हस्तस्य पातः स्याच्छोटिकाशब्दपर्वकः ।

शम्या दक्षिणहस्तस्य तालो वामकरस्य तु ॥ ९ ॥

उभयोः संनिपातः स्यात् तासां मार्गवशान् मितिः ।

मार्गाः स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिकः ॥ १० ॥

दक्षिणश्चेति तत्र स्याद् ध्रुवके मात्रिका कला ।

शेषेषु द्वे चतस्रोऽष्टौ क्रमान् मात्राः कला भवेत् ॥ ११ ॥

(क०) पातः कला तु सा ज्ञेयेति । सा सशब्दक्रिया पातः कलेति संज्ञाद्वयेनोच्यते । निःशब्दक्रिया तु कलासंज्ञयैवोच्यत इति तुशब्दस्यार्थः । मार्गवशान्मिति रिति । मितिः प्रमाणम् । शेषेष्वित्यादि । शेषेषु चित्रवार्तिकदक्षिणेषु क्रमात् द्वे चतस्रोऽष्टौ मात्राः कला भवेदिति । चित्रे द्वे मात्रे कला । वार्तिके चतस्रो मात्राः कला । दक्षिणेऽष्टौ मात्राः कला इति क्रमो द्रष्टव्यः ॥ -६-११ ॥

(सु०) सा सशब्दक्रिया पातशब्देन कलाशब्देन बोध्यते । तुशब्दान्निःशब्दक्रिया कलासंज्ञयैवोच्यत इत्यर्थः । तासां लक्षणं प्रतिज्ञाय कथयति—तासामिति । उत्तानस्य हस्तस्य प्रसृताङ्गुलेरङ्गुलिकुञ्चनम् आवापः । अधस्तलस्यानुत्तानस्याङ्गुलीनां प्रसारणं निष्कामः । अस्यैवोत्तानस्य हस्तस्य विस्तारिताङ्गुलेः दक्षिणपार्श्वे क्षेपः प्रक्षेपो विक्षेप इत्युच्यते । अस्यैव दक्षिणपार्श्वस्थितस्य हस्तस्याधस्तलस्यानुत्तानस्य, अङ्गुलिकुञ्चनम् अङ्गुलीनां संकोचः प्रवेशः । छोटिका अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुलीतलसंयोगेन शब्दोत्पादनम्; तच्छब्दवतो हस्तस्याधोनयनं

ध्रुवः इत्युच्यते । दक्षिणहस्तस्य पातः दक्षिणहस्तेन तालिकोत्पातनं शम्या । वामकरेण तालिकोत्पातनं तालः । उभाभ्यां तालिकोत्पातनं संनिपात इति । तेषामिति । तेषाम् आवापादीनाम् । मार्गविशेषेण मानम् । मार्गाविरूपयति—मार्गा इति । चत्वारो मार्गा भवन्ति । ध्रुवश्चित्रो वार्तिको दक्षिणश्चेति । तत्र ध्रुवमार्गं मात्रा प्रमाणकला । मात्रायाः लक्षणं वक्ष्यति । चित्रे मार्गं द्वे मात्रे कला । वार्तिके चतस्रो मात्राः कला । दक्षिणेऽष्टौ मात्राः कला । इति मार्गविशेषेण मात्राः ॥ -६-११ ॥

ध्रुवका सर्पिणी कृष्णा पद्मिनी च विसर्जिता ।

विक्षिप्ताख्या पताका च मात्रा स्यात् पतिताष्टमी ॥ १२ ॥

सशब्दा^१ तु ध्रुवा ज्ञेया सर्पिणी वामगामिनी ।

^३कृष्णा दक्षिणतो गन्त्री पद्मिनी स्यादधोगता ॥ १३ ॥

विसर्जिता बहिर्याता विक्षिप्ताकुञ्चनात्मिका ।

पताका तूर्ध्वगमनात् पतिता करपातनात् ॥ १४ ॥

ध्रुवपाते प्रयोज्यास्ता नावापादौ कदाचन ।

(क०) अष्टौ मात्राश्चोद्दिश्य लक्षयति— ध्रुवका सर्पिणीत्यादिना ध्रुवपाते प्रयोज्यास्ता इति । ता अष्टौ मात्रा ध्रुवपाते ध्रुवादिपाते, सशब्दक्रियायामित्यर्थः । नावापादौ कदाचनेति । निःशब्दक्रियायां तु न प्रयोक्तव्या एव । नावापादाविति निःशब्दक्रियाया एव निषेधविषयत्वेनोक्तत्वात् । ध्रुवपात इत्यत्र सामर्थ्यादादिशब्दमध्याहृत्य विधिविषयत्वेन सर्वापि सशब्दक्रिया गृह्यत इति मन्तव्यम् ॥ १२-१४-॥

^१ कृष्णा (D).

^२ ख. ग. घ. द्वात्र I ed. fn.

^३ कृष्णा दक्षिणतः पाता (D).

(सु०) क्रियाविशेषान् कथयति—**ध्रुवकेति**। ध्रुवकादयोऽष्टौ मात्रा भवन्ति । **मात्रा इति**। **मात्रा** क्रिया । तासां लक्षणाभ्याह—**सशब्देति** या सशब्दा उच्चार्यते सा **ध्रुवा** । वामप्रदेशगामिनी **सर्पिणी** । दक्षिणप्रदेशगामिनी **कृष्णा** । अधोगता **पद्मिनी** । या बहिर्याता सा दिङ्-नियममन्तरेण शरीररूपवर्तिनी क्रिया **विसर्जिता** । हस्ताकुञ्चनरूपक्रिया **विक्षिप्ता** । ऊर्ध्वगामिनी क्रिया **पताका** । करयोः पातनात् वैकल्प्यना-धोनयनात् **पतिता** । ताः एता मात्राः ; छोटिकाशब्दवती ध्रुवपाते कर्तव्या । आवापादौ न कर्तव्या । एता मात्राः ॥ १२-१४-॥

ध्रुवका पतिता चित्रे वार्तिके त्वादिमे उभे ॥ १५ ॥

अन्ये द्वे च प्रयोक्तव्ये क्रमादष्टौ च दक्षिणे ।

(क०) . 'शेषेषु द्वे चतस्रोऽष्टौ' (श्लो. ११ अत्रैव) इति संख्यानियममात्रपरिणामेन वचनेन संख्येयमात्राणामनियमेन प्रयोगे प्राप्ते तन्नियमार्थमाह—**ध्रुवका पतिता चित्र इत्यादि** । आदिमे उभे ध्रुवकासर्पिणी । अन्ये द्वे च पताकापतिते च । एवं चतस्रो मात्रा वार्तिके मार्गे तु प्रयोक्तव्या इति क्रमोऽप्यत्र नियम्यते । **क्रमादष्टौ च दक्षिण** इत्यत्र तु संख्येयानां क्रम एव नियम्यते । ध्रुवमार्गे तु पारिशेष्यात् ध्रुवसंज्ञः पातः एव प्रयोक्तव्य इत्यवगन्तव्यम् । पारिशेष्यं च ध्रुवव्यतिरिक्तानामेव कलानां, तालेषु प्रयोक्ष्यमाणत्वात् । अन्यथा ध्रुवपातस्य न क्वापि प्रयोगः । अतस्तत्र ध्रुवकैव मात्रा प्रयोक्तव्येत्येवं मन्यमानेन ग्रन्थकारेण, 'ध्रुवके मात्रिका कला' (श्लो. ११ अत्रैव) इति प्रथममुक्तम् । ध्रुवके ध्रुवमार्गे मात्रिका ध्रुवकेत्यर्थः । प्राथम्यात् ध्रुवपातयोग्यत्वाच्चेत्यर्थः । तस्या एवोपादेयत्वात् ॥ १५-॥

(सु०) मार्गविशेषं नियमयति—**ध्रुवकेति**। ध्रुवके पतिते द्वे मात्रे चित्रे मार्गे प्रयोक्तव्ये । वार्तिके मार्गे ध्रुवकासर्पिणीपताकापतिता-

श्चतस्रो मात्राः प्रयोक्तव्याः । दक्षिणे मार्गे ध्रुवकादयोऽष्टौ मात्राः प्रयोक्तव्या इति ॥ -१५-॥

पञ्चलध्वक्षरोच्चारमिता मात्रेह कथ्यते ॥ १६ ॥

अनया मात्रयात्र स्याल्लघुगुर्वादिकल्पना ।

(क०) मात्राशब्देनात्रापि, 'निमेषकालो मात्रा स्यात्' (भाव. पृ. १६५) इति शास्त्रान्तरे प्रसिद्धायां मात्रायां प्राप्तायां तदपवादार्थमाह—**पञ्चलध्वक्षरेत्यादि** । इह मार्गतालविषये, मात्रा तु **पञ्चलध्वक्षरोच्चारमिता** पञ्चानां लध्वक्षराणाम् ; 'कचटतप' इत्येतेषाम् । उच्चारशब्देन उच्चारणकालो गृह्यते । तेन मिता संमिता । तत्कालसदृशकालेत्यर्थः । तथा चोक्तं **भरतमुनिना**, 'निमेषाः पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम्' (नाट्य. ३१. ३) इति । अनया मात्रयात्र लघुगुर्वादिकल्पना स्यादिति । अत्र मार्गतालेषु पञ्चलध्वक्षरोच्चारमितेन कालेन लघुः । दशलध्वक्षरमितेन कालेन गुरुः । आदिशब्देन प्लुतो गृह्यते, तेन पञ्चदशलध्वक्षरोच्चारमितेन कालेन प्लुतः कल्पनीय इत्यर्थः ॥ -१६-॥

(सु०) मात्राया लक्षणमाह—**पञ्चेति** । पञ्चानां लध्वक्षराणामुच्चारणे यावत्कालस्तन्मिता तत्कालव्यापिक्रिया मात्रेत्युच्यते । अनया मात्रया अत्र तालप्रकरणे लघुगुर्वादयः कल्पयितव्याः । एकमात्रो लघुः, मात्राद्वयं गुरुः, मात्रात्रयं प्लुतः, मात्रार्धं द्रुत इति । अनुद्रुतादयोऽपि भेदाः कश्चिदुक्ताः । ते भरतादिप्रयोगेषु, ग्रन्थे चानुक्तत्वात् लक्ष्येज्यप्रसिद्धत्वाच्चोपेक्षिताः । तत्र मतङ्गेन द्वादश ताला उक्ताः । उपतालाश्च । यदाह—

'व्यश्रोऽथ चतुरश्रश्च द्वावेतावादिर्स्थितौ ।

तयोश्चच्चतुष्टौ युग्मस्ततश्चाचपुटः स्मृतः ॥

तौ द्वावन्व्यप्रकारायौ भिद्येते नैकधा बुधैः ।
 चञ्चत्पुटश्चाचपुटः षट्पितापुत्रकस्तथा ॥
 हेला च त्रिगता चैव संपक्वेष्टस्तथैव च ।
 नत्कुटो नत्कुटी चैव खञ्जकः खञ्जिका तथा ॥
 आक्रीडिता विलम्बा च भङ्गा द्वादश कीर्तिताः ।
 कुटिला क्षिप्तिका व्यश्ना चतुरश्वा च मिश्रका ॥
 चटुला चेन्मि संप्रोक्ता उपभङ्गा षडेव हि ।

इति ॥ -१६- ॥

चतुरश्रस्तथा व्यश्न इति तालो द्विधा मतः ॥ १७ ॥

चञ्चत्पुटश्चाचपुट इति नाम्नी तयोः क्रमात् ।

यथाक्षरश्च द्विकलश्चतुष्कल इति त्रिधा ॥ १८ ॥

प्रत्येकं तौ नामगतैर्गलैस्तत्र यथाक्षरः ।

अयमेकलश्चञ्चत्पुटे त्वन्त्यं प्लुतं विदुः ॥ १९ ॥

SSIS इति यथाक्षरश्चञ्चत्पुटः, SIIIS इति यथाक्षरश्चाचपुटः ॥

(क०) तस्य मार्गतालस्य भेदौ दर्शयति—चतुरश्र
 इत्यादिना । नामगतैर्गलैस्तत्र यथाक्षर इति । तत्र तेषु मध्ये ।
 नामगतैः चञ्चत्पुट इति संज्ञां, चाचपुट इति संज्ञां चावयव-
 त्वेन प्राप्तैः । गलैः गुरुभिर्लघुभिश्च । गलैरिति गुरुणां लघूनां
 चाद्यवर्णेन ग्रहणम् । चञ्चत्पुटस्तावत् चकारस्य संयुक्तपरत्वेन
 गुरुत्वात् तालस्याद्यावयवौ गुरु । प्रकारस्यैकमात्रिकत्वेन लघुत्वात्
 तृतीयोज्वयवो लघुः । टकारस्य सविसर्गत्वेन गुरुत्वात् चतुर्थस्य
 गुरुत्वे प्राप्ते; चञ्चत्पुटे त्वन्त्यप्लुतं विदुः इति विशेषवचना-
 च्चतुर्थवियवस्य प्लुतत्वम् । एवमष्टमात्रिकश्च चञ्चत्पुटो यथा-
 क्षर इत्युच्यते । यथाक्षरत्वं च तस्य नामाक्षरानतिक्रमात् । अक्ष-

राणामनतिक्रमो यथाक्षरमित्यव्ययीभावः । यथाक्षरमस्यास्तीति
 मत्वर्थीयेऽकारप्रत्यये कृते यथाक्षर इति भवति । स्वनामगतगुरु-
 लघ्वक्षरानतिक्रम्य स्वरूपगुरुलघुमान् भवतीत्यर्थः । अयमेकल
 इति । अयं यथाक्षर एकल इत्युच्यते । प्रतिपादभागमेकैक-
 कलायुक्त इत्यर्थः ॥ -१७-१९ ॥

(सु०) तत्रैते केवला नोपयोगिन इति मत्वा तानुपेक्ष्य संगीतो-
 पयोगिनस्तावन्मार्गतानि रूपयितुं तालविभागमाह—चतुरश्र इति ।
 तालो द्विप्रकारः । चतुरश्रश्च व्यश्न इति । तत्र चतुरश्रस्य चञ्चत्पुट इति
 नामान्तरम् । व्यश्नस्य च चाचपुट इति । तयोर्भेदानाह—यथाक्षर इति ।
 तौ चञ्चत्पुटश्चाचपुटौ प्रत्येकं त्रिधा । चञ्चत्पुटः, यथाक्षरः द्विकलः
 चतुष्कल इति त्रिप्रकारः । एवं च चाचपुटोऽपि यथाक्षरः द्विकलः चतुष्कल
 इति । तत्र यथाक्षरश्चञ्चत्पुटस्य चाचपुटस्य च लक्षणमाह—नामगतैरिति ।
 नामवर्णेषु वर्तमानैः गुरुलघुभिः यथाक्षरः चञ्चत्पुटो भवति । एवं चाचपुटो-
 ऽप्ययं यथाक्षर इत्युच्यते, एकल इति च । चञ्चत्पुटे त्वन्त्यवर्णस्य
 गुरुत्वेऽपि वचनात् प्लुतः कर्तव्यः । तत्र मृनिवचनमेव प्रमाणयितुम् 'विदुः'
 इत्युक्तवान् । यदाह मतङ्गः—'... प्रगुणीकृत्य लघुप्लुतमथान्तिकम्'
 इति ॥ -१७-१९ ॥

गुरुः कलात्र द्विकलेऽष्टावाद्येऽन्यत्र षट्कलाः ।

SS SS SS SS इति द्विकलश्चञ्चत्पुटः,

SS SS SS इति द्विकलश्चाचपुटः ।

चतुष्कलौ तौ द्विगुणौ

SSSS SSSS SSSS SSSS इति चतुष्कलश्चञ्चत्पुटः ।

SSSS SSSS SSSS इति चतुष्कलश्चाचपुटः ।

द्विकले द्विकलो मतः ॥ २० ॥

पादभागः कलानां तु चतुष्केण चतुष्कले ।

पादभागैश्चतुर्भिस्तेर्मात्रा स्यान्मद्रकादिषु ॥ २१ ॥

(क०) गुरुः कलात्रैति । अत्र एककलद्विकलचतुष्कल-
शब्देषु कलाशब्देन गुरुश्च्यत इत्यर्थः । अन्यत्र मात्रा कला ।
'लघुर्लः स्यात्' इति कलाशब्दस्य लघुपर्यायत्वेनोक्तत्वात् ।
द्विकलेऽष्टावाद्य इति । द्विकल आद्ये द्विकलवत् चच्चत्पुटेऽष्टौ
कला अष्टौ गुरवो भवन्तीत्यर्थः । अन्यत्र द्विकलचाचपुटे षट्कलाः
षड्गुरवो भवन्तीत्यर्थः । तौ चच्चत्पुटचाचपुटौ द्विगुणौ द्विकला-
पेक्षया द्विगुणीकृतौ सन्तौ चतुष्कलावित्युच्येते । अष्टगुरुसंमितो
द्विकलचच्चत्पुटो द्विगुणीकृत्य षोडशगुरुसंमितः संश्चतुष्कलो
भवति । षड्गुरुसंमितो द्विकलचाचपुटो द्विगुणीकृत्य द्वादशगुरु-
संमितः संश्चतुष्कलो भवति । पादभागैरित्यादि । मद्रकादिषु
वक्ष्यमाणेषु गीतकेषु गीतेषु च तैर्द्विकलौकतैश्चतुष्कलौकतैः
चतुर्भिः पादभागैः मात्रा स्यात् । पारिभाषिकी मात्रा भवेत्
॥ २०-२१ ॥

(सु०) द्विकलो चच्चत्पुटचाचपुटौ लक्षयति—गुरुरिति । अत्र
चच्चत्पुटे च द्विकले द्विकलो गुरुः कर्तव्यः । आद्ये चच्चत्पुटे अष्टौ कलाः ।
गुरुद्वयस्य चतस्रः, लघोरैका, प्लुतस्य तिस्रः, एवमष्टौ । अन्यत्र
चाचपुटे षट्कलाः, गुरोर्द्वे, लघुद्वयस्य द्वे, पुनरपि गुरोर्द्वे, एवं षट् । तत-
श्चाष्टौ गुरवो द्विकलश्चच्चत्पुटः । षड्गुरवो द्विकलश्चाचपुटः । चतु-
ष्कलो तौ लक्षयति—चतुष्कलाविति । चच्चत्पुटचाचपुटौ द्विकलद्विगुणौ
चतुष्कलौ भवतः । ततश्च षोडश गुरवः चतुष्कलश्च चच्चत्पुटः । द्वादश-
गुरवः चतुष्कलश्चाचपुटः । द्विकल इति । द्विकले चच्चत्पुटे च कलाद्वयेन
पादभागः । चतुष्कले चतुष्केण पादभागः । ततश्च द्विकलयोरेतयोः
गुरुद्वयेनैकपादः । चतुष्कलयोः गुरुचतुष्केणैव पादः । एवंविधाश्चत्वारः

पादाश्चच्चत्पुटे । त्रयश्च चाचपुटे । अतः एव तयोः क्रमेण चतुरश्रत्वं
व्यश्रत्वं च । पादभागप्रसङ्गेन मद्रकादिगतं विशेषेणाह—पादभागैरिति ।
मद्रकादिषु तैश्चतुर्भिः पादभागैरेका मात्रा । एवं त्रिमात्रापदान्यनुपदमेव
वक्ष्यते ॥ २०-२१ ॥

षट्पितापुत्रकस्यश्रभेदः सोऽपि तथा त्रिधा ।

यथाक्षरे विशेषोऽत्र प्लुतमाद्यन्तयोर्भवेत् ॥ २२ ॥

डे । SS । डे इति यथाक्षरः षट्पितापुत्रकः ।

द्विकले द्वादश कलाः

SS SS SS SS SS SS इति द्विकलः षट्पितापुत्रकः ।

द्विगुणस्तु चतुष्कले ।

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS इति चतुष्कलः षट्पितापुत्रकः ।

उत्तरः पञ्चपाणिश्च तस्य संज्ञाद्वयं परम् ।

उद्धट्टोऽपि व्यश्रभेदः स प्रस्तारे यथाक्षरः ॥ २३ ॥

SSS इति यथाक्षरोद्धट्टः । SS SS SS इति द्विकलोद्धट्टः ।

SSSS SSSS SSSS इति चतुष्कलोद्धट्टः ।

संपक्वेष्टाकोऽपि भेदः षट्पितापुत्रकस्य सः ।

तद्वद्यथाक्षरः कार्यः प्लुतमाद्यन्तयोर्भवेत् ॥ २४ ॥

डे SSS डे इति यथाक्षरः संपक्वेष्टाकः ।

(क०) षट्पितापुत्रक इत्यादि । व्यश्रभेदः चाच-
पुटभेदः ॥ २२-२४ ॥

(सु०) षट्पितापुत्रकं लक्षयति—षट्पितापुत्रक इति । व्यश्रस्य
चाचपुटस्यैव भेदः । षट्पितापुत्रकमाह—सोऽपि । सोऽपि तथा

चाचपुटवत् त्रिधा, यथाक्षरः द्विकलः चतुष्कल इति । तत्र नामगलैः
गुलचुभिः यथाक्षरः । परं तु आद्यन्तयोः गुर्बोः प्लुतत्वम् ; प्लुतः, लघुः,
गुरुद्वयम् ; लघुः प्लुतश्चेति यथाक्षरषट्पितापुत्रकः । तदुक्तं संगीतचूडामणौ
— 'पलगा गलपाक्चैव षट्पितापुत्रके मताः' (पृ. १०) इति । द्विकल
इति । षट्पितापुत्रके द्वादश कलाः । प्लुतद्वयस्य षट् ; गुरुद्वयस्य चतस्रः ;
लघुद्वयस्य द्वे ; एवं द्वादश कलाः । 'गुरुः कलात्र द्विकल' (श्लो. २० अत्रैव)
इत्युक्तेन अन्ये च न गुरवः कर्तव्याः । ततश्च द्विगुरुरिति पादभागैर्युक्तः ।
द्वादशगुरुभिः द्विकलः षट्पितापुत्रकः । द्विगुण इति । चतुष्कले षट्पिता-
पुत्रके द्विकलो द्विगुणः चतुर्विंशतिः कलाः गुरवः कर्तव्याः । ततश्च चतुर्भिः
गुरुभिः षड्भिः पादैर्युक्ताः चतुर्विंशतिगुरवः । चतुष्कलः षट्पितापुत्रकः ।
उत्तर इति । तस्य षट्पितापुत्रकस्य उत्तरः पञ्चपाणिश्चेत्यन्यत्रामद्वयम् ।
उद्धट्टं लक्षयति—उद्धट्टोऽपीति । संपक्वेष्टाकस्तालः षट्पितापुत्रकस्य
व्यश्रभेदः, सः तद्वत्, षट्पितापुत्रको यथाक्षरः, तथा अक्षरगतैः गुरुभिः
कार्यः । परं तु आद्यन्ताक्षरयोः प्लुतत्वम् । तत्र प्लुतः गुरुद्वयः
प्लुतश्चेति यथाक्षरः संपक्वेष्टाकः ॥ २२-२४ ॥

एतौ स्वयोनिवत् स्यातां द्विकलौ च चतुष्कलौ ।

SS SS SS इति द्विकलोद्धट्टः ।

SSSS SSSS SSSS इति चतुष्कलोद्धट्टः ।

SS SS SS SS SS SS इति द्विकलः संपक्वेष्टाकः ।

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS इति चतुष्कलः संपक्वेष्टाकः ।

अन्यद्भेदत्रयं चाचपुटेऽप्यस्ति चतुष्कलात् ॥ २५ ॥

द्विगुणद्विगुणत्वेन षण्णवत्यवधि क्रमात् ।

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS इत्येको भेदः ।

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

SSSS SSSS SSSS SSSS इति द्वितीयो भेदः ।

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

इति तृतीयो भेदः ।

एषां पातकलायोगं श्रेयसे व्याहरामहे ॥ २६ ॥

(क०) एतौ स्वयोनिवदिति । एतौ उद्धट्टसंपक्वेष्टाकौ ।

स्वयोनिवत् उद्धट्टस्य योनिः कारणं चाचपुटः, संपक्वेष्टाकस्य
योनिः कारणं षट्पितापुत्रकः, तद्वदित्यर्थः । चतुष्कलात्
द्विगुणद्विगुणत्वेनेति । चतुष्कलात् द्वादशकलात्मकात् चाचपुटात्
द्विगुणः चतुर्विंशतिकलः प्रथमो भेदः । तस्मात् द्विगुणोऽष्टाचत्वा-
रिंशत्कलो द्वितीयो भेदः । तस्मात् द्विगुणः षण्णवतिकलस्तृतीयो
भेदः । एषामित्यादि । एषां पञ्चानामपि चच्चपुटादीनां
तालानां पातकलायोगम् पाताः सशब्दाः ध्रुवादयः, कलाः निःशब्दा
आवापादयः, ताभिः पातकलाभिः योगः संबन्धः ॥ २५-२६ ॥

(गु०) एताविति । एतौ उद्धट्टसंपक्वेष्टाकौ । स्वयोनिवत् ।

द्विकलचतुष्कलौ च कार्यौ । ततः चाचपुटवत् षड्गुरुः द्विकलोद्धट्टकः ;
द्वादशगुरुः चतुष्कलोद्धट्टकः । षट्पितापुत्रकवत् द्वादशगुरुः द्विकल-
संपक्वेष्टाकश्च ; चतुर्विंशतिगुरुः चतुष्कलः संपक्वेष्टाकः । मतान्तर-
माह—अन्यदिति । चाचपुटे अन्यद् भेदत्रयं विद्यते ; मुनेः भरतस्य
मतात् । तदेव लक्षयति—चतुष्कलादिति । चतुष्कलद्वादशगुरोः चाच-
पुटात् । पुनः पुनः द्वैगुण्येन षण्णवतिपर्यन्तं भेदत्रयं भवति । ततश्चतु-
र्विंशतिगुरुरेको भेदः । अष्टाचत्वारिंशद्गुरुरेकः । षण्णवतिगुरुरेक इति ।
ननु षट्पितापुत्रकात् प्रथमस्यैको भेदः, उच्यते ; चतुष्कले चतुर्गुरुरेव
पादभागः । अत्र पादभागनियमो नास्तीति भेदः । अथवा पातकलायोगेन
भेद इति संदेष्टव्यम् । एतेषां तालानां पातकलायोगफलमाह—

एषामिति । पाताः, सशब्दतालक्रिया ध्रुवादयः; कलाः निःशब्दताल-
क्रिया आवापादयः; ताभ्यां तालेन योगनियमेन संबन्धः; तम् । श्रेयसे
धर्माय कथयामः ॥ २५-२६ ॥

आद्यवर्णैः पातकला निःशङ्कः पर्यभाषत ।

चञ्चत्पुटे त्वेककले संशताशं यथाक्रमम् ॥ २७ ॥

S S । डे

सं श ता श ।

यद्वा शताशता तालः शम्या वा द्विर्भवेदिह ।

S S । डे S S । डे

श ता श ता । ताश ताश ।

आसारितादौ शम्यादिस्तालादिः पाणिकादिषु ॥ २८ ॥

इत्येककलचञ्चत्पुटकलाविधिः ।

(क०) संशताशमिति । द्वन्द्वैकवद्भावः आसारितादा-
विति । आसारितं नाम मद्रकादिष्वेकं गीतम् । पाणिकमपि
तथा ॥ २७-२८ ॥

(मु०) आद्यवर्णैरिति । पातकला आद्यवर्णैरेव ज्ञातव्या इति
निःशङ्कः शाङ्गदेवः पर्यभाषत परिभाषामकार्षीत् । चञ्चत्पुट इति । एक-
कले चञ्चत्पुटे क्रमेण संशताशाः स्युः । संनिपात शम्या ताल शम्या
ज्ञातव्याः । तथा च प्रथमे गुरौ संनिपातः; द्वितीये गुरौ शम्या; लघुनि
तालः; प्लुते शम्या । यथाक्रमम् ध्रुवतासमिति, आनिविप्र इति च ।
ध्रुवशम्यातालसंनिपातानामावापनिष्कामविक्षेपप्रवेशकानि क्रम आद्य-
न्तराणि विनियोजकानि चञ्चत्पुटे इति ज्ञातव्यानि । विकल्पेनान्यथा वा ।
पक्षान्तरं कथयति—यदेति । शताशतेति । प्रथमगुरौ शम्या; द्वितीयगुरौ
तालः; लघुनि शम्या; प्लुते तालः । तालः शम्या वेति । अथवा यथाक्षरे
चञ्चत्पुटे प्रथमगुरौ तालः; द्वितीयगुरौ शम्या; लघुनि तालः; प्लुते
शम्या इत्येककलचञ्चत्पुटकलाविधिः ॥ २७-२८ ॥

अन्यद्भेदद्वयं चाचपुटेऽप्यस्ति मुनेर्मतम् ।

S । S S । S

श ता श ता । ताश ताश ।

इत्येककलचाचपुटकलाविधिः ।

उत्तरे सं ततस्तालः शतालौ द्विरनन्तरम् ॥ २९ ॥

डे । S S । डे

सं ता श ता श ता ।

इत्येककलषट्पितापुत्रककलाविधिः ।

निशौ निताशप्रनिसं द्विकले युग्मके मताः ।

S S S S S S

निश निता शप्र निसं ।

इति द्विकलचञ्चत्पुटकलाविधिः ।

निशौ ताशौ निसमिति ज्ञेयाश्चाचपुटे क्रमात् ॥ ३० ॥

S S S S S

निश ताश निसं ।

इति द्विकलचाचपुटकलाविधिः ।

निप्रताशनितानिशताप्रनिसं तथोत्तरे ।

S S S S S S S S

निप्र ताश निता निश ताप्र निसं ।

इति द्विकलषट्पितापुत्रककलाविधिः ।

(क०) अन्यद्भेदद्वयमिति । शताशतेत्येको भेदः; ताश-
ताशेत्यपरः । द्विकले युग्मक इति । द्विकलचञ्चत्पुटे चञ्चत्पुटस्य
चतुरश्रत्वेन समत्वात् युग्मक इति संज्ञान्तरम् । उत्तरे षट्पिता-
पुत्रके ॥ २९-३० ॥

(सु०) एतेषु चतुष्कलेषु कलाविधिं कथयति—आदाविति । द्विकलः द्विकलसंबन्धी पादभागः चतुष्कले ज्ञातव्यः । आदौ अधिके आवापे क्षिप्ते सति ; अन्तरा मध्ये अधिके विक्षेपे क्षिप्ते सति ; ततश्चतुष्कले चच्चत्पुटे प्रथमगुरौ आवापः ; द्वितीयगुरौ निष्क्रामः ; तृतीये विक्षेपः ; चतुर्थे शम्या ; पञ्चमे आवापः ; षष्ठे निष्क्रामः ; सप्तमे विक्षेपः ; अष्टमे तालः ; नवमे आवापः ; दशमे शम्या ; एकादशे विक्षेपः ; द्वादशे प्रवेशकः ; त्रयोदशे आवापः ; चतुर्दशे निष्क्रामः ; पञ्चदशे विक्षेपः ; षोडशे संनिपात इति चतुष्कलचच्चत्पुटकलाविधिः । चतुष्कले चाचपुटे तु—प्रथमगुरौ आवापः ; द्वितीयगुरौ निष्क्रामः ; तृतीये विक्षेपः ; चतुर्थे शम्या ; पञ्चमे आवापः ; षष्ठे तालः ; सप्तमे विक्षेपः ; अष्टमे शम्या ; नवमे आवापः ; दशमे निष्क्रामः ; एकादशे विक्षेपः ; द्वादशे संनिपात इति चतुष्कलचाचपुटकलाविधिः । चतुष्कले षट्पितापुत्रके चतुर्विंशतिसंख्याकेषु गुरुषु प्रथममारभ्य क्रमेण आवापनिष्क्रामविक्षेपप्रवेश, आवापतालविक्षेपशम्या, आवापनिष्क्रामविक्षेपताल, आवापनिष्क्रामविक्षेप-शम्या, आवापतालविक्षेपप्रवेश, आवापनिष्क्रामविक्षेपसंनिपात इति । कर्तव्यः ॥ -३१- ॥

प्रथमे पादभागे स्यात् कलाङ्गुल्या कनिष्ठया ॥ ३२ ॥

तथा चानामयान्यत्र ताभ्यां मध्यमया तथा ।

तृतीये स्याच्चतसृभिस्तुर्ये चच्चत्पुटस्य तु ॥ ३३ ॥

ओजस्य पादभागेषु कला मध्याङ्गुलीं विना

पञ्चपाणेः कनिष्ठादिचतुष्केण कनिष्ठया ॥ ३४ ॥

तर्जनीया च पृथक्पादभागषट्के क्रमात् कलाः ।

(क०) पादभागभेदपरिज्ञानार्थमङ्गुलीनियममाह—

प्रथमे पादभागे स्यादित्यादिना । अन्यत्रेति । द्वितीये पादभागे ।

ओजस्येति । चाचपुटस्य व्यश्रत्वेन विषमत्वात् ओज इत्युच्यते ।

तस्य पादभागेषु त्रिषु मध्याङ्गुलीं विना कला स्यात् । चाचपुटस्य प्रथमादिषु त्रिषु पादभागेषु कनिष्ठानामिकातर्जनीभिः क्रमेण कला कार्येत्यर्थः ॥ -३२-३४- ॥

(सु०) चच्चत्पुटे पादभागे अङ्गुलिनियममाह—प्रथमेति । चच्चत्पुटस्य प्रथमे पादभागे एकया कनिष्ठिकया अङ्गुल्या कला निःशब्दक्रिया धारयितव्या । द्वितीये पादभागे तया कनिष्ठिकया अनामिकया च मिलिताभ्यां कलाधारणम् । तृतीये पादभागे कनिष्ठिकानामिकामध्यमाभिः कलाधारणम् । चतुर्थे पादभागे चतसृभिरङ्गुलीभिः । ओजस्येति । ओजस्य चाचपुटस्य त्रिषु पादभागेषु मध्याङ्गुलिं विना कलाधारणम् । प्रथमे पादभागे कनिष्ठया ; द्वितीये कनिष्ठानामिकाभ्याम् ; तृतीये कनिष्ठानामिकातर्जनीभिः । षट्पितापुत्रकस्याङ्गुलिनियममाह—पञ्चपाणेरेति । कनिष्ठादिचतुष्केण पूर्वोक्तप्रकारेण कनिष्ठया तर्जनीया च पृथक्पादभागेषु कला धारयितव्या । प्रथमे पादभागे कनिष्ठया ; द्वितीये कनिष्ठिकानामिकाभ्याम् ; तृतीये कनिष्ठिकानामिकामध्यमाभिः ; चतुर्थे चतसृभिः ; पञ्चमे कनिष्ठया ; षष्ठे तर्जनीयेति ॥ -३२-३४- ॥

आवापादिः प्रयोक्तव्यो^१ भाविपातस्य पाणिना ॥ ३५ ॥

पातयुक्ते पादभागे नाङ्गुल्या क्रियते कला ।

उद्धट्टे तु सनिष्क्रामं शम्याद्वन्द्वं च योजयेत् ॥ ३६ ॥

^{S S S}
^२निशश

इत्येककलोद्धट्टकलाविधिः ।

(क०) भाविपातस्य पाणिनेति । भावी चासौ पातः शम्यादिः ; तस्य भाविपातस्येति संबन्धे षष्ठी । तत्संबन्धेन

^१ भाविपातस्व° (D).

^२ S S S
निशश (D).

पाणिना दक्षिणादिना, शम्याया दक्षिणेन, तालस्य वामेन, संनिपातस्य वामदक्षिणेनेत्यर्थः । तेन पाणिना पूर्वमावापादिः प्रयोक्तव्यः । पातयुक्त इति । शम्यादियुक्ते । अङ्गुल्या कला न क्रियत इति । अङ्गुलीपातमात्रेण क्रियायाः सशब्दत्वानभिव्यक्तेरिति निषेधस्य तात्पर्यम् । तत्र सकलेन पाणिना पातः कर्तव्य इति भावः ॥ -३५-३६ ॥

(सु०) आवापादिनिःशब्दक्रियाविशेषा एवाङ्गुलिनियमेन ^१कर्तव्या इत्यत आह-आवापादिरिति । पातः सशब्दक्रियाविशेषः । पाणिना सर्वेणैव करेण कर्तव्यः । ततश्च यस्मिन् पादभागे सशब्दक्रिया विद्यते, तत्र अङ्गुल्या क्रिया न कर्तव्येति । उद्धट्टकलाविधिं कथयति-उद्धट्टेति । प्रथमे गुरो निष्क्रामः । अन्ते गुरुये शम्येति ॥ -३५-३६ ॥

संपक्ववेष्टाकस्य कलाः षट्पितापुत्रकोदिताः ।

संनिपातस्तु नास्त्यत्र योनिवद् द्विकलादिके ॥ ३७ ॥

ॐ S S S S ॐ
ता श ता श ता

इत्येककलसंपक्ववेष्टाककलाविधिः ।

भेदद्वयेऽस्योद्धट्टाख्यतालस्य च कलाविधिः ।

S S S S S
निश ताश निश

इति द्विकलोद्धट्टकलाविधिः । [द्विकलचाचपुटवत्]

S S S S S S S S S S
आनिविश आताविश आनिविश

इति चतुष्कलोद्धट्टकलाविधिः । [चतुष्कलचाचपुटवत्]

S S S S S S S S S S
निश ताश निश ताश निश

इति द्विकलसंपक्ववेष्टाककलाविधिः । [द्विकलषट्पितापुत्रकवत्]

S S S S S S S S S S
आनिविश आताविश आनिविश

S S S S S S S S S S
आनिविश आताविश आनिविश

इति चतुष्कलसंपक्ववेष्टाककलाविधिः [चतुष्कलषट्पितापुत्रकवत्]

(क०) योनिवत् द्विकलादिक इत्यादि । अस्येति ।

संनिहितस्य संपक्ववेष्टाकस्य उद्धट्टाख्यतालस्य च द्विकलादिके भेद-द्वये द्विकलचतुष्कलयोरित्यर्थः । कलाविधिः कलानां निःशब्दानां सशब्दानां च विधिः विधानम्, योनिवत् । संपक्ववेष्टाकस्य योनिः कारणं षट्पितापुत्रकः । उद्धट्टस्य योनिः कारणं चाचपुटः । द्विकलचतुष्कलयोः तयोः गुरुषु पूर्व यः पातकलायोग उक्तः, स एवानयोरपि कर्तव्य इत्यतिदेशार्थः । ननु चैककलादिषु तालभेदेषु शम्यादिपातत्रयस्यैव योगो दर्शितः । ध्रुवपातस्य तु योगो न क्वचिदपि दर्शितः अतस्तद्देशलक्षणे निरर्थकं स्यातामिति चेत्, न; तस्य ध्रुवमार्गे प्रयोज्यत्वेन सार्थकत्वात् । तथाहि-एकमात्रिककलासंमितस्य ध्रुवमार्गस्य चित्रादिमार्गेष्वनुस्यूतत्वेन यदा गाता गीतादिकं ध्रुवमार्गेण योजयितुमिच्छति, तदा ध्रुवपातः प्रयोक्तव्य इति मन्तव्यम् । अतस्तयोः पातमार्गयोः कूटस्थत्वेन सकलतालानपायात् नित्यतया ध्रुवत्वमवगन्तव्यम् । अत एव पृथक्प्रयोगोऽपि न दर्शितः । दर्शयिष्यते चोपोहनेषु ध्रुवपातस्य प्रयोगः । मतान्तरोक्ते ध्रुवासारिते यथाक्षरासारिते

च ध्रुवमार्गस्यापि प्रयोगश्च; अतः तदुद्देशलक्षणयोः आनर्थक्यं नाशङ्कनीयम् ॥ ३७- ॥

(मु०) संपक्वेष्टाकस्येति । षट्पितापुत्रके उक्ताः कलाः संपक्वेष्टाके ज्ञातव्याः । केवलमस्य संनिपातो नास्ति । योनिवदिति । अस्य संपक्वेष्टाकस्य उद्भट्टस्य च द्विकले चतुष्कले च भेदद्वये योनिवत् स्वकारणवत् कलाविधिः । द्विकले चतुष्कले चोद्भट्टे द्विकलचतुष्कलचाचपुटवत् कलाविधिः । द्विकले चतुष्कले च संपक्वेष्टाके द्विकलचतुष्कलषट्पितापुत्रकवत् कलाविधिरिति ॥ ३७- ॥

गान्धर्वमार्गकुशलः कांस्यतालधरोऽपरः ॥ ३८ ॥

गातुः सहायः कर्तव्यः प्रमादविनिवृत्तये ।

(क०) गान्धर्व इत्यादि । वक्ष्यमाणानि मद्रकादीनि चतुर्दश गीतानि प्रागुक्ताः ।^१षड्ज्यादिजातयो ग्रामरागादयश्च षड्विधा रागा गान्धर्वशब्देनोच्यन्ते । तस्मिन्, गान्धर्वे मार्गे कुशलः, चित्रादिमार्गेषु कुशलः, कांस्यतालधरः अपरः गातुः सहायः इत्यनेनापरस्यापि गातृत्वं प्रतीयते । तत्सहायकरणे प्रयोजनमाह—प्रमादविनिवृत्तये इति । अयमर्थः—गान्धर्वस्यात्यन्तनियतत्वेनादृष्टफलसाधनत्वात्, गान्धर्वप्रयोगे मुख्यो गाता अङ्गुलीनियमादिकं कुर्वन् गायेत । द्वितीयो गाता कांस्यतालधरः सन् यथा प्रमादो न जायेत तथा मुख्यगातुः साहाय्यकं कुर्यादिति । अन्यथा प्रमादे सति न केवलमदृष्टफलाभावः, किं तु प्रत्यवायोऽपि भवतीति भावः ॥ -३८- ॥

(मु०) एवं मार्गतालस्वरूपं कलाविधिं च कथयित्वा तालधारणप्रकारं प्रतिज्ञाय कथयति—गान्धर्व इति । गान्धर्वं शुद्धगानमार्गज्ञः

^१ षड्जादि (C).

कश्चन कांस्यघटिततालधारी च गायकस्य सहायभूतः कर्तव्यः, गानव्यग्रतया तालस्थलनप्रमादनिवृत्त्यर्थम् ॥ -३८- ॥

युग्मस्य ये त्रयो भेदाः 'षड् वायुगमस्य कीर्तिताः ॥ ३९ ॥

तेषामन्योन्यसंसर्गात् संकीर्णा बहवो मताः ।

अन्ये पञ्चैव संकीर्णान् गान्धर्वेऽभिदधुर्बुधाः ॥ ४० ॥

पञ्च सप्त नवापि स्युर्दशकादश तत्कलाः ।

तालाश्चत्वार इत्यन्ये चतुर्दशकलादिकाः ॥ ४१ ॥

चच्चत्पुटादिभेदास्तु सन्ति खण्डाभिधाः परे ।

देशीतालप्रपञ्चेन तानपि व्याहरामहे ॥ ४२ ॥

(क०) युग्मस्येत्यादि । युग्मस्य चच्चत्पुटस्य ये त्रयो

भेदाः एकलद्विकलचतुष्कलाख्याः । अयुग्मस्य चाचपुटस्य षड्भेदा एकलद्विकलचतुष्कलास्त्रयः, ततोऽपि द्विगुणगुणास्त्रयश्च । तेषामिति । पूर्वोक्तानां नवानां भेदानाम् । तत्कला इति । तेषां संकीर्णानां कला गुरुभाः । चतुर्दशकलादिका इति । चतुर्दशगुर्वात्मक एको भेदः । पञ्चदशगुर्वात्मको द्वितीयः । षोडशगुर्वात्मकस्तृतीयः । सप्तदशगुर्वात्मकश्चतुर्थः । एवं चत्वारः संकीर्णका इत्यन्ये वदन्ति । चच्चत्पुटादिभेदास्तिवति । आदिपदेन चाचपुटादयो गृह्यन्ते । तेषां भेदाः; आदौ चच्चत्पुटादेः स्वरूपं लिखित्वा तदधस्तात्, 'न्यस्याल्यमाद्यान्महतः' इत्यादिना (श्लो. ३९६ अत्रैव) वक्ष्यमाणेन प्रकारेण प्रस्तारे कृते सति ये भेदा उत्पद्यन्ते ते खण्डाभिधाः खण्डतालसंज्ञाः । देशीतालप्रपञ्चेनेति । देशीतालभेदविस्तरेण । तानपीति । तेषु कांश्चिदित्यर्थः ।

^१ षड्युग्मस्य (D).

व्याहरामह इति । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पा. ३. ३. १३१) इति लट्; प्रयोगः । 'अस्मदो द्वयोश्च' (पा. १. २. ५६) इति बहुवचनप्रयोगश्च । एवं सकलास्तालाः चतुरश्रव्यश्रसंकीर्णखण्डभेदेन चतुर्विधा उक्ताः । मिश्रत्वेनान्यो भेदो मुनिना अभिहितः । यथा—

‘अस्यापि मिश्रभावाच्च मिश्रस्तालः प्रकीर्तितः’ ।

(नाट्य. ३१. १७)

‘षट्पितापुत्रकश्चैव पञ्चपाणिः स चेप्यते’ ।

(नाट्य. ३१. २८)

इति;

‘तालो हि मिश्रभेदोऽन्यः संपक्वेष्टाक^१संज्ञितः’ ।

(नाट्य. ३१. २१)

इति च । तन्मते षट्पितापुत्रकसंपक्वेष्टाकौ मिश्रौ । अतस्तद्भेदा मिश्रत्वेनावगन्तव्याः । ग्रन्थकारेण तु तन्मतानुसारिणा तावपि व्यश्रभेदत्वेनोक्तौ । अतोऽनेन चातुर्विध्यमेव दर्शितम् ॥ -३६-४२ ॥

(सु०) संकीर्णास्तालान् निरूपयति—युग्मस्येति । युग्मस्य चच्चत्पुटस्य ये द्वयो भेदाः, एककलो द्विकलश्चतुष्कल इति । अयुग्मस्य चाचपुटस्य षट्; एककलो द्विकलश्चतुष्कल इति त्रयः; मुनिना मतज्ञेन च त्रयः प्रोक्ताः; चतुर्विंशतिगुरुः; अष्टाचत्वारिंशद्गुरुः; षण्णवतिः गुरुश्चेति; एवं षट् । तेषां नवानां भेदानामन्योन्यसंकरवशेन संकीर्णा बहवो मताः । तदुक्तं भरतेन—

^१ अनयोमिश्रभावं तु.

^२ षट्पितापुत्रककृतः पञ्चपाणिश्चाहुतः.

^३ तालादित्यश्रभेदोऽन्यः तालादि(D).

^४ संगतः(D).

‘तालो घन इति प्रोक्तः कलापातलयान्वितः ।
कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयं तालयोक्तुभिः ॥’

(नाट्य. ३१. १)

इति । मतान्तरमाह—अन्य इति । गान्धर्वे मार्गे गीते पञ्चैव संकीर्णास्ताला इति । तानेव लक्षयति—पञ्चेति । एकः पञ्चकलः; एकः सप्तकलः; एको नवकलः; एको दशकलः; एक एकादशकलश्चेति । केचिच्चत्वारस्ताला इत्याहुः । तान् लक्षयति—ताला इति । एकश्चतुर्दशकलः; अन्यः पञ्चदशकलः; षोडशकलः; सप्तदशकलश्चेति । चच्चत्पुटादिभेदास्त्विति । चच्चत्पुटादीनां पूर्वोक्तानां नवानां खण्डाख्या भेदाः सन्ति; तान् देशीतालेषु वक्ष्यामः । प्रपञ्चेन, विस्तरेणेति ॥ -३६-४२ ॥

आवृत्तिः पादभागादेः परिवर्तनमिष्यते ।

विश्रान्तियुक्तया काले क्रियया मानमिष्यते ॥ ४३ ॥

(क०) अथ तालानां परिवर्तादीन् लक्षयति—आवृत्तिरित्यादि । पादभागादेः इत्यादिशब्देनावयवी तालो गृह्यते । तस्य आवृत्तिः अभ्यासः, पुनः पुनः करणमिति यावत् । परिवर्तनमिति लक्षणीयं पदम् । विश्रान्तियुक्तयेति । विश्रान्तिः क्रियाविरतिः तद्युक्तया । काले क्रियया काले पञ्चलघ्वक्षरोच्चाराद्युपहिते तपनपरिस्पन्दोपाधिभेदभिन्ने द्रव्यविशेषे क्रियया पूर्वोक्तया निःशब्दया सशब्दया वा मानम्, तालानां प्रमाणम्; इष्यते इष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

(सु०) ‘कलापातलयान्वितः तालः घनः’ इत्युक्तम् (नाट्य. ३१. १) । तत्र किमिदमिह कलापातादिलयप्रसिद्धमित्यपेक्षायामाह—

^१ कलामानलयान्विताः B.

आवृत्तिरिति । पादभागाः पूर्वमुक्ताः । चच्चत्पुटे चत्वारः; चाचपुटे त्रयः; आदिशब्देन लघुगुरुप्लुताः । तेषां परिवर्तनम्; एकं समाप्त्याव्यस्यारम्भ आवृत्तिरित्युच्यते । कैश्चित् विश्रान्तियुक्तया काले तालरूपक्रियया मान-मित्युच्यते ॥ ४३ ॥

क्रियानन्तरविश्रान्तिलयः स त्रिविधो मतः ।

द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः ॥ ४४ ॥

द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ।

मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावेरनेकधा ॥ ४५ ॥

लयोऽक्षरे पदे वाक्ये योऽसौ नात्रोपयुज्यते ।

(क०) क्रियानन्तरविश्रान्तिरिति । क्रियायाः पूर्वो-क्ताया अनन्तरा संनिहिता या विश्रान्तिः विरतिः स लय इत्युच्यते । द्रुतः शीघ्रतमो मत इति । क्रियानन्तरमविच्छेदेन क्रियान्तरं प्रवर्तते चेत्, तदा विश्रान्त्यभावात् लयो नास्त्येव । यथा गुर्व-वयवयोः लघ्वोरन्तराले । यथा वा प्लुतावयवानां लघूनामन्त-रालयोः, तस्मात् तालान्तरालेषु लयः कर्तव्यः । तत्र यस्मिन् सति क्रियाविच्छेदो दृश्यते, असति न दृश्यते, एवं क्रियाविच्छेदा-न्वयव्यतिरेकानुविधायी यः स शीघ्रतमः, स एव द्रुतलय इत्यर्थः । द्विगुणद्विगुणादित्यादि । तस्मात् द्रुतलयात् द्विगुणो विश्रान्तिकालो विलम्बित-लयः । तस्मात् मध्यलयात् द्विगुणो विश्रान्तिकालो विलम्बित-लयः । एवमेककलादिष्वेकैकस्मिन् मार्गे विश्रान्तिकालप्रमाण-भेदात् लयत्रयं दर्शितम् । यथा लोके एकस्मिन्नेव मार्गे त्रयोऽपि

गन्तुं प्रवृत्ताः । तत्रैको धावति तस्य गतिः शीघ्रा भवति । ततो मन्दमन्यो गच्छति तस्य गतिर्मध्यमा भवति । ततोऽपि मन्दमपरो याति तस्य गतिर्विलम्बा । एवं पादस्यासक्रियाविश्रान्तिकाल-वैषम्यात् गतिभेदः । तथा ताले लयभेदो द्रष्टव्यः । मार्गभेदादि-त्यादि । चिरक्षिप्रमध्यभावैरिति । दक्षिणमार्गे चिरभावः; चित्रमार्गे क्षिप्रभावः; वार्तिकमार्गे मध्यभावः; तैः लयोऽनेकधा भवति । तथाहि—चित्रमार्गे दशलघ्वक्षरोच्चारमितकलानन्तरं यो लयो भवति, स द्रुत इत्युच्यते । वार्तिकमार्गे पूर्वोक्तक्रमेण प्रमाणकलाद्वयानन्तरं यो लयो भवति, स मध्य इत्युच्यते । दक्षिणमार्गे तादृशकलाचतुष्टयानन्तरं यो लयो भवति स विलम्बित इत्युच्यते । विश्रान्तिकालस्यैकरूपत्वेऽपि तत्तत्क्रिया-प्रमाणोपलक्षितमार्गभेदतो लयभेदोऽवगन्तव्यः । यथा लोके एकस्मात् ग्रामात् गङ्गां प्रति मार्गत्रये सति तत्र संनिहितेन मार्गेणागतः शीघ्रमागत इत्युच्यते । ततो द्विगुणदूरेण मार्गेणा-गतः पूर्वपेक्षया मध्यभावेनागत इत्युच्यते । ततोऽपि द्विगुण-दूरेण मार्गेणागतः पूर्वोत्तरापेक्षया विलम्ब्यागत इत्युच्यते । एवं गमनक्रियावैषम्याभावेऽपि मार्गभेदात् द्रुतादिव्यवहारः । तथा प्रकृतेऽपि । तत्रापि प्रतिमार्गं विश्रान्तिकालप्रमाणभेदात् लयत्रये योजिते सति द्रुते द्रुतः; द्रुते मध्यः; द्रुते विलम्बितः । यथा मध्ये द्रुतः; मध्ये मध्यमः; मध्ये विलम्बितः; तथा विलम्बिते द्रुतः; विलम्बिते मध्यः; विलम्बिते विलम्बित इति । अयमेवानेकधेत्यस्यार्थः । एवं तालगतस्यैव लयस्य गीतादावुप-योगः, नाक्षरादिगतस्येत्याह—लयोऽक्षरे पदे वाक्ये योऽसौ नात्रोपयुज्यते इति । अक्षरे लयो द्रुतः; पदे लयो मध्यः; वाक्ये

¹ च. भेदाच्चिर fn. I ed.

² भावोप्यनेकधा (D); सर्वेष्वपि मूल-दर्शेषुस्तकेषु 'चिरक्षिप्र मध्यभावोऽन्येकधा' इति पाठो वर्तते fn. I ed.

³ अवयवान्तरालेषु I ed.

लयो विलम्बितः । तस्य संगीतोपकारकत्वाभावादिति भावः ॥ ४४-४५-॥

(मु०) लयं लक्षयति—क्रियेति । तालक्रियानन्तरं या विश्रान्तिः स लयः । स त्रिविधः; द्रुतो मध्यो विलम्बश्चेति । तेषु अतिशयेन शीघ्रो-
ज्यन्ताविश्रान्तिः द्रुतः । द्रुताद् द्विगुणो मध्यः; तद्द्विगुणो विलम्ब इति ।
मार्गभेदादिति । ध्रुवादयो हि मार्गाः पूर्वमुक्ताः । तेषां भेदाः चिरत्वं
विलम्बितत्वं, क्षिप्रत्वं द्रुतत्वं, मध्यभावा मध्यत्वं चेति । अनेकधेति ।
नवधाभिधत्ते । ननु अक्षरादिष्वपि लयोऽस्ति, स कथं नोच्यते? तत्राह—
लय इति । अत्र संगीतशास्त्रेऽनुपयोगान्नोक्त इत्यर्थः ॥ ४४-४५-॥

लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते ॥ ४६ ॥

समा स्रोतोगता चान्या गोपुच्छा त्रिविधेति सा ।

आदिमध्यावसानेषु लयैकत्वे समा त्रिधा ॥ ४७ ॥

लयत्रैधादादिमध्यावसानेषु यथाक्रमात् ।

चिरमध्यद्रुतलया तदा स्रोतोगता मता ॥ ४८ ॥

अन्या विलम्बमध्याभ्यां मध्यद्रुतवती परा ॥

द्रुतमध्यविलम्बः स्याद् गोपुच्छा द्रुतमध्यभाक् ॥ ४९ ॥

द्वितीयान्या भवेन्मध्यविलम्बितलयान्विता ।

(क०) अथ लयाश्रितानां यतीनां लक्षणमाह—
लयप्रवृत्तीत्यादि । लयैकत्व इति । एकलयत्व इत्यर्थः । लयत्रैधा-
दिति पूर्ववाक्येन संबन्धः । समाया यतस्त्रैविध्ये हेतुभावेन
त्रैधादिति । त्रिशब्दात् 'एकाद्रो ध्यमुज्यन्तरस्याम्' (पा. ५.
३. ४४) इति वर्तमाने, 'द्वित्योश्च धमुञ्' (पा. ५. ३. ४५)

इति धाप्रत्ययस्य पक्षे धमुज्जादेशे विहिते रूपम् । अन्या विलम्ब-
मध्याभ्यामिति । द्वितीया स्रोतोगता । परा तृतीया स्रोतोगता
मध्यद्रुतवती; मध्यलयेन द्रुतलयेन च युक्तेत्यर्थः । स्रोतो यथा
प्रथमं विलम्ब्य जलसमुद्भूतौ सत्यां ततः शीघ्रं गच्छति, यद्वा प्रथमं
जलसमुद्भूया प्रवृत्तं स्रोतस्तत्र तत्र जलव्यये सति ततोऽप्यजलं
गच्छति । तद्वदन्वर्था स्रोतोगता । गोपुच्छाया अप्येतद्विपर्ययेणान्व-
र्थता द्रष्टव्या । यथा गोः पुच्छमन्ते विस्तृतं भवति तद्वदिति
भावः ॥ -४६-४८-॥

(मु०) यतिं लक्षयति—लयेति । पूर्वोक्तस्य लयस्य प्रवृत्ति-
नियमः प्रयोगनियमो यतिः । सा त्रिविधा; समा; स्रोतोगता; गोपुच्छेति ।
एतासां लक्षणमाह—आदीति । आदौ मध्ये अन्ते च यद्येक एव लयस्तदा
समा यतिः । सा लयस्य त्रैविध्यात् त्रिविधा । आदिमध्यान्तेषु द्रुतो
लयश्चेत् तदैका; आदिमध्यान्तेषु मध्यो लयश्चेत् तदापरा; आदि-
मध्यान्तेषु विलम्बितो लयश्चेत् तदान्या । आदौ विलम्बितलयः; मध्ये
मध्यलयः; अन्ते द्रुतलयः; तदा स्रोतोगता; अयमेकः प्रकारः । अस्या
अन्यत्प्रकारद्वयमाह—अन्येति^१ । गीतस्य भागत्रयं कृत्वा प्रथमभागे
विलम्बितो लयः; द्वितीयभागे विलम्बितो लयः; तृतीयभागे मध्यमो
लयः; तदा अन्या स्रोतोगता । पूर्वभागे विलम्बितलयः; मध्यभागे
मध्यलयः; अन्तेऽपि मध्यलयस्तदा अपरा स्रोतोगता । पूर्वभागे मध्यलयः;
मध्यभागे मध्यलयः; अन्ते द्रुतलयस्तदा अन्या स्रोतोगता । पूर्वभागे
मध्यलयः; मध्यभागे द्रुतलयः; अन्तेऽपि द्रुतलयस्तदा अपरा स्रोतोगता ।
पूर्वभागे विलम्बितलयः; मध्ये विलम्बितलयः; अन्ते द्रुतलयस्तदा अपरा

^१ अन्वेति । गीतस्य भागद्वयं कृत्वा प्रथमभागे विलम्बितो लयः; द्वितीयभागे
मध्यमलयस्तदा अन्या स्रोतोगता । पूर्वभागे मध्यलयः, उत्तरभागे द्रुतलयस्तदा
अन्या स्रोतोगता । (A).

स्रोतोगता । इति स्रोतोगताया त्रयो [अन्ये] भेदाः पूर्वभागे द्रुतलयः; मध्यभागे मध्यलयः; अन्ते विलम्बितलयस्तदा गोपुच्छा । आद्ये द्रुतलयः; मध्ये मध्यलयः; अन्तेऽपि मध्यलयस्तदा अपरा गोपुच्छा । आद्ये द्रुतलयः; मध्ये द्रुतलयः; अन्ते मध्यलयस्तदा अपरा गोपुच्छा । आद्ये मध्यलयः; मध्ये मध्यलयः; अन्ते विलम्बितलयस्तदा अपरा गोपुच्छा । आद्ये द्रुतलयः; मध्ये विलम्बितलयः; अन्ते विलम्बितलयस्तदा अपरा गोपुच्छा । मध्यलयः प्रथमः; विलम्बितलयो मध्ये; अन्ते विलम्बितलयस्तदा अपरा गोपुच्छा इति गोपुच्छायाश्चरयो [अन्ये] भेदाः ॥-४६-४६-॥

समोऽतीतोऽनागतश्च ग्रहस्ताले त्रिधा मतः ॥ ५० ॥

गीतादिसमकालस्तु समपाणिः समग्रहः ।

सोऽवपाणिरतीतः स्याद् यो गीतादौ प्रवर्तते ॥ ५१ ॥

अनागतः प्राक्प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिकः ।

लयाः क्रमात् समादौ स्युर्मध्यद्रुतविलम्बिताः ॥ ५२ ॥

(क०) ग्रहान् लक्षयति—समोऽतीत इत्यादिना । ग्रहणं ग्रह इति भावे; 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (पा. ३. ३. ११८) इति घप्रत्यये कृते व्युत्पन्नो ग्रहशब्दः । गीतादिसमकाल इत्यादि । अत्रादिशब्देन वाद्यनृत्ते गृह्यते । तेन गीतादिना समः कालो यस्येति स तथोक्तः । अत्र कालशब्देन तालस्य गीतादेश्च प्रारम्भकाल एवोच्यते । तत्साम्यस्यैवात्र विवक्षितत्वात् । समपाणिरिति । समः पाणिरस्यास्तीति ग्रहविशेषणम् । अत्र पाणिशब्देन तालो लक्ष्यते । तद्व्यापारेण तस्याभिष्यक्तत्वात् । यो

गीतादौ प्रवर्तत इति । गीतादौ गीतस्यादौ । अत्र गीतशब्देन वाद्यनृत्ते अप्युपलक्ष्यते; तयोरेष्यादावित्यर्थः । अवपाणिरिति । अत्र अवशब्दोऽधःपर्यायः कालापेक्षया पूर्वभावे वर्तते । तालस्य गीतादिपूर्वभावित्वादवपाणिरित्यतीतग्रह उच्यते । गीतादिना तालकालमतिक्रम्योत्तरकालभाविना अतीतत्वादतीत इत्यर्थः । प्राक्प्रवृत्तग्रह इति । अत्र ग्रहशब्देन गृह्यत इति ग्रहः इति कर्मसाधनेन गीतादित्रितयमुच्यते । प्राक्प्रवृत्तः प्रथमारब्धो ग्रहो यस्मादित्यनागतग्रहस्य विशेषणम् । तालस्य गीताद्युत्तरकालभावित्वात् । स एवोपरिपाणिकश्च भवति । अनागत इति गीतादिप्रारम्भकाल आगतो न भवतीत्यन्वर्थो द्रष्टव्यः । लया इत्यादि । समग्रहे मध्यलयः; अतीतग्रहे द्रुतलयः; अनागतग्रहे विलम्बितलय इति क्रमः । यथा लोके कश्चन केनचिन्मित्रादिना सह कञ्चित्प्रदेशं प्रति गन्तुमुद्युक्तः सः मित्रादिरात्मानमतीत्य पुरस्ताद् गच्छतीति श्रुत्वा तत्पश्चाद्देशे स्थितः तेन सह साम्यसिद्धयर्थं स्वयं द्रुतं गच्छति; यथा वा मित्राद्यागमनात् पूर्वकाले स्वयमागतः तद्देशात्पुरोदेशे स्थित्वा गन्तुं प्रवृत्तः पश्चाद्देशे मित्रादिरागच्छतीति श्रुत्वा तस्य स्वसाम्यसिद्ध्यर्थं पदे पदे विलम्ब्य गच्छति तद्वदिति प्रकृतेऽपि द्रष्टव्यम् । एतेन गीतादेव प्राधान्यात् तदनुसारेण तालो योजनीय इत्युक्तं भवति ॥-५०-५२ ॥

इति मार्गताललक्षणम्

(सु०) ग्रहं लक्षयति सम इति । तालस्य ग्रहणं ग्रहः । स त्रिप्रकारः—समः; अतीतः; अनागतश्चेति । एतान् लक्षयति—गीतादीति । गीतस्य आदिः प्रारम्भः तत्समकालः गीतप्रारम्भसमये तालग्रहणं समग्रहणे

१ पूर्वभागे द्रुतलयः परभागे विलम्बितलयस्तदा अपरा गोपुच्छा । पूर्वभागे मध्यलयः परभागे विलम्बितलयः तदा अपरा गोपुच्छा । A.

२ प्राक्प्रवृत्तः स एवोपरि I. ed. प्राक्प्रवृत्तग्रहस्तोपरि (D).

समपागिरित्युच्यत । य आदी गीते सति पश्चात् प्रवर्तते सोऽतीतग्रहः ; स एवावपागिरित्युच्यते । यो गीतप्रारम्भात्पूर्वं प्रवृत्तः स अनागतग्रहः ; स एवोपरिपाणिक इत्युच्यते । ग्रहेषु लयानां नियममाह—लया इति । समग्रहे मध्यलयः ; अतीतग्रहे द्रुतलयः ; अनागतग्रहे विलम्बितलय इति । अयं नियमो मार्गतालपेक्षावस्येयः ॥ ५०-२ ॥

इति मार्गताललक्षणम्

एतैः प्रकरणाभ्यानि तालैर्यानि जगुर्बुधाः ।
तानि गीतानि वक्ष्यामस्तेषामाद्यं तु मद्रकम् ॥ ५३ ॥
अपरान्तकमुल्लोप्यं प्रकर्येविणकं ततः ।
रोविन्दकोत्तरे सप्त गीतकानीत्यवादिषुः ॥ ५४ ॥
छन्दकासारिते वर्धमानकं पाणिनं तथा ।
ऋचो गाथा च सामानि गीतानीति चतुर्दश ॥ ५५ ॥
शिवस्तुतौ प्रयोज्यानि मोक्षाय विदधे विधिः ।

(क०) एवमुक्तलक्षणानां मार्गतालानामुपयोगं दर्शयिष्यन् मद्रकादीनि गीतानि वक्तुं प्रतिजानीते—एतैः प्रकरणाभ्यानीत्यादिना । बुधाः भरतादयः । तानि गीतानीति । मद्रकादीनां सप्तानां गीतकादीनां, छन्दकादीनां सप्तानां गीतानां च सामान्येन निर्देशः । गीतानीति चतुर्दशेति अत्र गीतानीत्यवादिषुरिति क्रियापदस्यानुषङ्गः कर्तव्यः । चतुर्दशेत्यादि । विधिः ब्रह्मा मोक्षमिच्छन् शिवस्तुतौ प्रयुक्तवानित्यर्थः ॥ ५३-५६- ॥

(सु०) प्रकरणाभ्यानि गीतानि वक्तुं प्रतिजानीते—एतैरिति एतैः पूर्वोक्तैः मार्गतालैः प्रकरणाभ्यानि गीतानि यानि बुधाः भरतादयो

जगुः । प्रक्रियन्ते प्रस्तुत्यन्ते मद्रकादीनीति प्रकरणानि । तालैरिति । तालैः मार्गतालैरिति कथनं पूर्वसंबन्धप्रदर्शनायम् । यद्यपि पञ्चतालेश्वरादीनां मार्गतालसंबन्धोऽस्ति, तथापि तेषां तालप्रधानत्वाभावात् मार्गत्वापातनियमाभावाच्च प्रबन्धाध्याये निर्देशः कृतः । मद्रकादीनां तु तालप्रधानत्वादत्र वक्ष्याम इति । तानि विभजते—तेषामिति । मद्रकम् ; अपरात्तकम् ; उल्लोपकम् ; प्रकरी ; ओवेणकम् ; रोविन्दकम् ; उत्तरासारितमित्येतेषां सप्तानां गीतानीति यत्तत्त्वान्तरसंज्ञा, तच्छन्दकादीनामेतेषां चतुर्दश प्रकरणाभ्यानि एतानि चतुर्दश गीतानि शिवस्तुतौ प्रयोज्यानीति विधिः ब्रह्मा विदधे प्रयुक्तवान् ॥ ५३-५६- ॥

कुलकं छेद्यकं चेति तानि द्वेधा जगुर्बुधाः ॥ ५६ ॥
वस्तूनामेकवाक्यत्वे कुलकं संप्रचक्षते ।
वस्तूनां भिन्नवाक्यत्वे छेद्यकं ते पुनः पृथक् ॥ ५७ ॥
निर्युक्तं पदनिर्युक्तमनिर्युक्तमिति त्रिधा ।
सर्वाङ्गयुक्तं निर्युक्तं पदनिर्युक्तकं पुनः ॥ ५८ ॥
बद्धं स्तुतिपदस्थयुक्तोपोहनं प्रत्युपोहनम् ।
वस्तुभावेरनिर्युक्तं तत्र त्रेधा तु मद्रकम् ॥ ५९ ॥
विधिनैककलाद्येन चतुर्वस्तु त्रिवस्त्विति ।
पुनर्द्वेधा शीर्षकं तु त्रिवस्तुन्येव बोध्यते ॥ ६० ॥

(क०) वस्तूनामेकवाक्यत्वे इति । वस्तूनां वक्ष्यमाणलक्षणानामेककलादीनां गीतावयवानामेकवाक्यत्वे एकक्रियान्वये सति कुलकम् । वस्तूनां भिन्नवाक्यत्वे प्रतिवस्तु, क्रियाभेदे सति छेद्यकम् । ते पुनः पृथगिति । ते कुलकच्छेद्यकैः ; पृथक् प्रत्येकं

¹ द्वेधाम्युर्बुधाः I ed.

² हनं प्रत्युपोहनं (D).

³ मात्रैक (D).

⁴ रच्यते (D).

निर्युक्तादिभेदेन त्रिधा भवतः । सर्वाङ्गयुक्तमिति । वक्ष्यमाणैः विविधादिभिरङ्गैरन्यन्तया युक्तं निर्युक्तं भवति । स्तुतिपदैर्बद्धं पदनिर्युक्तमित्युच्यते । त्यक्तोपोहनप्रत्युपोहनमित्यनिर्युक्तस्य विशेषणम् । उपोहनं नाम—ध्रुवादिगानेषु रागप्रकाशनार्थं स्थायिस्वराश्रयणेन झण्टुमादिवर्णपरिग्रहो लघ्वादिकालपरिज्ञानाय तालपरिग्रहश्च । उभयमपि, उप समीप ऊह्यते विचार्यते इत्युपोहनमित्युक्तम् । तथाचोक्तं भरतेन—

‘उपोह्यते स्वरो यस्माद् ज्ञेयं गीतं प्रवर्तते ।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं स्थायिस्वरसमाश्रयम् ॥
अथवोपोह्यते यस्मात् प्रयोगः स्तवनादिकः ।
तस्मादुपोहनं ह्येतद् गानं भाण्डसमाश्रयम् ॥’

(नाट्य. ३१. १२५-६)

इति;

‘गुरुलाघवसंयुक्तं कलातालसमन्वितम् ।’

(नाट्य. ५. १५७)

‘पूर्वरङ्गे सदा ज्ञेयं चित्रमार्गे भुपोहनम् ॥’

(नाट्य. ५. १८८)

इति च । तत्र प्रथमवस्त्वादौ कृतमुपोहनमित्युच्यते । द्वितीयादिवस्त्वादौ कृतं तु प्रत्युपोहनमित्युच्यते । अथवा एकवस्तुनि प्रथमं कृतमुपोहनम्; तदनन्तरं कृतं प्रत्युपोहनमित्युच्यते । त्यक्ते उपोहनप्रत्युपोहने यस्येति तत्तथोक्तम् । तत्र मद्रकं लक्षयितुमाह—तत्र त्रेधा तु मद्रकमित्यादिना । एककलाद्येन विधिर्नैति । एककलमद्रकम्; द्विकलमद्रकम्; चतुष्कलमद्रकं चेति त्रिविधमित्यर्थः । चत्वारि वस्तूनि यस्मिन्निति चतुर्वस्तु । त्रीणि वस्तूनि

यस्मिन्निति त्रिवस्तु । शीर्षकमिति । गीताङ्गम् । त्रिवस्तुन्येवेति । चतुर्वस्त्वादौ न कर्तव्यमित्यर्थः ॥ -५७-६० ॥

(सु०) कुलकं छेद्यकं चेति । वक्ष्यमाणानां वस्तुनामेकवाक्यत्वं चेत् तदा कुलकम्, वस्तूनां भिन्नवाक्यत्वं चेत् तदा छेद्यकमिति । ते कुलक-च्छेद्यके प्रत्येकं त्रिधा—निर्युक्तम्; पदनिर्युक्तम्; अनिर्युक्तमिति । वक्ष्यमाणैरिति । वक्ष्यमाणैः सर्वं रागेयुक्तं निर्युक्तम् । अङ्गैर्विना केवलं स्तुतिभिर्बद्धं पदनिर्युक्तम् । उपोहनप्रत्युपोहनशून्यमनिर्युक्तम् । अत्रोपोहन-प्रत्युपोहननिषेधात् इतरनिषेधस्य, ‘शेषाभ्यनुज्ञाविशेष्यत्वात्’ इति न्यायेनान्येषामङ्गसङ्गानामनुमतिः । एवं सर्वेषां साधारणान् भेदानुक्त्वा प्रथमनिर्दिष्टं मद्रकं विभज्य लक्षयति—तत्रेति । मद्रकं त्रिधा—एककलाद्येन विधिना प्रकारेण एककलमद्रकम्; द्विकलमद्रकम्; चतुष्कलमद्रकं चेति । पुनरप्येतन्मद्रकं द्विधा—चतुर्वस्तु; त्रिवस्तु चेति । तत्र वक्ष्यमाणं शीर्षकाख्यं मद्रकं त्रिवस्तुन्येव बोध्यत इति विख्यातम् ॥ -५७-६० ॥

गुरुण्यष्टौ लघूण्यष्टौ वस्त्वेककलमद्रके ।

‘स्वरागयोनिजातेस्तु न्यासेऽन्यासनेऽथवा ॥ ६१ ॥

संन्यासेऽंशेऽथवा’ न्यासः ‘सर्वगीतस्थवस्तुनः ।

(क०) एककलमद्रके वस्तुप्रमाणमाह—गुरुण्यष्टौ लघूण्यष्टौविति । स्वरागयोनिजातेरिति । अत्र स्वशब्देन मद्रकादिकमित्युच्यते । तस्य रागः तस्य योनिः कारणं जातिः षाड्ज्यादिः, तस्या न्यासापन्याससंन्यासेष्वेकत्र न्यासः कर्तव्य इत्यर्थः । अनेन मद्रकादीनि ग्रामरागोपरागेष्वेकैकतमेन^१ रागेण गातव्यानीति सूचितं भवति । तेषामेव ताभ्यो जातत्वात् । सर्वगीतस्थवस्तुन इत्यनेन, स्वरागेत्यत्र स्वशब्दस्य मद्रकैकपरता-

^१ सो (D). ^२ तथा (D). ^३ सर्वगीतेषु (D). ^४ वैकतमेन (C).

प्रतीतिमपाकरोति । सर्वाणि च तानि गीतानि मद्रकादीनि चतुर्दश गीतानि, तेषु तिष्ठतीति तत्स्थम्, तच्च तद्वस्तु चेति तथोक्तम्, तस्य । अत्र वस्तुन इति जातावेकवचनम् । तेनापरान्तकादिष्वपि स्थितानां वस्तूनामुक्तप्रकारेण न्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ ६१-॥

(मु०) एवं मद्रकस्य भेदान् परिभाषां चोक्त्वा एककलमद्रकं लक्षयति — गुरुणीति । एककलमद्रके अष्टौ गुरवः; अष्टौ लघवश्च; एकं वस्तु । सर्वेषां गीतानां साधारणवस्तुलक्षणमाह — स्वरानेति । यो रागः गीते तस्य योनिः कारणभूता या जातिः तस्या जातेन्यासः; स्वरे न्यासः, स्वरे, अंशस्वरे वा सर्वेषु गीतेषु मद्रकादिषु वर्तमानस्य वस्तुनो न्यासः समाप्तिः ॥ ६१-॥

ध्रुवपातमपातं वा तद्गुरुत्रयमादिमम् ॥ ६२ ॥

शद्वयं ताद्वयं शम्ये तालौ च द्विः शतौ च सम् ।

क्रमाद् गलेषु शेषेषु तस्य स्यात् पातकल्पना ॥ ६३ ॥

एवं वस्तुत्रयं गीत्वा शीर्षकं तु प्रयुज्यते ।

चतुष्कलेनैककलेनाथवा पञ्चपाणिना ॥ ६४ ॥

आद्ये वस्तुनि कर्तव्यं गुरुद्वयमुपोहनम् ।

गुरुणागुरुणा कार्यं शेषयोः प्रत्युपोहनम् ॥ ६५ ॥

(क०) आदिमं तद्गुरुत्रयमिति । तस्य वस्तुनः गुरुत्रयमष्टसु गुरुत्वादिमं गुरुत्रयं ध्रुवपातम्; ध्रुवः पातोऽस्यास्तीति तथोक्तम् । ध्रुवाख्यया सशब्दक्रियया योजनीयमित्यर्थः । अपातं वेति । पातादन्यया क्रियया युक्तमिति गम्यते । तेन

¹ क्रमात्कलेषु (C).

निःशब्दक्रियया युक्तं वा कर्तव्यमित्यर्थः । शद्वयमित्यादि । चतुर्थपञ्चमयोर्गुर्वोः शम्याद्वयम् । ताद्वयमिति । षष्ठसप्तमयोर्गुर्वोस्तु तालद्वयम् । शम्ये इति । अष्टमस्य गुरोः, नवमस्य लघोश्च प्रत्येकं शम्ये । तालाविति । दशमैकादशयोर्लघ्वोः प्रत्येकं तालौ । द्विः शतौ चेति । द्वादशत्रयोदशयोर्लघ्वोः शम्यातालौ । तथा चतुर्दशपञ्चदशयोश्च लघ्वोः शम्यातालौ । समिति । षोडशे लघौ संनिपात इति क्रमात् गलेषु शेषेषु तस्य पातकल्पना स्यादित्यर्थः ॥ -६२-६५ ॥

(मु०) ध्रुवपातमिति । तस्य मद्रकस्य वस्तुन आदिमं गुरुत्रयम्, ध्रुवपातं त्रयम् । तत् ध्रुवपातं, अध्रुवपातं वा प्रयोज्यम्; पातहीनं वा । चतुर्थे गुरौ शम्या; पञ्चमे शम्या; षष्ठसप्तमयोस्तालः; अष्टमे शम्येति । क्रमादिति । प्रथमे लघुनि शम्या; द्वितीयतृतीयलघुनोस्तालः; चतुर्थे शम्या; पञ्चमे तालः; षष्ठे शम्या; सप्तमे तालः; अष्टमे संनिपात इति । शेषेषु आदिमात् गुरुत्रयादन्येषु । गलेषु गुरुलघुषु, इयं पातकल्पना स्यात् । एवमिति । गुर्वष्टकलघ्वष्टकरूपं वस्तुत्रयं गीत्वा, शीर्षकं तु प्रयोक्तव्यम् । तत् चतुष्कलेन एककलेन पञ्चपाणिना षट्पितापुत्रकेण वा कार्यः । आद्य इति । त्रयाणां वस्तूनां मध्ये प्रथमवस्तुनि आद्यं गुरुद्वयमुपोहनं कर्तव्यम् । द्वितीये तृतीये वस्तुनि प्रथमगुरुणा प्रत्युपोहनं कार्यम् ॥ -६२-६५ ॥

अष्टमाद्याक्षरैरेव रचना स्यात् तयोर्द्वयोः ।

एकवस्तुकमप्याहुर्मद्रकं केऽपि सूरयः ॥ ६६ ॥

तृतीये गुरुणि प्रोक्तं तत्र तैः प्रत्युपोहनम् ।

गुर्वष्टके स्याद् विविधं लघुष्वष्टस्वर्थैकम् ॥ ६७ ॥

¹ द्विपदः A and मुद्राकरव्याख्या; ड. विवधो fn. I ed.

विविधो द्विविदारीकः स त्रिधा परिकीर्तितः ।
 सामुद्गश्चार्धसामुद्गो विवृत्तश्चेति सूरभिः ॥ ६८ ॥
 विदार्योः पदवर्णादिसाम्यात् सामुद्गको मतः ।
 विदारीभागयोः साम्यात् त्वर्धसामुद्गको मतः ॥ ६९ ॥
 पूर्वस्था वा परस्था वा द्वयोर्वेति त्रिधा च सः ।
 न्यासान्तो विविधः कार्यः सर्वो द्वैगेयकं विना ॥ ७० ॥
 असमानविदारीको न्यासापन्यासनिर्मितः ।
 विवृत्तः स्याद् विदारी तु गीतखण्डं द्विधा च सा ॥ ७१ ॥
 महत्यवान्तरा चेति महती व्याप्तवस्तुका ।
 समाप्ता पदवर्णान्तेज्वान्तरा त्वन्तरा मता ॥ ७२ ॥

(क०) तयोर्द्वयोरिति । उपोहनप्रत्युपोहनयोः ॥ ६६-७२ ॥

(सु०) किमिदं प्रत्युपोहनं चेत्यपेक्षायामाह—**ज्ञप्नुमिति** । ज्ञप्नुं ज्ञप्नुं दिगि दिगि इत्याद्यक्षरैः । तयोः उपोहनप्रत्युपोहनयोः, रचना कर्तव्या इति । एवं त्रिवस्तुकं मद्रकमुक्तम् । मतान्तरमाह—**एकवस्तुकमिति** । केजपि सूरयः भरतादयः एकवस्तुकमपि मद्रकमाहुः । ननु द्वितीयतृतीय-वस्तुनोरभावात् तयोः कर्तव्यं प्रत्युपोहनं कथमित्यपेक्षायामाह—**तृतीये इति** । येषां मते एकवस्तुकं मद्रकम्, तैः प्रथमगुरुद्वयमुपोहनम्, तृतीये गुरुणि प्रत्युपोहनं कार्यमित्युक्तम् । एकवस्तुकमद्रकं वस्तुतोऽन्तरं किं गेयमित्यपेक्षायामाह—**गुर्वष्टक इति** । अष्टसु गुरुषु वक्ष्यमाणलक्षणो विविधः कर्तव्यः । अष्टसु लघुषु वक्ष्यमाणलक्षणमेककं कार्यम् । **विविधं लक्षयति—विविध इति** विदारीद्वयेन रचितो विविधः । विदार्या लक्षणं वक्ष्यति । स विविधस्त्रिप्रकारः । सामुद्गः, अर्धसामुद्गः, विवृत्तश्चेति । एतान् लक्षयति—**विदार्योरिति** । पदसाम्ये, वर्णसाम्ये, आदिशब्दात् स्वर-साम्ये, सामुद्गाख्यो विविधः । एकस्या विदार्याः द्वयोर्भागयोः पदवर्णादि-

¹ ड. विवधो fin. I ed.

साम्ये द्वितीयः । उत्तरं विदार्योर्भागद्वयसाम्ये तृतीय इति । सर्वोऽपि विविधः द्वैगेयकाख्यं विविधं विना न्यासान्तः कर्तव्यः । रागजनकजातेन्यासस्वरः समाप्तिस्वरोज्जे यस्य । द्वैगेयकं लक्षयति —**असमानेति** । विदार्योः पदवर्णादिसाम्येन युक्तः, न्यासापन्यासस्वराभ्यां निर्मितः विवृत्ताख्यो विविधः द्विपदः स्यात् । तत्तद्विदारीः सिद्धवदङ्गीकृत्य विविधो मतः । कैरियं विदारीत्यपेक्षायामाह—**विदारीति** । गीतखण्डम् गीतस्य खण्डं शकलं विदारीत्युच्यते । सा द्विधा—महाविदारी अवान्तरविदारी चेति । एते लक्षयति—**महतीति** । या सर्वमपि वस्तु व्याप्नोति, सा महाविदारी; या तु पदवर्णैरेव समाप्ता, सा अवान्तरविदारी, अवान्तरवस्तुनो विन्यास इति ॥ ६६-७२ ॥

अनयोर्वस्तुवन्न्यासो जात्यंशोऽंशोऽल्पके पुनः ।

अंशे तदनुवादी वा संवादी वांश इष्यते ॥ ७३ ॥

संख्यानियममेतासां नावोचन् दत्तिलादयः ।

भगवान् भरतस्त्वासां संख्यानियममभ्यधात् ॥ ७४ ॥

अवरकादशपरा विदार्यः परिकीर्तितः ।

चतुर्विंशतिरासां तु प्रमाणं परमं स्मृतम् ॥ ७५ ॥

अवान्तरविदारीणां चतुर्विंशति संख्यया ।

न्यासान्तमथवांशान्तं विदार्यैकैकं मतम् ॥ ७६ ॥

आद्यं वस्तुद्वयं मद्रांशग्रहं मद्रके मतम् ।

(क०) अनयोर्वस्तुवन्न्यास इति । अनयोः महा-विदार्यवान्तरविदार्योः । वस्तुवदिति । वस्तुनः स्वरागयोनिजाते-स्त्वित्यादिना यो न्यास उक्तः, तद्वदपि न्यासः कर्तव्य इत्यर्थः । जात्यंशोऽंश इति । विदार्योरंशस्तु स्वरागयोनिजातेरंश एव

¹ व्यवर्कादश इति सुधाकरपाठः.

² संख्यता (D).

कर्तव्य इत्यर्थः । अल्पके पुनरिति । अंशे जात्यंशे । अल्पके अल्पप्रयोगे सति । तदनुवादी जात्यंशानुवादी । तत्संवादी वांश इष्यते । एतासामिति । विदारीणाम् । अवरैकादशपरा इति । अवराश्च ता एकादशपराश्चेति कर्मधारयः । तिस्रो विदार्योऽवरा अल्पसंख्याकाः, एकादश विदार्यः परा अधिक-संख्याकाः । अयं महाविदारीणां संख्यानियमो मुनिना दर्शितः । अवान्तरविदारीणां चतुर्विंशतिसंख्या दर्शिता । मद्रांशग्रहमिति । मद्रके प्रथमवस्तुनो मद्रकस्थानस्थितं स्वरमंशग्रहं च कुर्यादिति नियमोऽवगन्तव्यः ॥ ७३-७६- ॥

(मु०) अनयोः महाविदार्यवान्तरविदार्योः । वस्तुवत् न्यास-स्वरः, [स्वर] जातेरंशस्वरो वा अंशः कर्तव्यः । आदिमोऽंशस्वरोऽल्पः । तर्हि तस्य अंशस्वरस्य न अनुवादी संवादी वा स्वरोऽंशः कर्तव्यः । वत्सिलादिमतेन विदारीणां संख्यानियमो नास्ति । भरतमतेन त्वस्तीत्युक्त्वा तमेव संख्यानियममाह—अत्रेति । तिस्रो विदार्यः अवरा हीनाः । इतः परं न्यूना संख्या नास्ति । एकादशसंख्या परा उत्कृष्टा; आसां विदारीणा-मुत्कृष्टसंख्या चतुर्विंशतिः । इयं तु संख्या महाविदारीणाम् । अवान्तर-विदारीणां संख्यामाह—अवान्तरेति । अवान्तरविदारीणां चतुर्विंशतिः परा संख्या । द्विपदमेवं लक्षयित्वा एकैकं लक्षयति—न्यासान्तमिति । एका विदारी एककमित्युच्यते । आद्यमिति । मद्रके प्रथमतः द्वये मन्द्रस्वर एवांशो ग्रहश्च कर्तव्यः ॥ ७३-७६- ॥

अस्य प्रस्तारः—

SSSS SS S S I I I I I I I I
उ उ उ श श ता ता श श ता ता श ता श ता सं ॥

एवं वस्तुत्रयं वस्तुचतुष्टयं वा गीत्वा वस्तुत्रयान्ते शीर्षकं चतुष्कलेन पञ्चपाणिना यथाक्षरेण वा गायते ॥

अर्थककला—

§ I S S I §
सं ता श ता श ता ॥ इत्येककला यथाक्षरम् ॥

| | | | | | | | | | | | |
|---|----|----|-----|---|----|----|---|---|----|----|----|
| S | S | S | S | S | S | S | S | S | S | S | S |
| आ | नि | वि | प्र | आ | ता | वि | श | आ | नि | वि | ता |

| | | | | | | | | | | | |
|---|----|----|---|---|----|----|-----|---|----|----|----|
| S | S | S | S | S | S | S | S | S | S | S | S |
| आ | नि | वि | श | आ | ता | वि | प्र | आ | नि | वि | सं |

इति शीर्षकम्

इत्येककलमद्रकम्

(क०) अस्य प्रस्तार इति । अस्य एककलमद्रकस्य; उक्तलक्षणानुसारेण प्रस्तारो लिख्यत इत्यर्थः । यथा प्रथमवस्तुनि अष्टानां गुरूणां अष्टौ वक्ररेखाः अष्टानां लघूनामष्टावृजुरेखाश्च तिर्यक्पङ्क्तिस्तथा लिखित्वा, तत्राद्यस्य गुरुत्रयस्याधस्तादुपोहन-प्रतीत्यर्थमुपोहनाद्यक्षरमुकारं प्रतिगुरु लिखेत् । चतुर्थादीनां पञ्चानां गुरूणामधस्तात् क्रमेण शशताताशान् लिखेत् । ततोऽष्टानां लघूनामधस्तात् शताताशताशतासमित्यष्टाक्षराणि क्रमेण लिखेत् । एवं वस्तुत्रयं वस्तुचतुष्टयं वा लिखेत् । त्रिवस्तुपक्षे वस्तुत्रयस्यान्ते शीर्षकाख्यमङ्गं चतुष्कलेन षट्पितापुत्रकेण कुर्वीत । तस्य प्रस्तारो यथा—षट्सु पादभागेषु प्रतिपादभागं चत्वारि गुरूणि सविच्छेदं तिर्यक्पङ्क्तिरत्वेन लिखेत् । तदधस्तात् प्रथमपादभागे आनिवि-प्रान्; द्वितीये आताविशान्; तृतीये आनिवितान्; चतुर्थे आनिविशान्; पञ्चमे आताविप्रान्; षष्ठे आनिविसांश्च क्रमेण

लिखेत् । अथवा यथाक्षरेण षट्पितापुत्रकेण शीर्षकं गायेत् ।
यथा—पलगगलपान् लिखित्वा तदधस्तात् क्रमेण संताशताशतान्
लिखेत् ॥

इत्येककलमद्रकम्

द्विकले मद्रके वस्तु स्याच्चतुर्विंशतिः कलाः ॥ ७७ ॥
पादभागा द्वादश स्युस्तैस्तु मात्रात्रयं भवेत् ।
द्विकलेनोत्तरेण स्याच्छीर्षं वस्तुत्रयात्मकम् ॥ ७८ ॥
यथाक्षरेण वा तत्र त्रिकलं स्यादुपोहनम् ।
प्रत्युपोहनमत्र स्यात् कलिकं द्विकलं न वा ॥ ७९ ॥
विविधः प्रतिवस्तु स्यान्मात्रयोरेकं पुनः ।
भवेत् तृतीयमात्रायामथ पातकलाविधिः ॥ ८० ॥
पादभागत्रये निप्रौ पञ्चस्वन्येषु याः कलाः ।
आद्यास्तासु निरेवान्यत् पूर्वमद्रकवद् भवेत् ॥ ८१ ॥

अस्य प्रस्तारः—

S S S S S S S S
नि प्र नि प्र नि प्र नि श ॥ मात्रा १ ॥

S S S S S S S S
नि श नि ता नि ता नि श ॥ ” २ ॥

S S S S S S S S
श ता ता श ता श ता सं ॥ ” ३ ॥

इत्येकं वस्तु

ईदृग्वस्तुत्रयान्ते शीर्षकं यथाक्षरेण द्विकलेनोत्तरेण वा ।

S S S S S S S S S S
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं ॥

३ । S S । ३
सं ता श ता श ता ॥

इति शीर्षकम्

इति द्विकलमद्रकम्

(क०) अथ द्विकलमद्रकं लक्षयति—द्विकले मद्रक
इत्यादिना । चतुर्विंशतिः कलाः वस्तु स्यादिति । वस्तुनः प्रमाण-
मेककलापेक्षया द्विगुणमुक्तम् । पादभागा द्वादश स्युरिति ।
एतस्य द्विकलत्वादिति भावः । अन्यथा चतुष्कलत्वेन वा षट्पाद-
भाग इति संभाव्येत । तैस्तु मात्रात्रयं भवेदिति । प्रथमे चत्वारः
पादभागा एका मात्रा । मध्ये चत्वारः पादभागा द्वितीया मात्रा ।
अन्ते चत्वारः पादभागास्तृतीया मात्रा भवति । ‘पादभागैश्चतु-
र्भिस्तैर्मात्रा स्यान्मद्रकादिषु’ (श्लो. २१ अत्रैव) इति पूर्वोक्त-
मनुसंधेयम् । एतन्मात्रात्रयमेकं वस्तु । एवंविधवस्तुत्रयात्परं
द्विकलेनोत्तरेण द्विकलषट्पितापुत्रकेण शीर्षकं नामाङ्गं गातव्यम् ।
तत्र त्रिकलं स्यादुपोहनमिति । तत्र द्विकलमद्रके त्रिकलं तिस्रः कला
यस्येति तथोक्तम् । कलिकं द्विकलं न वेति । अत्र त्रयः पक्षाः—
प्रत्युपोहनं कलिकं वा द्विकलं वा न वा स्यादिति । कलिकं कलया
निर्वृत्तम् । अन्यत्पूर्वमद्रकवद्भवेदिति । अतोपयुक्ताभ्योऽवशिष्टासु
त्रयोदशसु कलासु ; ‘शद्वयं ताद्वयं शम्ये तालौ च द्विःशतौ च समु’
[श्लो. ६३ अत्रैव] इत्युक्तप्रकारेण पाता योजनीया इत्यर्थः ।
प्रस्तारस्तु द्विकलान् द्वादश पादभागान् सविच्छेदं लिखित्वा
तदधस्तात् निप्रि निप्र निप्र निशान् ; निश निता निता निशान् ;

शता ताश ताश तासांश्च मात्राविभागेन लिखेत् । ईदृशवस्तु-
त्रयान्ते शीर्षकं यथाक्षरेणोत्तरेण पूर्ववल्लिखेत् । द्विकलेनोत्तरेण-
वा । यथा षट्पादविभागेन द्वादश गुरुन् लिखित्वा तदधस्तात्
निप्र ताश निता निश ताप्र निसान् लिखेत् ॥ -७७-८१ ॥

इति द्विकलमद्रकम्

(सु०) एवमेककलमद्रकं लक्षयित्वा द्विकलं लक्षयति— द्विकल
इति । द्विकले मद्रके चतुर्विंशतिकलाः । एवं वस्तुगुरुकला द्विकल इत्यु-
क्तत्वात् चतुर्विंशतिवस्तुनि गेया । तैस्तु गुरुभिः द्वादश पादभागा
आदिगुरवः कर्तव्याः । चतुःपादभागैरेकमात्रेति तैः द्वादशभिः पादभागैः
मात्रात्रयं कर्तव्यम् । मात्रात्रये एककं वस्तु । एवंविधवस्तुत्रयानन्तरम्,
उत्तरेण षट्पितापुत्रकेण, द्विकलेन यथाक्षरेण वा शीर्षकं गेयम् । तत्र
कलात्रयेण उपोहनं कर्तव्यम् । एकया कलया कलाद्वयेन वा प्रत्युपोहनम् ।
वस्तुत्रयेऽपि पूर्वं मात्राद्वये पूर्वोक्तो विधिः कर्तव्यः । तृतीयमात्राया-
मेकैकपातकलाविधिमाह—पादभागोति । पादभागत्रये निष्कामप्रवेशौ ।
अन्येषु पञ्चसु पादभागेषु आद्यासु कलासु निष्कामः । अन्यत्
पूर्वमद्रकवत् । ततश्चतुर्विंशतिकलासु क्रमेण निष्कामप्रवेशनिष्काम-
प्रवेशनिष्कामप्रवेशनिष्कामशम्याः ; निष्कामशम्यानिष्कामतालनिष्काम-
तालनिष्कामशम्याः ; शम्यातालतालशम्यातालशम्यातालसंनिपाता ज्ञात-
व्याः ॥ -७७-८१ ॥

इति द्विकलमद्रकम्

चतुष्कले तु द्विगुणं वस्तु द्विकलवस्तुनः ।

लक्ष्म द्विकलवत् किन्तु 'पादभागश्चतुष्कलः ॥ ८२ ॥

चतुष्कलेनोत्तरेण केवलेनास्य शीर्षकम् ।

युक्तेनैक कलाद्यैर्वाष्टकलं स्यादुपोहनम् ॥ ८३ ॥

'विविधोऽन्तिमवस्त्वन्ते कार्यो द्वैगेयकाभिधः ।

असावंशादिरंशान्तपदावृत्तियुतो मतः ॥ ८४ ॥

(क०) अथ चतुष्कलमद्रकं लक्षयति—चतुष्कले त्वित्यादि ।

वस्तु द्विकलवस्तुनो द्विगुणं भवतीति प्रतिवस्त्वष्टाचत्वा-
रिंशत्कला भवन्तीत्यर्थः । लक्ष्म द्विकलवदिति । प्रतिवस्तु द्वादश
पादभागाः, तैः चतुर्भिश्चतुर्भिर्मात्राकल्पनम् । तत्राद्यमात्रयो-
र्विविधाख्यमङ्गम् ; तृतीयमात्रायामेककाख्यमङ्गम् । त्रिवस्तुपक्षे
वस्तुत्रयानन्तरं शीर्षकाख्यमङ्गमित्यादिलक्षणमत्रापि कर्तव्यमित्य-
तिदेशार्थः । विशेषं दर्शयति—किंत्विति । चतुष्कलेनोत्तरेणे-
त्यादि । अस्य चतुष्कलमद्रकस्य शीर्षकं केवलेनोत्तरेणेत्येकः
पक्षः । युक्तेनैककलाद्यैर्वैत्यत्र त्रयः पक्षाः । यथा—एककल-
चतुष्कलाभ्यां प्रथमः । द्विकलचतुष्कलाभ्यां द्वितीयः । चतुष्क-
लाभ्यां तृतीयः । एवं शीर्षके चत्वारः पक्षाः । प्रत्युपोहनेऽपि
चत्वारः पक्षाः । एककला प्रथमः पक्षः । द्वितीया कलेति
द्वितीयः । चतस्रः कलास्तृतीयः । न वा स्यादिति चतुर्थः ।
द्वैगेयकाभिध इति । अत्र विविधसंज्ञकस्याङ्गस्य विशेषणं
संज्ञान्तरबोधकम् । असाविति द्वैगेयकः अंशादिः अंशस्वर एव
ग्रहो यस्येति स तथोक्तः । अंशान्त इति । अंशस्वर एव न्यासो
यस्येति स तथोक्तः । पदावृत्तियुतः इत्यनेन द्वैगेयकसंज्ञाया
अन्वर्थता दर्शिता भवति ॥ ८२-८४ ॥

¹ कलेका द्वे चतस्रो वा न वा स्यात् प्रत्युपोहनं ' इति अधिकपाठः (D).

² तृतीयकलायामेककलाख्यमङ्गम् (C).

³ विशेषणसंज्ञा । अ (C).

¹ पादभागश्चतुष्कलाः (D).

² कलाभिर्वा (D).

(सु०) चतुष्कलमद्रकं लक्षयति—चतुष्कल इति । चतुष्कल-
मद्रकस्य वस्तु द्विकलवस्तुनः सकाशात् द्विगुणमष्टाचत्वारिंशत् । ताभिः
गुरुरूपाभिः एवं वस्तु कार्यम् । अन्यत्सर्वं लक्षणं द्विकलमद्रकवत् । अयं तु
विशेषः—अत्र चतसृभिः कलाभिः पादभागमुत्तरेण षट्पितापुत्रकेण चतु-
ष्कलशीर्षकं कर्तव्यम् । तच्च केवलेन षट्पितापुत्रकेण वा कर्तव्यम् ।
एककलादिभिर्भुक्तेन वा । एककलाद्यैरिति । एककलेन द्विकलेन चतुष्कले-
नेति । तदत्र शीर्षके पक्षचतुष्टयम् । चतुष्कलेन षट्पितापुत्रकेणेत्येकः पक्षः ।
एककलेन चतुष्कलेन षट्पितापुत्रकेणिति तृतीयः । द्विकलेन चतुष्कलेन
षट्पितापुत्रकेणिति तृतीयः । चतुष्कलेन षट्पितापुत्रकद्वयेनेति चतुर्थे इति ।
अष्टकस्तमिति । अत्र चतुष्कलमद्रके उपोहनम् अष्टकलमष्टाभिः कलाभिः
कर्तव्यम् । प्रत्युपोहनं तु एकया कलया कर्तव्यमित्येकः पक्षः । कलाद्वयेन
कर्तव्यमिति द्वितीयः । कलाचतुष्टयेन कर्तव्यमिति तृतीयः । न वा प्रत्यु-
पोहनमिति चतुर्थः । अन्तिमस्य तृतीयस्य वस्तुनोऽन्ते द्वैग्येकाव्यो विविधः
कर्तव्यः । कोऽयं द्वैग्येक इत्यपेक्षायामाह—असाविति । असौ द्वैग्येकः ।
अंशादिः जातेरंशस्वर एव आदिग्रहो यस्य ; एवमंशस्वर एवान्तः न्यास-
स्वरो यस्य ; तथाविधः पदवृत्तिमान् ज्ञातव्यः ॥ ८२-८४ ॥

^१आनिविप्राः पादभागत्रितयेऽभिमतः क्रमात् ।

द्वयोरानिविशास्तद्वद् द्वयोरानिवितास्ततः ॥ ८५ ॥

एकत्रानिविशा आशविताश्चाताविशा द्वयोः ।

अन्ये ^२तानिविसं पातकलाविधिरयं मतः ॥ ८६ ॥

(क०) द्वादशसु पादभागेषु पातकलाविधिं दर्शयति—
आनिविप्रा इत्यादिना । एकत्रानिविशा इत्यत्र, एकत्रेत्यष्टमे
पादभाग इत्यर्थः । आशविताश्च इत्यत्र चकारेण एकत्रेत्येतदनु-

^१ आनिविताः (D).

^२ त्वाताविसं (D).

कृष्यते । तेन नवमैकपादभाग आशविता भवन्तीत्यर्थः । आता-
विशा द्वयोः इत्यत्र द्वयोर्दशमैकादशयोरित्यर्थः । अन्य इति ।
द्वादशे पादभागे इत्यर्थः ॥ ८५-८६ ॥

(सु०) पातकलाविधिमाह—आनिविप्रा इति । प्रथमे पादभाग-
त्रये आवापनिष्कामविक्षेपप्रवेशाः । ततः द्वयोः पादभागयोः आवापनिष्काम-
विक्षेपशम्याः । ततो द्वयोरावापनिष्कामविक्षेपतालाः । तत एकस्मिन्
अष्टमपादभागे आवापनिष्कामविक्षेपशम्याः । ततो नवमे पादभागे आवाप-
शम्याविक्षेपतालाः । दशमैकादशयोः पादभागयोरवापतालविक्षेपशम्याः ।
अन्ये द्वादशे पादभागे तालनिष्कामविक्षेपसंनिपाता इति ॥ ८५-८६ ॥

चच्चत्पुटवदङ्गुल्यः कर्तव्या मद्रके बुधैः ।

अस्य प्रस्तारः—

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्रा आनिविप्रा आनिविप्रा आनिविशा ॥ मात्रा १ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविशा आनिविता आनिविता आनिविशा ॥ ” २ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS
आशविता आताविशा आताविशा तानिविसं ॥ ” ३ ॥

इत्येकं वस्तु

इति । एवं पूर्ववत् वस्तुत्रयानन्तरं शीर्षकं चतुष्कलेन
पञ्चपाणिना यथा—

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्रा आताविशा आनिविता आनिविशा आताविप्रा आनिविसं ॥

^१एककलचतुष्कलाभ्यां वा—

^१ इति केवलचतुष्कलपञ्चपाणिना । अथ (D).

त्रिधापरान्तकं तद्वद् भेदेनैककलादिना ॥ ८७ ॥

अस्मिन्नेककले वस्तु चतुर्गुह चतुर्लघु ।

पञ्च षट् सप्त वा वस्तून्त्यस्य शाखा निगद्यते ॥ ८८ ॥

१शाखेव प्रतिशाखा स्यात् किं त्वन्यपदनिमिता ।

(क०) अथापरान्तकं लक्षयति—त्रिधापरान्तकमि-
त्यादि । पञ्च षट् सप्तेति । पञ्च वस्तूनि शाखेत्येकः पक्षः ।
षट् वस्तूनि शाखेत्यन्यः । सप्त वस्तूनि शाखेत्यपरः । शाखेति
गीताङ्गस्य संज्ञा । किंत्वन्यपदनिमित्तेति प्रतिशाखाया विशेष-
कथनम् । अन्यपदनिमित्तेति । शाखाप्रयुक्तेभ्यः पदेभ्योज्यैः पदैः
कर्तव्येत्यर्थः । अनेन शाखाप्रतिशाखयोरेक एव धातुः कर्तव्य इति
गम्यते, इति केषांचिन्मतम् ॥ ८७-८८-८९ ॥

(सु०) अपरान्तकं लक्षयितुं विभजते—त्रिधेति । अपरान्तकं
त्रिप्रकारम्—एककलं द्विकलं चतुष्कलमिति । तत्रैककलं लक्षयति—
अस्मिन्निति । अस्मिन् अपरान्तके एककले चतुर्भिः गुरुभिः लघुभिश्च
वस्तु कार्यम् । एकमेव वस्त्वित्येकः पक्षः । पञ्च वस्तूनीत्यपरः । षट्
वस्तूनीति तृतीयः । सप्त वस्तूनीति चतुर्थः । तान्येव वस्तूनि यस्मिन् सा
शाखेत्युच्यते । यथा शाखा तथा प्रतिशाखा कर्तव्या । किरूपा शाखा?
पदेभ्योज्यैः पदैर्विधेयेति ॥ ८७-८८-८९ ॥

१शाखार्धं पश्चिमं त्वाह प्रतिशाखां विशाखिलः ॥ ८९ ॥

शाखा वस्तूच्यते तस्याः परार्धं प्रतिशाखिका ।

इत्याह भरतस्तत्रोपोहनं कलिकं मतम् ॥ ९० ॥

प्रत्युपोहनमत्र स्यात् १वान्ये त्वेकवस्तुकम् ।

इवमाहुः कला तेषां द्वितीया प्रत्युपोहनम् ॥ ९१ ॥

शीर्षमेककलेन स्याच्छाखान्ते पञ्चपाणिना ।

(क०) विशाखिलमते विशेषमाह—शाखार्धमित्यादि ।
पश्चिमं शाखार्धम् । प्रतिशाखामाहेत्यत्र एकवस्तुकपक्षे वस्तु-
प्रमाणेन शाखां कृत्वा वस्तुत्तरार्धलघुचतुष्टये प्रतिशाखां कुर्यात् ।
पञ्चवस्तुकादिषु त्रिषु पक्षेषु त्वादिमं सार्धवस्तुद्वयं वस्तुत्रयं
सार्धवस्तुत्रयं च क्रमेण शाखां कुर्यात् । तादृक्पश्चिमार्धं च प्रति-
शाखां कुर्यात् । भरतमते विशेषं दर्शयति—शाखा वस्तूच्यत
इत्यादि । तत्र पञ्चवस्तुकादिषु त्रिष्वपि पक्षेषु प्रतिवस्तु
पूर्वार्धं शाखा, उत्तरार्धं प्रतिशाखेति मन्तव्यम् । उपोहनं कलिक-
मिति । कलया निर्वृत्तं कलिकम्; मतं संमतम् । यत्र तूपोहनं
नोच्यते तत्र ‘आद्ये वस्तुनि कर्तव्यं गुरुद्वयमुपोहनम्’ [श्लो.
६५ अत्रैव] इति न्यायो ग्राह्यः ॥ ८९-९०-९१ ॥

(सु०) मतान्तरमाह—शाखार्धमिति । एकवस्तुकपञ्चवस्तुक-
षड्वस्तुकसप्तवस्तुका वा या शाखा तस्याः उत्तरार्धं प्रतिशाखेति । ततश्च
एकवस्तुके लघुचतुष्टयरूपं वस्तुन उत्तरार्धं प्रतिशाखा । पञ्चवस्तुके
प्रथमसार्धवस्तुद्वयानन्तरमन्तिमसार्धवस्तुद्वयं प्रतिशाखा । षड्वस्तुके
अन्तिमवस्तुत्रयम् । सप्तवस्तुके अन्तिमसार्धवस्तुत्रयं प्रतिशाखेति । भरत-
मतेन पञ्चवस्तुकादिष्वपि एककं वस्तु शाखाशब्देनोच्यते । तस्योत्तरार्धं
प्रतिशाखेति । अत्र अपरान्तके । उपोहनं कलिकम् एककलाविरचितं
प्रत्युपोहनं कर्तव्यं वा न वेति ॥ ८९-९१ ॥

अन्ये तु प्रतिशाखान्तेऽप्येतदाहुर्मनीषिणः ॥ ६२ ॥

शाखायाः प्रतिशाखायाः कलाषट्केऽन्यवस्तुनः ।

अन्ये पदावृत्तियुक्तः पञ्चपाणिर्यथाक्षरेः ॥ ६३ ॥

निजपातैर्विना यद्वा तत्पाता एव केवलाः ।

तालिकैर्यं पृथग् यद्वा पञ्चपाणौ यथाक्षरे ॥ ६४ ॥

तृतीयादिगलेषु स्युः शताताशाश्च तालसम् ।

(क०) एकवस्तुकपक्षे विशेषान्तरमाह—अन्ये त्विति ।

शाखान्ते शीर्षकमित्येकः पक्षः । प्रतिशाखान्ते शीर्षकं कर्तव्यमिति पक्षान्तरम् । शाखाया इति । अन्यवस्तुनः शाखायाः प्रतिशाखाया अन्ये कलाषट्के यथाक्षरेः पञ्चपाणिः पदावृत्तियुक्तः कर्तव्य इति योजना । निजपातैर्विनेति । षट्पितापुत्रकस्य निजाः पाताः संताशताशताः तैर्विनेति देशीतालवत् शम्यर्येव प्रयोक्तव्य इत्येकः पक्षः । यद्वा तत्पाता एवेति । तस्य षट्पितापुत्रकस्य पाताः पूर्वोक्ताः केवला इति । पातकलान्तरयुक्ता इत्यर्थः । अयमप्यन्य पक्षः । तालिकैर्यमिति । पञ्चपाणियुक्तमुक्तं यत्कलाषट्कं तदेव तालिकासंज्ञयोज्यत इत्यर्थः । पृथग् यद्वेति । वस्त्वन्तर्भावेन तालिका कर्तव्येति पक्षान्तरम् । तृतीयादिगलेष्विति । चतुर्गुरु-चतुर्लघ्वात्मके वस्तुनि प्रथमकलायामुपोहने कृते द्वितीयकलायां प्रत्युपोहने च कृते तृतीयचतुर्थयोगूर्वाः शतौ पञ्चमादिषु चतुर्षु लघुषु क्रमात् 'ताशताश' इति पाताः कर्तव्याः ॥ ६२-६४- ॥

(गु०) एकवस्तुके विशेषमाह—अन्ये त्विति । अन्ये तु आचार्याः ; इदमपरान्तकमेकवस्तुकमित्याहुः । तेषां मते द्वितीया कला प्रत्युपोहनम् । बहुवस्तुकेषु द्वितीयतृतीयवस्तुनोः पूर्वोक्तन्यायेन प्रत्युपोहनं कर्तव्यम् ।

‘गुरुणागुरुणा कार्यं शेषयोः प्रत्युपोहनम्’ [श्लो. ६५ अत्रेव] इत्युक्तत्वात् शीर्षकमिति । शाखायाः प्रान्ते एककलेन षट्पितापुत्रकेण शीर्षकं गेयम् । केचित् प्रतिशाखायामपि शीर्षकं गेयमित्याहुः । शाखाया इति । शाखायाः प्रतिशाखायाश्च संबन्धिनः अन्यवस्तुनः अन्ये कलाषट्के पदावृत्तियुक्तो पञ्चपाणिर्यथाक्षरो गेयः । सः पूर्वोक्तस्वरपातहीनो वा पातयुक्तो वेति पक्षद्वयम् । इयं तालिकेत्युच्यते । पक्षान्तरमाह—पृथगिति । अन्यवस्तु-नोऽन्ये कलाषट्के तालिका गेया । तस्मात् पृथगेव यथाक्षरे षट्पितापुत्रके वेति । कलाविधिमाह—तृतीयादीति । प्रथमगुरुद्वये उपोहनम् । तृतीयादिगुरुलघुषु शम्यातालद्वयशम्यातालसनिपाताः ॥ ६२-६४- ॥

इत्येककलमपरान्तकम्

अस्य प्रस्तारः—

S S (प्र) S S I I I I
उ उ श ता ताश तासं ॥ इति ^१वस्तु ॥

Ś I S S I Ś
सं ता श ता श ता ॥ इति ^२तालिका ॥

I I I I
ता श ता श ॥ इति प्रतिशाखा ॥

Ś I S S I Ś
सं ता श ता श ता ॥ इति ^३शीर्षकम् ॥

इत्येकवस्तुकम्

(क०) अस्य प्रस्तार इति—चतुरो गुरुश्चतुरो लघूश्च लिखित्वा आद्यगुरोरुपस्थादुकारं द्वितीयगुरोरुपस्थात् प्रत्युपोहनाद्यं

^१ एक वस्तु (D). एतदग्रे घ. पुस्तके 'इयमेव शाखा । ततो यथाक्षरेणोत्तरेण शीर्षम्' इति, ग्रन्थोपधिकः fn. I ed. ^२ शीर्षकम् (D). ^३ तालिका (D).

प्रशब्दं ततस्तृतीयादिगलानामधः शताताशतासमिति क्रमेण लिखेत् । इति वस्तु । इयमेव शाखा । ततो यथाक्षरेणोत्तरेण शीर्षं लिखित्वा तदधस्तात् ताशताशान् लिखेत् । ततोऽपि शीर्षकं पूर्ववल्लिखेत् ॥

इत्येकवस्तुकमपरान्तकम्

अथ पञ्चवस्तुकम् । अस्य प्रस्तारः—

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ वस्तु १ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ २ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ ३ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ ४ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ ५ ॥

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ इति तालिका ॥

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ इति शीर्षकम् ॥

इयं शाखा; ईदृश्येव पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा ।

इति पञ्चवस्तुकम्

अथ पञ्चवस्तुकमिति । चतुर्गुरुचतुर्लघ्वात्मकानि पञ्चवस्तूनि सविच्छेदं लिखित्वा प्रतिवस्त्वाद्यगुरुद्वयस्याधो मद्रकोक्त-

रीत्या उकारद्वयं लिखित्वा, ततोऽन्यत्र शताताशतासान् लिखेत् । ततो यथाक्षरेणोत्तरेण तालिकां लिखेत् । तेनैव शीर्षकं लिखेत् । इयं शाखा । ईदृश्येव प्रतिशाखा ॥

इति पञ्चवस्तुकम्

अथ षड्वस्तुकम् । अस्य प्रस्तारः—

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ वस्तु १ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ २ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ ३ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ ४ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ ५ ॥

SS SS 11 11
उउ शता ताश तासं ॥ „ ६ ॥

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ इति तालिका ॥

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ इति शीर्षकम् ॥

ईदृश्येव पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा ॥

इति षड्वस्तुकम्

अथ सप्तवस्तुकम् । अस्य प्रस्तारः—

SS SS ॥ १ ॥
उउ शता ताश तासं ॥ वस्तु १ ॥

SS SS ॥ १ ॥
उउ शता ताश तासं ॥ „ २ ॥

SS SS ॥ १ ॥
उउ शता ताश तासं ॥ „ ३ ॥

SS SS ॥ १ ॥
उउ शता ताश तासं ॥ „ ४ ॥

SS SS ॥ १ ॥
उउ शता ताश तासं ॥ „ ५ ॥

SS SS ॥ १ ॥
उउ शता ताश तासं ॥ „ ६ ॥

SS SS ॥ १ ॥
उउ शता ताश तासं ॥ „ ७ ॥

§. SS §.
संता शता शता ॥ इति तालिका ॥

§. SS §.
संता शता शता ॥ इति शीर्षकम् ॥

इति सप्तवस्तुकम्

सर्वेषां वस्तूनां शाखात्वे तदुत्तरार्धानां प्रतिशाखात्वे ताश-
ताशाः । ईदृश्येव प्रतिशाखा । प्रतिशाखापक्षे त्वेवम्—

SS SS ॥ १ ॥
उउ शता ताश तासं ॥ इति शाखा ॥

§. SS §.
संता शता शता ॥ इति शीर्षकम् ॥

§. SS §.
संता शता शता ॥ इति तालिका ॥

॥ १ ॥ §. SS §.
ताश ताश; प्रतिशाखा ॥ संता शता शता; तालिका ।

§. SS §.
संता शता शता; शीर्षकम् ॥ १ ॥

SS SS ॥ १ ॥ §. SS §.
उउ शता ताश तासं; शाखा ॥ संता शता शता;
शीर्षकम् ।

§. SS §. ॥ १ ॥
संता शता शता; तालिका ॥ ताश ताश; प्रतिशाखा ।

§. SS §. §. SS §.
संता शता शता; शीर्षकम् । संता शता शता; तालिका ॥ २ ॥

SS SS ॥ १ ॥ §. SS §.
उउ शता ताश तासं; शाखा ॥ संता शता शता;
शीर्षकम् ।

§. SS §. ॥ १ ॥
संता शता शता; तालिका ॥ ताश ताश; प्रतिशाखा ।

§. SS §. §. SS §.
संता शता शता; तालिका ॥ संता शता शता; शीर्षकम् ॥ ३ ॥

SS SS ॥ १ ॥ §. SS §.
उउ शता ताश तासं; शाखा ॥ संता शता शता;
शीर्षकम् ।

§. SS §. ॥ १ ॥
संता शता शता; तालिका ॥ ताश ताश; प्रतिशाखा ॥

ॐ । SS । ॐ ॐ । SS । ॐ
संता शता शता; ¹तालिका ॥ संता शता शता; ²शीर्षकम् ॥ ४ ॥

SS SS । । । । ॐ । SS । ॐ
उउ शता ताश तासं; शाखा ॥ संता शता शता;

शीर्षकम् ।

ॐ । SS । ॐ । । । ।
संता शता शता; तालिका ॥ ताश ताश; प्रतिशाखा ॥

ॐ । SS । ॐ ॐ । SS । ॐ
संता शता शता; ³तालिका ॥ संता शता शता; ⁴शीर्षकम् ॥ ५ ॥

एवं षड्वस्तुकसप्तवस्तुकयोरप्यूहनीयम् । शाखोत्तरार्धस्य
प्रतिशाखात्वपक्षे तु पञ्चवस्तुकम् ॥ यथा—*

¹ शीर्षकम् 1 ed. ² तालिका 1 ed. ³ शीर्षकम् 1 ed.

⁴ तालिका 1 ed.

*अथवा

SS SS । । । ।
उउ शता ताश तासं ॥ वस्तु १ शाखा

। । । ।
ताश तासं ॥ वस्तु २ प्रतिशाखा

SS SS । । । ।
उउ शता ताश तासं ॥ वस्तु ३ शाखा

। । । ।
ताश तासं ॥ वस्तु ४ प्रतिशाखा

SS SS । । । ।
उउ शता ताश तासं ॥ वस्तु ५ शाखा

। । । ।
ताश तासं ॥ इति प्रतिशाखा

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ इति तालिका

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ इति शीर्षकम्

इति पञ्चवस्तुकं (D).

SS SS । । । ।
उउ शता ताश तासं ॥ वस्तु १ ॥

SS SS । । । ।
उउ शता ताश तासं ॥ „ २ ॥

SS SS { । । । ।
उउ शता {ताश तासं ॥ „ ३ ॥}

SS SS । । । ।
उउ शता ताश तासं ॥ „ ४ ॥

SS SS । । । ।
उउ शता ताश तासं ॥ „ ५ ॥

। । । । { तृतीयवस्तुत्तरार्धं } इति प्रतिशाखा ॥
ताश तासं ॥

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ इति तालिका ॥

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ इति शीर्षकम् ॥

इति पञ्चवस्तुकम्

षड्वस्तुके शाखां शीर्षकं तालिकां च लिखित्वा तदर्धेन
वस्तुत्रयेण प्रतिशाखां लिखित्वा तालिकां शीर्षकं च पूर्ववल्लिखेत् ।
एवं सप्तवस्तुके सप्तवस्तुकां शाखां शीर्षकं तालिकां च लिखित्वा
तदर्धेन सार्धवस्तुत्रयेण प्रतिशाखां च लिखेत् । ततस्तालिकां
शीर्षकं च पूर्ववल्लिखेत् ॥

इत्येककलमपरान्तकम्

(क०) एवमेव षड्वस्तुकं सप्तवस्तुकं च । शाखो-
त्तरार्धस्य प्रतिशाखात्वपक्षे तु पञ्चवस्तुके पञ्चवस्तुकां शाखां

गीत्वा, ततः प्रतिशाखां तु तृतीयवस्तुत्तरार्धलघुचतुष्टयं लिखित्वा तदधस्तात्, 'ताशतासान्' लिखेत् । ततः पूर्वोक्तप्रकारेण चतुर्थपञ्चमे वस्तुनी लिखेत् । ततः तालिकां शीर्षकं चोत्तरेण पूर्ववल्लिखेत् । इति पञ्चवस्तुके प्रतिशाखा । षड्वस्तुके परं वस्तुत्रयं प्रतिशाखा । सप्तवस्तुकेऽपि परं सार्धवस्तुत्रयं प्रतिशाखा । सर्वेषां वस्तूनां शाखात्वेन तदुत्तरार्धानां प्रतिशाखात्वे तु प्रस्तारः प्रदर्श्यते । यथा—प्रथमं तावत् समस्तं वस्तु शाखा । तत्रोत्तरार्धं लघुचतुष्टयं प्रतिशाखा । एवमेव पञ्चवस्तुकं षड्वस्तुकं सप्तवस्तुकं वा लिखित्वा अन्त्यवस्तुशाखान्ते यथाक्षरेणोत्तरेण तालिकां शीर्षकं च लिखेत् । तस्य प्रतिशाखान्ते वा लिखेत् ॥

इत्येककलमपरान्तकम्

द्विकले द्वादशकलं वस्तु स्यादपरान्तके ॥ ६५ ॥

^१तच्चैककलवत्कार्यं ^२विशेषस्त्वभिधीयते ।

उपोहनं स्यात् कलिकं द्विकलं वा कलैव तु ॥ ६६ ॥

प्रत्युपोहनमत्रोपवर्तनं तुर्यवस्तुनि ।

गीते तत्पदगीतिभ्यां तल्लयार्धलयं भवेत् ॥ ६७ ॥

यथाक्षरे^३णोत्तरेण ^४वृत्तिदक्षिणमार्गयोः ।

^५समाप्तार्थन्यासयुक्तं कंचित् पञ्चमवस्तुनः^६ ॥ ६८ ॥

^१ तदुत्तरार्धं (D).

^२ तत्रैक (D); ग. तत्वेक fn. I ed.

^३ विशेषस्तु विधीयते (D).

^४ ख. ग. रेणान्तरेण fn. I ed.

^५ वृत्त (D).

^६ ड. च. समाप्त्यर्थं fn. I ed.

^७ ना (D).

एतदाद्ये कलाषट्के गातव्यमिति मन्वते ।

निप्रनिप्रा निशनितास्ता^१शास्तासं कला त्विह ॥ ६९ ॥

एककं विविधं वात्र गीताङ्गं दत्तिलोऽवदत् ।

गीताङ्गनियमं^२ कंचिन्नाब्रूत भगवान् मुनिः ॥ १०० ॥

(क०) अथ द्विकलमपरान्तकं लक्षयति—द्विकले द्वादशकलमित्यादि । तच्चैककलवदिति । एकवस्तुकादयश्चत्वारो भेदाः शाखाप्रतिशाखादिकल्पनाभेदाश्चात्रापि कर्तव्या इत्यतिदेशार्थः । विशेषस्त्विति । उपोहनोपवर्तनादिकल्पनमित्यर्थः । उपवर्तनमित्यादि । तुर्यं वस्तुनि गीते सति; तत्पदगीतिभ्याम् तस्य तुर्यवस्तुनः, पदं सुप्तिङन्तम्, गीतिः मागध्यादि; ताभ्याम् । तल्लयार्धलयमिति । तस्य तुर्यवस्तुनो यो लयः तदर्धं लयो यस्येति तत्तथोक्तम्; एतदुपवर्तनविशेषणम् । वृत्तिदक्षिणमार्गयोरित्यनेन द्विकलचतुष्कलाभ्यामिति गम्यते । अयमर्थः—अत्रोपवर्तने यथाक्षरादयस्त्रयोऽपि षट्पितापुत्रकभेदाः कर्तव्या इति । समाप्तार्थन्यासयुक्तमिति । समाप्तश्चासावर्थश्च । तत्र न्यासेन युक्तमिति तथोक्तम् । अस्मिन्नुपवर्तने वाक्यार्थसमाप्तौ गीतसमाप्तिं च कुर्यादित्यर्थः । कंचिदित्यादि । पञ्चमवस्तुन आद्ये कलाषट्क इत्यनेन केवलं यथाक्षरेणोत्तरेणेति गम्यते । एतदिति । उपवर्तनमित्यर्थः । निप्रनिप्रेत्यादि । इह द्विकलापरान्तकस्य वस्तुनि ॥ -६५-१०० ॥

^१ शतायं कलास्विह (D).

^२ च. कंचिन्न ब्रूते fn. I ed.

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ तालिका ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ शीर्षकम् ॥

इति पञ्चवस्तुकम्

एवं षड्वस्तुकसप्तवस्तुके शाखां चतुर्थशाखान्त उपवर्तनं शाखान्ते पूर्ववत् तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा वस्तुत्रयात्मकं शाखार्धरूपं प्रतिशाखां, तुर्यवस्त्वन्त उपवर्तनं तालिकां शीर्षकं च लिखेत् । एवमेव सप्तवस्तुके वस्तुत्रयात्मकं शाखार्धरूपां प्रति-शाखां तुर्यवस्त्वन्त उपवर्तनयुक्तां तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा सार्धवस्तुत्रयात्मिकां तुर्यवस्त्वन्तोपवर्तनयुक्तां प्रतिशाखां तालिकां च शीर्षकं च लिखेत् । सर्ववस्तूनां प्रतिवस्तु शाखात्वपक्षे तत्तदधानां प्रतिशाखात्वे प्रस्तारः—

SS SS SS SS SS SS

निप्र निप्र निश निता ताश तासं ॥ शाखा १ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ तालिका १ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ शीर्षकम् १ ॥

SS SS SS

निता ताश तासं ॥ प्रतिशाखा १ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ तालिका १ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ शीर्षकम् १ ॥

SS SS SS SS SS SS

निप्र निप्र निश निता ताश तासं ॥ शाखा २ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ तालिका २ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ शीर्षकम् २ ॥

SS SS SS

निता ताश तासं ॥ प्रतिशाखा २ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ तालिका २ ॥

ॐ। S S १ॐ

संता शता शता ॥ शीर्षकम् २ ॥

SS SS SS SS SS SS

निप्र निप्र निश निता ताश तासं ॥ वस्तु ३ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ तालिका ३ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ शीर्षकम् ३ ॥

SS SS SS

निता ताश तासं ॥ प्रतिशाखा ३ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ तालिका ३ ॥

ॐ। SS १ॐ

संता शता शता ॥ शीर्षकम् ३ ॥

SS SS SS S S SS

निप्र निप्र निश निता ताश तासं ॥ शाखा ४ ॥

ऽ। SS । ऽ
 संता शता शता ॥ तालिका ४ ॥
 ऽ। SS । ऽ
 संता शता शता ॥ शीर्षकम् ४ ॥
 SS SS SS
 निता ताश तासं ॥ प्रतिशाखा ४ ॥
 ऽ। SS । ऽ
 संता शता शता ॥ तालिका ४ ॥
 ऽ। SS । ऽ
 संता शता शता ॥ शीर्षकम् ४ ॥
 ऽ। SS । ऽ
 संता शता शता ॥ उपवर्तनम् ४ ॥
 SS SS SS SS SS SS
 निप्र निप्र निश निता ताश तासं ॥ शाखा ५ ॥
 ऽ। SS । ऽ
 संता शता शता ॥ तालिका ५ ॥
 ऽ। SS ।
 संता शता शता ॥ शीर्षकम् ५ ॥
 SS SS SS
 निता ताश तासं ॥ प्रतिशाखा ५ ॥
 ऽ। SS । ऽ
 संता शता शता ॥ तालिका ५ ॥
 ऽ। SS । ऽ
 संता शता शता ॥ शीर्षकम् ५ ॥
 इति पञ्चवस्तुकम् । एवमेव षड्वस्तुकमपि ॥

इति द्विकलमपरान्तकम्

(क०) अस्य प्रस्तारो यथा—गुरुद्वयात्मकान् षट्पाद-
 भागान् लिखित्वा तदधो निप्रनिप्रनिशनिताशतासान् क्रमेण
 लिखेत् । इदमेकवस्तु । एवं चत्वारि वस्तूनि लिखेत् । ततो
 यथाक्षरेणोत्तरेणोपवर्तनं लिखेत् । ततः ^१पञ्चमवस्तु लिखित्वा
 यथाक्षरेणोत्तरेण तालिकां तेनैव शीर्षकं च लिखेत् । इति शाखा ।
 इयमेव प्रतिशाखा । शाखापश्चिमाध्वस्य प्रतिशाखात्वे तु पञ्च-
 वस्तुकां शाखां गीत्वा सार्धवस्तुद्वयमुत्तरं प्रतिशाखां कुर्यात् ।
 यथा—तृतीयवस्तुत्तरार्धे गुरुद्वयात्मिकांस्त्रीन् पादभागान् लिखि-
 त्वा तदधो निताशतासान् लिखेत् । ततश्चतुर्थं वस्तु पूर्व-
 वल्लिखेत् । ततो यथाक्षरेणोत्तरेणोपवर्तनम् । ततः पञ्चमं
 वस्तु पूर्ववल्लिखेत् । ततो यथाक्षरेणोत्तरेण तालिकां तेनैव शीर्षकं
 च कुर्यात् । अथ सर्ववस्तूनां ^२शाखात्वे तदुत्तरार्धानां प्रतिशाखात्वे
 तु यथा—पूर्ववत् प्रथमं वस्तु शाखां कुर्यात् । तदुत्तरार्धं प्रति-
 शाखां कुर्यात् । एवं त्रीणि वस्तूनि शाखाप्रतिशाखायुक्तानि गीत्वा
 चतुर्थवस्तुवन्ते यथाक्षरेणोत्तरेणोपवर्तनं कुर्यात् । ततो वस्तुत्तरार्ध-
 धेन प्रतिशाखां कुर्यात् । ततः पञ्चमवस्तु शाखां कृत्वा यथा-
 क्षरेणोत्तरेण तालिकां तेनैव शीर्षकं च कुर्यात् । ततो वस्तुत्तरार्धेन
 प्रतिशाखां कृत्वा पूर्ववत् तालिकाशीर्षकं कुर्यात् । एवं षड्वस्तुकं
 सप्तवस्तुकमपि ॥

इति द्विकलमपरान्तकम्

(मु०) द्विकलमपरान्तकं लक्षयति—द्विकल इति । द्विकले अप-
 रान्तके द्वादशकलं वस्तु; अन्यत्सर्वमेककलापरान्तकवत् । विशेष-

^१ पञ्चमं वस्तु (D).

^२ णोपवर्तनम् (D).

^३ शाखान्ते (C).

स्त्वयम्—एककलं कलाद्वयं वोपोहनम् । प्रत्युपोहनं त्वेकमेव । कलाचतुर्थं वस्तुनि गीते सति चतुर्थवस्तुनः पदेन गीत्वा चोपवर्तनं गातव्यम् । तच्चतुष्टयवस्तुलयापेक्षया अर्धलये कार्यम् । तस्य लक्षणमाह—**यथाक्षरेणेति** । वृत्तिदक्षिणमार्गस्थितेन यथा दक्षिणे षट्पितापुत्रकेण अर्धे समाप्तं जातिन्यासस्वरयुक्तमुपवर्तनमिति । मतान्तरमाह—**केचिदिति** । केचित् उपवर्तनं पञ्चमवस्तुन आद्ये षड्जे (?) [कलाषट्के] गेयमित्याहुः । कलानियममाह—**निर्गतिः** । द्वादशसु कलासु प्रतिवस्तु क्रमात् निष्कामप्रवेश-निष्कामप्रवेशनिष्कामशम्या निष्कामतालतालशम्या तालसंनिपाताः कार्याः ॥ -६५-१०० ॥

इति द्विकलमपरान्तकम्

चतुष्कलं तु द्विगुणं द्विकलात् पूर्ववन्मतम् ।

उपोहनं तु वस्त्वर्थं द्विकलं प्रत्युपोहनम् ॥ १०१ ॥

दक्षिणे वार्तिके त्वेतद् द्विकलं वा चतुष्कलम् ।

न वा तत्सर्वमार्गेषु विशेषस्तूपवर्तनम् ॥ १०२ ॥

तुर्थवस्तुत्तरार्धस्थैः पदैर्निर्माणमिष्यते ।

आनिविप्रा^१ आनिविप्रा^२ आवापनिविशास्ततः ॥ १०३ ॥

आवापनिविता आताविशा^३स्तानिविसं कलाः ।

शतालप्रान् प्राहुरन्येऽष्टमद्वादशषोडशान् ॥ १०४ ॥

(क०) अथ चतुष्कलमपरान्तकं लक्षयति—**चतुष्कलं** त्वित्यादि । पूर्ववदिति मद्रकवदित्यर्थः । द्विकलाद् द्विगुणमिति । वस्तुनि प्रतिपादभागं गुरुचतुष्टयं कर्तव्यमित्यर्थः । उपोहनं तु वस्त्वर्थमिति । वस्त्वर्थं द्वादशगुरुष्वुपोहनं कर्तव्यम् । द्विकलं

^१ वर्तने (D). ^२ विप्रा (D). ^३ विशा (D). ^४ अताविशां (D).

प्रत्युपोहनमिति । द्विकलं गुरुद्वययुक्तम् । **दक्षिणे वार्तिके त्वेतदित्यादि** । एतत्प्रत्युपोहनं वार्तिके द्विकलं, दक्षिणे चतुष्कलं चेति यथायोगं योजनीयम् । **न वा तदिति** । तत्प्रत्युपोहनं न वेति तृतीयः पक्षः । **सर्वमार्गेषु विशेषस्तूपवर्तनमिति** । चतुष्कलापरान्तके विशेषस्तूपवर्तनं सर्वमार्गेषु ध्रुवादिसंगणेषु कर्तव्यमिति । **तुर्थवस्तुत्तरार्धस्थैः पदैः निर्माणमिष्यते** इत्यत्रास्योपवर्तनस्येत्यध्याहारः कर्तव्यः । **आनिविप्रा इत्यादि** । वस्तुनि पादभागेषु पातकलायोगो द्रष्टव्यः । शतालप्रान् प्राहुरन्ये अष्टमद्वादशषोडशानिति । अन्ये आचार्याः, वस्तुनः चतुर्विंशतौ गुरुषु अष्टमद्वादशषोडशान् गुरुन् 'शतालप्रान्' प्राहुः । प्रथममष्टमे तु प्रवेश उक्तः, तं शम्यां प्राहुः । प्रथमं द्वादशे शम्योक्ता, तां तालमाहुः । प्रथमं षोडशे ताल उक्तः, तं प्रवेशमाहुरिति क्रमेण योजनीयम् आनिविप्रा आनिविशा आनिविता आनिविप्रा आताविशा तानिविसम् ॥ १०१-१०४ ॥

(सु०) चतुष्कलमपरान्तकं लक्षयति—**चतुष्कलमिति** । द्विकलापरान्तकात् द्विगुणम् । चतुर्विंशतिकलं द्विकलापरान्तकवत् चतुष्कलमपरान्तकं कार्यम् । अयं तु विशेषः—अर्धेन वस्तुना उपोहनम्; कलाद्वयेन प्रत्युपोहनम्; एतच्चापरान्तकं द्विकलं चतुष्कलं वा दक्षिणवार्तिकयोर्मार्गयोग्यम् । उपवर्तने मार्गविशेषो नास्ति । किंतु चतुर्थकं चतुष्कलं वा वस्तुन उत्तरार्धे स्थितैः पदैरुपवर्तनस्य निर्माणम् । कलाविधिमाह—**आनिविप्रा इति** । आद्यस्वरैः आवापादिक्रियाविश्रमः क्रमेण ज्ञातव्यः । मतान्तरमाह—**शतालप्रेति** । अष्टमद्वादशषोडशान् शतालप्रान् केचित् प्राहुरिति ॥ १०१-१०४ ॥

इति चतुष्कलमपरान्तकम्

अस्य प्रस्तारः—

SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता ॥

SSSS SSSS S
आताविश तानिविसं ॥ वस्तु १ ॥

डे।SS।डे
संता शता शता ॥ तालिका १ ॥

डे।SS।डे
संता शता शता ॥ शीर्षकम् १ ॥

SSSS SSSS SSSS S
आनिविता आताविश तानिविसं ॥ प्रतिशाखा १ ॥

डे।SS।डे
संता शता शता ॥ तालिका १ ॥

डे।SS।डे
संता शता शता ॥ शीर्षकम् १ ॥

इत्येकवस्तुकम्

अथ पञ्चवस्तुकं यथा—

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तुशाखा १ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तु २ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तु ३ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तु ४ ॥

डे।SS।डे
संता शता शता ॥ उपवर्तनम् ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तु ५ ॥

डे।SS।डे डे।SS।डे
संता शता शता ॥ तालिका ॥ संता शता शता ॥ शीर्षकम् ॥

एवमुपवर्तनतालिकाशीर्षकसहितपञ्चवस्तुका शाखा । तत
एवमेव प्रतिशाखा । शाखापश्चिमार्धस्य प्रतिशाखात्वे तु
पञ्चवस्तुकं यथा प्रस्तारः—

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तु १ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तु २ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तु ३ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS S
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ वस्तु ४ ॥

§। SS। §

संता शता शता ॥ उपवर्तनम् ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं

॥ वस्तु ५ ॥

§। SS। §

संता शता शता ॥ तालिका ॥ संता शता शता ॥ शीर्षकम् ॥ }

इति पञ्चवस्तुकम्

(क०) अस्य प्रस्तारो यथा—गुरुचतुष्टयात्मकान् षट्पादभागान् लिखित्वा तदधः प्रथमपादभागे आनिविप्रान् द्वितीये पुनरानिविप्रान् तृतीये आनिविशांश्चतुर्थे आनिवितान् पञ्चमे आताविशान् षष्ठे तानिविसमित्येतान् लिखेत् । इत्येकं वस्तु । एवं चत्वारि वस्तूनि गीत्वा, यथाक्षरोत्तरेणोपवर्तनं गायेत् । ततः पूर्ववत्पञ्चमं वस्तु लिखेत् । ततो यथाक्षरोत्तरेण तालिकां शीर्षकं च लिखेत् । एवमुपवर्तनं तालिकाशीर्षकसहित-पञ्चवस्तुका शाखा । तत एवमेव प्रतिशाखा । शाखापश्चि-मार्धस्य प्रतिशाखात्वे तु पञ्चवस्तुके पञ्चवस्तुकां शाखां गीत्वा तृतीयवस्तूत्तरार्धदिशार्धवस्तुद्वयं प्रतिशाखां कुर्यात् । यथा त्रिषु पादभागेषु द्वादशगुरुन् लिखित्वा तदधः आनिविशान्, आता-विशान्, तानिविसांश्च लिखेत् इति तृतीयवस्तूत्तरार्धम् । ततः पूर्ववच्चतुर्थपञ्चमवस्तुनी लिखेत्, ततस्तालिकां शीर्षकं च ययो-त्तरेण लिखेत् ।

एवं षड्वस्तु सप्तवस्तुकं च । शाखोत्तरार्धस्य प्रति-शाखात्वपक्षे तु पसद्वयं प्रतिशाखा । यथा—पञ्चवस्तुके पूर्ववत्

पञ्चवस्तुकां शाखां लिखित्वा शाखोत्तरार्धरूपा सार्धवस्तुद्वया-त्मिका प्रतिशाखायाः शाखातृतीयवस्तूत्तरार्धदिशार्धवस्तु ॥

प्रस्तारः—

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं

॥ वस्तु १ ॥

एवं वस्तुचतुष्टयम् ।

§। SS। §

संता शता शता ॥ उपवर्तनम् ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं

॥ प्रतिशाखेयं वस्तु ५ ॥

§। SS। §

संता शता शता ॥ तालिका ॥ संता शता शता ॥ शीर्षकम् ॥

एवं षड्वस्तु सप्तवस्तुकमपि ज्ञेयम् ॥

सर्ववस्तूनां शाखात्वपक्षे तदुत्तरार्धानां प्रतिशाखात्वे

प्रस्तारः—

SSSS SSSSSS SS SS SS SS SS SS SS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं

॥ शाखा १ ॥

§। SS। §

संता शता शता ॥ शीर्षकम् ॥ संता शता शता ॥ तालिका ॥

SSSS SSSS SSSS

आनिविता आताविश तानिविसं ॥ प्रतिशाखा १ ॥

प्रतिशाखां कृत्वा, पञ्चमं वस्तु शाखां लिखेत् । ततस्तालिकां शीर्षकं च यथाक्षरोत्तरेण^१ लिखेत् । ततो वस्तुत्तरार्धेन प्रतिशाखां^२ यथाक्षरेणोत्तरेण तालिकां, शीर्षकं च लिखेत् । इति पञ्चवस्तु-
कस्य भेदाः । एवं षट्सप्तवस्तुकयोरप्युह्याः ।*

इति चतुष्कलमपरान्तकम्

SSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS
*[आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ शाखा १ ॥

SSSS SSSSS SSSSS
आनिविता आताविश तानिविसं ॥ प्रतिशाखा १ ॥

SSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ शाखा २ ॥

SSSS SSSSS SSSSS
आनिविता आताविश तानिविसं ॥ प्रतिशाखा २ ॥

SSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ शाखा ३ ॥

SSSS SSSSS SSSSS
आनिविता आताविश तानिविसं ॥ प्रतिशाखा ३ ॥

SSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ शाखा ४ ॥

^१ णोपवर्तनं (C). ^२ शाखां कृत्वा पञ्चमादिशाखां लिखेत् । ततः (C).

ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ उपवर्तनम् ॥

SSSS SSSSS SSSSS
आनिविता आताविश तानिविसं ॥ प्रतिशाखा ४ ॥

SSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं
॥ शाखा ५ ॥

ॐ । SS ॐ ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ तालिका ॥ संता शता शता ॥ शीर्षकम् ॥

SSSS SSSSS SSSSS
आनिविता आताविश तानिविसं ॥ प्रतिशाखा ॥

ॐ । SS । ॐ ॐ । SS । ॐ
संता शता शता ॥ तालिका ॥ संता शता शता ॥ शीर्षकम् ॥ (?)

भेदेरेकलाद्यैः स्यादुल्लोप्यकमपि त्रिधा ।

भवेदेकले तस्मिन् गुरुद्वन्द्वं लघुद्वयम् ॥ १०५ ॥

^१गुर्वन्ते चेति मात्रैका तच्च मात्रासमाप्तिकम् ।

द्विकलेऽष्टकला मात्रा द्विगुणा तु^२ चतुष्कले ॥ १०६ ॥

मात्रापूर्वदले^३ कार्यो^४ विविधो मुखसंज्ञकः ।

पश्चिमाधे प्रतिमुखं विविधो वृत्तसंयुतः ॥ १०७ ॥

(क०) अथोल्लोप्यकं लक्षयति—भेदेरित्यादि । एक-
कलाद्यैः एककलद्विकलचतुष्कलैः । एककले मात्राप्रमाणमाह
—भवेदित्यादि । गुरुद्वन्द्वं लघुद्वयम् अन्ते गुरु चेति एका मात्रैति

^१ गुर्वन्तं (D).

^२ तु (D).

^३ कार्ये (D).

^४ विविध इति पाठः fn. I ed.

योजना । तच्चेति एककलोल्लोप्यकम् । मात्रासमाप्तिकमिति मात्रायां समाप्तिर्यस्येति व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । एकमात्रैव समाप्यत इत्यर्थः । द्विकल इत्यादि । द्विकल उल्लोप्यके, अष्टकला अष्टौ गुरव एका मात्रा भवेत् । अथवा द्विकले मात्रा अष्टकला अष्टौ कला यस्याः सा तथोक्ता । चतुष्कल उल्लोप्यके तु मात्रा द्विगुणा । द्विकलमात्रापेक्षया द्विगुणा । षोडशकलेत्यर्थः । मात्रा-पूर्वदल इति । विविधस्याप्युल्लोप्यकस्य मात्रायाः पूर्वदले पूर्वार्धे एककलस्य गुरुद्वये द्विकलस्य गुरुचतुष्टये चतुष्कलस्य गुर्वष्टके विविधः कार्यः 'विविधो द्विविदारीकः' (श्लो. ६८ अत्रैव) इत्युक्तलक्षणे गीताङ्गविशेषः । स एष मुखसंज्ञकः । पश्चिमाधौ वृत्तसंयुतः कृतो विविधः प्रतिमुखम् इत्युच्यते ॥ १०५-१०७ ॥

(सु०) ^२उल्लोप्यकं विभजते—भेदेरिति । उल्लोप्यकस्य त्रयो भेदाः । एककलं, द्विकलं, चतुष्कलमिति । एतानि लक्षयति—भवेदित्यादिना । उल्लोप्यके गुरुद्वयं लघुद्वयम् अन्ते गुरुश्चेदेका मात्रा । तच्च एककलोल्लोप्यकमपि, मात्रया समाप्यते; द्विकले अष्टाभिः कलाभिरेका मात्रा; चतुष्कले द्विगुणा षोडशकला मात्राः स्याय, तेषु मात्रायाः पूर्वार्धे मुखसंज्ञको विविधः [द्विविदारीकः] ? कर्तव्यः । पश्चिमाधौ वृत्तसंयुतो विविधः प्रतिमुखसंज्ञकः कार्यः ॥ १०५-१०७ ॥

वृत्तं तिस्रश्चतस्रो वा पञ्च षड्वा विदारिकाः ।

अवगाढं प्रवृत्तं च तद् द्विधेति निरूपितम् ॥ १०८ ॥

आद्यमारोहिवर्णेन प्रवृत्तमवरोहिणा ।

न्यासापन्याससंन्यासविन्यासानां तु कुत्रचित् ॥ १०९ ॥

^१न्यासोऽस्यांशेऽस्य संवादिन्यनुवादिनि वा भवेत् ।

(क०) वृत्तस्य स्वरूपमाह—वृत्तं तिस्रश्चतस्रो वा पञ्च षड् वा विदारिका इति । तत् वृत्तम् । अवगाढं प्रवृत्तं चेति द्विधा निरूपितम् । आरोहिणा वर्णेन आद्यमवगाढम् । अवरोहिणा वर्णेन प्रवृत्तमिति तयोर्लक्षणम् । न्यासेत्यादि । अस्य वृत्तस्य न्यासो रागन्यासादिष्वंशे वा कुत्रचित् भवति । अस्य संवादिन्यनुवादिनि वा भवेदिति । अस्त्येति अस्य ^२प्रवृत्तस्य ॥ १०८-१०९ ॥

(सु०) वृत्तलक्षणमाह—वृत्तमिति । विदारीसमुदायो वृत्तमित्युच्यते । तत् वृत्तं द्विविधम् । अवगाढं प्रवृत्तं चेति । आरोहिवर्णेन विरचितमवगाढम् । अवरोहिवर्णेन विरचितं प्रवृत्तमिति । अस्य वृत्तस्य रागजनकजातेन्यासापन्याससंन्यासविन्यासस्वराणामेकस्मिन्नेवंशे वा अंशस्य संवादिन्यनुवादिनि वा न्यासः समाप्तिः भवेत् ॥ १०८-१०९ ॥

अनन्तरस्वरैरेकान्त^३रितैर्वा समापनम् ॥ ११० ॥

विदारीणां भवेदन्त्रेत्यभ्यधत्^४ विशाखिलः ।

अत्र न्यासमपन्यासमंशं संवादिनं तथा ॥ १११ ॥

उपक्रम्य चतुर्धा स्यादारीहो वावरोहणम् ।

बंहायसं विधातव्यं मात्रोपरि चतुष्कले ॥ ११२ ॥

(क०) विशाखिलमतेन विदारीणां न्यासमाह—अनन्तरस्वरैरित्यादि । अनन्तरस्वरैः अंशस्वरसंनिहितैः । एकान्तरितैः अंशस्यैकान्तरितैः । समापनम् न्यासः । अन्त्रेत्यादि ।

^१ छ. ग. घ. अंशे न्यासोऽस्य fn. I ed.

^२ अस्त्येत्यंशस्य (C).

^३ रङ्गैर्वा (D).

^४ च. भ्यधातुं fn. I ed.

^१ मुखः (C).

^२ उल्लापकं (सु).

अत्र वृत्ते । आरोहणमवरोहणं वा न्यासादिषु चतुष्पञ्चकतमोप-
क्रमेण चतुर्धा भवति । वैहायसमित्यादि । चतुष्कले मात्रोपरि
वैहायसं विधातव्यमित्यन्वयः । चतुष्कले चतुष्कलोल्लोप्यके ।
मात्रोपरि षोडशकलात्मिकाया मात्राया अनन्तरं वैहायसं
नामाङ्गं कर्तव्यम् ॥ -११०-११२ ॥

(सु०) मतान्तरमाह—अनन्तरस्वरैरिति । विदारोणां तु
समापनं संवाद्यनुवादीनामनन्तरस्वरैरेकान्तरितस्वरैर्वा कर्तव्यम् । विशा-
खिलग्रहणं प्रशसार्थम् । अत्रेति । अत्र उल्लोप्यके, चतुर्धा आरोहणम्,
अवरोहणं च कर्तव्यम् । न्यासस्वरमारभ्य वा, अपन्यासस्वरम्, अंशस्वरं तु,
तत्संवादिनं तु वा, आरोहावरोहणं कर्तव्यम् । चतुष्कले विशेषमाह—
वैहायसमिति । चतुष्कले चतुष्कलोल्लोप्यके मात्रानन्तरं वैहायसं
कर्तव्यम् ॥ -११०-११२ ॥

यद्वा कलाप्रयोगेण शून्यान्मात्रोपरिस्थितात्^१ ।
कलाचतुष्ककालात्^२ स्यादेककव्रितयादिवम् ॥ ११३ ॥
एकाङ्गादिषडङ्गान्तं द्वादशाङ्गान्तमप्यदः ।
विविधोऽस्याद्यमङ्गं स्यादेककानि ततः परम् ॥ ११४ ॥
तद् द्वादशकलं प्रोक्तमुल्लोप्यकसमापकम् ।
वर्णानुकर्षणं तालावृत्तिर्वाङ्गनिवेशने ॥ ११५ ॥
यद्वा शाखेयमुदिता मात्रा वैहायसात्मिका ।
‘शाखेव प्रतिशाखोक्ता सा त्वन्यपदनिर्मिता ॥ ११६ ॥
ततोऽन्ताहरणं प्रोक्तं पञ्चपाणौ यथाक्षरे ।
एतत्संहरणं प्रोक्तं गीतकस्य समाप्तिकृत् ॥ ११७ ॥

^१ तान् (D).

^२ वृत्तिस्वाङ्ग (D).

^३ कालास्यादेक (D).

^४ शाखेव (D).

वृत्तं सहरणेऽत्र स्या'दन्यदा त्वेककं भवेत् ।
विविधो वा त्रिधा^३ऽन्तोऽय युगयुङ्गमिश्रभेदतः ॥ ११८ ॥
युगमोऽन्तः प्रथमस्तेषां व्यश्च इत्याह दत्तिलः ।
स्थितं प्रवृत्तमपरं^४ महाजनिकमित्यपि ॥ ११९ ॥
त्रीण्यङ्गानि पृथक् तेषां लक्षणं प्रतिपाद्यते ।

(क०) पक्षान्तरेण वैहायसं प्रयोजयति—यद्वेति ।
कलाप्रयोगेण शून्यादिति ‘वैहायसे तु निविशाः’ (श्लो. १३१
अत्रैव) इत्यादिना वक्ष्यमाणेन कलाप्रयोगेण रहितात् । कला-
चतुष्ककालादिति । गुरुचतुष्टयमितकालादनन्तरम् । एकक-
व्रितयात्^५ एककानि नाम गीताङ्गानि, तेषां व्रितयात् । इदम्
पूर्वोक्तं वैहायसं स्यात् । एकाङ्गादीति । अदः एतद्वैहायसम् ।
एकाङ्गादिषडङ्गान्तमिति । एकस्मिन्पक्षे षड्भेदयुक्तम् । द्वादशा-
ङ्गान्तमिति । पक्षान्तरे द्वादशभेदयुक्तमित्यर्थः । सर्वेषु भेदेषु
आद्यमङ्गं विविधः स्यात् । ततः परमङ्गानि एककानि^६ भवन्ति ।
‘एकाङ्गदेशे विविधः । एवं द्व्यङ्गादिभेदेषु द्वितीयादीन्यङ्गा-
न्येककानि भवन्तीत्यर्थः । तदिति तद्वैहायसम् । द्वादशकलम्
द्वादशगुरुकालमितम् । उल्लोप्यकसमापकम् उल्लोप्यकस्य
समाप्तिकृत् । अङ्गनिवेशने अङ्गानां विविधादीनां निवेशने
प्रयोगे ; वर्णानुकर्षणं वर्णानामक्षराणाम्, अनुकर्षणं पुनरुच्चारणं
तालावृत्तिश्च कर्तव्यं भवत इत्यर्थः । यद्वेत्यादि । वैहायसात्मिका

^१ अन्यथा (D).

^२ ज्योतिषि (D).

^३ माहा (D).

^४ एककल व्रितयात् । एककाली नाम (C).

^५ ख. ग. न भवन्ति fn. I ed.

^६ एकाङ्गभेदे (C).

^७ पुनः पुनः उच्चारणं (D).

इयं मात्रा केषांचिन्मते शाखेत्युदिता । केचिद्वैहायसमेव शाखां वदन्तीत्यर्थः । सा शाखेव अन्यपदनिमिता^१ प्रतिशाखेत्युक्ता । ततो यथाक्षरे पञ्चपाणौ अन्ताहरणं नामाङ्गं प्रोक्तम् । गीतकस्य उल्लोप्यकस्य समाप्तिरुक्तं, एतदन्ताहरणमेव संहरणमिति संज्ञान्तरेणापि प्रोक्तम् । अत्र संहरणे वृत्तं स्यात् । वृत्तं नाम 'वृत्तं तिस्रश्चतस्रो वा पञ्च षड्वा विदारिकाः' (श्लो. १०८ अत्रैव) इत्यादिनोक्तलक्षणमित्यनुसंधेयम् । अन्यदा त्विति । अन्ताहरणाभावपक्षे त्वेकं विविधो वा भवेत् । अथ अन्ताहरणानन्तरम् । अन्तः अन्तो नामाङ्गविशेषः । युगयुङ्मिश्रभेदत इति । युगिति युग्मः; अयुगित्ययुग्मः; मिश्र इति युग्मायुग्मः; एवं त्रिधा भवति । तेषामिति त्रयाणां मध्ये । युग्मो^२ऽन्तः प्रथम इति । भरतादिमतेनेति शेषः । दत्तिलस्तु व्यश्रः प्रथम इत्याह । व्यश्रोऽयुग्मः । स्थितमित्यादि । तेषां युग्मादीनां पृथक् प्रत्येकं स्थितं प्रवृत्तं महाजनिकमिति त्रीण्यङ्गानि ॥ ११३-११६-॥

(सु०) पक्षान्तरमाह—यदेति । अथवा मात्रानन्तरं प्रयोज्यमानात् कलाप्रयोगशून्यं कलाचतुष्टयानन्तरं वैहायसं गेयम् । इदं तु कलाचतुष्टयानन्तरं विहितं वैहायसम् एककलत्रितयात् स्यात् । एककले द्विकले चतुष्कले चेति उल्लोप्यके कर्तव्य इत्यर्थः । एकाङ्गादौति । आदौ वैहायसम्, एकमङ्गमादौ यस्य तत् । तथा षडङ्गान्यन्ते यस्य । अथवा द्वादशाङ्गान्तं वा कर्तव्यम् । किमङ्गमादौ कानि चान्ते इत्यपेक्षायामाह—विविध इति । अस्य वैहायसस्य पूर्वं च लक्षितो विविध आद्यमङ्गम् । एककानि परम् अन्त्यमङ्गम् । तस्य वैहायसस्य लक्षणमाह—तदिति । द्वादशकलानिबद्धं तद्वैहायसम् उल्लोप्यकं समापयति । अङ्गसहितस्य वैहायसस्य संज्ञान्तराण्याह—वर्णानुकर्षणमिति । इयं वैहायसरूपा !

१ निमिता (C).

२ ज्ञ (C).

मात्रा अङ्गनिवेशने सति पुनरुच्चारणं वर्णानुकर्षणमित्युच्यते, तालावृत्तिश्च कर्तव्या । शाखेति । शाखावदेव प्रतिशाखा । किंतु सा अन्यः पदैर्वा आम्नायते । अतश्च सापि वैहायसानन्तरं गेयेत्यर्थः । अत्रेति । अत्र उल्लोप्यके । यथाक्षरे षट्पितापुत्रके अन्ताहरणं कर्तव्यमित्युक्तम् । तदेव संहरणमित्युक्तं भवति । अनेन गीतस्य समाप्तिर्भवति । वृत्तसंहरणनामानि तु अन्ताहरणे यदा उपनिबद्धमेकमङ्गं स्यात् । विविधो वा भवेदिति संबन्धः । त्रिधेति । अथ, तत्तत् अन्ताहरणात् त्रिविधोऽन्तः कर्तव्यः । युक् अयुक् मिश्र इति । तेषामन्तानां मध्ये अन्तः व्यश्रयुक् प्रथम इति दत्तिल आह । स्थितमिति । तेषां त्रयाणामन्तानां प्रत्येकं त्रीण्यङ्गानि स्युः स्थितं प्रवृत्तं महाजनिकमिति ॥ ११३-११६-॥

युग्मे द्विकलयुग्मेन स्थितं स्थायिगतं मतम् ॥ १२० ॥

तेनैव तत्प्रवृत्तं स्याद्दृढदृष्टतकलात्रये ।

आद्ये कलाचतुष्केऽन्ये^१ पदानि प्राञ्चि योजयेत् ॥ १२१ ॥

विविधोऽस्याद्य^२भागे स्यादेकं तु ततः परम् ।

पूर्वाधिस्यपदावृत्त्या युङ्गमहाजनिकं विदुः ॥ १२२ ॥

स्थिततालयुतं तस्य गीताङ्गनियमो^३ न वा ।

व्यश्रेऽन्ते^४ व्यश्रतालाने द्विकलेन स्थितं भवेत् ॥ १२३ ॥

यथाक्षरेणोत्तरेण प्रवृत्तं तत्र कीर्तितम् ।

व्यश्रेण महाजनिकं महाजनिकवन्मतम् ॥ १२४ ॥

(क०) स्थितादीनां लक्षणमाह—युग्म इत्यादि । ^५युग्मे, द्विकलयुग्मेन द्विकलचच्चतुष्टयेन । स्थायिगतं स्थायिवर्णगतम्, स्थायिस्वरगतम् । तेनैवेति । द्विकलचच्चतुष्टयेनैव; तत्प्रवृत्तं युग्म-

१ षोऽन्ये (D).

२ मङ्गं (D).

३ भे (D).

४ ज्ये (D).

५ ख. ग. युग्मेन । fn. 1 ed.; युग्मेज्जे (C).

प्रवृत्तं स्यात् । तत् तत्र । आद्ये कलात्रय उद्धट्ट इति । उद्धट्टके तु निष्कामं शम्पाद्वय^१ च योजयेदित्युद्धट्टोक्ताः पातकला निशशा^२ योजनीया इत्यर्थः । अन्ये कलाचतुष्के प्राञ्चि पदानि योजयेदिति । आद्यकलाचतुष्कोक्तान्येव पदान्यन्त्यकलाचतुष्केऽपि गायेदित्यर्थः । अस्याति । युग्मप्रवृत्तस्य । आद्यमङ्गं विविधः स्यात् । ततः परं त्वेककं स्यात् । पूर्वार्धस्थेत्यादि । पूर्वार्धस्थ-पदावृत्त्येति । महाजनिके पूर्वार्धस्थितानामेव पदानामावृत्तिः कर्तव्या, नोत्तरार्धस्थितानामित्यर्थः । युद्धमहाजनिकमिति । युग्मे महाजनिकम् । स्थिततालयुतमिति । युग्मस्थिते यस्ताल उक्तो द्विकलचच्चत्पुटेः, तेन युक्तमित्यर्थः । तस्य महाजनिकस्य, गीताङ्गनियमः विविधादीनां गीताङ्गानां नियमो न^३ वेति यथारुचि कर्तव्यानीत्यर्थः । व्यश्रेञ्जत इत्यादिना । द्विकलेन व्यश्रेतालेन द्विकलचाचपुटेन स्थितं भवेत् । तत्र व्यश्रे अयुग्मे यथाक्षरेणोत्तरेण प्रवृत्तं कीर्तितम् । व्यश्रेण महाजनिकं व्यश्रेण द्विकलचाचपुटेन । महाजनिकवदिति । युग्ममहाजनिकवत् पूर्वार्ध-स्थपदावृत्त्या कर्तव्यमित्यर्थः ॥-१२०-१२४ ॥

(सु०) एतेषां लक्षणमाह—युग्म इति । युग्मे अन्ते, द्विकलयुग्मेन चच्चत्पुटेन स्थायिवर्णगतं स्थितमित्युच्यते । तेनैव द्विकलेन चच्चत्पुटेन प्रवृत्तं स्यात् । किंतु तत्कलात्रये आद्ये उद्धट्टः । कलाचतुष्के अन्त्ये पूर्वपदानि गायेत् । आद्ये रागे विविधः; अन्त्ये एकमिति । पूर्वार्धस्थानां पदानामावृत्तिश्चेत् तदा^४ प्रवृत्तं महाजनिकमिति भरतादयो विदुः । तन्महाजनिकं स्थिते विलम्बितस्थले लयो यस्य । अथवा स्थितस्य अङ्गस्य यस्ताले लयः

^१ द्रष्टुं च (C).

^२ निशशा (D).

^३ न चेति (C).

^४ व्यश्रेतालेन (C).

^५ निवृत्तं (A).

^६ स्थितं (A).

तद्युक्तं कर्तव्यम् । गीताङ्गनियमो नास्ति । अथ इति । अयुग्मं चेत्, तदा चाचपुटतालेन द्विकलेन स्थितं भवेत् । यथाक्षरेण षट्पितापुत्रकेण प्रवृत्तं भवेत् । द्विकलेन चाचपुटेन महाजनिकं भवेत् । तदेव महाजनिकं युग्ममहा-जनिकवत् कर्तव्यमित्यर्थः ॥-१२०-१२४ ॥

^१ मिश्रोऽन्तः षड्विधः प्रोक्तो युग्मायुग्माङ्गमिश्रणात् ।

एककं विविधो वा स्यादनुक्ताङ्गस्थितादिषु ॥ १२५ ॥

^२ विविधाभ्यां वैककाभ्यां यद्वा युग्मस्थितं भवेत् ।

अयुगन्यतराङ्गं स्यात् प्रवृत्तं स्थितवन्मतम् ॥ १२६ ॥

प्रवृत्ताभ्यां प्रवृत्तेन युगयुग्मं परेऽब्रुवन् ।

^३ महाजनिकमन्तः स्याद् द्व्यङ्ग एकाङ्गकः परम् ॥ १२७ ॥

द्व्यङ्गो यदा तदान्तः^४ स्यान्महाजनिकवर्जितः ।

स्थितप्रवृत्तहीनोऽयं यदेकाङ्गश्चिकीर्षितः ॥ १२८ ॥

(क०) मिश्रोऽन्त इत्यादि । युग्मायुग्माङ्गमिश्रणादिति । युग्माङ्गस्य अयुग्माङ्गस्य च मिश्रीकरणात् षड्विधो भवतीत्यर्थः । अनुक्ताङ्गस्थितादिष्विति । अनुक्तानि विविधाद्यङ्गानि येषां तानि अनुक्ताङ्गानि । तानि स्थितादीनि स्थित-प्रवृत्तमहाजनिकानि तेषु । एककं वा विविधो वा यथाकामं भवति । विविधाभ्यां वैककाभ्यां यद्वा युग्मस्थितं भवेत् । अयुगन्यतराङ्गं स्यात्प्रवृत्तं स्थितवन्मतम् इत्यत्र षडपि मिश्रभेदा द्रष्टव्याः । यद्वा विविधाभ्यां वैककाभ्यां वा उभयाद्वा युग्मस्थितं प्रथमं भवेत् ।

^१ मिश्रान्तः I ed.

^२ ग. द्विविधो । ख. घ. विविधो fn. I ed.

^३ द्विविधा (D).

^४ प्रवृत्तस्थितवन्मतम् I ed.

^५ माहा (D).

^६ तदास्य स्यान्माहा (D).

^७ यथा (D).

प्रवृत्तं स्थितवन्मतमिति । विविधाभ्यामेककाभ्यां वा युग्मप्रवृत्तं भवेदित्यर्थः । अयुगन्यतराङ्गमिति । युग्माङ्गापेक्षया अयुग्म-संबन्धि महाजनिकादिकमङ्गं भवेदित्यर्थः । प्रथमभेदे युग्मस्य स्थितप्रवृत्ते ओजस्य महाजनिकं कर्तव्यम् । द्वितीये मिश्रभेदे ओजस्य स्थितप्रवृत्ते युग्मस्य महाजनिकं च । तृतीये भेदे युग्मस्य स्थितमोजस्य प्रवृत्तमहाजनिकं च । चतुर्थे भेदे ओजस्य स्थितं युग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिकं च । पञ्चमे भेदे युग्मस्य स्थितमोजस्य प्रवृत्तं युग्मस्य महाजनिकं च । षष्ठे भेदे ओजस्य स्थितं युग्मस्य प्रवृत्तमोजस्य महाजनिकं चेति षट्सु भेदेषु लक्षणं यथायोगं योजनीयम् । प्रवृत्ताभ्यां प्रवृत्तेन युगयुग्मं परेऽब्रुवन् । महाजनिकम् इति । परे आचार्याः । प्रवृत्ताभ्यामिति सहाय्यं तृतीया । प्रवृत्ताभ्यां सहितं महाजनिकं प्रवृत्तेन सहितं महाजनिकं च । युगयुग्मम् युक् चायुग्मं चेति द्वन्द्वः । मिश्रमित्यर्थः । एवं मिश्र-मतमब्रुवन् । पुनरन्तस्य द्वैविध्यमाह—अन्तः स्यादित्यादि । महाजनिकवर्जित इति । स्थितप्रवृत्ताभ्यामेव द्वयङ्गो भवती-त्यर्थः । स्थितप्रवृत्ति'हीनोऽयमिति । महाजनिकेनैव एकाङ्गो भवतीत्यर्थः ॥ १२५-१२८ ॥

(सु०) मिश्रोऽन्त इति । युग्मम् संकरागतम् । मिश्रोऽन्तः षड्विधः । युग्मस्य स्थितप्रवृत्ते अयुग्मस्य महाजनिकमित्येकः । अयुग्मस्य स्थितप्रवृत्ते युग्मस्य महाजनिकमिति द्वितीयः । युग्मस्य स्थितम् अयुग्मस्य प्रवृत्तं महाजनिकमिति तृतीयः । अयुग्मस्य स्थितं युग्मस्य प्रवृत्तं महा-जनिकमिति चतुर्थः । युग्मस्य स्थितम् अयुग्मस्य प्रवृत्तं युग्मस्य महा-जनिकमिति पञ्चमः । अयुग्मस्य स्थितं युग्मस्य प्रवृत्तम् अयुग्मस्य महा-

जनिकमिति षष्ठः । एककमिति । अनुक्तानां विविधाङ्गानाम् एषु स्थितप्रवृत्तमहाजनिकेषु एककं विविधो वा शास्त्रः । पश्चात्तरमाह—विविधान्यामिति । अयुग्मस्यान्तस्य स्थितं विविधद्वयेन एककद्वयेन च युग्मलितं कार्यम् । अयुग्मस्य तु स्थितम् अन्यतराङ्गं स्यात् । विविधो वा, एककं वा तत्राङ्गत्वेन शास्त्रमित्यर्थः । मतान्तरमाह—प्रवृत्ताभ्यामिति । तत्र युगयुग्मे [युग्म] (?) प्रवृत्तद्वयेन, अयुग्मम् एकेन प्रवृत्तेन कर्तव्य-मित्याहुः । महाजनिकमिति । अङ्गद्वयेन सहितं कार्यम् । अन्यदेकाङ्ग-मिति । द्वयङ्ग इति । स्थितप्रवृत्ताभ्यां युक्तः यदा अन्तः मिश्रः क्रियते, तदा महाजनिकहीनः स्थितप्रवृत्ताभ्यां युक्तः कर्तव्यः । एकाङ्गस्तु । स्थितप्रवृत्तहीनोऽयमिति । यदा अयं महाजनिकः स्थितप्रवृत्तहीनः तदा एकाङ्गश्च महाजनिकेनैव भवति ॥ १२५-१२८ ॥

शताशतासमित्येककल उल्लोप्यके कलाः ।

द्विकले स्युनिशनिता शतानिसमिति क्रमात् ॥ १२९ ॥

चतुष्कले त्वानिविशिष्टास्त^१ आनिविताः क्रमात् ।

भवन्त्याशविता आनिविस्^२ मात्रां गताः कलाः ॥ १३० ॥

वेहायसे तु निविशानिवितानि^३ शताशताः^४ ।

संनिपातश्चेति कलाः स्थिते निः पञ्चमो भवेत् ॥ १३१ ॥

(क०) अथैककलाद्युल्लोप्यकभेदानां पातकलायोगं दर्शयति—शताशतासमित्यादिना । स्थिते निः पञ्चमो भवेदिति । यग्मे द्विकलयुग्मेनेति युग्मस्थिते द्विकलवच्चच्चत्पुट उक्तः । तस्य च 'निशौ नैताशप्रनिस् द्विकले युग्मे कः मताः' (श्लो. ३० अत्रैव) इति पातकलायोगः पूर्वमेवोक्तः । तेन पञ्चमस्य गुरोः

^१ स्तत्स्त्वानि (D).

गलाः (D).

^२ मात्रा मता इति पाठः fn. I ed.; मात्रा गता

^३ शानि (D).

^४ ता (D).

शम्यायां प्राप्तायां तदपवादत्वेन निष्कामोज्जेन विधीयते ।
पञ्चमादन्ये पूर्वोक्ता एव ॥ १२६-१३१ ॥

(सु०) कलाविधिमार्ह—शतेति । एककले उल्लोप्यके शम्या-
तालशम्याताल संनिपाताः । द्विकले तु निष्कामशम्यानिष्कामतालशम्या-
तालनिष्कामसंनिपाताः । चतुष्कले तु आवापादयः षोडश आद्याक्षरैर्ज्ञा-
तव्याः । वैहायसे तु निष्कामादयः संनिपातान्ता द्वादश । स्थिते निष्कामः
पञ्चमः । पञ्चमादन्याः कलाः द्विकलचच्चतुष्टवत् । तत्र प्रवृत्तः कला-
त्रयानन्तरं पञ्चसु कलासु शम्यातालशम्यातालसंनिपाताः ॥ १२६-१३१ ॥

शताशतासंनिपाताः प्रवृत्ते 'त्रिकलादनृ ।

व्यश्रे स्थिते चतुर्थः प्र इत्युल्लोप्ये कलाविधिः ॥ १३२ ॥

वैहायसादि^१निर्मुक्तमथवा स्याच्चतुष्कलम् ।

अन्तान्तमन्ताहरण^२प्रान्तं वैहायसान्तिमम् ॥ १३३ ॥

मात्रामात्रमिति प्रोक्तं तच्चतुर्धा पुरातनैः ।

(क०) त्रिकलादन्विति । प्रवृत्ते 'उद्भट्टस्तु कलात्रये
आद्ये' (श्लो. १२०-१ अत्रैव) इत्युक्तत्वात् तदनन्तरे कला-
पञ्चके शताशतासंनिपाताः कर्तव्या भवन्ति । व्यश्रे स्थिते चतुर्थः
प्र इति । व्यश्रे चाचपुटे 'निशौ ताशौ निसमिति ज्ञेयाः चाच-
पुटे क्रमात्' (श्लो. ३० अत्रैव) इत्युक्तत्वात्, चतुर्थे शम्यायां
प्राप्तायां तदपवादत्वेन 'प्रवेशोज्जेन विधीयते ।' ^३चतुर्थादन्ये
पूर्वोक्ता एव । वैहायसादिनिर्मुक्तमित्यादि । अथवा इति पक्षा-
न्तरप्रदर्शनम् । चतुष्कलमुल्लोप्यकं वैहायसादि^४निर्मुक्तम् । आदि-

^१ ति कला (D).

^२ निर्युक्त (D).

^३ णं (D).

^४ निष्कामो ? (C).

^५ पञ्चमा ? (C).

^६ निर्युक्तम् (C).

शब्देन 'अन्ताहरणान्तयोर्ग्रहणम् । वैहायसान्ताहरणान्तैर्वर्जितं
भवतीत्यर्थः । अन्तान्तमित्यादि । तच्चोल्लोप्यमन्तान्तं कदाचिन्मा-
त्रायाः समनन्तरं वैहायसे तदनन्तरमन्ताहरणे तदनन्तरमन्ते च
प्रयुक्ते सत्यन्तान्तमुल्लोप्यं भवति । अन्ताहरणप्रान्तमिति । कदा-
चिन्मात्रावैहायसान्ताहरणेषु पूर्ववत्प्रयुक्तेष्वन्ताहरणान्तमुल्लोप्यं
भवति । वैहायसान्तिममिति । कदाचिन्मात्रावैहायसयोरेव
प्रयुक्तयोर्वैहायसान्तिममुल्लोप्यं भवति । मात्रामात्रमिति ।
कदाचिन्मात्रायामेव प्रयुक्तायां मात्रामात्रमुल्लोप्यं भवति ।
वैहायसादिनिर्मुक्तमित्यर्थः; इति पुरातनैः आचार्यैः चतुर्धोक्तम्
॥ १३२-१३३-॥

(सु०) आद्यकलात्रये तु द्विकलचाचपुटोक्तः । व्यश्रे स्थिते
चतुर्थः प्रवेशः । अन्यत् द्विकलचाचपुटवत् । वैहायसादिभिः चतुष्कल-
मुल्लोप्यकं वैहायसान्ताहरणान्तैर्हीनं कर्तव्यम् । अथवेति पक्षान्तरे । तत्
उल्लोप्यकमपि । क्वचित् अन्तान्तं भवति । क्वचित् अन्ताहरणप्रान्तं
भवति । कदाचित् वैहायसान्तिमं भवति । कदाचित् मात्रामात्रं
भवतीति चत्वारः पक्षाः पुरातनैः आचार्यैः वैकल्पिकत्वेन निर्दिष्टाः
॥ १३२-१३३-॥

प्रस्तारः—

SS I I S

शता शता सं ॥ इत्येककलोल्लोप्यकमात्रा ।

SS SS SS SS

निश निता शता निसं ॥ इति द्विकलमात्रा ।

^१ अन्तान्ताहरणयो (C).

SSSS SS SS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ॥

इति चतुष्कलमात्रा ।

इति मात्रामात्रमुल्लोप्यकम्

(क०) अस्य प्रस्तारो यथा—गुरुद्वयं लघुद्वयं गुरुं च लिखित्वा तदधः शताशतासान् लिखेत् । इत्येककलोल्लोप्यकमात्रा । ततः सविच्छेदं गुरुचतुष्टयद्वयं लिखित्वा तदधो निशनितान्, शतानिसांश्च लिखेत् । इति द्विकलोल्लोप्यकमात्रा । ततः सविच्छेदं गुरुचतुष्कचतुष्टयं लिखित्वा तदधस्तात् आनिविशान्, आनिवितान् आशवितान्, आनिविसांश्च क्रमेण लिखेत् । इति चतुष्कलोल्लोप्यकमात्रा ॥

इति मात्रामात्रमुल्लोप्यकम्

SSSS SSSS SSSS SSSS
*आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ।

SSSS SSSS SSSS SSSS
[निविश निविता निशता शतासं] ।

वैहायसान्तं चतुष्कलमुल्लोप्यकम् ।

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ॥

चतुर्मात्रामात्रप्रयोगशून्यचतुष्कला ।

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ॥

चतुष्कलान्तमुल्लोप्यकम् ।

SSSS SSSS SSSS SSSS
निविश निविता निशता शतासं । मात्रा १ ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ।

SSSS SSSS SSSS SSSS
निविश निविता निशता शतासं ।

इत्युल्लोप्यकलाप्रयोगः ।

शून्यकला चतुष्कलानन्तरं वैहायसरूपम् । चतुष्कला मात्रा ।

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं । शाखा ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS
निविश निविता निशता शतासं ॥ एवमेव पदान्तरनिर्मिता

प्रतिशाखा ॥ ततः संहरणाख्यमन्ताहरणम् ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं । चतुष्कलमात्रा ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS
निविश निविता निशता शतासं । वैहायसम् ॥

५ । SS । ५
संता शता शता । अन्ताहरणम् ॥

इति संहरणाख्यमन्ताहरणम् इत्यन्ताहरणान्तमुल्लोप्यकम् ।

इत्यन्ताहरणान्तमुल्लोप्यकम्

SSSS SSSS SSSS SSSS
* [आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं । वैहायसान्तं
चतुष्कलमुल्लोप्यकम् ।

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ।

चतुर्मात्रामात्रप्रयोगशून्यचतुष्कला ।

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ।

अथ युग्मप्रवृत्तान्तं महाजनिकस्थितान्तमुल्लोप्यकं यथा—
चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं

SSSS SS SSS SS SSS SSS SSS
निशश^१ शता शता सं । निश निता निप्र निसं ॥

अथ युग्मस्थितमयुग्मस्थितान्तमुल्लोप्यकं यथा—
चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं

SSSS SS SS SSS SS SSS
निश निता निप्र निसं । निश ताप्र निसं ॥

अथ अयुग्मप्रवृत्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं

डे। SS डे
संता शता शता ॥

अथ अयुग्मप्रवृत्त युग्ममहाजनिकं यथा—

चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं

डे। SSS डे SSS SSS SSS
संता शता शता । निश निता शप्र निसं ॥

अथ मिश्रान्तस्य षड् भेदाः । तत्र युग्मस्थितप्रवृत्ता-
युग्ममहाजनिक मिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रा—आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ।
SSSS SSSS SSSS SSSS

वैहायसं—निविश निविता निशता शतासं ।
SSS SSS SSS SSS

^१ निशता (D).

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS
निश निता निप्र निसं । निशश^१ शता शता सं । निश ताश

SS
निसं । इति युग्मस्य स्थितप्रवृत्तेऽयुग्मस्य महाजनिकम् ॥ १ ॥

अथायुग्मस्थितप्रवृत्ते युग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लो-
प्यकं यथा—

SSSS SSSS SSSS SSSS
चतुष्कलमात्रा—आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ।

वैहायसं—निविश निविता निशता शतासं ।
SSS SSS SSS SSS

SSSS SSS डे। SS डे SSS SSS SSS
निशता प्रनिसं । संता शता शता । निश निता शप्र निसं ॥

इत्ययुग्मस्थितप्रवृत्ते युग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकम् ॥ २ ॥

अथ युग्मस्थितायुग्मप्रवृत्तमहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं
यथा—

SSSS SSSS SSSS SSSS
चतुष्कलमात्रा—आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ।

वैहायसं—निविश निविता निशता शतासं ।
SSS SSS SSS SSS

SSSS SSSS SSSS SSSS
निश निता निप्र निसं । संता शता शता । निश ताश निसं ।

इति युग्मस्य स्थितमयुग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिकम् ॥ ३ ॥

अथायुग्मस्थितं युग्मप्रवृत्तकं यथा [तथा] महाजनिक-
मिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

^१ निशता (D).

९९९९ ९९९९ ९९९९ ९९९९
आनिविश आनिविता आशविता आनिविस् । इति चतुष्कला मात्रा ।

९९९९ ९९९९ ९९९९ ९९९९
वैहायसम्—निविश निविता निशता शतास ।

९९ ९९ ९९ ९९
स्थितप्रवृत्तयुग्ममहाजनिकम्—निश निता शप्र निस् ।

अथ मिश्रान्तस्य षड्भेदाः ।

तत्र युग्मस्थितप्रवृत्तायुग्ममहाजनिक मिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

९९९९ ९९९९ ९९९९ ९९९९
चतुष्कला मात्रा—आनिविश आनिविता आशविता आनिविस् ।

९९९ ९९९९ ९९९ ९९९
निविश निविता निशता शतास । इति वैहायसं ।

युग्मस्थितप्रवृत्ते [९] ? युग्मस्य महाजनिकम्—निश निता शप्र निस् ।

९९९९ ९९
निश ताश निस् ॥ १ ॥

अथायुग्मस्थितप्रवृत्ते युग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

९९९ ९९९ ९९९ ९९९ ९९९
निशता शनिस् । निशनि ताश प्रनिस् ॥

इत्ययुग्मस्थितप्रवृत्ते युग्ममहाजनिकम् ॥ २ ॥

अथ युग्मस्थितायुग्मप्रवृत्तमहाजनिक मिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

९९९९ ९९९९ ९९९९ ९९९९
चतुष्कलमात्रा—आनिविश आनिविता आशविता आनिविस् ।

९९९ ९९९ ९९९ ९९९
वैहायसम्—निविश निविता निशता शतास ।

९९ ९९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९
निश निता शप्र निस् । संता शता शता । निशता शनिस् ॥

युग्मस्य स्थितमयुग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिकमिति ॥ ३ ॥ [अथायुग्मस्थितं ?]

युग्मप्रवृत्तकं यथा—महाजनिक मिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

९९९९ ९९९९ ९९९९ ९९९९
चतुष्कलमात्रा—आनिविश आनिविता आशविता आनिविस् ।

९९९ ९९९ ९९९ ९९९
वैहायसम्—निविश निविता निशता शतास ।

९९९ ९९९ ९९ ९९९ ९९ ९९ ९९ ९९
निशता प्रनिस् । निश शता शता शस [?] । निश निता शप्र निस् ॥

इत्ययुग्मस्थितं युग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिके ॥ ४ ॥

अथ युग्मस्थितायुग्मप्रवृत्तयुग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९
निश निता शप्र निस् । आनिविश आनिविता आशविता आनिविस् [?] ।

९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९
संता शता शता । निश निता शप्र निस् ।

इति युग्मस्य स्थितमयुग्मप्रवृत्तं महाजनिकम् ॥ ५ ॥

अथायुग्मस्थितं युग्मप्रवृत्तायुग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

९९९९ ९९९९ ९९९९ ९९९९
चतुष्कलमात्रा—आनिविश आनिविता आशविता आनिविस् ।

९९९ ९९९ ९९९ ९९९
वैहायसम्—निविश निविता निशता शतास ।

९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९ ९९
निश निता शप्र निस् । [?] निश निता शप्र निस् [?] । निशता शनिस् ।

इति युग्मस्थितमयुग्मस्य प्रवृत्ताभ्यां [इत्ययुग्मस्थितयुग्मप्रवृत्ताभ्यां?] एकाङ्गो महाजनिकेन । एते षण्मिश्रेभेदाः । द्वचङ्गो वा मिश्रः स्थितप्रवृत्ताभ्यामेकाङ्गो वा महाजनिकेन । I. ed.]

इत्यन्तान्तमुल्लोप्यकम्

(क०) अथवा ततो युगयुद्धमिश्र इति त्रिविधोऽन्तः

कर्तव्यः । तस्य प्रत्येकं स्थितप्रवृत्तमहाजनिकाख्यानि दीप्यङ्गानि कर्तव्यानि । तत्र युग्मस्थितं यथा—सविच्छेदं गुरुचतुष्कद्वयं लिखित्वा तदधो निशनितान् निप्रनिशांश्च लिखेत् । युग्मप्रवृत्तं यथा—पूर्ववद् गुर्वष्टकं लिखित्वा तदधो निशशशताशतासान् लिखेत् । ततो युग्ममहाजनिकं युग्मस्थितवलिखेत् [युग्मस्थिते यस्ताल उक्तो द्विकलचञ्चत्पुटः तेन युक्तं । गुर्वष्टकं लिखित्वा तदधो निश निता शप्र निशांश्च लिखेत् ।] अयुग्मस्थितं यथा—षड्गुरुन् लिखित्वा तदधो निशता प्रनिसान् लिखेत् । अयुग्मप्रवृत्तं यथाक्षरेणोत्तरेण लिखेत् । अयुग्ममहाजनिकमयुग्मस्थितवलिखेत् [व्यथ्रेण द्विकलचाचपुटेन स्थितं भवेत् । षड्गुरुन् लिखित्वा तदधो

निश ताश निसान् लिखेत् ।] षड्विधो मिश्रान्तो यथा—तत्र युग्मस्थितप्रवृत्ते अयुग्ममहाजनिकं च पूर्वोक्तप्रकारेण लिखेत्; इत्येको मिश्रः । अयुग्मस्य स्थितप्रवृत्ते युग्मस्य महाजनिकं च लिखेत्; इति द्वितीयो मिश्रः । युग्मस्य स्थितेऽयुग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिके च लिखेत्; इति तृतीयो मिश्रः । अथायुग्मस्य स्थितं युग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिके च लिखेत्; इति चतुर्थो मिश्रः । युग्मस्य स्थितमयुग्मस्य प्रवृत्तं युग्मस्य महाजनिकं च लिखेत्; इति पञ्चमो मिश्रः । अयुग्मस्य स्थितं युग्मस्य प्रवृत्तमयुग्मस्य महाजनिकं च लिखेत्; इति षष्ठो मिश्रः । इति मिश्रान्तस्य षड्भेदाः । द्वयङ्गो वा स्थितप्रवृत्ताभ्यामेकाङ्गो महाजनिके द्रष्टव्यः ॥

इत्यन्तान्तमुल्लोप्यकम् ।

चतुष्कलानि चत्वारि प्रकर्यादीन्युदाहरन् ॥ १३४ ॥
प्रकरी स्याच्चतुर्वस्तु यद्वा सार्धत्रिवस्तुका ।
तत्रार्धमन्त्यमादौ स्याद् वस्तु षण्मात्रमिष्यते ॥ १३५ ॥
सार्धत्रिवस्तुपक्षे तु भवेदधुमुपोहनम् ।
पक्षान्तरे वस्तुमात्रं न वा स्यात् प्रत्युपोहनम् ॥ १३६ ॥
कनिष्ठासारितं प्रोक्तमत्र संहरणं बुधैः ।
वृत्तं च त्रिविदारीकमस्मिन्संहरणे मतम् ॥ १३७ ॥
अन्त्यस्य त्वन्तिमा मात्रा कैश्चित् संहरणं मता ।
अन्ते वा सप्तमी मात्रा परैः संहरणं स्मृता ॥ १३८ ॥
वस्त्वर्धेऽप्यह गोताङ्गविधिर्भ्रमकवद्भवेत् ।

(क०) अथ प्रथमं तावत्प्रकर्यादीनां चतुर्णां सामान्य-
लक्षणमाह—चतुष्कलानीत्यादि । प्रकर्यादीनि चत्वारि ।
प्रकर्यावेणकरोविन्दकोत्तराणीत्यर्थः । चतुष्कलानि चतुष्क-
लान्येव । एककलद्विकलाख्यभेदद्वयरहितानीत्यर्थः । उदाहरन्,
आचार्या इति शेषः । तत्र प्रकरीं लक्षयति—प्रकरी स्यादित्या-
दिना । तत्रार्धमिति । तत्र सार्धत्रिवस्तुकायां प्रकर्यामन्त्यमर्धं
न्यायतो वस्तुत्रयानन्तरप्राप्तत्वेनान्यवस्त्वर्धम् । आदौ स्यादि-
त्यनेन वचनेन वस्तुत्रयस्य आदौ कर्तव्यं स्यात् । प्रथमं वस्त्वर्धं
गीत्वा पश्चाद्वस्तुत्रयं गायेदित्यर्थः । सार्धत्रिवस्तुपक्षे तु भवेदधु-
मुपोहनमिति । वस्त्वर्धस्यादौ प्रयोगे प्रयोजनं दर्शितं भवति ।
पक्षान्तर इति । चतुर्वस्तुपक्ष इत्यर्थः । वस्तुमात्रमुपोहनं भवेत् ।
प्रत्युपोहनं न वा स्यादिति तस्यात्र वैकल्पिकं दर्शितम् । कनिष्ठा-
सारितमित्यादि । अत्र प्रकर्याम् । कनिष्ठासारितमेव संहरणं
प्रोक्तमिति ।

‘कनिष्ठासारिते युग्मः शम्यादिर्द्वाविधोत्तरी ।

एते यथाक्षरास्तेषां संनिपातोऽन्तिमेऽधिकः’ ॥

(श्लो. १०३ अत्रैव)

इति वक्ष्यमाणलक्षणं यत् कनिष्ठासारितं तदेवात्र प्रयुक्तं
संहरणं नामाङ्गमुच्यत इत्यर्थः । वृत्तं त्वित्यादि । अस्मिन्
संहरणे, त्रिविदारीकं वृत्तम् । मतमिति । ‘वृत्तं तिस्रश्चतस्रो
वा पञ्च षड्वा विदारिकाः’ (श्लो. १०८ अत्रैव) इत्युक्तेषु
वृत्तभेदेषु त्रिविदारीकमेवात्र कर्तव्यमित्यर्थः । अन्त्यस्य त्विति ।
अन्त्यस्य वस्तुनोऽन्तिमा षष्ठी मात्रा संहरणमिति केषांचिन्मतम् ।

अन्ते वेति । अन्त्यवस्तुनोऽन्ते नाशे; अनन्तरमित्यर्थः । सप्तमी मात्रेति । अन्त्यवस्त्ववयवत्वेन मात्रान्तरं परिकल्प्यमित्यर्थः । वस्त्वर्धेष्वित्यादि । इह प्रकर्याम् । वस्त्वर्धेषु गीताङ्गविधिमद्रक-वद्भवेदिति । पूर्वार्धेषु विविधः, उत्तरार्धेष्वेकं च कर्तव्य-मित्यतिदेशतोऽवगन्तव्यम् ॥ -१३४-१३५- ॥

(सु०) प्रकरीं लक्षयति—चतुष्कलानीति । प्रकर्यादीनि चत्वारि रीति । आदिना ओवेणकरोविन्दकोत्तराणां परिग्रहः । चतुष्कलानि चत्वारि षोडशकला प्रकरीमात्रा इति भरतादयः उदाहरन् अवादिषुः 'प्रकरी वस्तु षण्मात्रं पाताञ्चेकोनविंशतिः । वस्तु प्रमाणं कर्तव्यं तथैव च चतुष्कले ॥'

(ना. अ. ३२, श्लो. २७५) ।

सा प्रकरी चतुर्भिर्वस्तुभिः स्यात्; सार्धवस्तुत्रयेण वा । सार्धवस्तु-त्रयपक्षे अन्त्यमर्धमादौ गेयम् । ततो वस्तुत्रयम्, वस्तुनि षण्मात्राः कर्तव्याः । सार्धेति । यदा तु सार्धत्रिवस्तुका प्रकरी तदा वस्त्वर्धमुपोहनं कर्तव्यम् । चतुर्वस्तुपक्षे तु एकवस्तुमात्रमुपोहनम् । पक्षद्वयेऽपि प्रत्युपोहनं कर्तव्यं वा न वा । कर्तव्यपक्षे तु पूर्वोक्तलक्षणकमेव । कनिष्ठेति । अत्र प्रकर्याम् । कनिष्ठ्यासारितं संहरणं कार्यम् । आसारितं तु वक्ष्यते । अस्मिन् प्रकरीसंबन्धिनि संहरणे विदारीवयेण वृत्तं कर्तव्यम् । मतान्तरमाह—अन्त्यस्येति । अन्त्यस्य वस्तुनोऽन्तिमा मात्रा कैश्चिन्मुनिभिः संहरण-मित्यभिधीयते । परैः अपरैः वस्तु सर्वासां मात्राणामन्ते सप्तमी मात्रा संहरणं स्मृतम् । वस्त्वर्धेष्विति । इह प्रकर्या वस्तुनामर्धेषु गीताख्यमङ्ग-मद्रकस्थविविधवत्कर्तव्यम् ॥ -१३४-१३५- ॥

द्वितीयमात्रा तालान्ता ^१प्रकर्या वस्तुनो मता ॥ १३६ ॥

^२तुर्यायां द्वादशस्तालः ^३पञ्चम्यामष्टमस्तु शः ।

^१ प्रकर्या (D).

^२ तुर्या वा (D).

^३ ला (D).

याः षोडश कलाः प्रोक्ता द्विकले मद्रकोऽन्तिमाः ॥ १४० ॥

ताः षष्ठ्यामद्वितीयान्त्या मात्राः शम्यान्तिमा^१ मताः ।

शेषस्थानेष्वानिविप्रान् पादभागेषु निक्षिपेत् ॥ १४१ ॥

उपोहने कलापातान् न्यषेधन् दत्तिलादयः ।

^२षष्ठी वा सप्तमी मात्रा यदा संहरणं तथा ॥ १४२ ॥

कनिष्ठ्यासारितकला विनान्त्या^३ परिकीर्तिता ।

(क०) प्रकर्या वस्तुनः षट्सु मात्रासु पातकलायोगं दर्शयति—द्वितीयमात्रा तालान्ता इत्यारभ्य शेषस्थानेष्वानि-विप्रान् पादभागेषु निक्षिपेत् इत्यन्तेन । अत्र मात्रा तावत् षोडश-कलात्मिका । तत्र द्वितीयमात्रा तालान्ता तालाख्यपातान्ता । तुर्यायां मात्रायां द्वादशः तृतीयपादभागान्तो गुरुस्तालः कर्तव्यः । पञ्चम्यां मात्रायामष्टमः । द्वितीयपादभागान्त्यो गुरुः । शः शम्याख्यः पातः कर्तव्यः । द्विकले मद्रकोऽन्तिमाः याः षोडश कला इति । निशनिता, नितानिश, शताताश, ताशतासं, इति प्रोक्ता-स्ताः षष्ठ्यां मात्रायां कर्तव्याः । अद्वितीयान्त्या द्वितीया षष्ठीव्यतिरिक्ता मात्राः प्रथमातुतोयाचतुर्थीपञ्चम्यः शम्या-न्तिमाः, आसां षोडशो गुरुः शम्याख्यः पातः कर्तव्यः । शेषस्थाने-ष्विति । ^४उक्तेभ्योऽन्येषु पादभागेष्वानिविप्रान् कुर्यात् । उपोहन इत्यादि । दत्तिलादयः, उपोहने कलापातान् न्यषेधन्निति । अत्र केचित् पक्षे ध्रुवपातमाहुरिति गम्यते । 'ध्रुवपातमपातं वा' (श्लो. ६२ अत्रैव) इति मद्रकोक्तन्यायस्य संचारात् । षष्ठी

^१ का (D).

^२ ख. ग. घ. षष्ठी च fin. 1 ed.

^३ न्त्या (D).

^४ उपयुक्तेभ्यो (C).

‘वेत्यादि । अन्त्यां विनेति । ‘संनिपातोऽन्तिमोऽधिकः’ (श्लो. २८४ अत्रैव) इति कनिष्ठासारिते संनिपातात्मिकान्त्या कला वक्ष्यते; तां विहायेत्यर्थः ॥ -१३६-१४२- ॥

(सु०) पातकलाविधिमाह—द्वितीयेति । प्रकरीसंबन्धिनो वस्तुनो द्वितीयमात्रा तालान्ता । अन्त्यकलायां तालपातो ज्ञातव्यः । तुर्यायां चतुर्थमात्रायां द्वादशस्तालः, द्वादशी कला तालपातेन योज्या अपठवस्तुनः । पञ्चम्यां च मात्रायामष्टमः शम्याख्यः पातः कर्तव्यः । द्विकले मद्रके याः पूर्वं षोडश कलाः प्रोक्ताः निष्कामशम्यादयः, ताः षष्ठ्यां मात्रायां प्रयोज्याः । द्वितीयान्तिममात्रावर्जितासु मात्रा शम्या अन्तिमा मात्राः अन्त्यकलायां शम्यापातेन योज्याः । उक्तादन्येषु स्थानेषु प्रतिपादभागेषु आवापनिष्कामविक्षेपप्रवेशा योज्याः । दत्तिलादयस्तु—उपोहने कलापाताः न्यषेधन् नाङ्गीकुर्वन्ति । षष्ठी वेति । यदा षष्ठी सप्तमी वा मात्रा संहरणमित्यङ्गीक्रियते, तदा अन्त्यां कलां विना कनिष्ठासारितस्य कला ज्ञातव्याः ॥ -१३६-१४२- ॥

इति प्रकरी

प्रस्तारः—

SSSSSSSSSSSSSSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविप्र आनिविश ॥ मात्रा ॥ १ ॥

SSSSSSSSSSSSSSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविप्र आनिविता ॥ ,, ॥ २ ॥

SSSSSSSSSSSSSSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविप्र आनिविश ॥ ,, ॥ ३ ॥

SSSSSSSSSSSSSSSS
आनिविप्र आनिविप्र आनिविता आनिविश ॥ ,, ॥ ४ ॥

¹ वेत्यादि (D).

SSSSSSSSSSSSSSSS
आनिविप्र आनिविश आनिविप्र आनिविश ॥ ,, ॥ ५ ॥

SSSSSSSSSSSSSSSS
निश निता निता निश शता ताश ताश तास ॥ ,, ॥ ६ ॥

इति षण्मात्रात्मकं वस्तु

(क०) अस्याः प्रकर्याः प्रस्तारो यथा—वस्तुनः प्रथम-मात्रायां षोडशगुरून् सचतुष्कल¹पादभागविभागं लिखित्वा, तत्राद्येषु पादभागेषु प्रत्येकमानिविप्रान् लिखेत् । चतुर्थं त्वानिविशान् लिखेत् । इति प्रथममात्रा । द्वितीयामपि मात्रामेवमेव लिखेत् । किं तु षोडशस्य गुरोरधस्तालं लिखेत् । इति द्वितीय-मात्रा । तृतीयामपि मात्रां प्रथमावल्लिखेत् । इति तृतीया । चतुर्थ्यां मात्रायां पूर्ववत् षोडश गुरून् लिखित्वा तत्राद्ययोः पादभागयोः प्रत्येकमानिविप्रान् लिखेत्, तृतीये पादभागे आनिवितान्, चतुर्थे पादभागे आनिविशान् लिखेत् । इति चतुर्थी मात्रा । पञ्चम्यां मात्रायां प्रथमतृतीययोः पादभागयोः प्रत्येकमानिविप्रान्, द्वितीय-चतुर्थयोः प्रत्येकमानिविशान् लिखेत् । इति पञ्चमी मात्रा । षष्ठ्यां मात्रायां षोडशानां गुरूणामधो निशनिता, नितानिश, शताताश, ताशतासमित्येतान् पादभागविभागान् लिखेत् । इति षष्ठीमात्रा ।

इति षण्मात्रमेकं वस्तु

एवं चत्वारि वस्तूनि त्रीणि साधार्नि वा गीत्वा कनिष्ठा-सारितात्मकं संहरणं कार्यं यथा, अथवा अन्त्यसंनिपातवर्जिताभिः

¹ पादविभागं I ed.

यादृक् चतुष्कले वस्तु प्रागुक्तमपरान्तके ।
तादृक्पादस्ततद्वत् प्रतिपादः पदान्तरैः ॥ १४७ ॥
समं पादपदार्धेन प्रतिपादं परे जगुः ।
यथाक्षरोत्तरे शीर्षं केचिदाहुरतः परम् ॥ १४८ ॥
शीर्षात्परो माषघातो द्विकलोत्तर'तालतः ।
अपरान्तकवत् तस्मात् परं स्यादुपवर्तनम् ॥ १४९ ॥
ऊर्ध्वं संपिष्टकाद्वा स्यादुभाभ्यामथवा परम् ।
तद्वदेव ततः संधिस्ततोऽपि चतुरश्रकम् ॥ १५० ॥
युग्मप्रवृत्तवत् तस्माद् वज्रं संधिवदिष्यते ।
संपिष्टकं ततः कार्यं दश द्वादश वा कलाः ॥ १५१ ॥
द्वादशाङ्गे दशकलं सप्ताङ्गे त्वितरन्मतम् ।

(क०) पादादीनां लक्षणमाह—यादृगित्यादि । चतुष्कले अपरान्तके, यादृक्वस्तु प्रागुक्तं चतुर्विंशतिगुर्वात्मकं तादृगेवात्र पाद इत्युच्यते । ततः अनन्तरम्, तद्वत् पादवत्, चतुर्विंशतिगुर्वात्मक इत्यर्थः । पदान्तरैः पादप्रयुक्तपदेभ्योऽन्यैः पदैः प्रतिपादः कर्तव्यः । एतेन पादप्रतिपादयोर्धातुसाम्यं गम्यते । पादपराधेनेति । पादस्य उत्तरार्धेन द्वादश गुर्वात्मकेन समम् । प्रतिपादं परे जगुरिति । अत्रापि पादोत्तरार्धधातुसाम्यं प्रतिपादस्यावगन्तव्यम् । अतः प्रतिपादात् परमन्तरं यथाक्षरेणोत्तरेण शीर्षकं केचिदाहुः । ततो माषघातो द्विकलोत्तरतालतः । अपरान्तकवदिति । द्विकला-परान्तकवदित्यर्थः । तस्मात् माषघातात्परमुपवर्तनं स्यात् ।

१ ख. ग. च. तालकः fn. I ed.

२ संधिपिष्टं ? ततः (D).

उपवर्तनं संपिष्टकादूर्ध्वं वा स्यात् । अथवा उभाभ्यां माषघात-संपिष्टकाभ्यां परं स्यात् । माषघातानन्तरं संपिष्टकानन्तरं वोपवर्तनं गेयमिति पक्षान्तरम् । तद्वदेवेति । तत उपवर्तनादनन्तरं संधिर्नामाङ्गम् । तद्वत् उपवर्तनवदित्यर्थः । उपवर्तनं यथा-क्षरेणोत्तरेण कृतं; संधिरपि तेनैव कर्तव्यः । ततोऽपीति । संधेरप्यनन्तरं चतुरश्रकं नामाङ्गम् । युग्मप्रवृत्तवदिति । द्विकल-चच्चत्पुटेनोद्भट्टोक्तकलापूर्वकपातकलायुक्तेन कर्तव्यमित्यर्थः । तस्मादिति । तस्मात् चतुरश्रात् । वज्रं नामाङ्गम् । संधिवदिति । यथाक्षरेणोत्तरेण कर्तव्यमित्यर्थः । ततः वज्रानन्तरं संपिष्टकं नामाङ्गं कार्यम् । दश द्वादश वा कला इति संपिष्टकस्य वैकल्पिकः कलासंख्यानियमो दर्शितः । द्वादशाङ्गे दशकलं सप्ताङ्गे त्वितरन्मतमिति तयोः संपिष्टकभेदयोर्विषयव्यवस्था दर्शिता ॥ १४७-१५१ ॥

(गु०) पादादीनां लक्षणमाह—यादृगिति । चतुष्कले अपरान्तके पूर्वं चतुर्विंशतिगुर्वात्मकं यादृक् वस्तुत्वं तादृगेवात्र पाद इत्युच्यते । ततः अनन्तरम् । तद्वत् चतुर्विंशतिगुर्वात्मकवस्तुवत्, पदान्तरैः अन्यैः पदैः विरचितः, तादृगेव प्रतिपादः कर्तव्यः । मतान्तरमाह—सममिति । शीर्षकाख्यमाङ्गमाहुः । अतः प्रतिपादानन्तरपदस्य उत्तरार्धेन सदृशं प्रतिपादं केचिदाहुः । अतः प्रतिपादानन्तरं केचित् यथाक्षरेण षट्पितापुत्रकेण शीर्षकाख्यमाङ्गमाहुः । शीर्षकादनन्तरं द्विकलेन षट्पितापुत्रकेण माषघाताख्यमाङ्गं भवति । तस्मात् माषघातादनन्तरम् अपरान्तकवत् उपवर्तनं षट्पितापुत्रकेण गेयम् । इदमुपवर्तनं संपिष्टकादनन्तरं वा गेयम् । उभाभ्यां वा माषघातसंपिष्टकाभ्याम् अनन्तरं वा गेयम् । ततः उपवर्तना-दनन्तरम् । तद्वत् उपवर्तनवत् यथाक्षरषट्पितापुत्रकेण संधिरपि गेयम् ।

ततोऽपि चतुरश्रकम् युग्मप्रवृत्तवत् कर्तव्यम् । तस्मात् चतुरश्रात् वज्रं संधि-
वत् यथाक्षरेणोत्तरेण कर्तव्यम् । ततः वज्रादनन्तरं संपिष्टकं भवति । तच्च
संपिष्टकं दशकलं द्वादशकलं वेति पक्षद्वयस्य व्यवस्थामाह—द्वादशाङ्ग
इति । द्वादशाङ्गे वेणुक [ओवेणके] च दशकलं संपिष्टकं सप्ताङ्गवेणुकं
इतरत् द्वादशकलं भवति ॥ १४७-१५१-॥

सप्ताङ्गद्वादशाङ्गत्वे वर्णाङ्गः केचिदूचिरे ॥ १५२ ॥

चतुर्थी पञ्चमी चेह त्याज्ये दशकले कले ।

भवेद्वेण्यां प्रवेण्यां च पञ्चपाणिर्यथाक्षरः ॥ १५३ ॥

द्विकलो वाथवा चच्चत्पुटादूर्ध्वं यथाक्षरात् ।

चच्चत्पुटः स्याद् द्विकलो यद्वा वेणी यथाक्षरे ॥ १५४ ॥

पञ्चपाणी प्रवेणी तु द्विकले मुनिभिर्मताः ।

प्रवेण्यनन्तरं कैश्चिदुपवर्तनमिष्यते ॥ १५५ ॥

पादोत्तरार्धतालेन द्विकलेनोत्तरेण वा ।

उपपातस्ततोऽन्तेन विनान्ताहरणं न वा ॥ १५६ ॥

सत्यन्तेऽस्त्येव स द्वेधा सप्ताङ्गेऽन्यत्र तु त्रिधा ।

लक्ष्मिन्ताहरणादीनां ज्ञेयमुल्लोप्यकादिह ॥ १५७ ॥

(क०) सप्ताङ्गद्वादशाङ्गत्वे वर्णाङ्गः केचिदूचिर इति
चतुर्थीत्यादि । दशकल इह संपिष्टके द्वादशकलसंपिष्टकोक्तासु
कलासु चतुर्थी शम्या, पञ्चमी तालश्च ; एते कले त्याज्ये भवतः ।
द्वादशकले संपिष्टके वक्ष्यमाणा इतरा दश कलाः प्रयोक्तव्या
इत्यर्थः । वेणीप्रवेण्योरङ्गयोर्यथाक्षरः पञ्चपाणिरित्येकः पक्षः ।

द्विकलो वा पञ्चपाणिरिति द्वितीयः । अथवा यथाक्षरात् चच्च-
त्पुटादूर्ध्वं द्विकलचच्चत्पुट इति तृतीयः । यद्वा यथाक्षरे पञ्चपाणी
वेणी, द्विकले पञ्चपाणी प्रवेणीति चतुर्थः पक्षः । प्रवेण्यनन्तरमुप-
वर्तनं कर्तव्यमिति केषांचिन्मतम् । पादोत्तरार्धतालेनेति । आनि-
विशादिकलायुक्तेन द्वादशगुर्वात्मकेन द्विकलेनोत्तरेण वोपपातः
कर्तव्यः । तत उपपातानन्तरमन्तेन विनान्ताहरणं कर्तव्यमित्येकः
पक्षः । न वेति तन्निषेधात् द्वितीयः पक्षः । निषेधोऽप्यन्तेन विने-
त्येतस्यांशस्यावगन्तव्यः । विशेषणनिषेधेनापि विशिष्टनिषेधस्य
सिद्धत्वात् । तेन अन्तसहितमन्ताहरणं पक्षे कर्तव्यमिति गम्यते ।
सत्यन्त इति । अन्ते सतीति । अन्तसद्भावपक्ष इत्यर्थः । सोऽन्तः
सप्ताङ्ग ओवेणके द्विधा युग्मोऽयुग्मश्च भवेत् । अन्यत्र तु
द्वादशाङ्ग ओवेणके तु त्रिधा युग्मोऽयुग्मो मिश्रश्चेति भवेत् ।
अन्ताहरणादीनामिति । आदिशब्देन युग्मादयोऽन्तर्भेदा गृह्यन्ते
॥ -१५२-१५७ ॥

(मु०) सप्ताङ्गेति । वेणुकस्य [ओवेणकस्य] सप्ताङ्गत्वं च
वर्णाङ्गेरेव केचिदाहुः । सप्तभिर्वर्णैर्विरचितं सप्ताङ्गमित्यर्थः ।
द्वादशाङ्गत्वं इति । द्वादशभिर्वर्णैर्विरचितं द्वादशाङ्गमिति । दशकलपक्षे
द्वादशभ्यः कलाभ्यः के कले त्याज्ये इत्यपेक्षायामाह—चतुर्थीति । द्वा-
दशभ्यः कलाभ्यः चतुर्थी पञ्चमी च कले त्याज्ये भवतः । ननु किमनेन
नियमेन प्रयोजनम् ? पातकलानियमस्य द्वादशसु कलासु पृथक् पातानां
निरूपितत्वात् । भवेदिति । वेण्यां प्रवेण्यां च यथाक्षरपटपितापुत्रक इत्येकः ।
द्विकलो वा पञ्चपाणिरिति द्वितीयः । यथाक्षरात् चच्चत्पुटानन्तरं द्विकल-
चच्चत्पुट इति तृतीयः । यदि वा यथाक्षरेण पटपितापुत्रकेण वेणी, द्विकलेन
पञ्चपाणिना प्रवेणीति चतुर्थः । इत्येवं वेण्यां प्रवेण्यां च प्रत्येकं चत्वारः

पक्षाः । प्रवेण्यन्तरमिति । प्रवेण्यन्तरमुपवर्तनं गतव्यमिति केषांचिन्मतम् । पादेति । षट्पितापुत्रकेण पादस्य उत्तरार्धतालान् द्विकलषट्पितापुत्रकेण वा उपपातः कार्यः । ततः उपपातादनन्तरम्, अन्तो नास्ति चेत्, अन्ताहरणं कर्तव्यं वा न वा । सत्यन्त इति अन्ते सत्यवश्यमन्ताहरणमस्त्येव । अन्तस्तु सप्ताङ्गे वेणुके [ओवेणुके] द्विधा; युग्मोऽयुग्म इति । अन्यत्र तु द्वादशाङ्ग वेणुके [ओवेणुके] तु विधा; युग्मः, अयुग्मः, मिश्र इति । अन्ताहरणादीनामिति । आदिशब्देन युग्मादयो ग्राह्याः ॥ -११२-११७ ॥

विधेयो विविधो^१ वेण्यां प्रवृत्तं वा मतान्तरात् ।

प्रवेण्यां तु प्रवृत्तं स्यादवगाढं परे जगुः ॥ ११८ ॥

पादोपपातं^२ संपिष्टेऽप्य^३ म्यधुविविधं बुधाः ।

विविधो वैककं वज्र एककं तूपवर्तने ॥ ११९ ॥

विविधश्चतुरश्रे स्यादेककं वा^४ श्वैककम् ।

कलाप्रयोगनिर्मुक्तं संप्रयुज्यावपाणिना ॥ १६० ॥

कलास्वष्टासु विविधो विधेयो गानवेदिभिः ।

(क०) वेण्यादिषु विविधादीनि गीताङ्गानि यथायोगं योजयति—विधेयो विविध इत्यादिना । चतुरश्रो विविध इति । चतुरश्र विविध एककं चेत्येकः पक्षः । अथवा कलाप्रयोगनिर्मुक्तं युग्मप्रवृत्तोक्तनिष्क्रामादिकलायोगरहितमेककम् अवपाणिना^५ तीतग्रहेणेत्यर्थः । एवं प्रथमं प्रयुज्य पश्चादष्टासु कलासु निष्क्रामादिषु विविधो विधेयः ॥ ११८-१६०-॥

१ विधयो (D).

३ पाद (D).

५ द्विविधं चतु (D).

७ कलाङ्ग (D).

२ विविधा (D).

४ श्वम्यधु (D).

६ चाय (D).

८ चतुरश्रे विविध (C).

९ अतावग्रहेण led.

(सु०) विधेयो विविध इति । वेण्यां विविधः कर्तव्यः । मतान्तरात् प्रवृत्तं वा । प्रवेण्यां तु प्रवृत्तं कर्तव्यम्, मतान्तरात् पूर्वलिखितमेव अवगाढं वा, पादोपपातसंपिष्टेषु विविधः कार्यः । वज्रे विविध एककं वा, उपवर्तने तु एककम् । चतुरश्रे विविधः, एककं वा । अथवा; कलाप्रयोगहीनम् एककं प्रयुज्य अवपाणिना गल[कला?] प्रयोगेण अष्टासु कलासु विविधः कार्यः ॥ ११८-१६०-॥

शनिता माषघाते स्युद्वितीयाद्यास्त्रयः क्रमात् ॥ १६१ ॥

संपिष्टके निशम्या^१स्त्रिस्त्रितालो द्विः शतौ च सम् ।

अन्तो गीतिपदावृत्तियुक्तः सप्ताङ्गके मतः ॥ १६२ ॥

ओवेणुके^२ द्वादशाङ्गे^३ तुल्यगीतिः पृथक्पदः ।

(क०) क्वचित्पातकलाविशेषयोगं दर्शयति—शनिता माषघाते स्युरित्यादिना । माषघाते तावत् द्विकलोत्तरताल उक्तः तस्य निप्र ताश निता निश ताप्र निसं तथोत्तर इति पातकलायोगोऽपि पूर्वमेवोक्तः । तदेकदेशापवादत्वेन शनिता इत्येतद्वचनं द्रष्टव्यम् । द्वितीयाद्यास्त्रय इति । द्वितीयतृतीयचतुर्थः पूर्वप्रताशा उक्ताः । इह शनिताः कर्तव्या इति । संपिष्टके द्वादशकलापक्षे कलायोगं दर्शयति—संपिष्टक इति । निशम्यास्त्रिस्त्रितालो द्विः शतौ च समिति । अन्तो गीतीत्यादि । गीतिपदावृत्तियुक्त इति । गीतिर्गम्यः; धातुरित्यर्थः । पदं वाचकम्; शब्दरूपं मातुरित्यर्थः । तयोर्गीतिपदयोरावृत्त्या युक्तोऽन्तः सप्ताङ्गके प्रयोक्तव्यः । द्वादशाङ्गे तुल्यगीतिः पृथक्पद इति । अत्र मातोरेव पृथग्भावो न धातुरित्यर्थः ॥ -१६१-१६२-॥

१ त्रिस्त्रिता (D).

२ णुके (D).

३ ङ्गुल्या (D).

लिखित्वा तदधः पूर्वोक्तान् आनिवितादीन् लिखेत् । इति प्रति-
पादः । ततो यथाक्षरेणोत्तरेण शीर्षकं लिखेत् । ततो द्वादश गुरुन्
सद्विकलपादभागविभागं लिखित्वा तदधो निशनितानिश-
ताप्रनिसं इत्येतान् लिखेत् । इति माषघातः । ततो यथाक्षरोत्त-
रेणोपवर्तनं लिखेत् । इत्युपवर्तनम् । ततस्तेनैव तालेन संधि लिखेत्
इति संधिः । ततोऽष्ट गुरुन् लिखित्वा तदधो निशशशताशतासं
इत्येतान् लिखेत् । इति चतुरश्रम् । ततो यथाक्षरोत्तरेण वज्रं
लिखेत् । इति वज्रम् । ततो द्वादश गुरुन् लिखित्वा तदधो निश
शश ताता ताश तासं इत्येतान् लिखेत् । अथवा दश गुरुन्
लिखित्वा तदधो निश शता ताश ताश तासं इत्येतान् लिखेत् ।

इति संपिष्टकम्

§. I SS I §
संता शता शता ॥ इति वेणी, एवमेव प्रवेणी (इत्येकः पक्षः) ॥

§ § § § § § § § § §
निप्र ताश निता निश ताप्र निसं ॥ इति वा वेणी ॥ एवमेव प्रवेणी
(इति द्वितीयः पक्षः) ॥

§ § § I § § § § § § § §
श ता श ता । निश निता शप्र निसं ॥ वेणी; प्रवेणी च (इति
तृतीयः पक्षः)

§. I SS I § § § § § § § § § §
संता शता शता ॥ इति वेणी ॥ निप्र ताश निता निश ताप्र निसं ॥
इति प्रवेणी (इति चतुर्थः पक्षः)

ततो मतान्तरेण प्रवेण्यन्तरमुपवर्तनम् ।

§. I SS I §
संता शता शता ॥ इत्युपवर्तनम् ॥

§ § § § § § § § § §
आनिविता आताविश तानिविसं ॥ इति पदोत्तरार्धतालेनोप-
पातः ॥

§ § § § § § § § § §
निप्र ताश निता निश ताप्र निसं ॥ इति द्विकलेनोत्तरेण वोपपातः ॥

§. I SS I § § § § § § § § § §
संता शता शता ॥ इति षट् पितापुत्रकेण; आनिविता आताविश
§ § § § § § § § § §
तानिविसं ॥ इति पादस्योत्तरार्धतालेन; निप्र ताश निता निश
§ § § §
ताप्र निसं ॥ इति द्विकलषट्पितापुत्रकेण वा उपपातः ॥ (सु)

§. I SS I §
संता शता शता ॥ इत्यन्ताहरणं ॥ ततः पाक्षिकान्तो ज्ञेयः ॥
स च सप्ताङ्गे युग्मोऽयुग्मश्चेति द्विविधः कर्तव्यः । द्वादशाङ्गे तु
युग्मोऽयुग्मो मिश्रश्चेति त्रिविधः ॥

इत्योवेण्य^१कम्

(क०) ततो यथाक्षरेणोत्तरेण वेणीं तेनैव प्रवेणीं च
लिखेत् । अथवा द्विकलोत्तरेण वेणीप्रवेण्यौ लिखेत् । यद्वा
यथाक्षरद्विकलाभ्यां चच्चत्पुटाभ्यां वेणीं ताभ्यामेव प्रवेणीं च
लिखेत् । यदि वा यथाक्षरोत्तरेण वेणीं द्विकलोत्तरेण प्रवेणीं च
लिखेत् ।

इति वेणीप्रवेण्यौ

ततो मतान्तरेण पूर्वोक्तमुपवर्तनं लिखेत् । इत्युपवर्तनम् ।
ततः पादोत्तरार्धतालान् द्विकलोत्तरेण वोपपातं लिखेत् । इत्युप-
पातः । ततो यथाक्षरोत्तरेणान्ताहरणं लिखेत् । ततः पाक्षि-
कोऽन्तः सप्ताङ्गे युग्मोऽयुग्मश्चेति द्विधा । द्वादशाङ्गे तु मिश्रेण
सह पूर्वाभ्यां त्रिधा प्रयोक्तव्यः ।

इत्योपवर्णकम्

सप्ताङ्गमवरं^१ ज्ञेयं षोडशाङ्गं परं तथा ॥ १६३ ॥
रोविन्दं^२ तस्य षण्मात्रः पादोऽस्याद्ये^३ कलाष्टके ।
उपोहनं मद्रकस्थवस्तुवच्च तदर्धयोः ॥ १६४ ॥
विविधैकैकसंयोगः प्रत्येकं पादवत्ततः ।
प्रतिपादः पदैरन्यैः पादस्यान्ते कलाष्टके ॥ १६५ ॥
प्रतिपादादिमे चैका गीतिः प्रस्तारसंज्ञका ।
शरीरं प्रतिपादान्त्यकलाद्वादशकस्थया^४ ॥ १६६ ॥
गीत्या ततः परं गेयमुत्तरे द्विकले बुधैः ।
प्लुताकारास्त्रिचतुराः स्युः शरीरेऽन्तरान्तरा ॥ १६७ ॥
तेषु वृत्तं तदूर्ध्वार्धः स्वैरमङ्गानि योजयेत् ।
शरीराद्यकलाष्टके प्रयोक्तव्यमुपोहनम् ॥ १६८ ॥
विविधो वा प्रवृत्तं वा गीताङ्गं स्यादुपोहनम्^५ ।
अथोपवर्तनं केचिदपरान्तकवज्जगुः ॥ १६९ ॥
शोषकं गीतकान्ते स्यात् पञ्चपाणौ यथाक्षरे ।
गीतावृत्त्या पदावृत्त्याप्युभयावृत्तितोऽथवा ॥ १७०^६ ॥

^१ परं (D).

^२ न्दकस्य (D).

^३ स्यान्ते (A).

^४ योः (D).

^५ च. ज्ञेय fin. I ed.; गेया (D).

^६ ने (D).

आवृत्त्या द्विस्त्रिरथवा स्यादावृत्त्या विनाथवा ।

आकारैः प्रथमावृत्तिः कर्तव्यं तत्र चैककम् ॥ १७१ ॥

द्वितीया तु पदैर्युक्ता प्रवृत्तेन प्रकीर्तिता ।

त्रिरावृत्तौ^१ मध्यमा स्यात् स्वैरं गीताङ्गसंगता ॥ १७२ ॥

(क०) अथ रोविन्दकं लक्षयति—सप्ताङ्गमित्यादि ।

अवरम् हीनाङ्गत्वेन निष्कृष्टम् । अतोऽपि हीनाङ्गं षडङ्गादि न
कर्तव्यमित्यर्थः । षोडशाङ्गं परं तथेति । षोडशाङ्गं रोविन्दं
परमुत्कृष्टमधिकाङ्गत्वात् । ततोऽधिकाङ्गं सप्तदशाङ्गादि [न]
कर्तव्यमित्यर्थः । सप्तादिषोडशान्तमङ्गानि यथाकामं कर्तव्यानि
भवन्ति । तस्येति । तस्य रोविन्दस्य; पादः षण्मात्रः, षण्मात्रा
यस्येति स तथोक्तः । अत्र मात्राप्रमाणम्—‘पादभागैश्चतुर्भि-
स्तैर्मात्रा स्यान्मद्रकादिषु’ (श्लो. २१ अत्रैव) इति पूर्वोक्तं
षोडशकलात्मकं द्रष्टव्यम् । अस्येति । अस्य पादस्य आद्ये
कलाष्टके उपोहनं कर्तव्यम् । तदर्धयोरिति । तस्य पादस्य पूर्वा-
न्तरयोः अर्धयोः प्रत्येकं मद्रकस्थवस्तुवत् । विविधैकैकसंयोगश्चेति ।
मद्रके यथा प्रथमयोः मात्रयोः विविधः तृतीयमात्रायामेककम्;
एवमत्र पादेऽपि मात्रात्रयात्मकयोरर्धयोः कर्तव्यमित्यर्थः । पाद-
वत्तत इति । ततः पादानन्तरं प्रतिपादः पादवत् । षण्मात्रात्मकः
सन् अन्यैः पदैः पादप्रत्युक्तपदैर्भ्योऽन्यैः पदैः कर्तव्यः । प्रतिपादा-
दिमे चेत्यत्र चकारेण कलाष्टक इत्यनुकृष्यते । अयमर्थः—प्रथमं
पादान्त्ये कलाष्टके प्रस्तारसंज्ञका गीतिः कर्तव्या । ततः प्रति-
पादादिमे कलाष्टकेऽपि सैव गीतिः कर्तव्येति । शरीरमित्यादि ।

^१ तौ (D).

ततः परं प्रतिपादादूर्ध्वम् । प्रतिपादान्त्यकलाद्वादशकस्थयेति । प्रतिपादस्यान्ते कला कलाद्वादशके तिष्ठतीति तथोक्ता । तया गीत्या युक्तं शरीरं नामाङ्गं द्विकल उत्तरे बुधैर्गेयम् । प्रतिपादान्त्यधातुयुक्तं शरीरं गेयमित्यर्थः । तस्मिन् शरीरे अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये त्रिचतुराः प्लुताकाराः प्लुताश्च ते आकाराश्चेति कर्मधारयः, ते कर्तव्याः स्युः । तथा तेषु आकारेषु वृत्तं पूर्वोक्तलक्षणं योजयेत् । तदूर्ध्वाधः तस्य वृत्तस्य ऊर्ध्वमधश्च, अङ्गानि विविधादीनि, स्वरम् स्वेच्छया योजयेत् । शरीरस्य आद्यैककलाषट्क उपोहनं प्रयोक्तव्यम् । तस्मिन् उपोहने विविधो वा प्रवृत्तं वा पूर्वोक्तलक्षणं गीताङ्गं कर्तव्यं स्यात् । गीतकान्त इति सामान्यवचनस्य गीतकशब्दस्य अत्र विशेषपरता द्रष्टव्या । गीतकस्य रोविन्दकस्य अन्ते समाप्तौ । यथाक्षरे पञ्चपाणी शीर्षकं कर्तव्यं स्यात् । तच्च शीर्षकं गीतावृत्त्या वा पदावृत्त्या वा अथवा उभयावृत्तौ गीतपदावृत्तेरिति त्रिविधं भवेत् । आवृत्ति-पक्षेऽपि द्विरावृत्त्या त्रिरावृत्त्या वेति द्विविधम् । अथवा आवृत्त्या विना स्यादित्येकः पक्षः । आकारैः प्रथमावृत्तिरिति गीतावृत्ति-रुक्ता । तत्र प्रथमावृत्तौ, एककं चेत्यत्र चकारोऽवधारणार्थः । एककमेवेति द्वितीया तु पदैर्युक्तेति । अत्र पदावृत्तिरुक्ता । सा पदावृत्तिः प्रवृत्तेन गीताङ्गेन प्रकीर्तिता । त्रिरावृत्ताविति । तृतीयावृत्तावित्यर्थः । मध्यमेति गीतिपदमिश्रितोभयावृत्तिरुक्ता । सा स्वरं यथेष्टं गीताङ्गसंगता विविधादिगीताङ्गयुक्ता भवति ॥ -१६३-१७२ ॥

(सु०) रोविन्दकं लक्षयति—सप्ताङ्गमिति । सप्ताङ्गं रोविन्द-कम् अवर्तं हीनम्; षोडशाङ्गं परम् उत्तमम् । तान्येवाङ्गान्याह—तस्येति ।

तस्य रोविन्दकस्य, पादः षण्मात्राविरचितः कार्यः । तस्य पादस्य आद्ये कलाष्टके उपोहनं कर्तव्यम् । तस्योपोहनस्य द्वयोरर्थयोः प्रत्येकं विविधेन एकैकेन च संयोगः । ततः पादादनन्तरं पादवत् पादवत् प्रतिपाद अन्यैः पदैः कर्तव्यः । पादस्यान्ते कलाष्टके, प्रतिपादस्य आद्ये कलाष्टके च; एका गीतिः कर्तव्या, सा प्रस्तार इत्युच्यते । ततः परं प्रतिपादानन्तरं प्रतिपादस्य अन्त्य-कला द्वादशकलया गीत्या द्विकलषट्पितापुत्रके शरीराख्यमङ्गं गेयम् । तत्र च शरीरे, त्रिचतुरा त्रयश्चत्वारो वा प्लुताकाराः कर्तव्याः । तेषु प्लुता-कारेषु अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये पूर्वलक्षितं वृत्तं विधेयम् । तस्य वृत्तस्य ऊर्ध्वं पश्चात्, अधः पूर्व, स्वरं स्वेच्छया अङ्गानि विविधादीनि योजयेत् । शरीरेति । शरीराख्यस्य आद्ये कलाषट्के उपोहनं प्रयोक्तव्यम्, विविधो वा प्रवृत्तं वा; अङ्गणनायामुपोहनमप्येकमङ्गं स्यात् । अथ शरीरादनन्तरं केचित् उपवर्तनं [अपरान्तकवज्जगुः] षट्पितापुत्रके गेयमित्याहुः । गीतस्यान्ते यथाक्षरषट्पितापुत्रके शीर्षकं गेयम् । इदं शीर्षकं पञ्च चतुर्धा वा विकल्पेन गेयम् । यथा गीतावृत्तियुक्तम्, पदावृत्तियुक्तम्, गीतपदा-वृत्तियुक्तम्; आवृत्तिपक्षे तु द्विरावृत्त्या, अथवा त्रिरावृत्त्या वेति । अथवा आवृत्तिहीनमिति आवृत्तिः । अत्र विशेषमाह—आकारैरिति । प्रथमावृत्तौ आआ इति वर्णसमूहः गायनप्रसिद्धः कर्तव्यः । तत्र एककमङ्गं गेयम् । द्वितीया पदावृत्तिस्तु प्रवृत्ताख्येन आगतसहपदैर्युक्ता गेया । त्रिरावृत्तौ तु मध्यमा आवृत्तिः स्वेच्छया यैः कैश्चित् गीताङ्गैर्युक्ता गेया ॥ -१६३-१७२ ॥

पादभागेष्वानिविप्रा विशेषस्तूच्यतेऽधुना ।

तालोऽष्टमोऽन्तिमा शम्या तत्र मात्रासु पञ्चसु ॥ १७३ ॥
चतुर्दशस्तु पञ्चम्यां तालोऽन्त्यान्त्येव सद्रके ।

शरीरे प्राक्कलास्तिलः केऽप्याहुर्माषघातवत् ॥ १७४ ॥

(क०) अथ पातकलायोगं दर्शयति—पादभागेष्वि-
त्यादि । सर्वेषु पादभागेषु आनिविप्रा इति सामान्यम् । विशेषस्तु

अधुना उच्यते, तालोऽष्टम इत्यादिना अष्टमो द्वितीयपाद-
भागान्त्यस्तालः कर्तव्यः । अन्तिमा शम्येति । अन्तिमा चतुर्थपाद-
भागान्त्या शम्या कर्तव्या । अत्र विधेयतालशम्यापरत्वेन
पुंस्त्रीलिङ्गनिर्देशो द्रष्टव्यः । तत्र मात्रासु पञ्चस्त्विति । आद्यासु
पञ्चसु मात्रास्वयमुक्तो विशेषः कर्तव्यः । पञ्चम्यां विशेषान्तर-
माह—चतुर्दशस्त्विति । चतुर्दशः चतुर्थपादभागे द्वितीयस्तालः
कर्तव्यः । अन्त्यान्त्येव मद्रक इति । मद्रके षष्ठी मात्रा । मद्रके
चतुष्कलमद्रके अन्त्येव । तत्र वस्तुनस्तृतीया मात्रा अन्त्योच्यते ।
सा यथा याभिः पातकलाभिर्युक्ता, ताभिरेव युक्ता कर्तव्येत्यति-
देशार्थः । ताः पुनः—आशविता, आताविश, आताविश,
तानिविसमिति । शरीरे प्रागित्यादि । केऽपि आचार्याः शरीरे
द्विकलोत्तरयुक्ते तिस्रः प्राक्कला आद्याः कलाः । माषघातव-
दिति । माषघाते यथा निशनिता आद्यास्तथात्रापि । शरीरे
प्राचीषु च तिसृषु कलासु निष्क्रामशम्यानिष्क्रामादि कुर्यादित्यर्थः
॥ १७३, १७४ ॥

इति रोविन्दकम्

(सु०) कलाविधिमाह—पादभागोऽस्त्विति । उत्सर्गतस्तावत्
पादभागेषु आवापनिष्क्रामविशेषप्रवेशा योज्याः । अयं तु विशेषापवादः;
आद्यासु पञ्चसु मात्रासु अष्टमस्तालः, अन्त्या च शम्या । पञ्चम्यां
कलायां चतुर्दशस्तु तालः । अन्त्या मात्रा मद्रकस्य अन्त्यमात्रावत् पात-
योऽय्या । शरीराख्ये अङ्गे पूर्वास्तिस्रः कला माषघातवत् प्रयोज्या इति
केचिदाहुः ॥ १७३, १७४ ॥

इति रोविन्दकम्

अस्य प्रस्तारः—

SS SS SSSS
आनिविप्र आनिविता ॥ इत्युपोहनम् ॥
SS SS SSSS
आनिविप्र आनिविश ॥ इत्युपोहनेन सह मात्रा ॥
SS SS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्र आनिविता आनिविप्र आनिविश ॥ मात्रा १ ॥
SS SS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्र आनिविता आनिविप्र आनिविश ॥ „ २ ॥
SS SS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्र आनिविता आनिविप्र आनिविश ॥ „ ३ ॥
SS SS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्र आनिविता आनिविप्र आनिविश ॥ „ ४ ॥
SS SS SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविप्र आनिविता आनिविप्र आनिविश ॥ „ ५ ॥
SS SS SSSS SSSS SSSS SSSS
आशविता आताविश आताविश आनिविसं ॥ „ ६ ॥

इति षष्ण्मात्रः पादः । एवमेव पदान्तरैः प्रतिपादः । ततः शरीरम् ।

SS SS SSSS SSSS SSSS
निप्र ताश निता निश ताप्र निसं ॥ इति शरीरम् ॥

SS SS SSS
निप्र ताश निता ॥ इति शरीरस्याद्याः षट्कला उपोहनम् ॥

SS SS SSSS SSSS SSSS
निश निता निता निश ताप्र निसं ॥ इति माषघाते आद्यकलात्रय-
युक्तम् शरीरम् ॥

¹ आनिविता, आनिविश, आताविश, तानिविसं । ed.

² च. षट्चययुक्तं शरीरम् fin. 1 ed.

SS SS SS

निश निता निता ॥ इति वा शरीरम् ॥

३। SS 1३

संता शता शता ॥ इत्युपवर्तनम् (वैकल्पिकं) ॥

३। SS 1३

संता शता शता ॥ इति शीर्षकम् ॥

इति रोविन्दकम्

(क०) अस्य रोविन्दकस्य प्रस्तारो यथा—प्रथममुपो-
हने पादभागयोरष्टौ गुरून् लिखित्वा, तदध आनिविप्रान्, आनि-
वितान् लिखेत् । इत्युपोहनम् । ततश्चरमयोः पादभागयोरष्टौ
गुरून् लिखित्वा तदध आनिविप्रान्, आनिविशान् लिखेत् ।
इत्युपोहनेन सह प्रथममात्रा । तद्वत् प्रत्येकं षोडशकलात्मिकाः
सपादभागविभागाः पातकलायुक्ताः प्रथमया सह पञ्च मात्रा
लेखनीयाः । ततः षष्ठ्यां मात्रायां पूर्ववत् षोडश गुरून्
लिखित्वा तदध आशवितान्, आताविशान्, पुनरप्याताविशान्
आनिविसं इत्येतान् लिखेत् । इति षष्ठी मात्रा । एष
मात्रापादः । एवमेव प्रतिपादः । ततो द्विकलोत्तरेण शरीरं
लिखेत् । तत्राद्याः षट्कला उपोहनं कुर्यात् । अथवा द्विकलोत्तरेण
द्वादश गुरून् लिखित्वा तदधो निशनिता नितानिश ताप्रनिसं
इत्येतान् लिखेत् । इति माषघाताद्यकलात्रययुक्तं शरीरम् ।
ततो यथाक्षरोत्तरेण वैकल्पिकमुपवर्तनं लिखेत् । ततस्तेनैव
शीर्षकं लिखेत् ॥

इति रोविन्दकम्

चतुष्कलोल्लोप्यकवदादौ मात्रोत्तरे भवेत् ।

शाखावरा षडङ्गा स्याद् द्वादशाङ्गा परा ततः ॥ १७५ ॥

द्विकले पञ्चपाणौ सा प्रतिशाखा च तत्समा ।

किं तु बद्धा पदेरन्यैः शीर्षं मध्ये तयोर्भवेत् ॥ १७६ ॥

मध्यान्तयोश्च वा भिन्नगीतेनैककलान्तरे^१ ।

ततोऽनन्तरमेकोऽन्तो यद्वान्तो नात्र विद्यते ॥ १७७ ॥

आकारवर्जं शाखायां गीताङ्गानि शरीरवत् ।

(क०) अथोत्तरं लक्षयति—चतुष्कलोल्लोप्यकवदिति ।

उत्तरे गीतके आदौ प्रथमं मात्रा चतुष्कलोल्लोप्यकवद्भवेदिति,
चतुष्कलोल्लोप्यके यथा 'द्विकले अष्टकला मात्रा द्विगुणा
तु चतुष्कले' (श्लो. १०६ अत्रैव) मात्रेति द्विकलापेक्षया द्विगुणा
षोडशकला मात्रोक्ता; तथा अत्राप्युत्तरे षोडशकला मात्रा
तत्पातकलायुक्ता कर्तव्येत्यतिदेशार्थः । शाखावरेत्यादि । षडङ्गा
शाखा अवरा निरुद्धा । ततोऽपि हीनाङ्गा न कर्तव्येत्यर्थः ।
द्वादशाङ्गा शाखा परा उत्कृष्टा ; ततोऽप्यधिकाङ्गा न कर्तव्ये-
त्यर्थः । षडाद्याद्वादशसंख्यमङ्गानि विविधैककानि यथेष्टं
कर्तव्यानि भवन्ति । ततो मात्रानन्तरं सा शाखा द्विकले पञ्चपाणौ
गेया । प्रतिशाखा च तत्समेति । तथा शाखया समा प्रतिशाखा
च भवति । विशेषस्तु—अन्यैः पदैर्बद्धेति । व्याख्यातचरमेतत् ।
तयोः शाखाप्रतिशाखयोः मध्ये शीर्षकं भवेत् । अथवा मध्यान्त-
योश्च । भिन्नगीतेनेति । अस्मिन् शीर्षद्वयप्रयोगपक्षे मध्यशीर्षं
यद्गीतं ततो भिन्नगीतमन्तशीर्षं कर्तव्यमिति । शीर्षके भिन्नघातुके

भवत इति यावत् । शीर्षद्वयमप्येककलोत्तरे गेयम् । ततोऽन्तर-
मेकोऽन्त इति । युगयुद्धमिश्रेषु स्थितप्रवृत्तमहाजनिकेषु उल्लो-
प्यकोक्तेषु अन्तभेदेष्वेकोऽन्तः स्वेच्छया कर्तव्यः । यद्वा—अत्र
उत्तरे, अन्तः न विद्यत इति पक्षान्तरम् । शाखायां गीताङ्गानि
षडादिद्वादशपर्यन्तमुक्तानि । आकारवर्जं शरीरवदिति । शरीर
आकारयुक्तानि विविधादीनि गीताङ्गानि प्रयुक्तानि । अत्र
त्वाकारं मुक्त्वा तानि तद्वत्प्रयोज्यानि ॥ १७५-१७७- ॥

इत्युत्तरम्

(मु०) उत्तरं लक्षयति—चतुष्कलेति । उत्तरे गीतके
उल्लोप्यकवत् आदौ मात्राः कर्तव्याः । ततः द्विकले षट्पितापुत्रके कार्या ।
प्रतिशाखापि शाखासमैव । किं तु सा अन्यैः पदैः उपनिबन्धनीया । तयोः
शाखाप्रतिशाखयोः मध्ये शीर्षकं गेयम् । मध्यान्तयोर्वा । एककले उत्तरे
गीतेषु भिन्नगीतेन अन्तेन शीर्षकं कर्तव्यम् । ततः शीर्षकादनन्तरं यः
कदचन अन्ते युग्मः, अयुग्मः, मिश्रो वा । स च कर्तव्यो न वेति वा
विकल्पः । शाखायामाकारवर्जं वा शरीरवत् गीताङ्गानि योजनीयानि
॥ १७५-१७७- ॥

अस्य प्रस्तारो यथा—

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं ॥ मात्रा १ ॥

SS SSSS SSSSS
निप्र ताश निता निशता प्रनिसं ॥ शाखा ॥

§। SS ।§
सता शता शता ॥ इति शीर्षकम् ॥

ततः शाखेव प्रतिशाखा । शाखाप्रतिशाखान्तरयोरपि
शीर्षकमित्यन्ये । ततः कोऽप्येकोऽन्तः; अन्तर्हितं वा ॥

इत्युत्तरम्

(क०) अस्य उत्तरस्य प्रस्तारो यथा—प्रथमं षोडश
गुरुन् सचतुष्कलपादविभागं लिखित्वा, तदधः चतुष्कलोल्लोप्यक-
मात्रावत् आनिविशान्, आनिवितान्, आशवितान्, आनिविसं
इत्येतान् लिखेत् । इति मात्रा । ततो द्विकलोत्तरेण शाखां लिखेत् ।
इति शाखा । ततो यथाक्षरेणोत्तरेण शीर्षकं लिखेत् । इति
शीर्षकम् । ततः शाखेव प्रतिशाखा लेखनीया । ततो वैकल्पिकं
शीर्षकं पूर्ववत् लिखेत् । इति शीर्षकम् । ततोऽन्तभेदेषु एकोऽन्तो
लेखनीयः । तदभावो वा ॥

इत्युत्तरम्

द्वौ मार्गौ गीतकेषूक्तौ ^१शङ्खच्छत्रकसंज्ञकौ ॥ १७८ ॥

^२शङ्खमार्गोऽङ्गसंक्षेपः ^३शङ्खकस्त्वङ्गविस्तरः ।

^४विकल्पो बहुधा तेषु लयमार्गानुसारतः ॥ १७९ ॥

इति सप्त गीतकानि

(क०) द्वौ मार्गावित्यादि । गीतकेषु मद्रकादिषु उक्तेषु
सप्तसु शङ्खच्छत्रकसंज्ञकौ द्वौ मार्गावुक्तौ । तत्र अङ्गसंकोचात्
शङ्खवत् शङ्खो मार्गः । अङ्गविस्तारात् छत्रवत् छत्रको मार्गः
इत्यवगन्तव्यम् । गीतकेषूक्तानामेवाङ्गानां संक्षेपविस्तारौ मातृ-
परतन्त्राविति दर्शयितुमाह—विकल्प इत्यादिना । तेषु अङ्गेषु,
लयमार्गानुसारतः पूर्वोक्तानां लयानां मार्गाणां चानुसारात् हेतोः
विकल्पो भेदो बहुधा भवति ॥- १७८, १७९ ॥

इति सप्त गीतकानि

^१ अन्तरभेदेषु (C) [अन्तरं भेदेषु? (C)]. ^२ ख. ग. शवच्छ (n. I ed; शठश्च (D)). ^३ शठमार्गे (D). ^४ शास्त्रकेत्वाङ्ग (D). ^५ विकारो I ed.

(सु०) द्वाविति । एतेषु मद्रकादिषु सप्तसु गीतकेषु द्वौ मार्गौ^१ शङ्खः, छन्दकश्चेति । अङ्गसंक्षेपे सति^२ शङ्खः; अङ्गानां विस्तारे सति^३ छन्दकः । एवं गीतकेषूक्तानामङ्गानां संकोचविस्तारौ च द्रष्टव्यौ । तेषु गीतेषु (अङ्गेषु) लयमार्गानुसारतः विकल्पो भेदो बहुधा भवति ॥ -१७८, १७९ ॥

इति सप्त गीतकानि

अन्ते गेयं गीतकानां छन्दकं तस्य च द्विधा ।

शरीरं चतुरश्रं वा व्यश्रं वा चतुरश्रकम् ॥ १८० ॥

यैः कैश्चिदङ्गैर्नवभिश्चतुर्भिस्त्यश्रमुच्यते^४ ।

^५पादान्मुखं छन्दके स्यात् पादेन प्रतिवक्त्रकम् ॥ १८१ ॥

मुखतालेन वा कार्यं गीतान्ते शीर्षकं भवेत् ।

(क०) अथ गीतेषु प्रथमोद्दिष्टं छन्दकं लक्षयितुमाह—अन्ते गेयमित्यादि । ^६गीतकानां मद्रकादीनाम् । इदं छन्दकं मद्रकादिषु एकं गीत्वा तदन्ते गेयमिति । अस्य स्वातन्त्र्येण प्रयोगो नास्तीति प्रतीयते । पृथगुद्दिष्टत्वात् पृथक्प्रयोगोऽपि द्रष्टव्यः । तस्येति । तस्य छन्दकस्य च, शरीरं चतुरश्रं वा व्यश्रं वेति द्विधा भवति । यैः कैश्चिदङ्गैः नवभिः चतुर्भिः व्यश्रमुच्यत इत्यत्र चतुर्भिर्ङ्गैः चतुरश्रकं, नवभिर्ङ्गैस्त्यश्रमिति क्रमेण योजनीयम् । ^७पादान्मुखमिति । छन्दके गीते प्राग्बन्धमुखं पादात् [प्राग्बन्ध] ओवेणकोक्तात् पादप्रमाणत्वात् मुखं नामाङ्गं स्यात् ।

^१ शरः छन्दकश्चेति (A). ^२ शरः (A). ^३ छन्दकः (A). ^४ च. स्यश्च उच्यते fn. I ed. ^५ प्राग्बन्धमुखं I ed.; पादान्मुखः (D); पादोन्मुखं (C). ^६ गीतादीनां (C). ^७ पादेन पादप्रमाणकेन प्रतिवक्त्रकं प्रतिमुखं नामाङ्गं स्यात् । तत् प्र (ति?) मुखं । (C).

पादेन पादप्रमाणकेन प्रतिवक्त्रकं प्रतिमुखं नामाङ्गं स्यात् । तत्प्रतिमुखम्, मुखतालेन वेति पादलक्षितं मुखे यस्ताल उक्तः, तेन कार्यमित्येकः पक्षः । ततोऽन्येन तालेन वा कार्यमिति विकल्पेन द्योत्योऽन्यः पक्षः । गीतान्त इति । छन्दकान्ते शीर्षकं कर्तव्यं भवेत् ॥ १८०, १८१-॥

(सु०) विभागपूर्वकं छन्दकं लक्षयति—अन्त इति । गीतानामन्ते छन्दकं गेयम् । तस्य छन्दकस्य । शरीराख्यमङ्गं द्विधा; चतुरश्रं व्यश्रं चेति । एते एव लक्षयति—चतुरश्रकमिति । चच्चत्पुटतालेनोपनिबद्धं चतुरश्रकं तालं तु नाम्ना ज्ञातव्यं, चतुर्भिर्ङ्गैः सहितं । यैः कैश्चित् स्वेच्छोपनिबद्धैः नवभिर्ङ्गैः । चाचपुटतालेनोपनिबद्धं व्यश्रम् । छन्दके मुखं पूर्वाक्तलक्षणलक्षितं कार्यम् । प्रतिवक्त्रं प्रतिमुखं पूर्वाक्तपादेन मुखतालेन वा कार्यम् । गीतस्य अन्ते शीर्षकं च विधेयम् ॥ १८०, १८१-॥

इति छन्दकम्

अस्य प्रस्तारः—

SS I S

सश ताश ॥ इति चतुरश्रं शरीरम् ॥ अथवा—

S I I S

शता शता इति व्यश्रं शरीरम् ॥ अस्य मुखं गीतकान्तर-मुखवत् । प्रतिमुखं मुखवत्पादवद्वा । अन्ते शीर्षकं येन केन चिच्छीर्षकेण सदृशम् । इतरे मुखवत् प्रतिमुखम् ॥

इति छन्दकम्

(क०) अस्य छन्दकस्य प्रस्तारो यथा—यथाक्षरेण चच्चत्पुटेन चतुरश्रं शरीरं लिखेत् । अथवा यथाक्षरेण चाचपुटेन व्यश्रं शरीरं लिखेत् । इति शरीरम् । ततः पादप्रमाणकं मुखं

लिखेत् । ततश्च तत्प्रमाणकमेव प्रतिमुखं लिखेत् । इति मुखप्रतिमुखे । ततः शीर्षकमपि पूर्ववत् यथाक्षरोत्तरेण लिखेत् । इति शीर्षकम् ॥

इति छन्दकम्

आसारितं चतुर्धा स्यात् कनिष्ठं च लयान्तरम् ॥ १८२ ॥
मध्यमं ज्येष्ठमित्येषां लक्षणाणि व्याहरामहे ।
कनिष्ठासारिते युग्मः शम्यादिर्द्वावथोत्तरौ ॥ १८३ ॥
एते यथाक्षरास्तेषां संनिपातोऽन्तिमेऽधिकः ।

अस्य प्रस्तारः—

SS I S̄ S̄ I SS I S̄ S̄ I SS I S̄ S̄
शता शता, संता शता शता, संता शता शता, सं ॥

इति कनिष्ठासारितम्

(क०) अथासारितं लक्षयितुं तद्भेदानुद्दिशति—
आसारितं चतुर्थेत्यादि । कनिष्ठासारितस्य लक्षणमाह—कनिष्ठा-
सारिते युग्म इत्यादि । युग्मः चच्चत्पुटः । शम्यादिरिति ।
शता शतेति पातयुक्तः प्रयोक्तव्यः । ‘आसारितादौ शम्यादिः’
(श्लो. २८ अत्रैव) इति नियमस्योक्तत्वात् । अथ द्वावुत्तरौ
षट्पितापुत्रकौ मिलित्वैते त्रयस्ताला यथाक्षराः कर्तव्याः । तेषां
त्रयाणामन्तिमः प्लुतः संनिपातयुक्तः सन्नधिकः कर्तव्यो भवति ।
अयमर्थः—त्रयाणामन्ते एकं प्लुतमधिकं कृत्वा, ^१तं प्लुतं संनि-
पातेन योजयेदिति ॥ -१८२, १८३- ॥

^१ संप्लुतं संनि (C); ततं संनि (D).

अस्य कनिष्ठासारितस्य प्रस्तारो यथा—यथाक्षर
चच्चत्पुटं यथाक्षरौ षट्पितापुत्रकावधिकं प्लुतं च मिलित्वा
तदधः, शता शता संता शता शता संता शता शता सं इत्येतान्
लिखेत् ॥

इति कनिष्ठासारितम्

(मु०) आसारितं विभज्य लक्षयति—आसारितमिति । कनि-
ष्ठासारितं, लयान्तरासारितं, मध्यमासारितं, ज्येष्ठासारितमिति चत्वारो
भेदाः । तत्र कनिष्ठासारिते शम्यापातादिः, चच्चत्पुटः, द्वौ षट्पितापुत्रकौ,
एते त्रयोऽपि यथाक्षराः । एतेषामन्ते संनिपातः अधिकः ॥ -१८२, १८३- ॥

इति कनिष्ठासारितम्

तद्वल्लयान्तरं मार्गलयाभ्यां द्विगुणं ततः ॥ १८४ ॥

वर्धमानाङ्गमित्यन्ये;

अस्य प्रस्तारः कनिष्ठासारितेन व्याख्यात एव ॥

इति लयान्तरासारितम्

(क०) अथ लयान्तरस्यासारितस्य लक्षणमाह—
तद्वल्लयान्तरमित्यादि । ततः कनिष्ठासारितात् मार्गलयाभ्यां
द्विगुणमिति शेषः । ^१इतस्तद्वदित्यतिदिश्यते । तद्वत् कनिष्ठा-
सारितवत् । अन्ये आचार्याः वर्धमानाङ्गमित्यस्यैव लयान्तरा-
सारितस्य संज्ञान्तरमाहुः । कनिष्ठासारितापेक्षया वर्धमाना-
न्यङ्गानि यस्येति तत्तथोक्तम् ॥ -१८४- ॥

^१ इतरद्वदितिदिश्यते (D).

अस्यैव लयान्तरासारितस्य प्रस्तारः कनिष्ठासारितव-
त्कार्यः ॥

इति लयान्तरासारितम्

(सु०) लयान्तरं लक्षयति—तद्वदिति । तद्वत् कनिष्ठासारि-
तवत् । तस्मात् कनिष्ठासारितात्, द्विगुणं द्विगुणं मार्गं द्विगुणलयं च
कर्तव्यम् । अन्ये आचार्याः इदमेव लयान्तरासारितं वर्धमानाङ्गमित्याहुः
॥ - १८४ - ॥

इति लयान्तरासारितम्

मध्यमासारिते पुनः ।

उत्तरा द्विकला ज्ञेयास्त्रयस्तेष्वादिमे कलाः ॥ १८५ ॥
आद्यास्तिस्रस्त्यजेत्;

अस्य प्रस्तारः—

SSS SSSSSS
शनिता निशता प्रनिसं ।

SSSS SSS SSSSSS
निप्र ताश निता निश ताप्र निसं ।

SSSS SSS SSSSSS
निप्रता शनिता निशता प्रनिसं ॥

इति मध्यमासारितम्

(क०) अथ मध्यमासारितं लक्षयति—मध्यमासा-
रिते पुनरित्यादि । त्रयः द्विकला उत्तराः षट्पितापुत्रकाः । तेषु
उत्तरेषु आदिमे उत्तर आद्यास्तिस्रः कलाः त्यजेत् । षट्पिता-
पुत्रकोक्तकलासु आद्यास्तिस्रो [निप्रता] निपातः । निप्रतान्
परित्यज्य शम्यादिकलाः प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ॥ - १८५, १८५ - ॥

अस्य मध्यमासारितस्य प्रस्तारो यथा—आदौ द्वितीय-
पादभागस्थमन्तिममेकं गुरुं लिखित्वा ततो द्विकलेषु चतुर्षु
पादभागेषु अष्टौ गुरून् लिखेत् । एवं नवानां गुरूणामधः क्रमेण
शनिता निशता प्रनिसं इत्येतावत्, लिखेत् । एवं द्विकलः प्रथमः
षट्पितापुत्रकः । ततोऽपि द्विकलौ द्वौ षट्पितापुत्रकौ साकल्येन
लिखेत् ॥

इति मध्यमासारितम्

(सु०) मध्यमासारितं लक्षयति—मध्यमेति । मध्यमासारिते
द्विकलाः त्रय उत्तराः षट्पितापुत्रका ज्ञातव्याः । तेषु आदिमे षट्पिता-
पुत्रके, तिस्र आद्याः कलाः त्यजेत् निवारयेदिति ॥ - १८५, १८५ - ॥

इति मध्यमासारितम्

ज्येष्ठासारिते तूत्तरास्त्रयः ।

चतुष्कला स्युस्तेष्वाद्ये त्यजेत् सप्तादिमाः कलाः ॥ १८६ ॥

अस्य प्रस्तारः—

SSSSS SSSSS SSSSSSSS
श आनिविता आनिविश आताविप्र आनिविसं ॥

इदमन्त्यखण्डं ज्ञेयम् [?] ॥

SSSS SSSSS SSSSS SSSSS SSSSS
आनिविप्र आताविश आनिविता आनिविश आताविप्र

SSSS
आनिविसं ॥

§§§§ §§§§ §§§§ §§§§ §§§§
 आनिविप्र आताविश आनिविता आनिविश आताविप्र
 §§§§
 आनिविसं ॥

इति ज्येष्ठासारितम्

(क०) अथ ज्येष्ठासारितं लक्षयति—ज्येष्ठासारिते
 इत्यादि । त्रयः चतुष्कलाः उत्तरा स्युः । तेषु उत्तरेषु आद्ये प्रथमे
 षट्पितापुत्रके । आदिमाः सप्त कलास्त्यजेदिति । चतुष्कल-
 षट्पितापुत्रकोक्तासु कलासु आद्याः सप्त आनिविप्र आनिवि
 इत्येतान् परित्यज्य शम्यादिकलाः प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ॥ -१८६ ॥

अस्य ज्येष्ठासारितस्य प्रस्तारो यथा—आदौ द्वितीय-
 पादभागस्थमन्तिमं गुरुमेकं लिखेत् । ततः चतुष्कलेषु चतुर्षु
 पादभागेषु षोडश गुरुन् लिखेत् । एवं सप्तदशानामधः श
 आनिविता आनिविश आताविप्र आनिविसं इत्येतान् लिखेत् ।
 एवं चतुष्कलः प्रथमः षट्पितापुत्रकः । ततोऽपि चतुष्कलौ द्वौ
 षट्पितापुत्रकौ सकलौ लिखेत् ॥

इति ज्येष्ठासारितम्

(सु०) ज्येष्ठासारितं लक्षयति—ज्येष्ठासारित इति । ज्येष्ठा-
 सारिते चतुष्कलाः त्रयश्च उत्तराः षट्पितापुत्रकाः स्युः । तेषु आद्ये
 षट्पितापुत्रके आद्याः सप्तकला हातव्याः ॥ -१८६ ॥

इति ज्येष्ठासारितम्

एतेषां पञ्च षट् सप्ताष्टौ कलाः स्युः क्रमेण तु ।
 उपोहनानि वस्तूनि त्रीणि त्रीणि^१ च निर्दिशेत् ॥ १८७ ॥

^१ च. विनिर्दिशेत् fn. I ed.

संनिपातसमाप्तीनि तेषां मुखमुपोहनम् ।

युग्मतालः^१ प्रतिमुखं कनिष्ठे च^२ लयान्तरे ॥ १८८ ॥

मध्यमेऽष्टौ कलास्त्वाद्या ज्येष्ठे षोडश कीर्तिताः ।

व्यथौ शरीरसंहारौ क्रमात्सर्वेषु कीर्तिता ॥ १८९ ॥

पाद^३भागा विहायाद्यां शम्यामङ्गुलिकर्मणि ।

विभक्ताङ्गेषु तेषु स्युरविभागे यथास्थितम् ॥ १९० ॥

(क०) एतेषामित्यादि । एतेषां कनिष्ठासारितादीनां
 चतुर्णाम् उपोहनानि तु क्रमेण पञ्च षट् सप्ताष्टौ कलाः स्युरिति ।
 कनिष्ठासारिते पञ्च कला उपोहनम् । लयान्तरासारिते षट्
 कला उपोहनम् । मध्यमासारिते सप्त कला उपोहनम् । ज्येष्ठा-
 सारितेऽष्टौ कला उपोहनमिति क्रमो द्रष्टव्यः । वस्तूनि त्रीणि
 त्रीणि च निर्दिशेदिति वीप्सया प्रत्यासारितभेदं त्रीणि वस्तूनि
 निर्दिश्यानि भवन्ति । तथाहि कनिष्ठासारिते चञ्चत्पुटेन प्रथमं
 वस्तु । उत्तराभ्यां (*संहारः । संहरणं नामाङ्गं) द्वितीयतृतीये ।
 लयान्तरासारितेऽप्येवमेव । मध्यमासारिते कलात्रयहीनेन द्वि-
 कलोत्तरेण प्रथमं वस्तु । सकलाभ्यां द्विकलोत्तराभ्यां द्वितीय-
 तृतीये । ज्येष्ठासारितेऽपि सप्तकलाहीनेन चतुष्कलेनोत्तरेण
 प्रथमं वस्तु । सकलाभ्यां चतुष्कलोत्तराभ्यां द्वितीयतृतीये वस्तूनी
 भवतः । संनिपातसमाप्तीनीति । संनिपाते समाप्तियेषामिति
 तथोक्तानि । तत्र मध्यमज्येष्ठासारितयोः वस्तूनां द्विकलचतु-
 ष्कलोत्तरसंमितत्वात् संनिपातसमाप्तित्वं प्राप्तमेव । कनिष्ठ-

^१ लं (D).

^२ न श्रयान्तरे (?) (D).

^३ दा (D).

* धनुश्चिह्नान्तर्गतग्रन्थोऽधिक इव भाति fn. I ed.

लयान्तरासारितयोस्तु यथाक्षरोत्तरयुक्तत्वेनाप्राप्तत्वेऽपि संनिपातसमाप्तित्वे; 'संनिपातोऽन्तिमेऽधिकः' (श्लो. १८-अत्रैव) इति वचनात् प्रापितत्वेनाव संनिपातसमाप्तीनीत्यनूद्यत इति मन्तव्यम् । तेषां मुखमित्यादि । तेषाम् आसारितानाम्, अनन्तरम्, उपोहनं^१ मुखं नामाङ्गं भवति । कनिष्ठे लयान्तरे च, आसारितद्वये युग्मतालः चच्चत्पुटः प्रतिमुखं नामाङ्गं भवति । मध्यमे आसारिते तु आद्या अष्टौ कलाः प्रतिमुखं नामाङ्गं भवति । ज्येष्ठे आसारिते आद्याः षोडश कलाः प्रतिमुखमिति कीर्तिताः । व्यश्रावित्यादि । व्यश्रो चाचपुटौ । शरीरसंहाराविति । शरीरं नाम पूर्वोक्तलक्षणमङ्गम् । संहारः संहरणं नामाङ्गं सर्वेषु आसारितेषु । क्रमात् कीर्तिताविति । प्रथमचाचपुटेन शरीरं, द्वितीयचाचपुटेन संहार इति क्रमो द्रष्टव्यः । पादभाग इत्यादि । एतान्यासारितानि विभक्ताङ्गानि अविभक्ताङ्गानीति द्वेधा भवन्ति । तेषु विभक्ताङ्गेषु कृतेषु पादभागा आद्यां शम्यां विहाय अङ्गुलिकर्मणि स्युरिति । यत्र पादभागे शम्या आद्या भवति, तत्र तां सकलेन पाणिना प्रयुज्य इतरासु कलासु पूर्वोक्तमङ्गुलिनियमं कुर्यादित्यर्थः । अविभाग इति । अङ्गानामविभागेन अविभक्ताङ्गेष्वित्यर्थः । यथास्थितमिति । सामान्येन पूर्वोक्तमेव कुर्यादित्यर्थः ॥ १८७-१९० ॥

(सु०) एतेषामिति । एतेषाम् चतुर्णामासारितानाम् । पञ्च कलादीनि उपोहनानि ज्ञातव्यानि । कनिष्ठे पञ्च कला उपोहनम्; लयान्तरे षट् कला उपोहनम्; मध्यमे सप्त कला उपोहनम्; ज्येष्ठे अष्टौ कला उपोहनमिति । तेषां सर्वेषामपि अन्ते संनिपातयुक्तानि त्रीणि त्रीणि

^१ उपोहननाम (C).

वस्तूनि भवन्ति । मुखं उपोहनं च आसारितानामनन्तरमुपोहनं मुखं नामाङ्गं भवति । कनिष्ठे लयान्तरे च आसारिते प्रतिमुखं भवति । युग्मतालः चच्चत्पुटतालेन गेयम् । मध्यमासारिते आद्या अष्टौ कलाः प्रतिमुखं भवति । ज्येष्ठासारिते आद्याः षोडश कलाः प्रतिमुखं भवतीति । व्यश्रो व्यश्रताले गेयी । शरीरसंहारी द्वौ अंशविशेषौ सर्वेष्वप्यासारितेषु ज्ञातव्यौ । पादभागा इति । पादभागे विभक्तानि पृथङ्निमित्तानि अङ्गुलीनि येषु तथाविधेषु, तेषु आद्यान् पादभागान् विहाय, बहुवचनात् अन्येषु पादभागेषु शम्याः स्युर्भवेयुः । अङ्गानामविभागेन मिश्रीकरणे तु यथास्थितं यथोक्तमेव अङ्गुलिकर्म ज्ञातव्यम् ॥ १८७-१९० ॥

उपोहनानां गुरुणो द्वे द्वे आद्यन्तयोर्मते ।

अष्टौ द्वादश मध्ये लाः क्रमात् षोडश विशतिः ॥ १९१ ॥

एतेषु स्याद् ध्रुवः पातः कलयोरन्त्ययोर्गुरुः ।

एकैकमक्षरं शेषाश्चतुर्मात्रगणाः^१ कलाः ॥ १९२ ॥

(क०) अथोपहनेषु गुरुलध्वक्षरसंख्यानियममाह—
उपोहनानामित्यादि । कनिष्ठासारितोपोहने आदौ द्वे गुर्वक्षरे, अन्त्ये च द्वे गुर्वक्षरे, मध्ये अष्टौ लध्वक्षराणि^२ । लयान्तरासारितोपोहने आद्यन्तयोः पूर्ववत्; मध्ये द्वादश लध्वक्षराणि^३ । मध्यमासारितोपहने ज्याद्यन्तयोः पूर्ववत्; मध्ये षोडश लध्वक्षराणि^४ । ज्येष्ठासारितोपहने ज्याद्यन्तयोः पूर्ववदेव; मध्ये विशतिलध्वक्षराणि^५ कर्तव्यानीति क्रमो द्रष्टव्यः । एतेष्वित्यादि । एतेषु

^१ कलाः 1 ed.

^२ (S S I I I I I I S S) कनिष्ठासारितोपोहनम् ।

^३ (S S I I I I I I I I S S) लयान्तरासारितोपोहनम् ।

^४ (S S I I I I I I I I I I S S) मध्यमासारितोपोहनम् ।

^५ (S S I I I I I I I I I I I I S S) ज्येष्ठासारितोपोहनम् ।

उपोहनेषु ध्रुवः पातः स्यात् । अन्त्ययोः कलयोरैकं गुर्वक्षरं कर्तव्यम् । शेषाः कलाः चतुर्मात्रगणाः ॥ १६१, १६२ ॥

(सु०) उपोहनानामिति । उपोहनानाम् आद्ये द्वे कले, अन्त्ये द्वे कले च गुरुणी, मध्ये तु अष्टसंख्यादयो लाः लघवः क्रमेण ज्ञातव्याः । कनिष्ठासारिते मध्ये अष्टौ लघवः; लयान्तरे द्वादश लघवः; मध्यमासारिते षोडश लघवः; ज्येष्ठसारिते विंशतिलघव इति । एतेषु सर्वेषूपोहनेषु ध्रुवपातो ज्ञातव्यः । अन्त्ययोर्द्वयोः कलयोः गुरुरूपमेकैकमक्षरं ज्ञातव्यम् । शेषाः कलाः चतुर्मात्रैर्गणैः कार्याः ॥ १६१, १६२ ॥

चतुर्मात्राक्षरगणा 'सर्वाप्यासारिते कला ।

संनिपातस्त्वर्धगणे'ऽवसानो'ऽन्यैरयं पुनः ॥ १६३ ॥

विभक्ताङ्गमध्यवर्ती गणेतार्धेन वा मतः ।

आसारितान्याहुरन्ये हीनान्यङ्गैरुपोहनैः ॥ १६४ ॥

यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमिति त्रिधा ।

सर्वमासारितं तत्रावृत्तिहीनं यथाक्षरम् ॥ १६५ ॥

द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातं द्वित्रिरुच्चारणे क्रमात् ।

आवृत्तिद्वयमत्राद्यादर्धाधिलयमिष्यते ॥ १६६ ॥

यथाक्षरं सर्वमार्गे वृत्तिदक्षिणयोः परम् ।

दक्षिणे स्यात् त्रिसंख्यातं कनिष्ठं वृत्तिचित्रयोः ॥ १६७ ॥

लयान्तरे स्वतन्त्रे स्यादपरे त्वपरं जगुः ।

ध्रुवासारितमावृत्तिविधुरं ध्रुवमार्गतः ॥ १६८ ॥

त्रयोदशविधमासारितम्

¹ सर्वास्या (D) [सर्वास्या? D]; सर्वास्यासारिते I ed.

² णा (D).

³ ने (D).

⁴ लयान्तरे I ed. (सु.)

(क०) एतदेव विवृणोति—चतुर्मात्राक्षरगणेत ।
 अक्षराणां गणोऽक्षरगणः; चतस्रो मात्रा यस्य स चतुर्मात्रः; चतुर्मात्रोऽक्षरगणो यस्यां कलायां सा तथोक्ता । आसारिते सर्वापि कला चतुर्मात्रगणा कर्तव्येति सामान्यम् । संनिपातस्त्वित्यादि । अर्धगणप्रमाणः संनिपातः । अवसाने वस्तुन्ते प्रयोक्तव्यः । अयं संनिपातः पुनः विभक्ताङ्गे वस्तुनि अर्धेन गणेन मध्यवर्ती वा प्रयोक्तव्य इत्यन्यैर्मतः । अन्ये आचार्या आसारितानि अङ्गैः उपोहनैश्च हीनानि आहुः । यथाक्षरमित्यादि । आवृत्तिहीनमिति । एकवारं कृतमित्यर्थः । अत्रेति । अत्र संख्यात आद्यात् प्रथमादावर्तनात् । आवृत्तिद्वयं द्वितीयं तृतीयं चावर्तनम् । अर्धाधिलयमिति । अयमर्थः—प्रथमावृत्तौ विलम्बितो लयः । द्वितीयावृत्तौ तदर्धो मध्यलयः । तृतीयावृत्तौ तदर्धो द्रुतलयः कर्तव्य इत्यर्थः । यथाक्षरमित्यादि । यथाक्षरमासारितं सर्वमार्गे ध्रुवादिमार्गचतुष्टयेऽपि प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । परं द्विसंख्यातं वृत्तिदक्षिणमार्गयोः प्रयोक्तव्यम् । त्रिसंख्यातं त्रिमार्गे (दक्षिणमार्गे) स्यात् । कनिष्ठम् कनिष्ठासारितम् । वृत्तिचित्रयोः मार्गयोः प्रयोक्तव्यम् । लयान्तरे स्वतन्त्रे स्यादिति । स्वतन्त्रे नियमरहिते मार्गे ध्रुवादिमिश्रात्मक इत्यर्थः । अपरे त्वित्यादि । आवृत्तिविधुरमिति । ध्रुवासारितस्य लक्षणमवगन्तव्यम् । ध्रुवमार्गतं इति । त्रयोदशविधमिति । कनिष्ठासारिताद्यासारितचतुष्टयस्य प्रत्येकं यथाक्षरत्वादिभिस्त्रैविध्ये द्वादशविधम् ; मतान्तरोक्तेन ध्रुवासारितेन साकं त्रयोदशविधमासारितं भवति ॥ १६३-१६८ ॥

इत्यासारितलक्षणम्

(मु०) एवमुपोहने नियममुक्त्वा सर्वस्मिन्नप्यासारिते गण-
नियममाह—चतुर्मात्रेति । सर्वस्मिन्नप्यासारिते चतुर्मात्रगणा कला ।
तत्र च सर्वगणैः अवसाने संनिपातः । अन्येस्तु विभक्ताङ्गे आसारिते
मध्यवर्तिना अर्धेन गणेन संनिपात उक्तः । मतान्तरे आदि [आसारित]
तालानामुपोहनाङ्गे हीनत्वमाह—आसारितानीति । यथाक्षरमिति । इदं
चतुर्विधमप्यासारितं त्रिधा; यथाक्षरं, द्विसंख्यातं, त्रिसंख्यातमिति । तानि
लक्षयति—तत्रेति । आवृत्त्या हीनं यथाक्षरम्; द्विरुच्चारितं द्विसंख्यातम्;
त्रिरुच्चारितं त्रिसंख्यातमिति । आवृत्तीति । अतः त्रिसंख्या, ते अन्तिमा-
वृत्तिद्वयमाद्यादावर्तनात् अर्धाध्वलयम्, आद्यावृत्तौ यो लयः, तस्मात्
अर्धलयो द्वितीयावृत्तौ, ततोऽप्यर्धलयो तृतीयावृत्ताविति । मार्गनियम-
माह—यथाक्षरमिति । यथाक्षरं सर्वेषु मार्गेषु गेयम् । परं द्विसंख्यातं
वृत्तिदक्षिणयोः; त्रिसंख्यातं दक्षिणे; कनिष्ठं वृत्तिचित्रयोर्मर्गयोः ।
लयान्तरं स्वतन्त्रे स्वाधीने कस्मिंश्चिन्मार्गे इति । एवं द्वादश-
विधान्यासारितान्युक्त्वा मतान्तरेण पुनरप्येकविधमासारितभेदमाह—
अपरे इति । अपरे केचित् । ध्रुवासारितमिति । ध्रुवमार्गेण आवृत्तिहीनं
गेयमित्याहुः इति त्रयोदशविधान्यासारितानि ॥ १९३-१९६ ॥

इत्यासारितलक्षणम्

^१कण्डिकावर्धमानं ^२चासारिताभासमित्यपि ।
वर्धमानासारितं तु ^३वर्धमानमिति त्रिधा ॥ १९६ ॥
कण्डिकाभिश्चतसृभिः कण्डिकावर्धमानकम् ।
विशालाद्या संगता च सुनन्दा सुमुखी तथा ॥ २०० ॥
चतस्रः कण्डिकास्तासां ^४नवाष्टौ षोडश क्रमात् ।
द्वात्रिंशच्च कला ज्ञेयाश्चतुरासारितस्थवत् ॥ २०१ ॥

^१ खण्डिका [टीकायां] fn. I ed.

^२ वा I ed.

^३ च I ed.

^४ तथा (D).

क्रमादुपोहनान्यासां झण्डुमित्यादिमौ गुरु ।

^१वा इत्यन्ते मुखानां स्याद् विशालायां तु मध्यमाः ॥ २०२ ॥
लाश्चतुर्दश चत्वारश्चत्वारोऽन्येषु तेऽधिकाः ।
एष्वक्षराणि नियतान्यभूत श्रेयसे विधिः ॥ २०३ ॥
भगवान् भरतस्त्वाह तानि व्यक्तानि तद्यथा ।

(क०) अथ सप्रभेदं वर्धमानकं लक्षयति ^२कण्डिका
वर्धमानमित्यादिना । तत्र कण्डिकावर्धमानस्य लक्षणमाह—^३कण्डि-
काभिरित्यादि । विशालादीनां चतसृणां ^४कण्डिकानां ^५कलासंख्या-
नियममाह—तासां नवाष्टौ षोडश क्रमात् द्वात्रिंशच्च कला ज्ञेया
इति । तत्र विशालाया नव कलाः; संगताया अष्टौ कलाः;
सुनन्दायाः षोडश कलाः; सुमुख्या द्वात्रिंशत्कला इति क्रमः ।
आसामुपोहनानि क्रमाच्चतुरासारितस्थवदिति । चत्वारि च
तान्यासारितानि तेषु तिष्ठन्तीति तत्स्थानि तद्वदुपोहनानीति;
विशालायां पञ्चकलमुपोहनं, संगतायां षट्कलं, सुनन्दायां
सप्तकलं, सुमुख्यामष्टकलमिति क्रमेण द्रष्टव्यम् । तेषामक्षराणि
तत्संख्यां चाह—झण्डुमित्यादिना । ‘झण्डुम्’ इत्युपोहनानामादौ
गुरु प्रयोक्तव्यौ । ‘वा’ इत्येको गुरुरन्ते प्रयोक्तव्यः । मुखानां
मुखसंज्ञकानामुपोहनानामेवमाद्यन्तवर्णनियमः स्यात् । प्रत्येकं
मध्यवर्णसंख्यामाह—विशालायां त्वित्यादि । विशालायामुपोहने
मध्यमा लघवश्चतुर्दश स्युः । अन्येषु संगताद्युपोहनेषु । चत्वार-
श्चत्वारो लघवोऽधिका इति । पूर्वपूर्वपिक्षयेत्यर्थः । एष्वित्यादि ।

^१ ड. बी. fn. I ed; व (D).

^२ ख. I ed.

^३ ख. I ed.

^४ ख. I ed.

^५ दीनां (C).

विधिः ब्रह्मा । श्रेयसे अभ्युदयाय, एषु उपोहनेषु, नियतानि अक्षराणि अब्रूत । तानि व्यक्तानीति । भरतोक्तान्यक्षराणि च व्यक्तानि; भरतवचनेनैवेत्यर्थः । तदेवोदाहर्तुमाह—तद्यथेति ॥ १६६-२०३-॥

(सु०) वर्धमानं विभजते—^१कण्डिकेति । वर्धमानं विप्रकारम् । कण्डिकावर्धमानम्, आसारिताभासम्, वर्धमानासारितम् चेति । तत्र कण्डिकावर्धमानं लक्षयति—^२कण्डिकाभिरिति । विशालाभिः चतसृभिः कण्डिकाभिः विरचितं कण्डिकावर्धमानम् । कण्डिकान् लक्षयति—चतस्रः ^३कण्डिकाः इति । तासामिति तासां मध्ये, विशालायां नव कलाः; संगतायाम् अष्टौ कलाः; सुनन्दायां षोडश कलाः; सुमुख्यां द्वाविंशत्कला इति । आसाम् चतसृणामुपोहनानि चतुर्णामासारितानामिव क्रमात् कर्तव्यानि । कनिष्ठासारितोपहनवत् विशालायामुपोहनम्; लयान्तरासारितोपोहनवत् संगतायाम्; मध्यमासारितोपोहनवत् सुनन्दायाम्; ज्येष्ठासारितोपोहनवत् सुमुख्यामिति । तेष्वुपोहनेषु आद्यौ द्वौ गुरु झण्टुमित्यक्षराभ्यां गेयौ । ^४मुखानाम् अन्ते वर्तमानो गुरुश्च 'वा' इत्यनेन वर्णेन गेयम् । विशालायां तु मध्यामाः मुख्यादारभ्य गुरुद्वयो मध्ये चतुर्दश लघवः । अन्येषु संगतादिषु चत्वारश्चत्वारो लघवोऽधिकाः (संगतायां अष्टादश, सुनन्दायां द्वाविंशतिः, सुमुख्यां षड्विंशतिरिति ।) एष्विति । एषु उपोहनेषु । विधिः ब्रह्मा । श्रेयसे अभ्युदयाय नियतान्यक्षराणि अब्रूत । भगवान् भरतोऽपि तानि अक्षराणि व्यक्तानि आह ॥ १६६-२०३-॥

“तान्यक्षराणि वक्ष्ये यानि पुरा ब्रह्मगीतानि ॥
झण्टुं दिगिदिगिदिगिदिगिदिगि कुचझलझण्टुमिति ।

^१ कण्डिकेति (A).

‘एतद्वाले ज्ञेयं तितिशलवृद्धं’ लयान्तरे गदितम् ॥
कुचझलसहितं मध्ये तितिकुचयुक्तं भवेज्ज्येष्ठे ।” इति च ।
(नाट्यशास्त्रे XXXI अध्याये श्लो. १०३, १०४)

“(क०) तानीति । झण्टुं दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुच झल वा इति विशालोपोहने, कनिष्ठासारितोपोहने चाक्षराणि । एतत् बाले कनिष्ठासारिते ज्ञेयम् । तितिशलवृद्धमिति । झण्टुं दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुच झल तिति झल वा इति संगतोपोहने लयान्तरोपोहने चाक्षराणि । कुचझलसहितमिति । झण्टुं दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुच झल तिति झल कुच झल वा इति सुनन्दोपोहने मध्यमासारितोपहने चाक्षराणि । तितिकुचयुक्तं भवेज्ज्येष्ठे इति । झण्टुं दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुच झल तिति झल कुच झल तिति कुच वा इति सुमुख्योपोहने ज्येष्ठासारितोपोहने चाक्षराणि । इति भरतवचनस्यार्थः ॥ ”

“(सु०) यथाक्षरनियममाह—तानीति । यान्यक्षराणि भरतेनोक्तानि तान्येवाह—झण्टुमिति । कनिष्ठासारिते ताले झण्टुमित्यादीनि अक्षराणि गेयानि । लयान्तरेति । लयान्तरासारिते तितिशलवृद्धमित्यक्षराणि; मध्यमासारिते कुचझलसहितान्यक्षराणि; ज्येष्ठासारिते तितिकुचेत्यक्षराणि ज्ञातव्यानि ॥ ”

SS I I I I I I I I I I I S
झण्टुं दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुच झल वा ॥

इति विशालायाः, कनिष्ठासारितायाश्च उपोहनम् ॥

^१ कण्डिका (सु.) ^१ तद्वाले I ed. ^२ वृद्धि I ed. ^३ ख. वा
fn. I ed.; चा I ed. ^४ चा I ed. ^५ चा I ed. ^६ चा I ed.

SS || || || || || || || || || || || S
अष्टु दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुच झल तिति झल वा ॥

इति संगतायाः, लयान्तरायाश्च उपोहनम् ॥

SS || || || || || || || || || || || S
अष्टु दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुच झल तिति झल कुच झल वा ॥

इति सुनन्दायाः, मध्यमासारितायाश्च उपोहनम् ॥

SS || || || || || || || || || || || S
अष्टु दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुच झल तिति झल कुच झल तिति कुच वा ॥

इति सुमुख्यायाः, ज्येष्ठासारितायाश्च उपोहनम् ॥

मध्यमासारितादिस्थवस्तुवत् ताल इष्यते ॥ २०४ ॥

विशालायां संगतायां द्विकलो युग्मसंज्ञकः ।

चतुष्कलः सुनन्दायां सुमुख्यां स द्विरुच्यते ॥ २०५ ॥

(क०) विशालादिषु तालं योजयति—मध्यमासारि-
तेत्यादिना । विशालायां तालो मध्यमासरितादिस्थवस्तुवत्;
मध्यमासारितस्यादौ स्थितं वस्तु नवकलात्मकं तत्र यस्तालः स
एव विशालायां कर्तव्य इत्यर्थः । संगतायां द्विकलो युग्मसंज्ञकः
द्विकलश्चच्चत्पुटः कर्तव्यः । सुनन्दायां चतुष्कल^१ इति, युग्मसंज्ञक
इत्यनुषञ्जनीयः । सुमुख्यां सः चतुष्कलश्चच्चत्पुटो द्विरुच्यते ॥
॥ - २०४, २०५ ॥

(सु०) मध्यमासारितादिस्थेति । एषु वस्तुषु (आदौ) यस्तालः
स एव विशालायां ज्ञातव्यः । संगतायां द्विकलश्चच्चत्पुटः; सुनन्दायां चतु-
ष्कलश्चच्चत्पुटः; सुमुख्यां स एव चतुष्कलश्चच्चत्पुटः द्विरुच्यते
द्विरुच्यते ॥ - २०४, २०५ ॥

^१ लो रतियुग I ed.

शम्यातालं द्विरन्ते च संनिपात उपोहने ।

आद्याया द्विकलश्चाचपुटो^१ ज्यस्या^२ उपोहने ॥ २०६ ॥

उद्धट्टादिः सुनन्दायां भवेद्युग्मो यथाक्षरः ।

स एव तालो द्विकलः सुमुख्याः स्यादुपोहने ॥ २०७ ॥

*कण्डिकानां वदन्तीत्यं^३ परिवर्तान्^४ दशापरं ।

विशाला संगता बाद्या सुनन्दा संगतादिमा ॥ २०८ ॥

सुमुखी च सुनन्दाद्या^५ संगता च विशालिका ।

आसारितवदत्रापि कलानां गणकल्पना ॥ २०९ ॥

(क०) अथोपोहनेषु तालं योजयति—शम्यातालमि-
त्यादिना । आद्याया विशालाया उपोहने पञ्चकलात्मके शम्या-
तालम् । शम्या च तालश्चेति द्वन्द्वैकवद्भावान्नपुंसकलिङ्गनिर्देशः ।
द्विरिति । शताशतेत्यर्थः । अन्ते पञ्चम्यां कलायां संनिपातः
कर्तव्यः । अन्यस्याः संगताया उपोहने षट्कलात्मके द्विकल-
श्चाचपुटः कर्तव्यः । सुनन्दाया उपोहने सप्तकलात्मके उद्धट्टादि-
र्यथाक्षरो युग्मः चच्चत्पुटो भवेत् । सुमुख्या उपोहने षट्कलात्मके
द्विकलः चच्चत्पुटो भवेत् । *कण्डिकानामित्यादि । अपरे
आचार्याः *कण्डिकानाम् इत्यमिति वक्ष्यमाणप्रकारेण दश परि-
वर्तान् वदन्ति । तान् दर्शयति—विशालेत्यादिना । आद्या
विशाला । पुनरादिमा विशाला । अत्र कण्डिकावर्धमाने ।
कलानां गणकल्पना आसारितवदिति । 'चतुर्मात्राक्षरगणाः

^१ टेज्य (D).

^२ दुपो (D).

* टीकायां कण्डिकानाम् इत्येव पाठो

वर्तते fn. I ed.

^३ तौ दशा (D).

^४ ह्या (D).

^५ ख I ed.

^६ ख I ed.

सर्वाण्यासरिते कला' (श्लो. १६३- अत्रैव) इति यदुक्तं
तद्वदित्यर्थः ॥ २०६-२०६ ॥

(सु०) शम्येति । उपोहने पञ्चकलात्मके शम्यातालमपि द्विरु-
च्चारणीयम् । अन्ते च संनिपातः । आद्याया इति । विशालाया उपोहने
द्विकलश्चाचपुटतालः । अन्यस्याः संगताया उद्धटादिः, आदिशब्देन
संपक्वेष्टाकः । सुनन्दाया उपोहने यथाक्षरश्चच्चत्पुटः, सुमुख्या उपोहने
द्विकलश्चच्चत्पुटः इति । मतान्तरमाह—कण्डिकानामिति । अपरे अन्ये
आचार्याः कण्डिकानां दश परिवर्तान् वदन्ति (छन्दःशास्त्रे अनेन
प्रकारेण परिवर्तयेदिति, तत्परिवर्तप्रकारमाहुः) । इत्थम् अनेन प्रकारेण
कण्डिकालक्षणपरिवर्तनं वदन्ति । तस्मिन्यक्षे तं प्रकारमाह—विशालेति ।
विशाला संगता आद्येत्येकः पक्षः, सुनन्दा संगता आद्येति द्वितीयः, सुमुखी
सुनन्दा आद्येति तृतीयः, संगता विशाला आद्येति चतुर्थः । अत्रापि आसा-
रितवत् गणाः कल्पनीयाः ॥ २०६-२०६ ॥

इति कण्डिकावर्धमानम्

अस्य प्रस्तारः—

SSSS SSSSS

शनितानि शताप्र निसं ॥ [निशतानि शताप्रनिसं ॥ I ed.]

इति विशाला ॥

SS SSSSSS

निश निताश प्रनिसं ॥ इति संगता ॥

SS SSSSSS SSSS SSSS

आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं ॥ इति सुनन्दा ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS

आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं,

SSSS SS SS SSSS SSSS

आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं ॥ इति

सुमुखी ॥

इति चतस्रः कण्डिकाः ॥

SS SSS

शता शता सं ॥ इति विशालाया उपोहनम् ॥

SS SSSS

निश ताश निसं ॥ इति संगताया उपोहनम् ॥

SSSS S

ताश ताश ता ॥ इति वा संपक्वेष्टाकवत् उपोहनम् ॥ [स]

SSSS SSS SSSS SSSS

निशश शता शता ॥ [निशशता शताश ॥ I ed.] इति

सुनन्दाया उपोहनम्

SSSSSSSS

निश निताश प्रनिसं ॥ इति सुमुख्या उपोहनम् ।

परिवर्तन पक्षे तु 'विशाला संगता बाद्या' इति

(श्लो. -२०८. २०९- अत्रैव) क्रमेण कण्डिकानां प्रस्तारो ज्ञेयः ॥

इति कण्डिकावर्धमानम्

(क०) अस्य; कण्डिकावर्धमानस्य प्रस्तारो यथा—

नव गुरून् लिखित्वा तदधः, ^१शनितानि, शताप्रनिसं इत्येतान्
लिखेत् । इति विशाला । ततोऽष्टौ गुरून् लिखित्वा तदधः,
निश निताश प्रनिसं इत्येतान् लिखेत् । इति संगता । ततः षोडश
गुरून् लिखित्वा तदधः, आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं

इत्येतान् लिखेत् । इति सुनन्दा । ततो द्वाविंशद्गुरून् लिखित्वा तदधः, पूर्वोक्तान् वर्णान् द्विवारं लिखेत् । इति सुमुखी । इति चतस्रः कण्डिकाः ॥

अथोपोहनानि—पञ्च गुरून् लिखित्वा तदधः, शता शतासमिति लिखेत् । इति विशालाया उपोहनम् ॥ षड् गुरून् लिखित्वा तदधः, निश ताश निसं इति लिखेत् । इति संगताया उपोहनम् । ततो यथाक्षरोद्धट्चच्चत्पुटौ लिखेत् । तत्र चच्चत्पुटस्थाघस्तात् शताशतान् [ताशताशान्] लिखेत् । इति सुनन्दाया उपोहनम् । ततो द्विकलचच्चत्पुटं लिखेत् । इति सुमुख्या उपोहनम् । परिवर्तनपक्षे तु 'विशाला संगता वाद्या' इति क्रमेण कण्डिकानां प्रस्तारो ज्ञेयः ॥

इति कण्डिकावर्धमानम्

आसारितानामुत्पत्तिर्वर्धमानाद्भवत्यतः ।

तदासारितवद्भाति विधया वक्ष्यमाणया ॥ २१० ॥

विशाला चेन्नव कला भित्त्वाष्टादशधा कृता ।

त्यक्त्वा चान्त्यां कलां तत्तु तदा भाति कनिष्ठवत्

॥ २११ ॥

(क०) अथासारिताभासनामकवर्धमानं लक्षयितुमाह—आसारितानामित्यादिना । अत्र यत् इत्यध्याहर्तव्यम् । यतः कारणादासारितानामुत्पत्तिर्वर्धमानाद्भवति, अतः कारणात्तद्वर्धमानं वक्ष्यमाणया विधया आसारितवद्भाति । तां विधां दर्शयति—विशाला चेत्यादिना । विशालाया नव कला अष्टादशधा

भित्त्वा वर्धयित्वा द्विगुणीकृत्येत्यर्थः । अन्त्यां कलामष्टादशीं कलां त्यक्त्वा च कृता चेत्तदा तद्वर्धमानं सप्तदशकलात्मकत्वात् कनिष्ठवत् कनिष्ठासारितवद्भाति प्रतीयते ॥ २१०, २११ ॥

इति कनिष्ठासारिताभासं वर्धमानम्

(सु०) आसारिताभासं वर्धमानं लक्षयितुमाह—आसारिता-नामिति । यतः वर्धमानात् आसारितानामुत्पत्तिः, अतः कारणात् तद्वर्धमानं वक्ष्यमाणप्रकारेण आसारितवत् भासते । तमेव प्रकारमाह—विशालेति । नवकलाभिः अन्विता विशाला, भित्त्वा तत्र कला भित्त्वा विशालाकलाभेन कृत्वा अष्टादशधा क्रियते । अन्त्या च कला यदा त्यज्यते, तदा वर्धमानं कनिष्ठासारितवत् भाति ॥ २१०, २११ ॥

इति कनिष्ठासारिताभासं वर्धमानम्

अस्य प्रस्तारः—

SS SS SSSS SS SS SSSS S
शता शता, संता शता शता, संता शता शता, सं ॥

SSSS SSSS SS SSSS SSSS
(क०) [शानितानि शताप्र निसं, शानितानि शताप्रनि
(सं त्यक्तं) इति द्विगुणीकृता अन्यकलाहीना विशाला]

इति कनिष्ठासारिताभासं वर्धमानम्

(क०) अस्य कनिष्ठासारिताभासवर्धमानस्य प्रस्तारो यथा—सप्तदश गुरून् लिखित्वा, तदधः कनिष्ठासारितोक्तान् शता शता संता शताशता संता शता शता सं इत्येतान् वर्णान् लिखेत् ॥

इति कनिष्ठासारिताभासं वर्धमानम्

संगता षट्कलमुखी विशाला चेत् ततः परा ।

भवेत्तलान्तराभासं तत्तालं वर्धमानकम् ॥ २१२ ॥

(क०) लयान्तराभासं वर्धमानं लक्षयति—षट्कल-
मुखीति । षट्कलं मुखमुपोहनं यस्याः सा तथोक्ता । संगता
अष्टकलात्मिका आदौ भवेदित्यर्थः । ततः संगतायाः परा
विशाला नवकलात्मिका भवेत् । तत्तालं स एव तालो यस्य
तत्तथोक्तं लयान्तरतालयुक्तमित्यर्थः ॥ २१२ ॥

(मु०) संगतेति । विशालाकण्डिका संगता षट्कलमुखी यदा
स्यात्, संगतायाः षट्कला मुखमादिर्यस्याः तथाविधा चेत् तदा लयान्तरा-
भासं वर्धमानम् ॥ २१२ ॥

इति लयान्तराभासं वर्धमानम्

अस्य प्रस्तारः—

SS SS SS SS SS SS SS SS S
शता शता, संता शता शता, संता शता शता सं ॥

SS SS SS
आदावुपोहनं [निश ताश निसं]; प्राग्वत् ताललयमार्गद्वैगुण्यं च

SS SSSS SSSSSSSSS SSSS
(क०) [निश ताश निसं । निश निताश प्रनिसं, शनितानि

SS SSS
शता प्रनिसं ॥ इति षट्कलमुपोहनं, संगता, विशाला च]

इति लयान्तराभासं वर्धमानम्

(क०) अस्य लयान्तराभासवर्धमानस्य प्रस्तारं^१ पूर्ववर्ध-
मानवदेव लिखेत् । आदावुपोहनं प्राग्वत् । ताललयमार्गद्वैगुण्यं
चात्र विशेषः ॥

इति लयान्तराभासं वर्धमानम्

सोपोहना सुनन्दादौ संगते^२ द्वे ततः परे^३ ।

मध्यमासारिते ताले स्यात् तदाभासकं तदा ॥ २१३ ॥

(क०) मध्यमासारिताभासं लक्षयितुमाह—सोपोहने-
त्यादि । आदौ प्रथमं सोपोहना सप्तकलात्मकोपोहनसहिता
सुनन्दा षोडशकलात्मिका । ततः परं द्वे संगते प्रत्येकमष्टकला-
त्मिके भवतः । एवं द्वात्रिंशत्कला भवन्ति । मध्यमासारिते ताल
इत्यनेनान्ते संनिपातयुक्तैका कलाधिका कर्तव्या । अन्यथा तस्य
तालस्यापरिपूर्णाता स्यात् । तेनात्र त्रयस्त्रिंशत्कला भवन्ति ।
तदाभासकमिति । मध्यमासारिताभासकं वर्धमानमित्यर्थः
॥ २१३ ॥

(मु०) सोपोहनेति । उपोहनसहिता सुनन्दा आदौ गेया । ततो-
ऽन्तर संगता, आद्या विशाला च यदा मध्यमासारितस्थतालः तदा
मध्यमासारितं वर्धमानम् ॥ २१३ ॥

इति मध्यमासारिताभासं वर्धमानम्

अस्य प्रस्तारः—

SSS SSS SSS SS SSS SSS SSS
शनिता निशता प्रनिसं, निश ताश निता निशता प्रनिसं,

^१ ख. ग. प्रस्तारो यथा पूर्वं fin. I ed. ^२ ताद्ये (D). ^३ परम् (D).

SS SSSS SSS SSS

निप्र ताश निता निशता प्रनिसं ॥ आदौ सप्तकलमुपोहनम् ॥

SSSSS SS

(क०) [निशश शता शता ॥ इति आदौ सप्तकल-
मुपोहनम् ॥

SSSS SSSS SSSS SSSS

आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं । इति सुनन्दा ॥

SS SSSSSS SS SSS SSS S

निश निताश प्रनिसं, निश निताश प्रनिसं, सं । इति द्वे
संगते, संनिपातयुक्तैका कलाधिका]

SSSSSSS SSSS SSSS SSSS

(सु०) [निशश शता शता । आनिविश आनिविता आशविप्र

SSSS

SS SSSSSS

आनिविसं । इति उपोहनसहिता सुनन्दा; निश निताश प्रनिसं ।

SSSS SSSSS

शानितानि शताप्रनिसं । इति संगता, विशाला च ॥]

इति मध्यमासारिताभासं वर्धमानम्

(क०) अस्य मध्यमासारिताभासस्य प्रस्तारः^१ मध्य-

मासारितप्रस्तारवल्लिखेत् । आदौ सप्तकलमुपोहनं प्राग्वत् ॥

इति मध्यमासारिताभासं वर्धमानम्

सुमुखीकण्डिका पश्चात् सुनन्दा संगतादिमा ।

ज्येष्ठतालाने चेज्ज्येष्ठासारिताभासकं तदा ॥ २१४ ॥

^१ ख. ग. प्रस्तारो यथा fn. I ed.

(क०) सुमुखीत्यादि । आदिमा विशाला । एवं चतसृषु
कण्डिकासु पञ्चषष्टिः कला भवन्ति (?)^{*} । ज्येष्ठतालेनेति ।
ज्येष्ठासारिते यस्ताल उक्तः चतुष्कलोक्तस्त्रिरावृत्त आदौ
त्यक्तसप्तकलः तेनात्र प्रयोगः कृतश्चेत् तदा ज्येष्ठासारिताभासं
वर्धमानम् ॥ २१४ ॥

(सु०) सुमुखीति । सुमुखीकण्डिका पश्चात् गीयते; संगता
सुनन्दा च आदौ, ज्येष्ठासारिते यस्ताल उक्तः चतुष्कलोत्तरः त्रिरावृत्त
आदौ त्यक्तसप्तकलः तेनात्र प्रयोगः कृतश्चेत् तदा ज्येष्ठासारिताभासं
वर्धमानम् ॥ २१४ ॥

अस्य प्रस्तारः—

SS SSSSSS

निश निताश प्रनिसं । इति आदावष्टकलमुपोहनं प्राग्वत् ॥

S SSSS SSSS SSSS SSSS

श आनिविता आनिविश आताविप्र आनिविसं ।

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

आनिविप्र आताविश आनिविता आनिविश आताविप्र

SSSS

आनिविसं ।

SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

आनिविप्र आताविश आनिविता आनिविश आताविप्र

SSSS

आनिविसं ।

^{*} विशाला ६ + संगता ८ + सुनन्दा १६ + सुमुखी ३२ = ६२
(पृष्ठ १४८, १४९)

^१ ख. ग. लोत्तरस्त्रि fn. I ed.

SSSS SSSS SSSS SSSS
(क०) [आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं,

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं । सुमुखी,

SSSS SSSS SSSS SSSS
आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं । सुनन्दा,

SS SSS SSS SSSS SSS SS
निश निताश प्रनिसं । शनितानि शताप्र निसं । संगता, आदिमा
विशाला च ।]

इति ज्येष्ठासारिताभासं वर्धमानम्

इति चतुर्विधमासारिताभासं वर्धमानम्

(क०) अस्य ज्येष्ठासारिताभासस्य प्रस्तारो^१ यथा—
ज्येष्ठासारितप्रस्तारवल्लिखेत् । आदावष्टकलमुपोहनं प्रागवत् ।

इति ज्येष्ठासारिताभासं वर्धमानम्

इति चतुर्विधमासारिताभासं वर्धमानम्

आसारितेभ्य उत्पन्नं वर्धमानं विवक्ष्यते ।

यदा तदा वर्धमानासारितं तदुदाहरन् ॥ २१५ ॥

यदा पूर्वक्रमाद्गीतास्तालेस्तेरेव कण्डिकाः ।

वर्धमानासारितानि तदा चत्वारि पूर्ववत् ॥ २१६ ॥

कनिष्ठादीनि भान्त्यत्र तालांशा वर्धमानवत् ।

यथाक्षरादिभेदेन पुनः सर्वाण्यपि त्रिधा ॥ २१७ ॥

^१ प्रस्तारं ज्येष्ठा I ed.

यथाक्षरादित्रितयं दक्षिणे वार्तिके द्वयम् ।

चित्रे त्वेकमितीमानि षट्प्रकाराणि मार्गतः ॥ २१८ ॥

(क०) आसारितेभ्य इत्यादि । पूर्वमासारिताभास
आसारितानामुत्पत्तिर्वर्धमानादिति दर्शितम् । इदानीं तद्विपर्यय
उच्यते । यदा वर्धमानमासारितेभ्य उत्पन्नमिति विवक्ष्यते, तदा
तद्वर्धमानासारितमित्युदाहरन्नाचार्याः । तेनात्र विवक्ष्यैव भेदो
द्रष्टव्यः । स्वरूपतस्तु नातीव भेदोऽस्तीति मन्यमान आह—यदा
पूर्वक्रमादिति । अत्र वर्धमानासारितेषु कनिष्ठादीन्यासारितानि
भान्ति प्रतीयन्ते । तालांशाः तालभागाः, वर्धमानवत् वर्धमान
इव भान्ति । तत्त्वतस्तु तावन्मात्रमितत्त्वाद्वर्धमाना एव (?) ।
यथाक्षरादिभेदेनेत्यादि । सर्वाण्यपीति । मार्गलयमात्रभिन्नस्य
लयान्तरस्य कनिष्ठा^१दिव्यतिरेकात् तदुत्थानि त्रीणि वर्धमानानि
विहाय इतराणि कण्डिकावर्धमानानि त्रीणि, आसारिताभासादीनि
त्रीणि, वर्धमानासारितानि त्रीणीति मिलित्वा नव गृह्यन्ते; तानि
नवापि । यथाक्षरादिभेदेनेति । आदिशब्देन द्विकलचतुष्कलभेदौ
गृह्येते । एवं त्रिविधानि भवन्ति । यथाक्षरादित्रितयं दक्षिण इति ।
दक्षिणमार्गे पूर्वोक्तानि नवापि यथाक्षराणि द्विकलानि चतुष्क-
लानि च भवन्ति । वार्तिके द्वयमिति । वार्तिके मार्गे यथाक्षराणि
च द्विकलानि^२ च भवन्ति । चित्रे त्वेकमिति । चित्रे मार्गे एकं
यथाक्षराण्येव भवन्ति । इतीमानि वर्धमानानि मार्गतः मार्गभे-
दवशात् षट्प्रकाराणि भवन्ति । यथा (?) प्रथमोक्तान्येव
वर्धमानानि यानि न विद्यन्ते तानि दक्षिणे यथाक्षराणीत्येकः

^१ ष्ठादव्यति I ed.

^२ चतुष्कलानि च I ed.

प्रकारः । अत्रैव द्विकलानीति द्वितीयः । तत्रैव चतुष्कलानीति तृतीयः । वार्तिके यथाक्षराणीति चतुर्थः । तत्रैव द्विकलानीति पञ्चमः । चित्रे यथाक्षराणीति षष्ठः । एवं नवानां षट्प्रकारत्वे चतुष्पञ्चाशद्वर्धमानानि भवन्ति ॥ २१५-२१८ ॥

इति वर्धमानानि

(सु०) वर्धमानासारितं लक्षयति—आसारितेभ्य इति । आसारितेभ्यः वर्धमाना उत्पन्ना इति यदा विवक्ष्यते, तदा वर्धमानासारितमित्युदाहरन् भरतादयः । यदेति । यदा पूर्वोक्तक्रमेण तालैः स्वरैश्च कण्डिका गीयते, तदा चत्वारि वर्धमानासारितानि भवन्ति । अत्र वर्धमानासारिते, कनिष्ठादीन्यासारितानि वर्धमानवद् भासन्ते । यथाक्षरादीति । सर्वाण्यप्यासारितानि त्रिविधानि; यथाक्षराणि, द्विकलानि, चतुष्कलानीति । पुनरपि मार्गतः मार्गभेदेन षट्प्रकराणि भवन्ति ॥ २१५-२१८ ॥

इति वर्धमानानि

एतेषां प्रस्तारो यथा—

S S S S S S S S S S S S S S S S

श आनिविता, आनिविश, आताविप्र, तानिविसं । इति वर्धमानाभासं कनिष्ठासारितम् ।

S S S S S S S S S S S S S S S S

श निश निता शप्र निसं, शनिताश ताप्रनिसं । इति वर्धमानाभासं लयान्तरम् ।

S S S S S S S S S S S S S S S S

आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं,

S S S S S S S S S S S S S S S S

निश निता शप्र निसं, शनिताश शताप्रनिसं । इति वर्धमानाभासं मध्यमासारितम् ॥

S S S S S S S S S S S S S S S S

श आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं,

S S S S S S S S S S S S S S S S

आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं,

S S S S S S S S S S S S S S S S

आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं,

S S S S S S S S S S S S S S S S

निश निता शप्र निश, नितानि शता प्रनिसं । इति वर्धमानाभासं ज्येष्ठासारितम् ॥

इति चतुष्पञ्चाशद्भेदानि वर्धमानानि

(क०) एतेषां प्रस्तार इति । एतेषां वर्धमानासारितानां प्रस्तारः प्रदर्श्यत इत्यर्थः । यथा सप्तदश गुरुन् लिखित्वा तदधः, श आनिविता, आनिविश आताविप्र तानिविसं इति लिखेत् । इति वर्धमानाभासं कनिष्ठासारितम् । ततोऽपि सप्तदश गुरुन् लिखित्वा तदधः, श निश निता शप्र निसं शनिताश ताप्रनिसं इति लिखेत् । इति वर्धमानाभासं लयान्तरम् । ततस्त्रयस्त्रिंशद्गुरुन् लिखित्वा तदधः, आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं निशनिता शप्रनिसं शनिताश शताप्रनिसं इति लिखेत् । इति वर्धमानाभासं मध्यमासारितम् । ततः पञ्चषष्टिगुरुन् लिखित्वा तदधः, श आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं, आनिविश

आनिविता आशविप्र आनिविसं, आनिविश आनिविता आशविप्र
आनिविसं, निश निता शप्र निश नितानि शता प्रनिसं इत्येतान्
वर्णान् लिखेत् ।

इति वर्धमानाभासं ज्येष्ठासारितम्

इति चतुष्पञ्चाशद्भेदानि वर्धमानानि

आद्या रोविन्दकगता मात्रैका पाणिका मुखम् ।

मात्रा स्यादव^१राष्टाङ्गा षोडशाङ्गा परा मता ॥ २१६ ॥

उल्लोप्यकवदङ्गानां^२ निवेशं कोविदा विदुः ।

विदार्यः स्युः स्तुतिपदैराकारान्तरितैरिह ॥ २२० ॥

निरन्तरैः स्तुतिपदैराकारैश्चाथवा क्रमात् ।

मुखात्परं प्रतिमुखं मुखवत् स्यात् पदान्तरैः ॥ २२१ ॥

अथोत्तरैश्चतुर्भिः स्याच्छरीरं तु यथाक्षरैः ।

ततः शीर्षं सैककेन कार्यं संपिष्टकेन तु ॥ २२२ ॥

अन्येऽन्ताहरणेनान्तान्वि^३तेनेच्छन्ति शीर्षकम् ।

(क०) अथ पाणिकां लक्षयति—आद्येत्यादि । रोवि-
न्दकगता आद्या एका मात्रा पाणिका स्यात् । रोविन्दक-
गतत्वेनेन मात्रायाः षोडशकलत्वम्, आनिविप्रादियुक्तत्वं च
वेदितव्यम् । मुखमित्युपोहनं रोविन्दकगतमिति लिङ्गव्यत्यये-
नानुषञ्जनीयम् । तेन तदत्राप्यष्टकलमित्यवगतव्यम् । अष्टाङ्ग-
मात्रा अवरा स्यात् । षोडशाङ्गमात्रा परा स्मृता । उल्लोप्यक-
वदित्यादि । अङ्गानां विविधादीनां निवेशमुल्लोप्यके यथा

^१ दपरा (D).

^२ निवेशं (D).

^३ विना नेच्छन्ति I ed.

तथात्रापि कर्तव्यं विदुः । इह पाणिकायाम्, आकारान्तरितैः
स्तुतिपदैः विदार्यः स्युरित्येकः पक्षः । अथवा निरन्तरैः स्तुतिपदैः
निरन्तरैराकारैश्च क्रमात् विदार्यः स्युरिति पक्षान्तरम् ।
मुखवत् स्यात् पदान्तरैरिति । मुखप्रतिमुखयोः पदभेद एव, न
गीतिभेद इत्यर्थः । अथ प्रतिमुखान्तरम् । ततः शरी[रादनन्तरं]
सैककेन एककाख्याङ्गसहितेन संपिष्टकेन दशकलेन वा शीर्षं
कार्यम् । अन्ये आचार्याः अन्तान्वितेन अन्ताहरणेन शीर्षक-
मिच्छन्ति ॥ २१६-२२२- ॥

इति पाणिका

(सु०) पाणिकां लक्षयति—आद्येति । रोविन्दकगता आद्या
मात्रा पाणिकायाः मुखं स्यात् । सा मात्रा अवरा हीना अष्टाङ्गा; परा
उत्तमा षोडशाङ्गा । काव्यङ्गानीत्यपेक्षायामाह—उल्लोप्यकवदिति ।
उल्लोप्यकपदेषु यान्यङ्गानि तेषां निवेशं कोविदाः ज्ञातार आहुः ।
विदार्यस्तु आकारान्तरितैः स्तुतिपदैः कार्याः । अथवा निरन्तरैः
स्तुतिपदैः, निरन्तरैराकारैश्च वा । मुखादनन्तरं तद्वदेव प्रतिमुखं
पदान्तरैः कार्यम् । अथ प्रतिमुखादनन्तरम्; चतुर्भिरुत्तरैः षट्पिता-
पूर्वकैः यथाक्षरैः शरीराख्यमङ्गं कार्यम् । ततः शीर्षम् एककलासहितेन
संपिष्टकाख्येन अङ्गेन कार्यम् । अन्ये आचार्याः, अन्तान्वितेन अन्ताहरणेन
पूर्वलक्षितेन शीर्षकमिच्छन्ति ॥ २१६-२२२- ॥

इति पाणिका

(*मुखं ततः प्रतिमुखं) अस्याः प्रस्तारः—

SSSSSSSS

आनिविप्र आनिविता । इत्युपोहनम् ।

*धनुश्छिन्नान्तर्गतमधिकं fn. I ed.

SSSS SSSS

आनिविप्र आनिविश । इत्युपोहनमिदं मिलितमुखम् ।

SSSS SSSS SSSS SSSS §। SS
आनिविश आनिविता आनिविप्र आनिविसं, संता शता

। §

शता । इति प्रतिमुखं । ततो यथाक्षरैः चतुर्भिरुत्तरैः शरीरम् ।

SS SS SS SS SS SS SS

प्रस्तारो यथा—निश शश ताता ताश ताश तासं ।

इति शीर्षकम् । अन्यत्वेन्ताहरणसहितमन्तं शीर्षकमाहुः । स चोल्लोप्यके दर्शितः ॥

इति पाणिका

(क०) अस्याः पाणिकायाः प्रस्तारो यथा—प्रथम-
मुपोहने अष्टौ गुरून् लिखित्वा, तदधः आनिविप्र आनिवितान्
लिखेत् । इत्युपोहनम् । ततोऽप्यष्टौ गुरून् लिखित्वा, तदधः
आनिविप्र आनिविशान् लिखेत् । इत्युपोहनेन सहिता आद्या
मात्रा । तदनन्तरं मुखवदेव प्रतिमुखं लिखेत् । इति प्रतिमुखम् ।
ततो यथाक्षरोत्तरैः चतुर्भिः शरीरं लिखेत् । इति शरीरम् । ततः
शीर्षके द्वादश गुरून् लिखित्वा, तदधः निश शश ताता ताश
ताश तासं इति लिखेत् । इति संपिण्डकेन शीर्षकम् । अन्ये
तु अन्ताहरणसहितं शीर्षकमाहुः । स चोल्लोप्यके दर्शितो-
ऽत्रानुसंधेयः ॥

इति पाणिका

SS SS SS

¹ शता शता तासं 1 ed.

आरभ्यानुष्टुभं वृत्तैर्जगत्यन्तैः पदैरपि ॥ २२३ ॥

लौकिकैर्वैदिकैर्वापि गातव्यामृचमूचिरे ।

एकाक्षराः कला अष्टाचत्वारिंशद्विहोविताः ॥ २२४ ॥

कलानां पूरणं¹ मन्त्रपदैः स्तोभाक्षरैरपि ।

तान्यत्र ब्रह्मगीतानि निर्दिश्यन्तेऽधुना यथा ॥ २२५ ॥

अष्टुं जगतीयवलितककुचक्षलतितिक्षलपशुपततिदिगिदिगि-
वादिर्गोणपतितितिधा, इत्येतान्यब्रवीद् ब्रह्मा ।

ओंकारश्च हकारोऽपि स्वरव्यञ्जनसंयुतः² ।

त्रिकलः षट्कलो³ वात्र स्तोभः स्यान्मुनिसंमतः ॥ २२६ ॥

प्रस्तावादीनि सप्तापि सामाङ्गान्यत्र⁴ चावदन् ।

यथाशोभं⁵ विदारी च वर्णाश्च रचयेदिह ॥ २२७ ॥

इति क्रक

(क०) अथर्चं लक्षयति—आरभ्येत्यादि । अनुष्टुभं
छन्द आरभ्य । जगत्यन्तैरिति । अनुष्टुभमष्टाक्षरपादयुक्तं,
जगती नाम द्वादशाक्षरपादयुक्तं छन्दः । तदुद्भवैः वृत्तैः
पदैरपि संस्कृतैः लौकिकैः वैदिकैर्वापीति वृत्तानां पदानां च
विशेषणम् । लौकिकानि वृत्तानि विचित्रपदादीनि; वैदिकानि
वृत्तानि पुर⁶ उष्णिगादीनि; लौकिकानि पदानि ब्राह्मणाः, देवा
इत्येवमादीनि; वैदिकानि पदानि ब्राह्मणासः, देवास इत्येवमा-
दीनि । एकाक्षरा इत्यादि । इह ऋचि । एकाक्षराः कला इति ।

¹ पूरणा (D).

² ख. नवविजितः fn. 1 ed.

³ लेशवात्र (D).

⁴ वादयन् (D).

⁵ विदारीश्च 1 ed.

⁶ पुरह (ड) णिगा 1 ed.;

ब्राह्मणा (c).

एकैकस्यां कलायामेकैकमक्षरं प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । अत्रोक्तासु अष्टाचत्वारिंशत्कलासु मध्ये कासुचित् वृत्ताक्षरैः पूरितासु, अवशिष्टानां वक्ष्यमाणैः 'पदैः स्तोभाक्षरैरपि पूरणम्, ऊचिरे इति क्रियानुषङ्गः कर्तव्यः । तानि पदानि स्तोभाक्षराणि दर्शयति—**तान्यत्र ब्रह्मगीतानीत्यादिना । स्वरव्यञ्जनैः संयुत इत्यत्र** ओंकारो व्यञ्जनसंयुतः, हकारः स्वरसंयुत इत्यर्थक्रमो द्रष्टव्यः । **त्रिकलः षट्कल इति । ओंकारो हकारश्च कलात्रयकालयुक्तो वा कलाषट्ककालयुक्तो वा कर्तव्य इत्यर्थः । प्रस्तावादीनीत्यादि । प्रस्तावोद्गीतप्रतिहारोपद्रवनिधनहि-**कारहुंकारा इति सप्त सामाङ्गानि । **वर्णाश्चेति ।** स्थाय्यादीनीत्यर्थः ॥ -२२३-२२७ ॥

इति ऋक्

(सु०) ऋचं लक्षयति—आरभ्येति । अनुष्टुप्छन्द आरभ्य, अष्टाक्षरमारभ्य, जगतीछन्दोऽन्ते द्वावशाक्षरपर्यन्तं लौकिकैर्वैदिकैर्वा पदैः ऋचं गायन्ति भरतादयः कथयामासुः । **एकाक्षरा इति ।** अस्यां ऋचि **एकाक्षराः** अष्टाचत्वारिंशत्कला गेयाः । ननु मन्वाक्षराणामल्पत्वे कथं कलापूर्तिः? अत आह—**कलानामिति ।** कलानां पूरणमत्र मन्वपदैः स्तोभाक्षरैरपि कार्यम् । तान्येव ब्रह्मणा गीतानि स्तोभाक्षराणि प्रतिज्ञाय निदिशति—**तानीत्यादिना ।** स्तोभाक्षराण्याह—**ओंकार इति ।** ओंकारोऽपि स्तोभत्वेन मुनिभिः संमतः । हकारश्च येन केनचित्स्वरेण व्यञ्जनेन च संयुतः स्तोभः । उभावपि कलात्रये कला षष्ठे वा स्तोभत्वेन ज्ञेयो । **प्रस्तावादीनि च सप्तापि सामाङ्गानि स्तोभ इति** ज्ञातव्यानि । इह

ऋचि यथाशोभं यथारुचि शोभायं स्वेच्छया विदारी वर्णाश्च रचयेत् । सामाङ्गान्यनुपदमेव वक्ष्यति ॥ -२२३-२२७ ॥

इति ऋक्

कला मुनिजनैरुक्ता गाथायाश्चतुरक्षरा ।
अध्यष्टाविंशतित्तं कलानां तत्र कीर्तितम् ॥ २२८ ॥
मात्रावृत्तैः कलानां च पूतिः स्तोभाक्षरैरपि ।
कर्तव्यान्येकान्यत्र वर्णालंकारगीतयश्च ॥ २२९ ॥
सामाङ्गानि च भूयांसि विविधानामिहाल्पता ।

इति गाथा

(क०) अथ गाथां लक्षयति—**कला मुनिजनैरित्यादि ।** गाथायाः कला **मुनिजनैः** चतुरक्षरोक्ता । एकैकस्यां कलायां चत्वारि चत्वार्यक्षराणि प्रयोज्यानीत्यर्थः । **तत्रेति ।** तत्र गाथायाम् । **अध्यष्टाविंशतिकलानां शतं कीर्तितम् ।** अष्टाविंशत्या अधिकमध्यष्टाविंशति, शतविशेषणम् । **मात्रावृत्तैः** आर्यादिभिः **स्तोभाक्षरैरपि ।** स्तोभाक्षरैरपि कलानां पूतिर्भवेत् । अत्र गाथायामेककानि कर्तव्यानि । वर्णालंकारगीतयश्च कर्तव्याः । **सामाङ्गानि ।** प्रस्तावादीनि ॥ २२८, २२९ ॥

इति गाथा

(सु०) गाथां लक्षयति—**कलेति ।** गाथायाः **चतुरक्षरा कला** उक्ता । आद्यायां मात्रायां कलानामष्टाविंशत्युत्तरं शतं विधेयम् । कलानामपि परिपूर्तिः परिपूरणम्, वृत्तैः श्लोकैः **स्तोभाक्षरैरपि** कर्तव्यम् । अत्र गाथायाम्, एककानि कर्तव्यानि । **वर्णालंकारगीतयश्च** कर्तव्याः ।

इह गाथायाम् ; सामाङ्गानां प्रस्तावादीनां बाहुल्यम्, विविधानामल्प-
त्वमिति ॥ २२८, २२९-॥

इति गाथा

स्तोभभङ्गीं विजानीयात् साम्नो^१ वैदिकसामवत् ॥ २३० ॥
ब्रह्मणा च पुरा गीतं प्रस्तावोद्गीथकौ तथा ।
प्रतिहारोपद्रवौ च निधनं पञ्चमं मतम् ॥ २३१ ॥
ततो हिकार^२ ओंकारः सप्ताङ्गानीति तत्र तु^३ ।
उद्ग्राहः स्यादनुद्ग्राहः^४ संबन्धो ध्रुवकस्तथा ॥ २३२ ॥
आभोगश्चेति पञ्चानामाद्यानामभिधाः क्रमात् ।
हिकारोंकारयोस्तत्र कलापूरकता मता ॥ २३३ ॥
गायत्रीप्रभृतिच्छन्दः संकृत्यन्तमिहेष्यते^५ ।
ऋच्यूढमिति सामोक्तं गद्ये षण्णवतिः कलाः ॥ २३४ ॥
एकाक्षराः सामगाने तदर्धमपरे जगुः ।
अत्रापि मन्त्रस्तोभानामृचां च^६ त्रिकलादिकम् ॥ २३५ ॥

इति साम । इति गीतप्रकरणानि ।

इति मार्गतालप्रकरणम् ॥

(क०) अथ साम लक्षयति—स्तोभभङ्गीमित्यादिना ।
साम्नः सामाख्यगीतस्य वैदिकसामवत् ऋगादिवाक्यविशेषस्य

^१ साम्नां (D).

^२ हुंकारः (D).

^३ ख. ग. च fin. I ed.

^४ नृद् (D).

^५ संबोधो I ed.

^६ होच्यते (D).

^७ ऋच्यूढ I ed.;

सुन्यूढ (D).

^८ द्वि (D).

गीतिवत् । यथोक्तम्—‘गीतिषु सामाख्या’ इति । स्तोभ-
भङ्गी स्तोभाक्षराणां प्रकारं विजानीयात् । ब्रह्मणा च पुरा गीत-
मित्यत्र सामेत्यध्याहर्तव्यम् । प्रस्ताव इत्यादि । वैदिके सामनि
प्रस्तावाख्यस्य अङ्गस्य गीते सामन्युद्ग्राह इति संज्ञा । उद्गीथस्य
अनुद्ग्राह इति संज्ञा । प्रतिहारस्य संबन्ध [संबोध] इति संज्ञा ।
उपद्रवस्य ध्रुवक इति संज्ञा । निधनस्य आभोग इति संज्ञा । एवं
क्रमो द्रष्टव्यः । तत्र गीते ‘हिकारोंकारयोः कलापूरकता द्रष्टव्या ।
इह सामगीते गायत्रीप्रभृति संकृत्यन्तं छन्द उच्यते । गायत्री षड-
क्षरपादा । संकृतिः (संस्कृतिः?) चतुर्विंशत्यक्षरपादा । गाथायां
साम्नो मतान्तरेण कलासंख्यानियममाह—गद्य इत्यादिना । गद्ये
गाथायामेककाक्षराः षण्णवतिः कला भवन्ति । सामगाने
तदर्धमिति । तस्याः षण्णवतिसंख्यायामर्धमष्टाचत्वारिंशत्कला
भवन्तीत्यर्थः । अत्रापिति । सामाख्यगीतेऽपि । ऋचीवर्गख्ये
गीत इव । मन्त्रस्तोभानां मन्त्ररूपस्तोभाक्षराणामोंकारादीनाम् ।
मन्त्रेति विशेषणं गीतस्तोभाक्षरानिवृत्त्यर्थम् । त्रिकलादिकं
त्रिकलत्वादिकमिति धर्मपरो निर्देशः । आदिशब्देन षट्कलत्वं
गृह्यते । कर्तव्यमित्यध्याहर्तव्यम् ॥ २३०-२३५ ॥

इति सामलक्षणम् । इति गीतप्रकरणानि ।

इति मार्गतालप्रकरणम्

(सु०) साम लक्षयति—स्तोभभङ्गीमिति । वैदिके भागे यथा
स्तोभानां भङ्गी चातुरी तथैव साम्नां ज्ञातव्या । यतः ब्रह्मणैव पुरा पूर्वं

^१ हुंकारो I ed.

गीतम् । सामाङ्गानि दर्शयति—प्रस्तावेति । सप्त सामाङ्गानि भवन्ति । प्रस्तावः, उद्गीथः, प्रतिहारः, उपद्रवः, निघनम्, हिकारः, ओंकारश्चेति । तन्नाद्यानां पञ्चानामुद्ग्राहादिसंज्ञा । प्रस्तावः उद्ग्राहः, उद्गीथः अनुद्ग्राहः, प्रतिहारः संबन्धः, उपद्रवो ध्रुवकः, निघनमाभोग इति । हिकारोकारयोश्च कलापूरकत्वम् । गायत्रीति । इह साम्नि गायत्री-मारभ्य संकृतिपर्यन्तं छन्द इष्यते । षडक्षरादीनि छन्दांनि गायत्र्यादीनि चतुर्विंशत्यक्षरपर्यन्तानि ज्ञातव्यानि ।

‘गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुप् च जगती चैव तथातिजगती मता ।
शक्वरी सातिपूर्वा स्यादष्टचत्यष्टी ततः स्मृते ।
धृतिश्चातिधृतिश्चैव कृतिः प्रकृतिराकृतिः ।
विकृतिः संकृतिश्चैव ’ इति ॥

इदं साम ऋच्यूहं ऋचि कर्तमानमुक्तम् । गद्ये गेयं सामनि तु एकाक्षराः षण्णवतिकलाः सामगाने उक्ताः । केचित् तदधेमष्टाचत्वारिणत्कला इति वदन्ति । अत्रापि ऋचि यथावर्तमानं मन्त्रस्तोभानि विकलत्वं षट्कलत्वं च यथायोग्यं ज्ञेयम् ॥ २३०-२३५ ॥

इति सामलक्षणम् । इति गीतप्रकरणानि

इति मार्गतालप्रकरणम्

श्रीकीर्तिविजयानन्दं पार्वतीलोचनोत्सवम् ।

राजचूडामणिं नत्वा तालं देशीगतं ब्रुवे ॥ २३६ ॥

(क०) अथ देशीतालप्रकरणस्यादाविष्टदेवतां नमस्कृत्य प्रतिपाद्यं प्रतिजानीते—श्रीकीर्तिविजयानन्दमिति । अत्र तालेश्वर-रयोर्विशेषणानि श्लिष्टानि द्रष्टव्यानि । श्रीकीर्तिविजयानन्दमिति

श्रिया कीर्त्या विजयेन चोत्पन्न आनन्द एवेश्वरः, अथवा तादृश एवानन्दो यस्येति बहुव्रीहिर्वा । श्रीकीर्तिनामैकस्तालः, विजयानन्द इत्यपरः । पार्वतीलोचनोत्सवमिति पार्वत्या लोचनयोः उत्सवत्वेन रूपित ईश्वरः । पार्वतीलोचन इत्येकस्तालः । उत्सव इत्यन्यः । राजचूडामणिमिति राजा चन्द्रः चूडामणिर्यस्येति स तथोक्त ईश्वरः । राजचूडामणिरित्येकस्तालः । उक्तलक्षणमीश्वरं नत्वा श्रीकीर्त्याद्युपलक्षितं देशीगतं तालं ब्रुवे इति संबन्धः । अत्र तालमिति जातावेकवचनम्, ईश्वरस्यैकत्वात् । तालस्यापि तद्विशेषणसाम्यसिद्ध्यर्थमेकवचनं कृतमिति मन्तव्यम् ॥ २३६ ॥

(मु०) एवं मार्गतालांस्तदुपयोगांश्चोक्त्वा देशीतालान् विवक्षुः तदुचितं मङ्गलाचरणपूर्वकं प्रतिजानीते—श्रीकीर्तीति । राजा चन्द्रः चूडामणिर्यस्य स चन्द्रमौलिर्महेशः । श्रीश्च कीर्तिश्च विजयश्च एतावान् आनन्दयतीति 'तथाविधः' । पार्वत्या भवान्या लोचनयोः नयनयोः उत्सवः यस्मात्; तथाविधं शिवं नत्वा देशीतालं ब्रुवे कथयामीति संबन्धः । पक्षे श्रीकीर्तिनामा तालः, विजयानन्दः, पार्वतीलोचनोत्सवः, राजचूडा-मणिश्चेति । तान् ब्रुवे इति संबन्धः ॥ २३६ ॥

देशीतालस्तु लब्धादिमितया क्रियया मतः ।

यथाशोभं कांस्यतालध्वनं नादिकया मतः ॥ २३७ ॥

अर्धमात्रं द्रुतो मात्रात्रितयं प्लुत उच्यते ।

द्रुतादिरचनाभेदात् तालभेदोऽप्यनेकधा ॥ २३८ ॥

तालानामधुना तेषामुद्देशं संगिरामहे ।

^१ यथाविधं (A).

^२ निना निष्कृतो (D).

^३ च. युतः [n. I col.

^४ धृतो (D).

(क०) तस्य सामान्यलक्षणमाह — देशीतालस्त्वित्यादि । अत्र तु शब्दो मार्गतालात् देशीतालस्य वैषम्यद्योतनार्थः । तच्च वैषम्यं, 'यथाशोभं लघ्वादिमितया क्रियया मतः' इति; 'यथाशोभं कांस्यतालध्वननादिकया मतः' इति च विशेषणद्वयेन द्रष्टव्यम् । अत्र यथाशोभमिति पदं देहलीप्रदीपन्यायेन, काकाक्षिन्यायेन बोध्यतो योजनीयम् । तत्र यथाशोभं लघ्वादिमितयेत्यस्यायमर्थः—अत्र शोभाशब्देन गीतावयवेषु तालावृत्तीनां कालसाम्यनिबन्धना सहृदयहृदयंगमतोच्यते । तामनतिक्रम्येति यस्मिन् गीतावयवे यावदक्षरमितया मात्रया कांस्यतालकालसाम्यं भवति, तत्र मार्गे पञ्चलध्वक्षरोच्चारमिता मात्रानियतत्वेन कथिता । क्वचित्तु ततोऽपि न्यूनया चतुर्लध्वक्षरोच्चारमितया कालसाम्यम् । अन्यत्र तु ततोऽप्यधिकया षड्लध्वक्षरोच्चारमितया । यत्र यथा शोभा भवति तामनतिक्रम्य । लघ्वादिमितयेति । आदिशब्देन गुरुप्लुतद्रुता गृह्यन्ते । अत्राल्पग्रहणे द्रुतादीति वा, महद्ग्रहणे प्लुतादीति वा वक्तव्ये लघ्वादीति वचनं देशीतालेषु ग्रहणमोक्षयोर्लघोरेव प्राधान्यद्योतनार्थम् । तेन केवलद्रुतात्मकेऽपि ताले द्रुतद्वयं लघुकृत्य तत्र ग्रहमोक्षौ कुर्यादिति संप्रदायो वेदितव्यः । अत्रोक्तस्य मात्राप्रमाणभेदस्य तालविशेषनिष्ठत्वेनोदाहरणमुत्तरत्र तालानां पौनरुक्त्यपरिहारावसरे करिष्यते । यथाशोभं कांस्यतालध्वननादिकयेति । कांस्यतालध्वनने या शोभा क्वचिन्मुक्तनादत्वेन, क्वचिद्गृहीतनादत्वेन, क्वचिद्विघातेषु करक्रियाविशेषेण, क्वचिद्विघाते घातकल्पनया च जायते, तां शोभामनतिक्रम्य कांस्यतालस्य ध्वननाद्विस्मयवैचित्र्यजनिताश्चर्यवान् । मतः लोकसंमत इति

मार्गतालाद्वैषम्यं देशीतालस्य । अर्धमात्रमिति मात्राया अर्धमर्धमात्रं द्रुत उच्यते । द्रुतादिरचनाभेदादिति । द्रुतादीनां द्रुतलघुगुरुप्लुतानां रचना संनिवेशविशेषः, प्रमाणविशेषश्च; तस्या भेदो विशेषान्तरं, तस्माद्वेदोस्तालभेदोऽप्यनेकधा भवति, विचित्रो भवति । तालवैचित्र्यमपि द्रुतादीनां संनिवेशभेदात् प्रमाणभेदाच्चेति मन्तव्यम् । तालानामित्यादि । तेषाम् देशीतालानामित्यर्थः । उद्देशम् नाममात्राभिधानम् ॥ २३७-२३८ ॥

(मु०) देशीताल इति । देशीतालस्तु शोभामनतिक्रम्य क्रमेण कांस्यतालध्वननादिकस्वेच्छारचितया क्रियया; वक्ष्यमाणलघ्वादिभिः मितया क्रियया संमितः; मतः संमतः; मुनीनामित्यर्थः । देशीतालोपयोगीनि द्रुतादीनि लक्षयति—अर्धमात्रेति । मात्रालक्षणं पूर्वमुक्तम्, 'पञ्चलध्वक्षरोच्चारमितः' (श्लो. १६ अत्रैव) इति । तस्या अर्धं द्रुतः, मात्राद्वयं प्लुतः; लघुरेका मात्रा; मात्राद्वयं गुरुरिति प्रसिद्धत्वात् नोक्तानीति । द्रुतादीति । द्रुतादीनां द्रुतलघुप्लुतानां रचना न्यूनाधिक्ये पौर्वापर्यं वा तद्भेदात् तालभेदोऽप्यनेकप्रकारः । तेषामेव प्रतिज्ञा । उद्देशमाह—तालानामिति ॥ २३७-२३८ ॥

आदितालो द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः ॥ २३९ ॥
पञ्चमो निःशङ्कलोलो वर्णः सिंहविक्रमः ।
रतिलोलः सिंहलोलः कन्दर्पो वीरविक्रमः ॥ २४० ॥
रङ्गः श्रीरङ्गश्च चर्यौ प्रत्यङ्गो यतिर्लग्नकः ।
गजलीलो हंसलीलो वर्णभिन्नस्त्रिभिन्नकः ॥ २४१ ॥
राजचूडामणी रङ्गश्चोतो रङ्गप्रदीपकः ।
राजतालो वर्णतालः सिंहविक्रीडितो जयः ॥ २४२ ॥

वनमाली हंसनादः सिंहनादः कुडुक्ककः ।
 तुरङ्गलीलः शरभलीलः स्यात् सिंहनन्दनः ॥ २४३ ॥
 त्रिभङ्गिरङ्गभरणो 'मण्टकः कोकिला' प्रियः ।
 निःसारुको राजविद्याधरश्च जयमङ्गलः ॥ २४४ ॥
 मल्लिकामोदविजयानन्दौ क्रीडाजयश्रियो ।
 मकरन्दः कीर्तितालः श्रीकीर्तिः प्रति'पालकः ॥ २४५ ॥
 विजयो बिन्दुमाली च समनन्दनमण्टिकाः ।
 दीपको'दीक्षणौ 'ढेङ्की विषमो वर्णमण्टिका ॥ २४६ ॥
 अभिनन्दोऽनङ्गना'न्दीमल्लकडकालकन्दुकाः ।
 एकताली च कुमुदश्चतुस्ताली' च डोम्बुली ॥ २४७ ॥
 अभङ्गो रायव'डकोलो वसन्तो लघुशेखरः ।
 प्रतापशेखरो झम्पा गजझम्पश्चतुर्मुखः ॥ २४८ ॥
 मदनः प्रति'मण्टश्च पार्वतीलोचनो^{१०} रतिः ।
 लीलाकरणयत्याख्यौ^{११} ललितो गारुगिस्तथा ॥ २४९ ॥
^{१२} राजनारायणाख्यश्च लक्ष्मीशो ललितप्रियः ।
 श्रीनन्दश्च जनको वर्धनो रागवर्धनः ॥ २५० ॥
 षट्तालश्चान्तरक्रीडा हंसोत्सवविलोकिताः ।
 गजो वर्णयतिः सिंहः करणः सारसस्तथा ॥ २५१ ॥
^{१३} चण्डतालश्चन्द्रकलालयस्कन्दो^{१४} षड्तालिकाः^{१५} ।
^{१६} घट्टा द्वन्द्वमुकुन्दौ च कुविन्दश्च कलध्वनिः ॥ २५२ ॥

^१ मटुकः (D). ^२ लप्रियः (D). ^३ तालकः (D). ^४ च. को
 दक्षिणो fn. I ed; दीक्षणो (D). ^५ घ. देवकी fn. I ed. ^६ नादि (D).
^७ लश्च (D). ^८ वेङ्कलो (D). ^९ मटु (D). ^{१०} च. लोचनप्रियः fn.
 I ed. ^{११} ख्यो (D). ^{१२} राय I ed. ^{१३} बडत् (D). ^{१४} स्कन्दाड
 I ed. ^{१५} का (D). ^{१६} ख. ग. यता fn. I ed. घट्टा I ed.

गौरीसरस्वतीकण्ठाभरणो^१ भग्नसंज्ञकः ।
 तालो राजमृगाङ्कश्च राजमार्तण्डसंज्ञकः ॥ २५३ ॥
 निःशङ्कः शाङ्ग'देवश्चेत्येते सोढलसूनुना ।
 देशीतालाः समाविष्टाः विशत्य'भ्यधिकं शतम् ॥ २५४ ॥

(क०) निःशङ्कोति । शाङ्गदेवश्चेति । शतादुपरि
 विशत्य तालस्य स्वनामकरणेन देशीतालानामनन्तत्वं^४ स्वेच्छा-
 कृतनामयुक्तत्वं च दशितवान् ग्रन्थकारः । विशत्यभ्यधिकं
 शतमितीयत्वापरिच्छेदस्तु प्रसिद्धिमाश्रित्य कृत इति मन्तव्यम्
 ॥ -२३९-२५४ ॥

(सु) नामगणनपूर्वकं देशीतालानां संख्यामाह—आविताल इति ।
 आवितालादयः शाङ्गदेवान्ता विशत्युत्तरं शतं देशी ताला भवन्ति ।
 एते खण्डताला इति कथ्यन्ते ॥ -२३९-२५४ ॥

गुर्वाद्याश्चतुरश्रादेः खण्डयित्वा निवेशिताः ।
 यद्वा लघ्वादिखण्डानामाधिक्यमिह दृश्यते ॥ २५५ ॥
 तेनेषां खण्डतालत्वमभाषन्त पुरातनाः ।
 द्रुताद्याद्यक्षरैर्नेयं सन्ति संज्ञान्तराण्यपि ॥ २५६ ॥
 अर्धमात्रं तथा व्योम व्यञ्जनं बिन्दुकं द्रुते ।
 लघुनि व्यापकं ह्रस्वं मात्रिकं सरलं तथा ॥ २५७ ॥
 द्विमात्रं च कला वक्रं दीर्घं गुरुणि कीर्तितम् ।
 प्लुते व्यङ्क^५ त्रिमात्रं च दीप्तं सोमोद्भवं तथा ॥ २५८ ॥

^१ लग्न (D). ^२ वेनेत्येते (D). ^३ त्याभ्यधिकं (D). ^४ त्वात्
 I ed. ^५ व्यङ्ग (सु).

द्रुते शंभुलंघो देवी गुरौ गौरीयुतः शिवः ।

प्लुते त्रयो विरिञ्चाद्या देवता मुनिभिः स्मृताः ॥ २५६ ॥

द्रुते बिन्दुविरामान्ते^१ तूक्ता मात्रायुता लिपिः ।

प्लुते मात्रायुतो^२ वक्रो लिपो श्रीशाङ्गिणोदितः^३ ॥ २६० ॥

तालानां लक्षणं वक्ष्ये तेषां^४ सूरिमताश्रितम् ।

(क०) देशीतालानां खण्डतालत्वं सोपपत्तिकं दर्शयति—गुर्वाद्या इत्यादिना । द्रुताद्याद्यक्षरैर्ज्ञेयमिति । द्रुतादि द्रुतलघुगुरुप्लुताः, आद्यक्षरैः स्वनामाक्षरैः । द्रुतस्य आद्यक्षरम्, 'द' इति; लघोराद्यक्षरम्, 'ल' इति; गुरोराद्यक्षरम्, 'ग' इति; प्लुतस्याद्यक्षरम्, 'प' इति वक्ष्यमाणेषु लक्षणवाक्येषु स्थितैरेतैरक्षरैः द्रुतादि ज्ञेयं भवति । द्रुतादीनामर्धमात्रादि संज्ञान्तरारण्यपि सन्ति । तान्यपि लक्षणवाक्येषु द्रष्टव्यानि । तत्र मगणादयोऽप्यष्टौ गणाः क्वचिन्मकाराद्यक्षरैर्ज्ञेया भवन्ति ॥ २५५-२६०-॥

(सु०) तत्र कारणमाह—गुर्वाद्या इति । चतुरश्रादेः चञ्चत्पुट-चाचपुटादेः, गुर्वादयः गुरुलघुप्लुताः खण्डित्यत्वा विभज्य अत्र निवेशिताः तस्मात् खण्डतालत्वम् । अथवा लघ्वादिकण्डानां खण्डरूपाणां लघुद्रुतानामाधिक्यं तस्मात् खण्डतालत्वमिति । परिभाषामाह—द्रुतादीति । अत्र देशीतालप्रकरणे द्रुतादयः, द्रुतलघुगुरुप्लुताः आद्यक्षरैः ज्ञातव्याः । अन्या अप्येषां संज्ञाः सन्ति; द्रुते अर्धमात्रं, व्योम, व्यञ्जनं, बिन्दुकमिति संज्ञा । लघुनि व्यापकं, ह्रस्वं, मात्रिकं, सरलं, चेति संज्ञा । गुरुणि द्विमात्रिकं कला वक्रं, दीर्घमिति । प्लुते त्र्यङ्गं त्रिमात्रदीर्घतमं भवति [व्यङ्गं] त्रिमात्रं, दीप्तं,

सामोद्भवमिति । द्रुतादीनां प्रशंसार्थं देवता आह—देवतेति । द्रुते, शंभुदेवता; लघौ, देवी देवता^१; गुरौ, गौरीसहितः परमेश्वरः; प्लुते, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा इति । द्रुतेऽपि विशेषं कथयति—द्रुत इति । द्रुते बिन्दुलंखनीयः, विरामान्ते द्रुते सर्वापि लिपिः श्मात्रायुता कर्तव्या, प्लुते मात्रायुतो गुरुलंखनीयः [मात्रायुतो वक्रो लिपो लेखनीयः] । प्लुतगुर्बोरपि विशेषः पूर्वमेवोक्तः ॥ - २५५-२६०-॥

लघ्वादितालो लोकज्ञौ रासः

। इत्यादितालः [, रासः] (१)

दौ लो द्वितीयकः ॥ २६१ ॥

०० । इति द्वितीयकः (२)

द्रुताद् द्रुतौ विरामान्तौ तृतीयः स्यात्

००० । इति तृतीयः (३)

चतुर्थकः ।

लघुद्वयं^४ द्रुतश्चैकः

। ०० इति चतुर्थकः (४)

पञ्चमस्तु द्रुतद्वयम् ॥ २६२ ॥

०० इति पञ्चमः (५)

ताले निःशङ्कलीलाख्ये^५ प्लुतौ द्वौ गद्वयं लघुः ।

३३५५ । इति निःशङ्कलीलः (६)

(क०) देशीतालानां लक्षणानि स्पष्टार्थानि । ननु चात्र केषांचित्तालानां लक्षणेषु नामभेदेऽप्यर्थभेदाभावादर्थपीन-रुक्त्यं प्रतीयते । यथा—'झण्टुको द्वौ द्रुतौ लौ द्वौ' इति

^१ सर्वे देवाः (A), (B)

^२ विशेषा (B).

^३ ०००० (A), (B), (D).

^४ द्वन्द्वं (D)

^५ ख्यौ (D).

^१ ज्ञा (D).

^२ यते (D).

^३ ताः (D).

^४ च. भूरि fn. I ed.

अष्टकतालस्य लक्षणम् । 'अडुतालो दौ लघुद्वयम्' इत्यडुताल-
स्य लक्षणम् । 'द्रुतद्वन्दात् लघुद्वन्दात् वैकुन्दो' मङ्गलो
भवेत्' (श्लो. ३४५-), चतुर्थे प्रबन्धाध्याये) इति सालगमुडस्य
निःसारभेदस्य वैकुन्दस्य^१ लक्षणम् । एतेषां त्रयाणां तालानां
नामभेद एव, न स्वरूपभेदः । एवं दर्पणमदनमकरन्दानां, निःसार-
हंसलीलहंसानां, ^२जयशील(?) कमलानां उदीक्षणसौन्दरसगण (?)
प्रतिमण्ठानां, यथाच—ढेङ्की^३वर्णमण्ठयोः, करुणामरयोः,
विभङ्गिरतिलीलयोः, क्रीडानन्दयोः, शङ्खप्रतितालयोः, मङ्गला^४-
भरणप्रतिमण्ठयोः, कान्ताररतितालयोः, कलापविचारयोः,
तृतीयान्तरक्रीडयोः वर्ण^५भिन्नराजमृगाङ्कयोः, अभङ्गोत्सव-
तालयोः, विजयद्वितीययोर्मिथः स्वरूपभेदाभावात् पौनरुक्त्यं दोष
इति चेत् ।

‘अत्रोच्यते कल्लिनाथसुधियोचितमुत्तरम् ।

लक्ष्यानुसारतः पौनरुक्त्यं तालगतं प्रति ॥’

इह पुनरुक्ततया परिगणितेषु कुडुक्कादितालेषु स्थितानां
लघ्वादीनां देशीगतत्वेनानियतप्रमाणत्वात् प्रमाणभेदेनापि स्वरूप-
भेदादर्थपौनरुक्त्याभावाददोष इति । तथाहि कुडुक्कतालस्तु
गोपालनायकेन रागकदम्बैरेवगुप्ति^६वदप्रयुक्तः । तत्र स्थितो लघुः
चतुर्लघ्वक्षरोच्चारमितो दृश्यते । तदनुसारेण तत्र स्थितो द्रुतोऽपि
द्विलघ्वक्षरोच्चारमितो दृश्यते । ^७अडुताल्यां तु पञ्चलघ्वक्ष-
रोच्चारमितो लघुस्तदधर्मितो द्रुतश्च दृश्यते । निःसारभेदे

वैकुन्दे^१ तु षड्लघ्वक्षरोच्चारमितो लघुस्तदधर्मितो द्रुतश्च
वर्तते । एवं सर्वत्र त्रयाणां पौनरुक्त्ये लघ्वादीनां प्रमाणभेदो
द्रष्टव्यः ।

तथा ढेङ्क्यां पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमितो लघुस्तद्वैगुण्येन
गुरुश्च दृश्यते । वल्लभमण्ठे तु ^२चतुर्लघ्वक्षरोच्चारमितो लघुस्तद्-
द्वैगुण्येन गुरुश्च दृश्यते । एवं द्वयोः पौनरुक्त्येऽपि प्रकृतन्यूनानाधिक-
प्रमाण^३भेदेषु लक्ष्यानुसारेण द्वाभ्यां लघ्वादिप्रमाणाभ्यां ताल-
स्वरूपभेदो द्रष्टव्यः । किञ्चित् क्वचिद्गीतादावेकस्यैव तालस्या-
वृत्तिषु प्रमाणभेदो दृश्यते । क्वचिदेकस्यामप्यावृत्तौ लघ्वादिष्व-
शेषु प्रमाणभेदो दृश्यते । एतत्सर्वं देशीत्वस्य भूषणमेव, न
दूषणमिति देशीतालरहस्यमाचार्याभिमतमवगन्तव्यम् ।

नन्वत्र देशीताललक्षणेषु; 'द्रुतौ विरामान्तौ तृतीयः
स्यात्' (श्लो. २६२ अत्रैव) इति तृतीयतालादिषु केषु-
चिद्देशीतालेषु द्रुतशेषत्वेन विरामः श्रूयते । तथा 'गजलीलो
विरामान्तमुक्तं लघुचतुष्टयम्' (श्लो. २६७ अत्रैव) इति
गजतालादिषु शेषत्वेन विरामः श्रूयते । तत्र विरामः किं रूपः?
इति चेत्, उच्यते—**उभयत्रापि** विरामो विच्छेदपर्यायः । क्रिया-
नन्तरविश्रान्तिरूपत्वाद्भिन्नकालश्च । तथाहि द्रुतशेषो विरामो
लक्ष्येषु द्रुतार्धकालो दृष्टः । लघुशेषस्तु तद्द्रुतकाल इति । एवं
विरामस्य भिन्नकालत्वे गुरुप्लुतयोर्विरामान्तवचनमेव ज्ञापकम् ।
तथाहि—यदि गुरुविरामान्त इत्युच्येत, ततो गुरोर्विरामोऽपि
तदध्वत्वेन लघुः कालः स्यात् । ततश्च प्लुत एव प्रकारान्तरेणोक्तः

^१ वैकुण्डो I ed. ^२ ण्डस्य I ed. ^३ जया शील (?) कमलानामु-
दीक्षण I ed. ^४ वल्लभ I ed. ^५ ल(ला) भग(र)[ग]प्रति I ed. ल
तण्य प्रति (D). ^६ भङ्ग भङ्ग ? (D). ^७ गुप्त I ed. ^८ अडु I ed.

^१ वैकुण्डे I ed. ^२ चतुर्षु I ed. ^३ प्रमाणेषु I ed.

स्यात् । तथा प्लुतस्यापि विरामः सार्धमात्रकालो भवेत् । तथाच प्लुतः सार्धचतुर्मात्रिको भवति । तथाच तादृशस्य तालावयवस्य क्वचिदप्यनुपलम्भादपसिद्धान्तता अप्रयोगता च प्रसज्येत । तस्मात् गुरुप्लुतयोः सविरामत्ववचनमेव द्रुतलघुविरामयोर्वैरूप्यं जापयतीति सिद्धम् ।

अत्र केचिदिदानींतनाः भरतमन्या विरामस्यापि तालावयवत्वमङ्गीकृत्य प्रस्तारादिषु तालप्रत्ययेषु तस्यापि समावेशं कृत्वा स्ववैदुष्यं प्रकाशयन्तोऽज्ञानं प्रतारयन्ति । तैः स्वकीयमेव शास्त्रापरिज्ञानं प्रकाशितमिति प्रकाशयता अभिनवभरताचार्येण सर्वज्ञेन चतुरेण कल्लिनाथविदुषा विरामस्य तालावयवत्वाभावे चतुरो हेतुपुन्यस्य संग्रहः श्लोकः कृतः । यथा—

‘ अक्रियत्वात्क्रियाभावरूपत्वात् पारतन्व्यतः ।

विरूपत्वाद्विरामो न प्रस्तारादिकमर्हति ॥ ’ इति ।

विरामः प्रस्तारादिकं नाहंतीति कार्यनिषेधेन कारणस्य तालावयवत्वस्य निषेधो नान्तरीयकतया सिद्धो वेदितव्यः । अत्र चत्वारोऽपि हेतवः पृथक् साध्यसाधनसमर्था द्रष्टव्याः । एवमनभ्युपगच्छन्तं प्रति तेनैव व्याहृतिर्दिशिता श्लोकद्वयेन—

‘ क्रियाविश्रान्तिरूपस्य विरामस्य भवेद्यदि ।

प्रस्तारादिकमेतद्वल्लयानन्त्यं^१ प्रसज्यते ॥

तत्स्वीकारे त्वतिव्याप्या शास्त्रं व्याकुलितं भवेत् ।

अतो विरामसहितप्रस्तारादिकथा वृथा ॥ ’

इति । प्रकृतमनुसरामः ॥ २६१, २६२- ॥

^१ ल्लयानां तत्त्व (D). । छ. ल्लयानं तत्त्वस । ज. ल्लयानं तत्त्वस fin. I ed.

(मु०) उद्देशक्रमेण तालानां लक्षणं प्रतिज्ञाय कथयति—
लघ्विति । एको लघुः (१) आदितालः (१) द्वौ द्रुतौ, एको लघुः (००१)
द्वितीयः तालः (२) द्रुतादनन्तरं द्वौ द्रुतौ विरामान्तौ (० ० ०) तृतीयतालः
(३) द्वौ लघू, एको द्रुतः (११०) चतुर्थतालः (४) द्रुतद्वयम् (००)
पञ्चमः (५) द्वौ प्लुतौ, द्वौ गुरू, एको लघुः (३ ३ ५ ५) निःशङ्कलीलः
(६) ।

दर्पणे द्द्वयं गश्च

० ० ५ इति दर्पणः (७)

सिंहविक्रमसंज्ञकः ॥ २६३ ॥

गत्रयं लः^१ पलगपाः

५ ५ ५ ३ ३ ५ ३ इति सिंहविक्रमः (८)

रतिलीले^२ लघू गुरू ।

१ १ ५ ५ इति रतिलीलः (९)

लघ्वन्ते द्द्वयं सिंहलीले

^३ १ ० ० ० इति सिंहलीलः (१०)

दौ यगणस्तथा ॥ २६४ ॥

कदपंतालस्तस्यैव पर्यायः स्यात् परिक्रमः ।

० ० १ ५ ५ इति कदपः, (परिक्रमः) (११)

लघुर्द्रुतद्वयं चान्ते गुरुः स्याद् वीरविक्रमः ॥ २६५ ॥

^४ १ ० ० ५ इति वीरविक्रमः (१२)

रङ्गश्चतुर्द्रुती गश्च

० ० ० ० ५ इति रङ्गः (१३)

श्रीरङ्गः सगणो लपो ।

^१ लपला गः पः (D).

^२ लीलो (D).

^३ (१ ० ० ० ० १) (D).

^४ (१ ० ० ० ५ ?) (D).

॥ १५॥ ३ इति श्रीरङ्गः (१४)

विरामान्तद्रुतद्वन्द्वान्यष्टौ लघु च चच्चरी ॥ २६६ ॥

०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ॥ इति चच्चरी (१५)

प्रत्यङ्गो मगणो लौ द्वौ

५५५ ॥ इति प्रत्यङ्गः (१६)

यतिलग्नो द्रुतो लघुः ।

० । इति यतिलग्नः (१७)

गजलीलो विरामान्तमुक्तं लघुचतुष्टयम् ॥ २६७ ॥

॥ १॥ १ इति गजलीलः (१८)

हंसलीले विरामान्तं लघुद्वयमुदाहृतम् ।

१ । १ इति हंसलीलः (१९)

(सु०) द्रुतद्वयं एको गुरुश्च (० ० ५) दर्पणः (७) गुरुत्रयं एको लघुः, एकः प्लुतः, पुनरेको लघुः, एको गुरुः, पुनरेकः प्लुतश्च (५५५१३१५३) सिंहविक्रमः (८) लघुद्वयं गुरुद्वयं च (११५५) रतिलीलः (९) लघुरादौ अन्ते च यस्य द्रुतत्रयम् (१०००) सिंहलीलः (१०) द्रुतद्वयं, यगणश्च-एको लघुर्गुरुद्वयं; (०० १५५) कंदर्पतालः (११) तस्यैव कंदर्पतालस्यैव परिक्रम इति नामान्तरम् । एको लघुः, द्रुतद्वयम्, अन्ते गुरुश्च (१००५) वीरविक्रमः (१२) ।

चत्वारो द्रुताः, गुरुश्च (००००५) रङ्गतालः (१३) सगणः- लघुद्वयं गुरुः; तत एको लघुः, एकः प्लुतश्च (११५ १३) श्रीरङ्गतालः (१४) विरामान्तानि द्रुतद्वयान्यष्टौ, एको लघुश्च (०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० १) [०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० ०० १?] चच्चरीतालः (१५) मगणः-गुरुत्रयम्; द्वौ लघु (५५५ ११) प्रत्यङ्गः (१६) एको द्रुतः, एको लघुश्च (० १) यतिलग्नः

१ (१ १) Ied. (१ १) (D), (B).

(१७) विरामान्ताः चत्वारो लघवः (११११) [१ १ १ १?] इति गजलीलः (१८) लघुद्वयं विरामान्तम् (११) [१ १?] हंसलीलः (१९) ।

वर्णमिश्रो द्रुतो लो गः

० ० १ ५ इति वर्णमिश्रः (२०)

त्रिमिश्रो लघु^१रुप्लुताः ॥ २६८ ॥

१ ५ ३ इति त्रिमिश्रः (२१)

राजचूडामणिदौ द्वौ नगणश्च द्रुतौ लग्नौ ।

० ० १ १ ० ० १ ५ इति राजचूडामणिः (२२)

मगणो लप्लुतौ रङ्गोद्योतः

५५५ १ ३ इति रङ्गोद्योतः (२३)

रङ्गप्रदीपकः ॥ २६९ ॥

तो गप्लुतौ

५५ १ ५ ३ इति रङ्गप्रदीपकः (२४)

राजतालो गणौ द्वौ च गलौ प्लुतः ।

५ ३ ० ० ५ १ ३ इति राजतालः (२५)

व्यश्रो मिश्रो द्विधा वर्णस्त्वश्रो लौ द्वौ लघुद्वयम् ॥ २७० ॥

(१) १ १ ० ० १ १^२ इति व्यश्रवर्णः

मिश्रो द्रुतचतुष्काः स्युर्विरामान्तास्त्रयः पृथक् ।

ततः पणौ द्वौ गलौ गः

(२) ३ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ३ ५ ० ० ५ १ ५
इति^४ मिश्रवर्णः

चतुरश्रोऽपि दृश्यते ॥ २७१ ॥

^१ लघुरूप्लुताः (D). ^२ (१ ० ० १ १) (D). ^३ (० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ३ ५ ० ० ३ १ ५) (D). ^४ मिश्रो (D).

गलौ द्रुतौ गुरुश्चेति

(३) ५१००५ इति चतुरश्रवर्णः (२६)

सिंहविक्रीडितः पुनः ।

लपौ 'गपौ पगौ लाद्गः पलौ पश्च

॥ ३५३ ३५५३॥ इति सिंहविक्रीडितः (२७)

जयः पुनः ॥ २७२ ॥

जो लघुर्द्वौ द्रुतौ पश्च

॥ ५११००३ इति जयः (२८)

वनमाली चतुर्द्रुती ।

लघुर्द्वौ द्रुतौ गुरुश्चेति

००००१००५ इति वनमाली (२९)

लप्लुतौ द्रुतौ प्लुतः ॥ २७३ ॥

हंसनादः

॥ ३००३ इति हंसनादः (३०)

सिंहनादो यगणश्च लघुर्गुरुः ।

॥ ५५१५ इति सिंहनादः (३१)

कुडुक्को^१ द्रुतौ लौ द्रौ

००११ इति कुडुक्कः (३२)

विरामान्तद्रुतद्वयात् ॥ २७४ ॥

द्रुतौ तुरङ्गलीलः स्यात्

००००^२ इति तुरङ्गलीलः (३३)

भवेच्छरभलीलकः ।

^१ गलौ पलौ (D). (१३५१३१५३१३) (D); ^२ क्के (D).
^३ (००००) (D).

लौ द्वौ चतुर्द्रुती द्वौ लौ

॥ १००००११ इति शरभलीलः (३४)

सिंहनन्दनकः पुनः ॥ २७५ ॥

तपौ 'लगौ द्रुतौ गौ लः पलपा गो लघू ततः ।

चत्वारो लघवोऽशब्दाः^२

५५१३१५००५५१३१३५११-१४×^३ इति सिंहनन्दनः (३५)

त्रिभङ्गिः सगणाद्गुरुः ॥ २७६ ॥

॥ ५५५ इति त्रिभङ्गिः (३६)

रङ्गाभरणतालौ ताल्लप्लुतौ

५५११३ इति रङ्गाभरणः (३७)

मण्ठके पुनः ।

साच्चतुर्लघु निःशब्दं

(१) ११५-१४× इति मण्ठः ।

यद्वा भाद्^४ भावशब्दकौ ॥ २७७ ॥

(२) ५११-२× (५११-५११, ५११×) इति वा मण्ठः ।

(सु०) द्वौ द्रुतौ, एको लघुः, एको गुरुश्च (००१५) वर्णभिन्नः
(२०) एको लघुः, एको गुरुः, एकः प्लुतश्च (१५३) त्रिभिन्नः (२१)
द्रौ द्रुतौ, नगणः- लघुत्रयम्; पुनः द्वौ द्रुतौ, एको लघुः, एको गुरुश्च
(००११००१५) राजचूडामणिः (२२) मगणः- गुरुत्रयम्; एको
लघुः, एकः प्लुतश्च (५५५३) रङ्गोद्योतः (२३) तौ तगणः
-गुरुद्वयमेको लघुः; पुनरेको गुरुः, प्लुतश्च (५५१५३) रङ्गप्रदीपकः
(२४) एको गुरुः, एकः प्लुतः, द्वौ द्रुतद्वयम्, गलौ पुनरेको गुरुः, लघुः,
प्लुतश्च (५३००५१३) राजतालः (२५)

^१ गलौ (D). ^२ वः शब्दाः [२] (D). ^३ (५५१३५१००५५१
३१३५११-१४×) (D). ^४ द्वावशब्दकौ (D).

(सु०) वर्णतालौ द्विप्रकारः; व्यथो मिश्रश्च । तत्र लघुद्वयम्, द्रुतद्वयम्, पुनर्लघुद्वयम् (११००११) व्यश्रवणः । विरामान्ता द्रुतचतुष्का-
स्त्रयः ततोऽनन्तरं षणौ प्लुतः, गुरुश्च, द्वौ द्रुतौ, एको गुरुः, एको लघुः,
एको गुरुश्च (०००० ०००० ०००० ३५००५१५) मिश्रवर्णः । एको गुरुः, एको लघुः, द्वौ द्रुतौ, एको गुरुश्च (५१००५)
चतुरश्रवर्णोऽपि दृश्यते (२६) लघौ लघुप्लुतौ, ^१गणौ गुरुप्लुतौ, षणौ
प्लुतगुरु, लाद्वयः लघुगुरु, पलौ प्लुतलघू ततः प्लुतश्च (१३५३
३५१५३३५) सिंहविक्रीडितः (२७) जो जगणः—एको लघुः गुरुलघुश्च;
पुनरपि एको लघुः, द्रुतद्वयम्, प्लुतश्च (१५११००३) जयः (२८) ।

चत्वारो द्रुताः, एको लघुः, द्रुतद्वयम्, गुरुश्च^२ (००००१०
०५) वनमाली (२६) लघुप्लुतौ लघुप्लुतौ, द्रुतद्वयं प्लुतश्च (१३००३)
हंसनादः (३०) यगणः—एको लघुः, गुरुद्वयम्; ततो लघुगुरुश्च (१५५१५)
सिंहनादः (३१) द्रुतद्वयं, लघुद्वयं च (००११) ^३कन्दुकः (३२) विरा-
मान्तद्रुतद्वयानन्तरं द्रुतद्वयम् (३ ३ ०००) तुरङ्गलीलः (३३) ।

द्वौ लघू, चतुर्द्रुतौ चतुर्णां द्रुतानां समाहारः चतुर्द्रुतौ; लौ
लघुद्वयम् (११००००११) शरभलीलः (३४) तपो तः; तगणः—
गुरुद्वयं लघुश्च; षः प्लुतः, लगौ लघुगुरु, द्रुतौ द्रुतद्वयम्, गौ
गुरुद्वयम्, लः लघुः, पलपाः प्लुतलघुप्लुताः, गो गुरुः, लघू लघुद्वयम्,
ततः अनन्तरम्, चत्वारो लघवः, अशब्दा अशब्दपाटेन^४ धारणीयम्
(५५३३५००५५१३३५११-१४× सिंहनन्दनः (३५) सगणः—
लघुद्वयं गुरुश्च; पुनरपि गुरुः (११५५) विभङ्गः^५ (३६) तात् तगणात्,—

^१ लघौ, गुरुलघू, (A), (B). (१३५३३५१३३३) सिंह विक्रीडितः
(A), (B). ^२ गुरुः पुनरपि गुरुः (००००१००५५) वनमाली (B).
(नवमाली) (A). ^३ कन्दुकः [?] (A). ^४ लयः (A). ^५ पाटेनद्रुतानां
(५५३३५००५५१३३३५११-१४×) सिंहलीलः [?] (A).
^६ विभङ्गी (B).

गुरुद्वयं लघुश्च; अनन्तरम्, एको लघुः, एकः प्लुतश्च (५५११३)
रङ्गाभरणः (३७) सात् सगणात्—लघुद्वयं गुरुश्च; अनन्तरं निःशब्दपाटेन
लघुचतुष्टयं धारणीयम् (११५-१४×) मण्डः । पक्षान्तरमाह—
यदेति । भात् भगणः—गुरुलघुद्वयं च; तस्मात् द्वौ भगणौ निःशब्दो
(५११-२×); (५११-५११२×) द्वितीयमण्डः (३८) ।

भाच्चतुर्लघु निःशब्दं भवेन्मुद्रितमण्डके ।

(३) ५११-१४× इति मुद्रितमण्डः ।

मण्डो नजौ लघुयंदा

(४) १११५११ इति वा मण्डः (३८)

प्रोक्ताः षडपरा भिदाः ॥ २७८ ॥

मण्डरूपकवेलायाम्

इति दशविधो मण्डः ।

कोकिला^१प्रियनाम्नि तु ।

गलपाः स्युः

५१३ इति कोकिला^२प्रियः (३९)

विरामान्तौ लघू निःसारुको मतः ॥ २७९ ॥

^३ १ इति निःसारुः (४०)

लघुगुरुद्रुतद्वन्द्वं राजविद्याधरो भवेत् ।

१५०० इति राजविद्याधरः (४१)

सगणद्वितयं यत्र स तालो जयमङ्गलः ॥ २८० ॥

११५ ११५ इति जयमङ्गलः (४२)

मल्लिकामोदताले तु लौ द्वौ द्रुतचतुष्टयम् ।

११०००० इति मल्लिकामोदः (४३)

विजयानन्दसंज्ञे तु लघुद्वन्द्वं गुरुद्वयम् ॥ २८१ ॥

११५५५ इति विजयानन्दः (४४)

क्रोडा द्रुतौ विरामान्तौ चण्डनिःसारुश्च सः ।

१ मण्डे (D). ^२ लघि (D). ^३ लघि (D). ^४ (१ १) (D).

^१ ० ० इति श्रीभाताः, षण्ढिनःसारकच (४५)

जयश्री रगणात्सो गः

५१५ १५ इति जयश्रीः (४६)

दो लो लो मकरन्वकः ॥ २८२ ॥

० ० १ १ इति मकरन्वः (४७)

^२ लपो गलो प्लुतः कीर्तिः

^३ ३ ५ १ ३ इति कीर्तितालः (४८)

श्रीकीर्तिद्वौ लघू गुरु^४ ।

^५ १ १ ५ ५ इति श्रीकीर्तिः (४९)

लो द्रुतौ प्रतितालः स्यात्

१ ० ० इति प्रतितालः (५०)

विजयः पगपा लघुः ॥ २८३ ॥

३ ५ ३ १ इति विजयः (५१)

गुर्वोर्मध्ये तु चत्वारो बिन्दवो बिन्दुमालिनि ।

५ ० ० ० ० ५ इति बिन्दुमाली (५२)

^६ समो लो दौ विरामान्तौ

^७ १ १ ० ० इति समः (५३)

लघुदौ पञ्च नन्दनः ॥ २८४ ॥

१ ० ० ३ इति नन्दनः (५४)

गुरुद्रुतप्लुताः प्रोक्ता मण्डिका

५ ० ३ इति मण्डिका ।

अन्येस्तु लघ्वयम् ।

^१ (० ०) (D).

^२ तपो (D).

^३ (५ १ ३ ५ १ ३) (D).

^४ गुरु लघु (D).

^५ (५ ५ १ १) (D).

^६ समे लो (D).

^७ (१ ० ०) (D).

विरामादिद्रुतौ द्वौ च मण्डिका परिकीर्तिता ॥ २८५ ॥

१ १ ० ० इति मण्डिका (५५)

दीपको दलगा द्विद्विः

० ० १ १ ५ ५ इति दीपकः (५६)

लो द्वौ गुरुदीक्षणः ।

१ १ ५ इत्युदीक्षणः (५७)

रगणो ढेङ्किका कश्चिदेष प्रोक्तस्तु^१ योजनः ॥ २८६ ॥

५ १ ५ इति ढेङ्किकी, योजनः (५८)

^२ द्विश्चत्वारो विरामान्ता द्रुतास्तु विषमे मताः ।

० ० ० ० ० ० इति विषमः (५९)

द्वौ लो द्वौ दौ लघुदौ द्वौ कीर्तिता वर्णमण्डिका ॥ २८७ ॥

१ १ ० ० १ ० ० इति वर्णमण्डिका (६०)

अभिनन्दो लघुद्वन्द्वं द्रुतयुग्मं गुरुस्तथा ।

१ १ ० ० ५ इत्यभिनन्दः (६१)

(सु०) ^३ भगणात्—गुरुलघुद्वयं च; तस्मात् निःशब्दं लघुचतुष्टयम्

(५११-४) ^४ मुद्रितमण्डः । यद्वा—नजो नगणजगणौ; नगणो—लघुद्वयम्;

जगणो—लघुगुरुलघवः; पुनर्लघुश्च (१११ १५१ १) इति वा मण्डः ।

अपरे षड्भेदा मण्डप्रबन्धलक्षणे उक्ताः (श्लो. ३३२-३३८ चतुर्थे प्रबन्धा-

ध्याये) । एवं दश मण्डाः । गलपाः गुरुलघुप्लुताः (५१३) कोकिलाप्रियः

(३९) ^५ विरामान्तं लघुद्वयम् (१ १) निःसारकः (४०) एको लघुः, एको

गुरुः, द्रुतद्वयम् (१५ ० ०) राजविद्याघरः (४१) ।

सगणद्वितयम्; सगणो—लघुद्वयम्, गुरुश्च; तौ द्वौ (११५

११५) जयमङ्गलः (४२) द्वौ लघुः, द्रुतचतुष्टयम् (११० ० ० ०)

^१ स्तथाः जनः (D).

^२ द्विचत्वा (D).

^३ भगणौ (५११, ५११-

१४ ?) (B).

^४ निःशब्दमण्डः (B).

^५ विरामान्तलघुद्वयम् (A).

मल्लिकामोदः (४३) लघुद्वयं, गुरुद्वयं च (११५५५) विजयानन्दः
(४४) विरामान्तं द्रुतद्वयं (० ० ०) क्रीडातालः, अयमेव चण्डनिःसारकश्च
(४५) रगणात् रगणः—गुरुलघुगुरुश्च; तस्मात् ^१लघुगुरुश्च (५१५१५)
जयश्रीः (४६) द्वौ द्रुतद्वयम्, लौ लघुद्वयम्, पुनरेको लघुश्च
(० ० १११) मकरन्दः (४७) लघौ लघुप्लुतौ, गलौ गुरुलघु, भुनः
प्लुतश्च (१३५१३) कीर्तितालः (४८) ।

(मु०) गुरुद्वयं, लघुद्वयं च (५५११) श्रीकीर्तिः (४९) लो
लघुः, अनन्तरं द्रुतौ द्रुतद्वयम् (१००) प्रतितालः (५०) पगपाः
प्लुतगुरुप्लुताः, लघुश्च (३५३१) विजयः (५१) गुर्वोर्मध्ये चत्वारो
बिन्दवः द्रुताः (५००००५) बिन्दुमाली (५२) लौ लघुद्वयं,
विरामान्तं द्रुतद्वयं च (११०००) समतालः (५३) एको लघुः,
द्रुतद्वयम्, प्लुतश्च (१००३) नन्दनः (५४) गुरुद्रुतप्लुताः
(५०३) मण्डिका ।

अन्यैस्तु—^२लघुद्वयम्, विरामादिद्रुतद्वयम्, ^४(११००) मण्डिका
परिकीर्तिता अन्यैराचार्यैरुक्ता (५५) दलगाः द्रुतलघुगुरुवः, द्विद्विः
द्वौ द्रुतौ, द्वौ लघू, द्वौ गुरू इत्यर्थः (००११५५) दीपकः (५६)
लघुद्वयम्, गुरुश्च (११५) उदीक्षणः (५७) रगणः—गुरुलघुगुरुवः (५१५)
हेङ्कितातालः; एषैव योजन^३इत्युच्यते (५८) विरामान्ताः द्रुताश्चत्वारः,
द्विः द्विवारमावर्तनीयम् (०००० ००००) विषमः (५९) द्वौ
लौ लघुद्वयम्, द्वौ द्वौ द्रुतद्वयम्, एको लघुः पुनः द्वौ द्रुतौ (११००१००)
वर्णमण्डिका (६०) लघुद्वन्द्वम् लघुद्वयम्, द्रुतयुग्मम् द्रुतद्वयम्, एको
गुरुश्च (११००५) अभिनन्दः (६१) ।

^१गुरुलघुश्च (५१५५१) (A). ^२प्लुतद्वयं च (१३५१३३) कीर्तिः
(A), (B). ^३द्रुतद्वयम् (A). ^४(००००) (A). ^५योजना (A).

लप्लुतौ सगणोजनङ्गः

१३११५ इत्यनङ्गः (६२)

नान्दी लो दो लघू गुरू ॥ २८८ ॥

१००११५ इति नान्दीतालः (६३)

मल्लतालो विरामान्तद्विबिन्द्वन्त^१ चतुर्लघु ।

११११० ० इति मल्लतालः (६४)

उक्तश्चतुर्धा कङ्कालः पूर्णः खण्डः समोजसमः ॥ २८९ ॥

चतुर्द्वौ लौ पूर्णः

(१) ००००५ इति पूर्णः

खण्डो दो द्वौ गुरुद्वयम् ।

(२) ००५५ इति खण्डः ।

समो गुरू द्वौ लघ्वन्तौ

(३) ५५१ इति समः ।

विषमो लाद् गुरुद्वयम् ॥ २९० ॥

(४) १५५ इति विषमः ।

इति चतुर्धा कङ्कालः । (६५)*

कन्दुको लौ च सगणः

११११५ इति कन्दुकः (६६)

द्रुतेन त्वेकतालिका ।

० इत्येकताली (६७)

^१द्रुतात् (D). ^२चतुर्विधः (D). * अस्मादग्रे ख. ग. संज्ञित पुस्तकयोः—

‘चतुर्लौ गश्चतुर्लौ गः षड् लो गो द्वौ लघौ ।

षड्द्रुता नव लाश्चेति प्रोक्ताः कनकमेरुके ॥

(११११ ५१११५१११११३ ५००१३०००००० १११११

११११) इति कनकमेरुः ॥ इत्यधिकं वर्तते fn. I ed. (A).

(७०) लघुः, प्लुतश्च (१३) अभङ्गः (७१) रगणात् रगणो-गुरुलघुगुरवः,
ततोऽनन्तरं द्रुतद्वयम् (५१५ ० ०) रायवक्रकोलः (७२) ।

(सु०) न्यौ नगणमगणौ, -त्रिलघुर्नगणः, त्रिगुरुर्मगणः
(१११ ५५५) वसन्तः (७३) विरामान्तः एको लघुः (१) लघुशेखरः
(७४) वीप्तात् प्लुतादनन्तरम् विरामान्तं द्रुतद्वयम् (३ ० ०) प्रतापशेखरः
(७५) विरामान्तं द्रुतद्वन्द्वम् द्रुतद्वयम्, लघुश्च (० ० १)? (० ० १)?
अम्पातालः (७६) गुरोरुर्ध्वम् गुरोरनन्तरं विरामान्तं द्रुतत्रयं त्रयो द्रुताः
(५ ० ० ०) (५ ० ० ०) ? गजझम्पः (७७) जौ जगणः - लघुगुरुलघवः;
ततश्च प्लुतः (१ ५ १ ३) चतुर्मुखः (७८) स एव, चतुर्मुख एव,
मात्रिकः, लघुमात्र इत्यर्थः ॥

द्वयं गश्च मदनः

० ० ५ इति मदनः (७९)

सो भो वा प्रतिमण्डकः ।

^१कोल्लकोऽन्यैरयं प्रोक्तः

११५ (अथवा) ५११ इति प्रतिमण्डकः, कोल्लकः (८०)

पार्वतीलोचने पुनः ॥ २६६ ॥

मलपा द्वौ गुरु द्वौ द्वौ

५५५ १३५५०० इति पार्वतीलोचनः (८१)

रतितालो लघुर्गुरुः ।

१५ इति रतितालः (८२)

लीला दलौ पः

० १ ३ इति लीलातालः (८३)

करणयती द्रुतचतुष्टयम् ॥ २६७ ॥

^१कोल्लको (D).

० ० ० ० इति करप्रप्रतिः (८४)

ललिते^१ द्वौ द्रुतौ लो गः

० ० १५ इति ललितः (८५)

गारुगि^२स्तु चतुर्द्वौ ।

विरामान्तं बुधेरुक्ता

० ० ० ० इति गारुगिः (८६)

राजनारायणे^३ पुनः ॥ २६८ ॥

द्रुतौ द्वौ जगणो वक्रः

० ० १५१५ इति राजनारायणः (८७)

लक्ष्मीशे तु द्रुतद्वयम् ।

विरामान्तं लप्लुतौ च

० ० १ ३ इति लक्ष्मीशः (८८)

तालस्तु ललितप्रियः ॥ २६९ ॥

ऊर्ध्वं लघुभ्यां रागणः

११५५५ इति ललितप्रियः (८९)

स्यातां श्रीनन्दने भपौ ।

५११ ३ इति श्रीनन्दनः (९०)

जनको नयसा वक्रः

५१११५५१५५५ इति जनकः (९१)

वर्धनो द्वौ द्रुतौ लपौ ॥ ३०० ॥

० ० १ ३ इति वर्धनः (९२)

विरामान्तौ द्रुतौ बिन्दुस्त्रिमात्रो रागवर्धनः ।

^१तो I ed.

^२ख. ग. मिश्र fin. I ed.

^३रायनारायणे (D) ;

रायनारायणः I ed. ^४रायनारायणः (D). ^५(१११ ५५ ५११ ५) I ed.

० ० ० ३ इति रागवर्धनः (६३)

द्रुतैः षड्मिस्तु षट्तालः

० ० ० ० ० ० इति षट्तालः (६४)

अन्तरक्रीडा तु कम्प्यते ॥ ३०१ ॥

द्रुतत्रयं विरामान्तं

० ० ० इत्यन्तरक्रीडा (६५)

हंसे सविरती लघु ।

। १ इति हंसः (६६)

लघुप्लुतावुत्सवः स्यात्

। ३ इत्युत्सवः (६७)

गो दौ दीप्तो विलोकिते ॥ ३०२ ॥

० ० ० ३ इति विलोकितः (६८)

गजश्चतुर्ला^१धारासौ

। १ । १ इति गजः, धारा^२ (६९)

लौ दौ वर्णयतिर्भवेत् ।

। १ ० ० इति वर्णयतिः (१००)

(सु०) बद्धयम् द्रुतद्वयम्, गुरुश्च (० ० ५) मदनः (७६) सगणो

भगणो वा प्रतिमण्डकः; लघुद्वयं गुरुश्च सगणः; गुरुलघुद्वयं च भगणः;

(११५), अथवा (५११) प्रतिमण्डकः, अयमेव प्रतिमण्डकः अन्यैः आचार्यैः

कोल्लक इत्युक्तः (प्रतिमण्डप्रबन्धः श्लो. ३३८-३४३ चतुर्थं प्रबन्धाध्याये)

(८०) मलपाः मगणलघुप्लुताः, त्रिगुरुमगणः; लघुप्लुतश्च, द्वौ गुरु

गुरुद्वयं, वौ द्वौ द्रुतद्वयं च (५५५ १३ ५५० ०) पार्वतीलोचनः (८१)

लघुः, गुरुश्च (१५) रतितालः (८२) बलौ द्रुतलघु, प्लुतश्च (० १ ३)

लीलातालः (८३) द्रुतचतुष्टयम् (० ० ० ०) करणयतिः (८४) ।

१ लौ धरोजो (D).

२ धरः (D).

(सु०) द्रुतद्वयं, लघुगुरुश्च (० ० १ ५) ललितः (८५)
चतुर्द्रुती चत्वारो द्रुताः विरामान्ताः (० ० ० ०) (० ० ० ०)?

गारुगिः (८६) द्वौ द्रुतौ, जगणः—लघुगुरुलघवः, बक्रः, गुरुश्च

(० ० १ ५ १ ५) राजनारायणः (८७) विरामान्तं द्रुतद्वयम्, लघुः, प्लुतश्च

(० ० १ ३) (० ० १ ३)? लक्ष्मीशः (८८) द्वौ लघुः, अनन्तरं

रगणः—गुरुलघुगुरुलघुः (११ ५ १५) ^२ललिताप्रियः (८९) भगणः—

गुरुलघुद्वयं, अनन्तरं प्लुतश्च (५११ ३) श्रीनन्दनः (९०) ।

(सु०) ^३नगणयगणसगणाः—त्रिलघुनगणः; लघुगुरुद्वयं यगणः;

लघुद्वयाद्गुरुः सगणः; पुनः बक्रः गुरुश्च (१११ १५ १५ १५ ५)

जनकः (९१) द्रुतद्वयम्, लघुः, प्लुतश्च (० ० १ ३) वर्धनः (९२)

^४विरामान्तद्रुतद्वयम् ततश्च विन्दुः त्रिमात्रः प्लुतः (० ० ० ३)

(० ० ० ३)? रागवर्धनः (९३) षड्भिः द्रुतैः (० ० ० ० ० ०) षट्तालः

(९४) द्रुतत्रयं विरामान्तं (० ० ०) अन्तरक्रीडा (९५) विरामान्तयुक्तं

लघुद्वयम् (। १) हंसः (९६) एको लघुः, एकः प्लुतश्च (। ३) उत्सवः

(९७) विलोकितः एको गुरुः, द्वौ द्रुतौ, दीप्तः प्लुतश्च (५०० ३)

(९८) चत्वारो लघवः (। १ १ १ १) गजः असौ धारैर्युच्यते (९९)

लघुद्वयं द्रुतद्वयं च (११००) वर्णयतिः (१००) ।

सिंहे लदौ लत्रयं च

। ० । १ । इति सिंहः (१०१)

गुरुणा ^५करणो मतः ॥ ३०३ ॥

५ इति ^६करणः (१०२)

^१[श्रो गः] भगणो—एको गुरुलघुद्वयं; गुरुश्च (० ० ५ १ ५ ५)

ललितः (A). ^२द्रुती रागः गुरुलघुगुरुलघुः (० ० ५ १ ५ ५) ललिताप्रियः (A).

^३भगणयगणसगणाः बक्रो गुरुश्च (५११ १५ १५ १५ ५) इति वा जनकः (A).

^४द्रुतद्वयं विरामान्तं प्लुतश्च (० ० ३) द्रुतद्वयं विरामान्तप्लुतश्च (० ० ३) (?)

रागवर्धनः (B).

^५करणोः I ed.

^६करणः I ed.

लघुर्द्वुतानां त्रितयं लघू द्वौ सारसः स्मृतः ।

। ० ० ० ।। इति सारसः (१०३)

द्रुतत्रयं लघुर्द्वन्द्वं चण्डताले बभाषिरे ॥ ३०४ ॥

० ० ० ।। इति चण्डतालः (१०४)

मगणश्च त्रयो दीप्ता लघुश्चन्द्रकलामिधे ।

५ ५ ५ ३ ३ ३ ।। इति चन्द्रकला (१०५)

गलौ प्लुतत्रयं वक्रः प्लुतो बिन्दुत्रयं लये ॥ ३०५ ॥

५ । ३ ३ ३ ५ ३ ० ० ० ।। इति लयः (१०६)

^१रो द्रुतो द्वौ गुरु स्कन्दः^२

५ । ५ ० ० ५ ५ ।। इति स्कन्दः (१०७)

अडुताली ^३दो लघुद्वयम् ।

इममेवोच्चिरे तालं केचित् त्रिपुटसंज्ञया ॥ ३०६ ॥

० ।। इत्यडुताली (त्रिपुटः) (१०८)

द्वौ लो द्वौ लघौ घत्ता

।। ० ० । ५ ।। इति घत्ता (१०९)

द्वन्द्वः सतगणौ प्लुतः ।

।। ५ ५ । ३ ।। इति द्वन्द्वः (११०)

मुकुन्दे तु ^४लघुबिन्दुचतुष्टयमथो गुरुः ॥ ३०७ ॥

। ० ० ० ० ५ ।। इति मुकुन्दः (१११)

कुबिन्दके लघुबिन्दुद्वयं गुरुश्च प्लुतः ।

। ० ० ५ ३ ।। इति कुबिन्दकः (११२)

कलध्वनिर्लघुर्द्वन्द्वं गुरुर्लघुरथ प्लुतः ॥ ३०८ ॥

^१ राट् द्रुती (D). ^२ स्कन्दे (D). ^३ खं (D). ^४ घत्ता I ed

^५ घत्ता I ed. ^६ लघोबिन्दु I ed.

।। ५ । ३ ।। इति कलध्वनिः (११३)

पञ्चमिर्लघुभिर्गौरी

।। ।। ।। इति गौरी (११४)

द्वौ गुरु द्वौ लघुद्रुतो ।

ताले सरस्वतीकण्ठाभरणे शार्ङ्गसंमतौ ॥ ३०९ ॥

५ ५ ।। ० ० ।। इति सरस्वतीकण्ठाभरणः (११५)

भग्नताले चतुर्बिन्दुर्नगणश्च विरामवान् ।

० ० ० ० ।। ।। इति भग्नतालः (११६)

ताले राजमृगाङ्गके तु द्रुतौ लघुरथो गुरुः ॥ ३१० ॥

^१ ० । ० । ५ ।। इति राजमृगाङ्गकः (११७)

गुरुर्लघुर्द्रुतस्ताले राजमार्तण्डसंज्ञके ।

५ । ० ।। इति राजमार्तण्डः (११८)

निःशङ्कसंज्ञके ताले ^२लगुरु पगुरु गलौ ॥ ३११ ॥

^३ । ५ ३ ५ ।। इति निःशङ्कः (११९)

शार्ङ्गदेवे द्रुतद्वन्द्वं गप्लुतो द्वयं लघुः ।

^४ ० ० ५ ३ ५ ।। इति शार्ङ्गदेवः (१२०)

इति विंशत्युत्तरशतं देशीतालाः

(सु०) लघुः, द्रुतः, पुनर्लघुत्रयं च (। ० ।। ।।) सिंहः (१०१)
एकेन गुरुणा (५) ^५कृष्णः (१०२) एको लघुः, द्रुतत्रयं, पुनर्लघुद्वयं च (। ० ० ० ।।) सारसः (१०३) ^६द्रुतत्रयं लघुद्वयं च (० ० ० ।।) चण्डतालः (१०४) मगणः— गुरुत्रयम्; त्रयो दीप्ताः प्लुतत्रयमित्यर्थः, तत एको लघुश्च (५ ५ ५ ३ ३ ३ ।।) चन्द्रकला (१०५) गलौ गुरुलघु,

^१ (० । ५) (D). ^२ लघुपगुरुगलौ (D). ^३ (। ५ ५ ३ ५ ।।) I ed.; (। ५ ३ ५ ५ ।।) (D). ^४ (० ० ५ ३ ५ ३ ।।) ? (D).

^५ कृष्णा (B). ^६ द्रुतद्वयं (० ० ।।) चण्डतालः (B).

प्लुतवयम्, बक्रः गुरुः, ततः प्लुतः, ततो बिन्दुवयम् (द्रुतवयम्)
(५।३३३३३३०००) लयः (१०६) ।

(सु०) रो रागणः—गुरुलघुगुरुवः; द्रुतद्वयम्, गुरुद्वयं च (५।५
००५५) स्कन्दः (१०७) एको द्रुतः, लघुद्वयं^२ च (०।१) अङ्गताली-
तालः (१०८) अमुमेव केचित् लिपुट इत्याहुः । लघुद्वयम्, द्रुतद्वयम्, लघु-
गुरुश्च (१।००।५) धत्ता (१०९) लघुद्वयं गुरुश्च—सगणः; गुरुद्वयं
लघुश्च—तगणः; ततः प्लुतश्च (१।५५।३) द्वन्द्वः (११०) एको लघुः,
अनन्तरं बिन्दुचतुष्टयम् चत्वारो द्रुताः, अथानन्तरं गुरुश्च (१००००५)
मुकुन्दः (१११) एको लघुः, द्रुतद्वयम्, अनन्तरं गुरुः, प्लुतश्च
(१०००५३) कुविन्दकः (११२) लघुद्वयानन्तरं गुरुः, ततो लघुः,
अथानन्तरं प्लुतश्च (१।५।३) कलध्वनिः (११३) ।

पञ्चभिलेषुभिः (१।१।१।१) गौरी (११४) गुरुद्वयम्, लघुद्वयम्,
द्रुतद्वयम् (५५।१००) सरस्वतीकण्ठाभरणः (११५) चतुर्बिन्दुः
द्रुतचतुष्टयम्, विरामान्तः नगणश्च—लघुवयं च (००००।१।१)
भग्नतालः (११६) द्रुतद्वयम्, लघुः, अनन्तरं गुरुश्च (००।५)
राजभृगाङ्कः (११७) एको गुरुः, एको लघुः, द्रुतश्च (५।०) राज-
मार्तण्डः (राजमार्तण्डः) (११८) लघुः लघुगुरुः, (गुरुद्वयं) पगुरुः,
प्लुतगुरुः, (गुरुद्वयम्), [गुरुश्च]? लघुश्च । (१।५३३५५।१)?
निःशङ्कः (१।५३५५।१)? (११९) द्रुतद्वन्द्वम्, गुरुः, प्लुतः, गद्यं
गुरुद्वयम्, लघुश्च (००५३५५।१) शार्ङ्गदेवः (१२०) ॥ २६१-३११-११

इति विशत्युत्तरशतं देशीतालाः

^१ गुरुश्च (५।५००५) स्कन्दः (B).
(A). ^३ द्रुतः, (०।५) राजभृगाङ्कः (B).

^२ प्लुतद्वयं (०३३३) अङ्गतालः
^४ शारङ्गदेवः (A).

अन्येऽपि सन्ति भूयांसस्तालास्ते^१ लक्ष्यवर्त्मनि ॥ ३१२ ॥

प्रसिद्धिविधुरत्वेन शास्त्रेऽस्मिन् प्रदर्शिताः ।

तद्भेदप्रत्ययार्थं तु लघूपाया भवन्त्यमी ॥ ३१३ ॥

प्रस्तारसंख्ये नष्टं चोद्दिष्टं पातालकस्ततः ।

द्रुतमेरुलघोमेरुगुरुमेरुः प्लुतस्य च ॥ ३१४ ॥

मेरुः संयोगमेरुश्च खण्डप्रस्तारकस्ततः ।

प्राचां चतुर्णां मेरूणां नष्टोद्दिष्टे पृथक्पृथक् ॥ ३१५ ॥

एकोनविंशतिरिति प्रत्ययास्तान् ब्रूवेऽधुना ।

(क०) अन्येऽपीति । विशत्यभ्यधिकात् शतादन्येऽपि
भूयांसः तालाः सन्ति । तर्हि किमर्थं न प्रदर्शयन्त इत्यत आह—
प्रसिद्धिविधुरत्वेनेति । तद्भेदप्रत्ययार्थं त्विति । तेषां प्रसिद्धाना-
मप्रसिद्धानां च तालानां भेदस्य परिज्ञानाय अमी वक्ष्यमाणाः
प्रस्तारादयः । लघूपाया इति । ज्ञेयस्यातिमहत्त्वेऽपि तज्ज्ञान-
साधनानामेतेषामल्पत्वेन ते वक्तुं सुलभा इत्यर्थः । प्रत्यया इति ।
तद्भेदप्रत्ययार्थं त्वित्युक्तत्वात् प्रत्ययहेतुत्वेन प्रस्तारादयोऽपि
प्रत्यया इत्युपचर्यन्ते । प्रतीयन्त एतैरर्थविशेषा इति वा प्रत्ययाः
क्रमेण तान् लक्षयितुमाह—तान् ब्रूवेऽधुनेति ॥ ३१२-३१५-११

(सु०) अन्येऽपीति । अन्येऽपि बहवो देशीतालाः सन्ति । ते
लक्ष्यमार्गे अप्रसिद्धत्वाद्विशेषतो नोक्ताः । तेषां भेदपरिज्ञानार्थम्, अमी
लघूपायाः लाघवयुक्ता उपायाः, क्लेशं विनैव ज्ञाने साधनमित्यर्थः । ते च
लाघवभेदज्ञानोपाया एकोनविंशतिः । प्रस्तारः, संख्या, नष्टम्, उद्दिष्टम्,

^१ लक्ष्य I ed.

^२ च. तद्भेदज्ञानार्थं fn. I ed.

^३ तालभेद (B),

पातालः । द्रुतमेहः, लघुमेहः, गुरुमेहः, प्लुतमेहः । संयोगमेहः, खण्ड-
प्रस्तारकः । पूर्वोक्तानां चतुर्णां मेरुणां पृथक्पृथक् नष्टमुद्दिष्टं
च—द्रुतमेहनष्टम्, द्रुतमेरुद्दिष्टम्, लघुमेहनष्टम्, लघुमेरुद्दिष्टम्,
गुरुमेहनष्टम्, गुरुमेरुद्दिष्टम्, प्लुतमेहनष्टम्, प्लुतमेरुद्दिष्टम् च ।
एते एकोनविंशतिप्रत्यया इहोच्यन्ते । प्रतीयन्ते तालभेदाः यैरिति प्रत्ययाः
॥ ३१२-३१४-॥

न्यस्याल्पमाद्यान्महतोऽधस्ताच्छेषं यथोपरि ॥ ३१६ ॥

प्रागूने वामसंस्थास्तु संभवे महतो लिखेत् ।

अल्पानसंभवे तालपूर्व्यं भूयोऽप्ययं विधिः ॥ ३१७ ॥

सर्वद्रुतावधिः कार्यः प्रस्तारोऽयं लघौ गुरौ ।

प्लुते व्यस्ते समस्ते ^१च न तु व्यस्ते द्रुतेऽस्ति सः ॥ ३१८ ॥

इति प्रस्तारः

(क०) तत्र प्रस्तारं लक्षयति—न्यस्याल्पमित्यादि ।

स्वाभिमतं यं कंचन तालं प्रकृतत्वेन आदौ लिखित्वा तदवयवेषु,
आद्यात् महतः अत्र महच्छब्देन लघुगुरुप्लुता उच्यन्ते ।
तेषु एकस्मात् आदिभूतात् महतोऽधस्तात् अल्पं न्यस्य, अत्र
अल्पशब्देन द्रुतलघुगुरव उच्यन्ते । अयमर्थः—यत्र आद्यो लघुः
महान् ततोऽधस्तादपेक्षया अल्पो द्रुतो लेखनीयः । यत्र तु आद्यो
गुरुः महान् ततोऽधस्तादपेक्षया अल्पो लघुर्लेखनीयः । यत्र
पुनराद्यः प्लुतो महान् ततोऽधस्तादपेक्षया अल्पो गुरुर्लेखनीयः ।
एवं नित्यमहान् प्लुतः, नित्याल्पो द्रुतः, लघुगुर्वोस्तवपेक्षया

^१ तु (D). ^२ स्तातवपेक्षया I ed.

महत्त्वमल्पत्वं च द्रष्टव्यम् । शेषं यथोपरीति । लिखेदिति
शेषः । यस्त्वेनकावयवस्तालः, तस्य आद्यात् महतोऽवयवात्
अधस्तात् अल्पं न्यस्य शेषं दक्षिणभागस्थितत्वेन लेखनीयम् ।
यथोपरिपङ्क्तौ तथैवाधो लिखेत् इत्यर्थः । यस्त्वेकावयवस्तालः,
यश्चैकमहान् अन्त्यावयवः ततोपरितनस्य अवयवान्तरस्या-
भावादेवास्य लक्षणांशस्याव्यापार एव । प्रागून इति ।
प्रथमं न्यूने तालांशे तालपूर्व्यं प्रकृततालपरिपूर्यते संभवे
सति । महत इति । प्लुतगुरुलघूनित्यर्थः असंभवे अल्पान्
द्रुतानित्यर्थः । वामसंस्थान् लेखकापेक्षया पूर्वलिखिता-
वयवसंनिहितत्वेन वामभागस्थितान् लिखेदित्यर्थः । भूयोऽप्ययं
विधिः सर्वद्रुतावधिः कार्यं इत्यनेन वीप्सा गम्यते,
भूयो भूयोऽपीति । द्वितीयादिपङ्क्तितस्थान् तालान् प्रकृतीकृत्य
अधोऽधः सर्वद्रुततालभेदान्तं लिखेदित्यर्थः । प्रस्तारोऽयमित्यादि ।
सोऽयमुक्तलक्षणः प्रस्तारः । व्यस्ते केवले लघौ प्रस्तारो
यथा—एकं लघुं लिखित्वा (१) तदधस्ततोऽप्यद्रुतं न्यसेत् ।
उपरि तालावयवाभावात् शेषाभावः । प्रागूने तालपूर्व्यं महतो-
ऽसंभवात् अल्पं द्रुतं वामसंस्थं लिखेत् । एवं द्वितीयस्य भेदस्य
सर्वद्रुतत्वात्ततः प्रस्तारो नोत्पद्यते । अतो लघुप्रस्तारे भेदद्वय-
मेव (१) (० ०) व्यस्ते गुरौ प्रस्तारो यथा—एकं गुरुं लिखित्वा
(५) तदधस्तदपेक्षया अल्पं लघुं न्यसेत् । अत्रापि पूर्ववच्छे-
षाभावः । प्रागूने तालपूर्व्यं लघोर्महतः संभवात् वामसंस्थं लिखेत् ।
एवं द्वितीयभेदे लघुद्वयमभूत् (॥^२) । तत आद्यात् लघोरधस्तादल्पं
द्रुतं न्यसेत् । उपरि लघोः सद्भावात् तदधः शेषत्वेन लघुं

लिखेत् । प्रागूने तालपूर्वैर्द्रुतं लिखेत् । एवं द्रुतद्वयं लघुश्च तृतीयो भेदः (००।)^१ । ततश्च लघोरधो द्रुतं लिखेत् । उपर्यभावाच्छेषाभावः । प्रागूने संभवात् द्रुतसंनिहितत्वेन लघुं लिखेत् । ततस्तालपूर्वैर्द्रुतसंभवात् लघुसंनिहितत्वेन द्रुतं लिखेत् । एवं द्रुतलघुद्रुतश्चतुर्थो भेदः (०।०)^२ । ततश्च लघोरधो द्रुतं लिखेत् । उपरि द्रुतस्य सद्भावाच्छेषत्वेन द्रुतं लिखेत् । प्रागूने संभवात् लघुं लिखेत् । एवं लघुद्रुतद्वयं पञ्चमो भेदः (।००)^३ । ततश्च लघोरधो द्रुतं लिखेत् । उपरि द्रुतद्वयस्य सद्भावाच्छेषत्वेन द्रुतद्वयं लिखेत् । प्रागूने त्वसंभवाद् द्रुतं लिखेत् । एवं द्रुतचतुष्टयं षष्ठो भेदः (०००००)^४ । तस्य सर्वद्रुतत्वात् ततः परं प्रस्ताराभाव एव । अतो गुरुप्रस्तारे षड्भेदाः । व्यस्तेप्लुतप्रस्तारेऽप्युक्तरीत्या कृत एकोनविंशतिभेदा भवन्ति । व्यस्तेषु लघुषु लघ्वाद्यत्वम्, 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (पा० १. १. २१) इति न्यायेन द्रष्टव्यम् । समस्ते चेति सजातीयैर्विजातीयैर्वा सहिते च लघ्वादौ प्रस्तारोऽस्ति । व्यस्ते द्रुते तु नास्ति । ततोऽप्यल्पस्य तालावयवस्याभावादिति भावः ॥ ३१६-३१८ ॥

इति प्रस्तारः

(मु०) तेषां लक्षणं प्रतिज्ञाय प्रथमोद्दिष्टं प्रस्तारं लक्षयति—न्यस्येति । आद्यात् आदौ स्थापितात्, महतः प्लुतात्, गुरोर्लघोर्वा अघस्तात् अघः प्रवेशे अव्यं न्यसेत् । प्लुतस्याधस्तात् गुरुं, गुरोरधस्तात् लघुं, लघोरधस्ताद् द्रुतमिति । एवं न्यस्य उपरि उपरिष्ठात् यथा प्लुतादयो विद्यन्ते तथा शेषं लेखनीयम् । एवं शाल्या संभवे सति

^१ पूर्वार्थमसम्भवात् I ed.; पूर्वार्धमात्रसंभवात् (D). ^२ ताने कृते सति (A).

वामसंस्थान् संस्थासमाप्तिः येषां^१ तथाविधान् प्राक् पूर्वप्रदेशे महत्सु संभवत्सु महतः प्लुतादीन् लिखेत् । महतामसंभवे तु, अल्पान् लिखेत् । यावतां द्रुतानां तालस्तावतां द्रुतानां परिपूर्णया प्लुतादीन् लिखेत् । एवं कृते सति पुनरप्ययमेव पूर्वोक्तः विधिः कर्तव्यः । प्रस्तारस्य^२ विधिमाह—सर्वेति । यावत्तालपरिपूर्णसमर्थसंख्याका द्रुताः तावत्पर्यन्तं प्रस्तारः कार्यः । कुतः? आदिभूतः प्रस्तारः कार्य इत्यपेक्षायामाह—लघाविति । लघौ गुरौ प्लुते व्यस्ते पृथक् पृथक् स्थापिते केवले लघौ केवले गुरौ, केवले प्लुते च कार्यः । समस्ते च इति । लघुप्लुतयोः, गुरुप्लुतयोः, लघुगुरोः प्लुतत्वे प्राप्ते^३, त्वसमस्ता संभवात् । द्रुतपूर्वं विलिख्य, द्रुतं लघौ च, द्रुतं गुरौ च, द्रुते प्लुते च न्यूनं द्रुतं पूर्वं विलिख्य^४ महान्तं च परतः प्रस्तारः कार्यः । निषेधमाह—व्यस्तेति । व्यस्ते; अभ्यस्ते विपरीतस्थापिते लघ्वादौ द्रुते च न कर्तव्यः । पूर्वं महान्तं स्थापयित्वा पश्चादल्पेन कर्तव्यः । द्रुते च अल्पाभावोऽत्र कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तायैषड्द्रुतप्रस्तारं—प्लुतप्रस्तारं दर्शयामः—पूर्वं तावत्प्लुतो लेखनीयः, 'संभवे महतो लिखेत्' (श्लो. ३१७-अत्रैव) इत्युक्तत्वात् (३)^५ । ततः प्लुतस्याधो गुरुः, पूर्वं षड्द्रुतं तालपूर्णार्थं लघुः । एवं लघुगुरुरूपो द्वितीयो भेदः (।५)^६ । ततो लघोरधस्तात् द्रुतः, पश्चादगुरुः, पूर्वं द्रुतः । एवं द्रुतद्वयं गुरुश्च तृतीयो भेदः (००५)^७ । ततः गुरोरधस्तात् लघुः, पूर्वं गुरुः । एवं गुरुलघुश्चतुर्थो भेदः (५।)^८ । ततः गुरोरधस्तात् लघुः, उपरि लघुः, पूर्वं च लघुः । एवं, लघुद्वयं पञ्चमो भेदः (।।।)^९ । ततः प्रथमलघोरधस्तात् द्रुतः, ततो लघुद्वयं पूर्वं द्रुतः । एवं द्रुतद्वयं लघुद्वयं च षष्ठो भेदः (००।।)^{१०} । ततः प्रथमलघोरधस्तात् द्रुतः, ततो लघुः, पूर्वं लघुद्रुते । एवं द्रुतः लघुः द्रुतो लघुश्चेति सप्तमो भेदः (०।०।०)^{११} । ततः प्रथमलघोरधस्तात् द्रुतः, अनन्तरं द्रुतलघुः, पूर्वं लघुः । एवं लघुद्रुतद्वयं लघुश्चेति अष्टमो भेदः (।००।)^{१२} ।

^१ सर्वेषां ते (B).

^२ अविधिमाह (B).

^३ समस्तात् संभवः (A).

^४ प्रस्तारः कार्यः (A).

^५ भाग (A).

ततः प्रथमलघोरघस्तात् द्रुतः, ततो द्रुतद्वयं लघुश्च, पूर्वं द्रुतः। एवं द्रुतचतुष्टयं लघुश्च नवमो भेदः (००००१)^१। ततो लघोरघस्तात् द्रुतपूर्वं गुरुद्वैतश्च। एवं द्रुतो गुरुद्वैतश्चेति दशमो भेदः (०५०)^२। ततो गुरोरघस्तात् लघुः, अनन्तरं द्रुतः, पूर्वं लघुद्वैतश्च। एवं द्रुतो लघुद्वयं द्रुतश्चेति एकादशो भेदः (०११०)^३। ततः प्रथमलघोरघस्तात्, द्रुतः अनन्तरं लघुपूर्वं द्रुतः, पूर्वं लघुः। एवं पूर्वं लघुः, अनन्तरं द्रुतः, पूर्वं लघुद्वैतश्चेति द्वादशो भेदः (१०१०)^४। ततः प्रथमलघोरघस्तात् द्रुतः, ततोपरिगताः द्रुतलघुद्रुताः, पूर्वं द्रुतः। एवं द्रुतत्रयं लघुद्वैतश्च इति त्रयोदशो भेदः (०००१०)^५। ततो लघोरघस्तात् द्रुतः, अनन्तरं द्रुतः पूर्वं गुरुः। एवं गुरुद्वैतद्वयं चेति चतुर्दशो भेदः (५००)^६। ततो गुरोरघस्तात् लघुः, अनन्तरं द्रुतद्वयं पूर्वं लघुः। एवं लघुद्वयं द्रुतद्वयं च पञ्चदशो भेदः (११००)^७। ततः प्रथमलघोरघस्तात् द्रुतः, ततो लघुद्वैतद्वयं च, पूर्वं द्रुतः। एवं द्रुतद्वयं, लघुद्वैतद्वयं चेति षोडशो भेदः (००१००)^८। ततो लघोरघस्तात् द्रुतः, अनन्तरं द्रुतद्वयं, पूर्वं लघुद्रुतो। एवं द्रुतो लघुः, द्रुतत्रयं चेति सप्तदशो भेदः (०१०००)^९। ततो लघोरघस्तात् द्रुतः, अनन्तरं द्रुतत्रयं, पूर्वं लघुः। एवं लघुद्वैतचतुष्टयं चेत्यष्टादशो भेदः (१०००००)^{१०}। ततो लघोरघस्तात् द्रुतः, अनन्तरं द्रुतचतुष्टयं, पूर्वं द्रुतः। एवं द्रुताः षट्, एवमेकोनविंशतिभेदः (०००००००)^{११}। ततो लघ्वक्षराभावात् प्रस्तारो नास्ति ॥ ३१६, ३१७-॥

इति प्रस्तारः

एकद्व्यङ्गकौ क्रमान्त्यस्य युञ्जीतान्त्यं पुरातनैः।

द्वितीयतुर्यषष्ठाङ्गकैर्भावे तुर्यषष्ठयोः ॥ ३१६ ॥

तृतीयपञ्चमाङ्गकाभ्यां क्रमात् तं योगमग्रतः।

लिखेद् दक्षिणसंस्थैवमङ्गकश्रेणी विधीयते ॥ ३२० ॥

सा चाङ्गकैरिष्टतालस्यद्रुतसंख्यैः समाप्यते।

(क०) अथ संख्यां लक्षयति—एकद्व्यङ्गकाभित्यादि।

क्रमादिति। एकाङ्कं प्रथमं न्यस्य तदनन्तरं द्व्यङ्गकं तिर्यक्पङ्क्तिगतत्वेन दक्षिणसंस्थं न्यस्येदित्यर्थः। अन्त्यमङ्कं पुरातनैर्वामस्थैरन्त्यापेक्षया द्वितीयतुर्यषष्ठाङ्गकैर्यथासंभवं योजयेत्। प्रथमं तावदन्त्यभूतं द्व्यङ्गकम्। अत्र पुरातनेषु द्वितीयस्यैव सङ्कावात् तेनैकाङ्केन सह योजयित्वा व्यङ्गकं दक्षिणसंस्थं लिखेत्। ततस्तमन्त्यभूतं पुरातनेषु द्वितीयेन द्व्यङ्गकेन, 'अभावे तुर्यषष्ठयोः, तृतीयपञ्चमाङ्गकाभ्यां क्रमाद् युञ्जीत' इति वचनादत्र, तुर्याभावे तत्प्रतिनिधिना तृतीयेनैकेन योजयित्वा व्यङ्गकानन्तरं षडङ्कं लिखेत्। तमन्त्यभूतं पुरातनेषु द्वितीयेन व्यङ्गकेन तुर्य्येणैकाङ्केन च योजयित्वा षडङ्कादनन्तरं दशाङ्कं लिखेत्। ततस्तमन्त्यं पुरातनेषु द्वितीयतुर्याभ्यां षडङ्गद्व्यङ्गकाभ्यां षष्ठाभावे तत्प्रतिनिधिना पञ्चमेनैकाङ्केन च योजयित्वा दशाङ्कानन्तरमेकोनविंशत्यङ्कं लिखेत्। ततस्तमन्त्यं पुरातनैर्द्वितीयतुर्य्यषष्ठैर्दशाङ्गकव्यङ्गकाङ्कैर्योजयित्वा त्रयविंशदङ्कं लिखेत्। एवमङ्गकश्रेणी दक्षिणसंस्था विधीयत इति। लिखितुरपेक्षयेति द्रष्टव्यम्। न तूर्वाधो वामसंस्था^१ वेत्यर्थः। सेति। सा च अङ्गकश्रेणी। इष्टतालस्यद्रुतसंख्यैरिति ज्ञातुरिष्टो यस्तालः तत्र स्थितानां द्रुतानां संख्या सा येषां तैरङ्गकैः। समाप्यत इति। अयमर्थः—प्रस्तारादिपरिक्षां^२ कर्तुं इष्टतालः, तस्मिन् सर्वद्रुते कृते सति यावन्तो द्रुता भवन्ति, तावन्त एव संख्याकान्^३ लिखेदिति ॥ ३१६-३२०-॥

^१ स्थैत्यर्थः (D).

^२ कर्तुं (D).

^३ संख्याङ्कान् I ed.

(सु०) अथ प्रस्तारसंख्यां निरूपयति—एकदृष्यकाविति ।
एकाङ्कं द्व्यङ्कं च क्रमात् न्यस्य स्यापयित्वा, अन्त्यमङ्कं पुरातनैः पूर्व-
प्रदेशस्थितैः द्वितीयचतुर्थषष्ठाङ्कैः सह युञ्जीत मेलयेत्; चतुर्थषष्ठयो-
रङ्कयोरभावे तृतीयपञ्चमाभ्यां; तुर्याभावे तृतीयेन सह; षष्ठाभावे
पञ्चमेनाङ्केन सहान्त्यमङ्कं युञ्जीतेति संबन्धः । तं योगं यथासंभवं
अन्त्यद्वितीययोः, अन्त्यद्वितीयतुर्याणां, अन्त्यद्वितीयचतुर्थषष्ठानां क्रमात्
अग्रतः लिखेत् । एवं दक्षिणतः दक्षिणप्रदेशे संख्या समाप्तिर्यस्याः ।
एवंविधा अङ्कानां श्रेणी पङ्क्तिः क्रियते ।^१ सा कियदवधि कर्तव्येत्यपेक्षा-
यामाह—सा चेति । इष्टतालस्यद्रुतसंख्यैः इष्टो यस्तालः, षड्द्रुतः,
सप्तद्रुतो ऽष्टद्रुतो वा, तत्र स्थिताः श्वावन्तो द्रुताः तावत्संख्यैरङ्कैः
समापनीयाः । षड्द्रुततालसंख्यायां जिज्ञासितायामेवमङ्का लब्धाः ।
^२सप्ताष्टद्रुततालेऽप्येवं ज्ञेयम् ॥ ३१६-३२० ॥

द्रुतो लघुः सार्धमात्रो गुरुः सार्धद्विमात्रिकः ॥ ३२१ ॥

प्लुतः सार्धत्रिमात्रश्चेत्येकैकद्रुतवर्धितः ।

तालभेदाः क्रमादङ्कैः संख्यायन्ते स्थितैरिह ॥ ३२२ ॥

यदङ्कयोगादन्त्योऽङ्को लब्धस्तैरन्तः^३ क्रमात् ।

भेदा द्रुतान्तलघ्वन्तगुर्वन्ताश्च प्लुतान्तकाः ॥ ३२३ ॥

^४संख्यायन्त इति प्रोक्ताः संख्या निःशङ्कसूरिणा ।

| | | | | | | |
|---|---|---|---|----|----|----|
| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ | ३३ |
|---|---|---|---|----|----|----|

इति संख्या

^१ कथमित्यपेक्षायामाह (B).

^२ यावदन्तो (A).

^३ सप्तद्रुतताले

सप्त अष्टद्रुतताले अष्ट इत्यादि ज्ञेयम् (A).

^४ अन्त्यतः (D).

^५ संख्ये (D).

(क०) एवमेवार्थं विवृण्वन् संख्यायां^१ ज्ञेयमाह—द्रुतो
लघुरित्यादिना । इह अङ्कश्रेण्यां स्थितैरेकेन द्रुतेनैकाङ्कः,
लघुना द्व्यङ्कः, सार्धमात्रेण त्र्यङ्कः । अत्र मात्राशब्देन लघु-
रुच्यते; अर्धशब्देन द्रुतः । गुरुणा षडङ्कः; सार्धद्विमात्रिकेण
दशाङ्कः; प्लुतेनैकोनविंशत्यङ्कः; सार्धत्रिमात्रिकेण त्रयस्त्रिंश-
दङ्क इत्येकैकद्रुतवर्धितैरङ्कैरेकादिभिः क्रमात् तालभेदाः
प्रस्तारप्रकाशिताः तालभेदा संख्यायन्ते । ज्ञेयान्तरमप्याह—
यदङ्कयोगादित्यादि । यदङ्कयोगात् येषामङ्कानामन्त्य-
द्वितीयतुर्थषष्ठानां यथासंभवं स्थितानां तुर्थषष्ठयोरभावे तत्प्रति-
निधयोऽस्तुतीयपञ्चमयोर्वा योगात् अन्त्याङ्को लब्धः, तैः
अन्त्याङ्कलाभहेतुभिः अन्त्यादिभिः । अन्ततः क्रमात् द्रुतान्त-
लघ्वन्तगुर्वन्ताश्च^२ प्लुतान्तका भेदाः संख्यायन्त इति । अन्त्याङ्केन
द्रुतान्ता भेदाः संख्यायन्ते; द्वितीयाङ्केन लघ्वन्ता भेदाः, तुर्येण
तदभावे तत्प्रतिनिधिना तृतीयेन वा गुर्वन्ता भेदाः, षष्ठेन
तदभावे तत्प्रतिनिधिना पञ्चमेन वा प्लुतान्ता भेदाः संख्यायन्त
इति क्रमो द्रष्टव्यः । प्रतिनिधिस्थले बहुवचनमविवक्षितम् । तत्र
बहूनामसंभवात् । उदाहरणार्थं प्लुतप्रस्तारे द्रुतान्तादयो भेदाः
प्रदर्श्यन्ते । प्लुते प्रवृत्ते एकोनविंशतिर्भेदा भवन्ति । एकोनविंशति-
संख्याकलापस्य बहवोऽङ्काः । अन्त्यो दशाङ्कः, तेन दश द्रुतान्ता
भेदाः । द्वितीयः षडङ्कः, तेन लघ्वन्ता षड्भेदाः । चतुर्थी
द्व्यङ्कः, तेन गुर्वन्ता द्वौ भेदौ । षष्ठः प्रतिनिधित्वेन पञ्चमै-

^१ संख्या (D).

^२ गुर्वन्ताः प्लुतान्तकाश्च I ed.

काङ्कः, तेन प्लुतान्त एको भेदः । एवमेतैरङ्कैरकोनविंशतिभेदाः संख्यायन्ते । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ ३२१-३२३-॥*

(सु०) संख्यानिरूपणे प्रयोजनमाह—द्वुत इति । एकैकेन द्वुतेन वर्धिते ताले ^१अवस्थितैरङ्कैः क्रमात् ^२यथासंख्यातैरङ्कानां संख्या ज्ञायते । तामेव ताले ^३एकैकद्वुते स्थापनाप्रकारमाह—द्वुत इत्यादिना । एकद्वुतताले एको द्वुत एव स्थाप्यः (०), द्विद्वुते लघुः (१), त्रिद्वुते अर्धमात्रया द्वुतेन सहितः सार्धमात्रो लघुरित्यनुषङ्गः (०१) । चतुर्द्वुते गुरुः (५) । पञ्चद्वुते अर्धमात्रया द्वुतेन सहितो द्विमात्रो गुरुः (०५) । षड्वुते प्लुतः (५) । सप्तद्वुते अर्धमात्रया द्वुतेन सहितस्त्रिमात्रः प्लुतः (०५) । इतः परमपि वर्धनं प्लुतं लिखित्वा द्वुतलघ्वादि योजनीयम् । अष्टद्वुते लघुः प्लुतश्च (१५) । नवद्वुते द्वुतो लघुः प्लुतश्च (०१५) । दशद्वुते गुरुः प्लुतश्च (५५) । एकादशद्वुते द्वुतो गुरुः प्लुतश्च (०५५) । द्वादशद्वुते प्लुतद्वयम् (५५) त्रयोदशद्वुते द्वुतः प्लुतद्वयं च (०५५) इत्यादि ज्ञातव्यम् । एवंविधे ताले प्रस्तारेण जाता भेदा अत्र स्थितैरङ्कैर्जातव्या इति संबन्धः । अवान्तप्रयोजनं संख्यानिरूपणमाह—यदङ्केति । येषामङ्कानां योगात् मेलनात् अन्त्यमाङ्कः पूर्वोक्तप्रकारेण लभ्यते, तैरङ्कैः अन्तः अन्त्यादारभ्य क्रमात् द्वुतान्ताद्यो भेदाः संख्यायन्ते । अन्त्येन द्वुतान्ताः, द्वितीयेन लघ्वन्ताः, चतुर्थेन गुर्वन्ताः, षष्ठेन प्लुतान्ताः । यथा, सप्तद्वुतप्रस्तारे (सार्धमात्रप्लुतप्रस्तारे [०५]), त्रयस्त्रिंशद्भेदाः, तेषु एकोनविंशतिर्द्वुतान्ताः, दश लघ्वन्ताः, त्रयो गुर्वन्ताः, एकः प्लुतान्त इति ॥ ३२१-३२३-॥†

इति संख्या

^१ अत्र स्थितैः (A).

^२ भेदसंख्या यतो भेदानां संख्या ज्ञायते (A).

^३ एकैकद्वुतवर्धनप्रकारमाह (A).

संख्याप्रस्तारः—

| | | | | | | | | | | | | |
|---|---|----|---|----|----|----|----|-----|-----|-----|-----|------|
| ० | १ | ०१ | ५ | ०५ | ३ | ०३ | १३ | ०१३ | ५३ | ०५५ | ३३ | ०३३ |
| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ | ३३ | ६० | १०६ | १६१ | ३४० | ६१० | १०६६ |

इत्यादि श्रेयम् ।

इति संख्या

*[विवरणं (क०)] लघुप्रस्तारे [१] भेदद्वयम्

संख्याङ्कः रूपम्

| | | |
|---|------|--|
| १ | १-१ | द्वितीयेन (उपात्त्येन) लघ्वन्तो एको भेदः |
| २ | ००-१ | अन्त्येन द्वुतान्तो एको भेदः |

| | | | | |
|---------------|---------------|---------------|-------------|------------------------|
| ० | १ | १० | + | संख्याङ्कः |
| $\frac{१}{२}$ | $\frac{२}{२}$ | $\frac{१}{२}$ | = १ | द्वितीयः (उपात्त्यः) १ |
| अन्त्यः + | $\frac{२}{२}$ | $\frac{२}{२}$ | = २ | अन्त्यः |
| $\frac{१}{२}$ | $\frac{२}{२}$ | $\frac{१}{२}$ | = ३ + २ = ५ | पातालः |

सार्धमात्रलघुप्रस्तारे [०१] त्रयो भेदाः

संख्याङ्कः रूपम्

| | | |
|---|-------|-------------------------------|
| १ | ०१-१ | द्वितीयेन लघ्वन्तः एको भेदः |
| २ | १०-१ | |
| ३ | ०००-२ | अन्त्येन द्वुतान्तो द्वौ भेदौ |

| | | | | | | |
|------------------|---|----|---|---|----------------------------|------------|
| ० | १ | ०१ | १ | ० | + | संख्याङ्कः |
| १ | २ | ३ | १ | १ | = २ द्वितीय (उपात्त्येन) १ | |
| द्वितीयः अन्त्यः | | | १ | ४ | = ५ अन्त्येन | २ |
| | | | | | | ३ |
| १ | २ | ५ | २ | ५ | = ७ + ३ = १० पातालः | |
| | | | | | पातालः | |

गुरुप्रस्तारे [५] षड् भेदाः

| | | |
|---|----------|--|
| १ | ५ - १ | (चतुर्थेन) प्रतिनिधित्वेन तृतीयेन गुर्वन्तः एको भेदः |
| २ | ११ - १ | |
| ३ | ००१ - २ | द्वितीयेन लघ्वन्तो द्वौ भेदौ |
| ४ | ०१० - १ | |
| ५ | १०० - २ | |
| ६ | ०००० - ३ | अन्त्येन द्रुतान्ताः त्रयो भेदाः |

० १ ०१ ५

| | | | |
|---|---|---|-----|
| १ | २ | ३ | = ६ |
|---|---|---|-----|

तृतीयः द्वितीयः अन्त्यः

५ १ ० + संख्याङ्कः

| | | | |
|---|---|---|-----------------|
| १ | | | = १ तृतीयेन १ |
| | ३ | २ | = ५ द्वितीयेन २ |
| | २ | ८ | = १० अन्त्येन ३ |

+

| | | | |
|---|---|---|----|
| १ | २ | ५ | १० |
|---|---|---|----|

(पा.) १ ५ १० = १६ + ६ = २२ (पा.)

सार्धमात्रगुरुप्रस्तारे [०५] दश भेदाः

| | |
|------------|------------------------------------|
| संख्याङ्कः | रूपम् |
| १ | ०५ - १ चतुर्थेन गुर्वन्तः एको भेदः |
| २ | ०११ - १ |
| ३ | १०१ - २ |

| संख्याङ्कः | रूपम् | |
|------------|-----------|---------------------------------|
| ४ | ०००१ - ३ | द्वितीयेन लघ्वन्ताः त्रयो भेदाः |
| ५ | ५० - १ | |
| ६ | ११० - २ | |
| ७ | ००१० - ३ | |
| ८ | ०१०० - ४ | |
| ९ | १००० - ५ | |
| १० | ००००० - ६ | अन्त्येन द्रुतान्ताः षड् भेदाः |
| ० | १ | ०१ |
| ५ | ५ | ५ |
| १ | १ | ० |
| + | | संख्याङ्कः |
| १ | २ | ३ |
| ६ | = १० | |
| चतुर्थः | द्वितीयः | अन्त्यः |
| + | | |
| १ | २ | ५ |
| १० | = २२ | |
| (पा.) २ | १० | २२ = ३४ + १० = ४४ (पा.) |

प्लुतप्रस्तारे [३] एकोनविंशतिभेदाः

| | | | |
|------------|---|------------|-------------------------------|
| संख्याङ्कः | रूपम् | संख्याङ्कः | रूपम् |
| १ | ३ - १ (षष्ठेन) प्रतिनिधित्वेन पञ्चमेन प्लुतान्तो एको भेदः | १० | ०५० - १ |
| २ | १५ - १ | ११ | ०११० - २ |
| ३ | ००५ - २ चतुर्थेन गुर्वन्तो द्वौ भेदौ | १२ | १०१० - ३ |
| ४ | ५१ - १ | १३ | ०००१० - ४ |
| ५ | १११ - २ | १४ | ५०० - ५ |
| ६ | ००११ - ३ | १५ | ११०० - ६ |
| ७ | ०१०१ - ४ | १६ | ००१०० - ७ |
| ८ | १००१ - ५ | १७ | ०१००० - ८ |
| ९ | ००००१ - ६ द्वितीयेन लघ्वन्ताः षड् भेदाः | १८ | १००००० - ९ |
| | | | अन्त्येन द्रुतान्ताः दश भेदाः |

| | | | | | |
|---|---|---|---|----|------|
| 3 | 2 | 4 | 6 | 10 | = 25 |
|---|---|---|---|----|------|

षष्ठमः चतुर्थः द्वितीयः अन्त्यः +

| | | | | | |
|---|---|---|----|----|----|
| १ | २ | ५ | २० | २२ | ४४ |
|---|---|---|----|----|----|

पातालः

३ ५ १ ० +संख्याङ्कः

| | | | | |
|---|----|----|--|--------------------|
| १ | | | | = १ पञ्चमेन - १ |
| २ | १ | २ | | = ५ चतुर्थेन - २ |
| १ | ११ | १० | | = २२ द्वितीयेन - ६ |
| २ | १० | ३२ | | = ४४ अन्त्येन - १० |
| | | | | <u>१६</u> |

†[विवरणं (सु०)] सार्धमात्रप्लुतप्रस्तारे [०५] त्रयस्त्रिंशद् भेदाः

| संख्याङ्कः | रूपम् | संख्याङ्कः | रूपम् |
|------------|------------------------|------------|---------------------|
| १ | ० ३ - १ षष्ठेन | ८ | ० ० ० १ १ - ४ |
| | प्लुतात्तः एको भेदः | ९ | ० ० १ - ५ |
| २ | ० १ ५ - १ | १० | १ १ ० १ - ६ |
| ३ | १ ० ५ - २ | ११ | ० ० १ ० १ - ७ |
| ४ | ० ० ० ५ - ३ चतुर्थेन | १२ | ० १ ० ० १ - ८ |
| | गुर्वन्ताः त्रयो भेदाः | १३ | १ ० ० ० १ - ९ |
| ५ | ० ५ १ - १ | १४ | ० ० ० ० ० १ - १० |
| ६ | ० १ १ १ - २ | | द्वितीयेन सध्वन्ताः |
| ७ | १ ० १ १ - ३ | | दश भेदाः |

| संख्याङ्कः | रूपम् | संख्याङ्कः | रूपम् |
|------------|----------|------------|--------------------|
| १५ | ३०-१ | २५ | ०११००-११ |
| १६ | १५०-२ | २६ | १०१००-१२ |
| १७ | ००५०-३ | २७ | ०००१००-१३ |
| १८ | ५१०-४ | २८ | ५०००-१४ |
| १९ | ११०-५ | २९ | ११०००-१५ |
| २० | ००११०-६ | ३० | ००१०००-१६ |
| २१ | ०१०१०-७ | ३१ | ०१००००-१७ |
| २२ | १००१०-८ | ३२ | १०००००-१८ |
| २३ | ००००१०-९ | ३३ | ००००००-१९ अन्त्येन |
| २४ | ०५००-१० | | |

द्रुतान्ताः एकोनविंशतिभिर्दाः

| | | | | | | |
|----------|---|----------|---|-----------|-----------|-----------|
| ० | १ | ०१ | ५ | ०५ | ३ | ०३ |
| <u>१</u> | २ | <u>३</u> | ४ | <u>१०</u> | <u>१९</u> | <u>२३</u> |

षष्ठः चतुर्थः द्वितीयः अन्त्यः +

| | | | | | | | |
|---|----------|---|-----------|----|-----------|-----------|--------|
| १ | <u>२</u> | ५ | <u>१०</u> | २२ | <u>४४</u> | <u>६१</u> | पातालः |
|---|----------|---|-----------|----|-----------|-----------|--------|

| ३ | २ | १ | ० | | + | संख्याङ्कः |
|---|----|----|----|---------------|-----------|------------|
| १ | | | १ | = २ | षष्ठेन | - १ |
| | ३ | २ | ५ | = १० | चतुर्थेन | - ३ |
| | २ | २० | २२ | = ४४ | द्वितीयेन | - १० |
| १ | ५ | २२ | ६३ | = ६१ | अत्येन | - १६ ३३ |
| २ | १० | ४४ | ६१ | = १४७+३३= १८० | पातालः | |

संयुक्तप्रस्तारे [१३] षष्टिभेदाः

| संख्याङ्कः | रूपम् | संख्याङ्कः | रूपम् |
|------------|------------------------|---------------------|------------------|
| १ | १ ३ - १ | २५ | ० १ ० ० ० १ - १७ |
| २ | ० ० ३ - २ षष्ठेन | २६ | १ ० ० ० ० १ - १८ |
| | पुनान्ती | २७ | ० ० ० ० ० १ - १९ |
| | द्वी भेदा | द्वितीयेन संयुक्ताः | |
| ३ | ५ ५ - १ | एकोनविंशतिभेदाः | |
| ४ | १ १ ५ - २ | ० ३ ० - १ | |
| ५ | ० ० १ ५ - ३ | २६ | ० १ ५ ० - २ |
| ६ | ० १ ० ५ - ४ | ३० | १ ० ५ ० - ३ |
| ७ | १ ० ० ५ - ५ | ३१ | ० ० ० ५ ० - ४ |
| ८ | ० ० ० ० ५ - ६ चतुर्थेन | ३२ | ० ५ १ ० - ५ |
| | गुर्वन्ताः षड् भेदाः | ३३ | ० १ १ ० - ६ |
| ९ | ३ १ - १ | ३४ | १ ० १ ० - ७ |
| १० | १ ५ १ - २ | ३५ | ० ० १ १ ० - ८ |
| ११ | ० ० ५ १ - ३ | ३६ | ५ ० १ ० - ९ |
| १२ | ५ १ १ - ४ | ३७ | १ १ ० १ ० - १० |
| १३ | १ १ १ १ - ५ | ३८ | ० ० १ ० १ ० - ११ |
| १४ | ० ० १ १ १ - ६ | ३९ | ० १ ० ० १ ० - १२ |
| १५ | ० १ ० १ १ - ७ | ४० | १ ० ० ० १ ० - १३ |
| १६ | १ ० ० १ १ - ८ | ४१ | ० ० ० ० १ ० - १४ |
| १७ | ० ० ० ० १ १ - ९ | ४२ | ३ ० ० - १५ |
| १८ | ० ५ ० १ - १० | ४३ | १ ५ ० ० - १६ |
| १९ | ० १ १ ० १ - ११ | ४४ | ० ० ५ ० ० - १७ |
| २० | १ ० १ ० १ - १२ | ४५ | ५ १ ० ० - १८ |
| २१ | ० ० ० १ ० १ - १३ | ४६ | १ १ १ ० ० - १९ |
| २२ | ५ ० ० १ - १४ | ४७ | ० ० १ १ ० ० - २० |
| २३ | १ १ ० ० १ - १५ | ४८ | ० १ ० १ ० ० - २१ |
| २४ | ० ० १ ० ० १ - १६ | ४९ | १ ० ० १ ० ० - २२ |

| संख्याङ्कः | रूपम् | संख्याङ्कः | रूपम् |
|------------|--------------------|-------------------------------|----------------------|
| ५० | ० ० ० ० १ ० ० - २३ | ५६ | १ १ ० ० ० ० - २९ |
| ५१ | ० ५ ० ० ० - २४ | ५७ | ० ० १ ० ० ० ० - ३० |
| ५२ | ० १ १ ० ० ० - २५ | ५८ | ० १ ० ० ० ० ० - ३१ |
| ५३ | १ ० १ ० ० ० - २६ | ५९ | १ ० ० ० ० ० ० - ३२ |
| ५४ | ० ० ० १ ० ० ० - २७ | ६० | ० ० ० ० ० ० ० ० - ३३ |
| ५५ | ५ ० ० ० ० - २८ | अन्त्येन द्रुतान्ताः ३३ भेदाः | |

| | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|----|----|----|------|---|---|---|---|
| ० | १ | ० | १ | ५ | ० | ५ | ३ | ० | ३ | १ | ३ |
| १ | २ | ३ | ६ | १० | १९ | ३३ | = ६० | | | | |

षष्ठः चतुर्थः द्वितीयः अन्त्यः

+

| | | | | | | | | |
|---|---|---|----|----|----|----|-----|--------|
| १ | २ | ५ | १० | २२ | ४४ | ९१ | १८० | पातालः |
|---|---|---|----|----|----|----|-----|--------|

| | | | | | | | | | |
|---|----|----|-----|---|-----|--|--|-----------|------------|
| ३ | ५ | १ | ० | | | | | + | संख्याङ्कः |
| २ | | १ | २ | = | ५ | | | षष्ठेन | २ |
| | ७ | ५ | १० | = | २२ | | | चतुर्थेन | ६ |
| १ | ५ | ४१ | ४४ | = | ९१ | | | द्वितीयेन | १९ |
| २ | १० | ४४ | १२४ | = | १८० | | | अन्त्येन | ३३ |
| | | | | | | | | ६० | |

५ २२ ९१ १८० = २९८ + ६० = ३५८ पातालः

अत्रैतावतिथो भेदः किंरूप इति पृच्छति ॥ ३२४ ॥
 यत्र तन्मष्टमाख्यातं तस्योत्तरमिहोच्यते ।
 भेदानां यावतां मध्ये नष्टप्रश्नः कृतो भवेत् ॥ ३२५ ॥

तावत्संख्याङ्कपर्यन्तां लिखेत् संख्याङ्कसंततिम् ।
 अन्त्याङ्के तत्र नष्टाङ्कं पातयेदथ शेषतः ॥ ३२६ ॥
 पातयेत् पूर्वपूर्वाङ्कं तत्र त्वपतितो^१ द्रुतः ।
 पूर्वश्चेत् पतितो न स्याल्लघुस्तु पतिताद्भवेत् ॥ ३२७ ॥
 उत्तरेणाकृतार्थेन सहितात् तदसंभवे ।
 अकृतार्थेन पूर्वेण सान्तरे पतिते पृथक् ॥ ३२८ ॥
 लघुनिरन्तरे त्वस्मिन्लघुरेव गुरुभवेत् ।
 गुरुहेतोस्तृतीये तु पतिते गः प्लुती भवेत् ॥ ३२९ ॥
 अङ्कामावे द्रुता ग्राह्यास्तालपूरणहेतवः ।
 इति नष्टस्य विज्ञेयमुत्तरं^२ रूपनिर्णयात् ॥ ३३० ॥

इति नष्टम्

(क०) अथ नष्टं लक्षयति—अत्रैतावतिथ्य इति । अत्रै-
 तावद्भेदवत्यमुकताल एतावतिथो भेद इति पूरणसंख्यामुद्दिश्य
 किरूपः? इति भेदस्वरूपं यत्र पृच्छति तन्नष्टमित्याख्यातम् ।
 तस्योत्तरमिति । तस्य नष्टस्य, उत्तरं भेदस्वरूपनिरूपणोपाय
 इत्यर्थः । तमुपायं दर्शयति—भेदानामित्यादिना । सोदाहरणं
 दर्शयामः । यावतां भेदानां मध्य इति । प्लुतप्रस्तारे [३] तावदेकोन-
 विंशतिर्भेदा भवन्ति । तेषां मध्ये नष्टप्रश्नः । नष्टस्य भेदस्यात्र
 पञ्चदशो भेदः किरूपः? इति प्रश्नः कृतो भवेत् । तावत्संख्याङ्क-
 पर्यन्तं संख्याङ्कसंततिं लिखेदिति । अत्र प्रथममेकाङ्कं द्वितीयं
 द्व्यङ्कं तृतीयं त्र्यङ्कं चतुर्थं षडङ्कं पञ्चमं दशाङ्कं षष्ठमेकोन-

विंशत्यङ्कमेवमेकोनविंशतिसंख्याङ्कपर्यन्तां^१ संख्याङ्कसंततिं
 लिखित्वा तत्रान्त्याङ्क एकोनविंशत्यङ्के नष्टभेदपूरणाङ्कमत्र
 पञ्चदशाङ्कं पातयेत् । अथ शेषतः शेषे । सार्वविभक्तिकस्तस्तिः ।
 शेषत इति । एकोनविंशती पञ्चदशस्वपनीतेषु चत्वारः शेषः,
 तस्मिन् चतुरङ्के । पूर्वपूर्वाङ्कं पातयेदिति । प्रथमं संनिहितं पूर्व
 दशाङ्कं पातयेत् । अत्रावशिष्टे चतुरङ्के दशाङ्कोऽपतितो भवति ।
 एवमपतिताङ्काद्^२ द्रुतो लब्धो भवति । चतुरङ्के दशाङ्कात्पूर्वस्य
 षडङ्कस्याप्यपातादपतितत्ततोऽपि द्वितीयो द्रुतो लब्धो भवति ।
 अत्र लब्धान् द्वितीयादीन् द्रुतादीन्^३ वामसंस्थत्वेन लिखेत् । पूर्वः
 पतितो न स्याच्चेत्, 'पतितादङ्कादकृतार्थेनोत्तरेण सहितात् तद-
 संभवेऽकृतार्थेन पूर्वेण सहिताद्वा लघुभवेत्' इत्येकं वाक्यम् । अत्र
 चतुरङ्के त्र्यङ्कस्य पातसंभवात् तच्छेष एकस्मिन् पूर्वस्य द्व्यङ्क-
 स्यापातात्, अकृतार्थेनापतितेनोत्तरेण षडङ्केन सहितात्, चतुरङ्के
 पतितात् त्र्यङ्कात् लघुर्लब्धो भवति । अथैकमवशिष्टम् । सान्तरे
 पतिते पृथग्लघुभवेदिति । अत्रावशिष्ट एकस्मिन्नेकाङ्कस्य सान्तर-
 पतितत्वात् अकृतार्थेन द्व्यङ्केन सह पृथग्लघुर्लब्धो भवति ।
 पृथगिति । पूर्वलब्धेन लघुना सह गुरुरूपां हित्वेत्यर्थः । अत्र
 शेषाङ्कपातनीयाङ्कयोरभावेऽपि त्रिमात्रिकस्य तालस्य लघुद्वयेन
 द्रुतद्वयेन च पूर्णत्वात् तालपूरणहेतवो द्रुता ग्राह्या न भवन्ति [॥
 ०० पञ्चदशो भेदः] । अस्मिन्निरन्तरे तु लघुरेव गुरुभवेदिति ।
 ततैव प्लुतप्रस्तारे [३] दशमः किरूपः? इति नष्टप्रश्ने कृते सत्यन्तर्भूत

^१ त्वपतिताद् (D).

^२ निदिष्टमुत्तरं (D).

^१ संख्यापर्यन्तां I ed.

^२ एवमपतिताद् I ed.

^३ द्रुतादीन्वामं (D); द्वितीयादीन्वामं I ed.

एकोनविंशत्यङ्के नष्टपूरके दशाङ्के अपनीते सति, शेषे नवाङ्के पूर्वस्य दशाङ्कस्यापातादपतितात् तस्माद् द्रुतो लब्धो भवति । अथ तत्पूर्वयोः षडङ्कव्यङ्कयोः निरन्तरयोः पातात् अस्मिन् लघुहेतावङ्के निरन्तरे लघुहेतुना अङ्कान्तरेणाव्यवहिते सति, स लघुरेव लघ्वन्तरेण मिलितो गुरुर्भवति । तत्र लब्धस्य द्रुतस्यानन्तरं लेखकापेक्षया वामसंस्थं लिखेत् । अत्र पातनीयस्यैकाङ्कस्य सङ्कावेऽपि शेषाङ्काभावात् तालपूरणहेतुर्द्रुतोऽत्र ग्राह्यः । सोऽपि पूर्ववद्वामसंस्थो लेखनीयः [० ५ ० दशमो भेदः] । गुरुहेतोस्तृतीये तु पतिते गः प्लुती भवेदिति । अत्रैव प्लुतस्य प्रस्तारे [३] प्रथमो भेदः किरूपः? इति नष्टस्य प्रश्ने सति तत्रान्त्याङ्क एकोनविंशत्यङ्क एकाङ्केऽपनीते सत्यवशिष्टेऽष्टादशाङ्के पूर्ववत् पूर्वयोर्दशाङ्कषडङ्कयोर्निरन्तरयोः पातात् गुरुर्लब्धो भवति । तत्रापि षडङ्को गुरुलाभहेतुर्भवति । तस्मात् तृतीयस्य द्व्यङ्कस्याप्यत्र पातात् तस्मिन् पतिते सति गो गुरुः प्लुती भवेत् । पूर्वमप्लुतः तदा प्लुतो भवति । स एवात्र प्रथमभेदत्वेन लेखनीयः [३ प्रथमो भेदः] । अङ्काभाव इति शेषाङ्कपातनीयाङ्कयोरेकतरस्याप्यभावे द्रुता ग्राह्या इत्यत्र बहुवचनमविवक्षितं यथासंभवं द्रष्टव्यम् । किञ्च तत्रैव प्लुतप्रस्तारे [३] सप्तमो भेदः कः? इति प्रश्ने, एकोनविंशती सप्तस्वपनीतेषु द्वादशावशिष्टा भवन्ति । तत्र पूर्वस्मिन् दशाङ्के पतिते सत्यकृतार्थस्योत्तरस्याभावेऽप्यकृतार्थेन पूर्वेण षडङ्केन सहिताद्दशाङ्कात् लघुर्लब्धो भवति । अथ द्वाववशिष्टौ । तत्रापतितात् व्यङ्कात् द्रुतो लब्धो भवति । ततः पतिताद्द्व्यङ्कादकृतार्थेन पूर्वैर्गैकाङ्केन सहिताल्लघुर्लब्धो भवति ।

ततोऽङ्काभावात् तालपूरणहेतुर्द्रुतो ग्राह्यः [० । ० । सप्तमो भेदः] । अत्रार्थे संप्रदायो ज्ञेयः—यत्र प्रथमो लघुः पतितादङ्कादकृतार्थेनोत्तरेण तदसंभवे पूर्वेण वा तादृशेन सहिताल्लब्धो भवति; तत्र लघ्वन्तरेऽपि स एव क्रमोऽनुसंधेय इति । एतत्सर्वं प्लुतप्रस्तारे [३] दक्षितम् । एवं सर्वत्र प्रस्तारेषु द्रष्टव्यम् । इति नष्टस्य भेदस्वरूपनिर्णयात् नष्टप्रश्नस्योत्तरं विज्ञेयम् । इह नष्टस्वरूपनिरूपणोपायः प्रत्ययोऽप्युपचाराद्द्रष्टमित्युक्तः । उत्तरपरत्वेन नपुंसको निर्देशः ॥ ३२४-३३० ॥ इति नष्टम्*

* [विवरण]

(क०) प्लुतप्रस्तारे [३] नष्टस्य भेदस्वरूपनिरूपणम्

पञ्चदशाङ्कः कीदृशः इति प्रश्ने—

अपतितात् द्रुतो लब्धो भवति । अकृतार्थेन (अपतितेन उत्तरेण सहितात्, अकृतार्थेन पूर्वेण सहिताद्वा सप्तस्तु पतिताद्भवेत् । सान्तरे पतिते पृथग्लघुर्भवेत् ।

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | = १६ |
|---------|---------|-------|--------|--------|---------------------|
| १-१=० | | ४-३=१ | | | -१६-१५=४ |
| पतितः | अपतितः | पतितः | अपतितः | अपतितः | पतितः १५. शेषः ४ |
| (० + ०) | (० + ०) | | | | |
| । | । | ० | ० | | |

षष्ठदशाङ्कः [१।००] लघु द्रुतो ।

दशमाङ्कः कीदृशः इति प्रश्ने—

अस्मिन् निरन्तरे तु लघुरेव गुरुर्भवेत् । शेषाङ्काभावात् तालपूरणहेतुर्द्रुतो ग्राह्यः ।

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | =१६ |
|---|---|---------------|---|--------|---------|
| | | | | | |
| | | ६-(३+६)=० | | | |
| | | निरन्तर पतितौ | | अपतितः | १६-१०=६ |
| | | (१+१) | | | |
| ० | ५ | ० | | | |

दशमाङ्कः [०५०] द्रुतो गुरुर्द्रुतश्च ।

प्रथमो भेदः कीदृश इति प्रश्ने—

गुरुहेतोस्तृतीये तु पतिते गः प्लुती भवेत्

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | =१६ |
|---|--------|--------|---------------|----|---------|
| | | | | | |
| | २-२=० | | १५-(६+१०)=२ | | |
| | पतितः | अपतितः | निरन्तर पतितौ | | १६-१=१५ |
| | (०+०)+ | | (१+१) | | |
| | (१+) | | (५) | | |
| | ३ | | | | |

प्रथमो भेदः [३] प्लुतः ।

सप्तमो भेदः कीदृशः इति प्रश्ने—

शेषाङ्काभावात् तालपूरण हेतुर्द्रुतो ग्राह्यः

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | =१६ |
|--------|-------|--------|--------|---------|--------|
| | | | | | |
| | २-२=० | | | १२-१०=२ | १६-७=९ |
| अपतितः | पतितः | अपतितः | अपतितः | पतितः | |
| (०+०) | | (०+०) | | | |
| ० | १ | ० | १ | | |

सप्तमोङ्कः [०।०।] द्रुतो लघु द्रुतो लघुश्च ।

(सु०) नष्टं निरूपयति—अथेति । एतावतितयः एतावत्संख्या-
ङ्कः, पूर्णभेदेषु किं स्वरूपः? इति संख्यामुद्दिश्य भेदस्वरूपः^१ यत्र पृच्छति,
तन्नष्टमित्युच्यते । इह तस्य नष्टस्य उत्तरमुच्यते । यावतां भेदानां
मध्ये षड्द्रुतानां सप्तद्रुतानामष्टादिद्रुतानां मध्ये नष्टस्य प्रदनः कृतः,
तावत्संख्याकमवधौकृत्य संख्याङ्कानां श्रेणी पूर्वोक्तप्रकारेण लिखेत् । एवं
कृत्वा नष्टं संख्याङ्कमन्त्याङ्कमध्ये पातयेत् न्यूनीकुर्यात् । अथ पातयित्वा
शेषतः अवशिष्टे अन्त्याङ्के अन्त्याङ्कात् पूर्वपूर्वमङ्कं पातयेत् । यो
योऽङ्कः पतति तन्नाभिज्ञानं कुर्यात् । तत्र त्वपतितान्द्रुतात् द्रुतो लभ्यत
इत्युत्सर्गः । अपवादमाह—पूर्वश्चेदिति । पूर्वाङ्को यदि पतितो न स्यात्
तदापतितान्द्रुता लघुः । ततः पतितान्द्रुता किंभवेदित्यपेक्षायामाह—उत्तरेणेति

^१ पूर्णो भेदः (A).

^२ संख्यां निर्दिश्य (B).

^३ तालस्वरूपं (B).

^४ भेद इह उच्यते (B).

^५ पूर्वाङ्कान् (B).

उत्तरेणाकृतार्थेन सहितात्पतितात् लघुः, तदसंभवे उत्तरस्याकृतार्थत्व-
संभवे, कृतार्थत्वे सति, अकृतार्थेन पूर्वेण सह पतितात् लघुः । विशेषं
कथयितुं सान्तरं पूर्वाक्तमनुवदति—सान्तर इति । सान्तरं एकाङ्क-
व्यवधाने^१ अङ्कद्वये पतिते सति पृथक् लघुः लघुद्वयं कर्तव्यम् । निरन्तरे
पतिते सति, निरन्तरे पतिताङ्कद्वये लघुरेव पूर्वाक्तलघुना सह
गुरुर्भवेत् । गुरुहेतोः पतितादङ्कात् तृतीये पतिते; वक्ष्यति, 'गुरुरेव
पतितापतिताभ्यां द्वाभ्यां सह प्लुतो भवति' इति । अङ्काभावे अङ्कानां
संख्याः तालपूरणहेतवः^२ यावत् द्रुतलाभस्तावत्संख्याकाः द्रुता प्राह्या इति
नष्टप्रश्नस्योत्तरं ज्ञेयम् । रूपनिर्णयात् संख्यायां पृष्ठायां स्वरूपकथना-
दित्यर्थः ॥

अत्र षड्द्रुतप्रस्तारे दृष्टान्तं दर्शयामः—तत्र षड्द्रुतप्रस्तारे [३] प्रथमो
भेदः कीदृगिति प्रश्ने; संख्याया अन्त्योऽङ्क एकोनविंशतिः, तस्मादे-
कस्मिन् पातिते सति अवशिष्टेषु अष्टादशसु पूर्वं एको दशाङ्कः पातितः ।
तस्मिन् पातिते सति अवशिष्टेष्वष्टसु ततः पूर्वाङ्कः षडङ्कः पातितः ।
ततोऽवशिष्टे द्वये षडङ्कात् पूर्वस्य व्यङ्क्यस्य अपातनात् ततः पूर्वं द्व्यङ्कः
पातितः । एवं पातस्थानेष्वभिज्ञानं कृत्वा 'निरन्तरे त्वस्मिन् लघुरेव
गुरुर्भवेत्' इति न्यायेन प्राप्तिलभ्यते, चतुर्भिरन्तस्थितैरङ्कैर्गुर्लभ्यते ।
गुरुहेतोः षडङ्कात् पतितात्, तृतीयस्य अपतितात्, द्व्यङ्कस्य पातितत्वात्
स एव गुरुः पतितापतिताभ्यां सह प्लुतो भवति । ततश्च प्रथमो भेदः
प्लुतरूपः [३] इति सिद्धयति । तस्मिन्नेव षड्द्रुतप्रस्तारे [३] द्वितीयो
भेदः कीदृगिति प्रश्ने; एकोनविंशतिमध्ये द्व्यङ्के पातिते सति
सप्तदशावशिष्टाः । तेषु सप्तदशसु दशाङ्कः षडङ्कश्च पातितः । 'निर-
न्तरे त्वस्मिन् लघुरेव गुरुर्भवेत्' इति न्यायेन अन्यैश्चतुर्भिः पतितात् गुरुः ।
लघुस्तु पातितात् भवेत् । उत्तरेणाकृतार्थेन सहितादिति । पूर्वाङ्कद्वयेन

^१ व्यवधानेन (A). ^२ तालपूरणभूतः (A). ^३ तन्मध्ये एकस्मिन् (A).

लघुः । ततश्च गुरुः । एवं लघुर्गुरुश्चेति [१५] द्वितीयो भेदः । अत्रैव तृतीयो
भेदः कीदृगिति प्रश्ने; एकोनविंशती व्यङ्के पातिते अवशिष्टेषु षोडशसु
दशषडङ्कौ पातितौ, निरन्तरे त्वस्मिन्निति गुरुः । अपतितो द्रुत इति ।
पूर्वं द्रुतद्वयं, गुरुश्च [००५] तृतीयो भेदः । एवं चतुर्थे भेदे पृष्ठे चतुर्नूना-
न्त्याङ्के पञ्चदशसु दशाङ्क व्यङ्को द्विकश्च पातितः । पूर्वाङ्कचतुष्टयेन
गुरुः, उत्तराङ्कद्वयेन लघुः [५] इत्यादि ज्ञेयम् ॥ १-३२४-३३०-॥

इति नष्टम्

† [विवरणं]

(सु.) प्लुतप्रस्तारे [३] नष्टस्य भेदस्वरूपनिरूपणम्
प्रथमो भेदः कीदृश इति प्रश्ने—

निरन्तरे त्वस्मिन् लघुरेव गुरुर्भवेत्; पतितापतिताभ्यां सह गुरुः प्लुतो भवति ।

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | = १६ |
|-----------|-----------|---------|---------|---------------------|---------|
| २-२=० | | | (६-६=२) | (१०-१०=०) | १६-१=१५ |
| पतितः | अपतितः | निरन्तर | पतितो | पतितः १, १५ शेषः | |
| (० + ०) + | (० + ०) + | (० + ०) | | | |
| १ | + | (१ + १) | | | |
| (१ | + | ५) + | | | |
| ३ | | | | | |

^१ अपतितात् द्रुतः (B).

प्रथमो भेदः [३] प्लुतः ।

द्वितीयो भेदः कीदृश इति प्रश्ने—

उत्तरेण अकृतार्थेन (अपतितेन) अकृतार्थेन पूर्वेण वा सहितात् लघुस्तु पतितात् भवेत्

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | =१६ |
|-------|--------|--------|-------------------|-------|---------|
| १-१=० | | | (७-६=१) (१७-१०=७) | | १६-२=१४ |
| पतितः | अपतितः | अपतितः | निरन्तर | पतिता | |

(० + ०)

(० + ०) (० + ०)

(१ + १)

१

५

द्वितीयो भेदः [१५] लघुगुरुष्व ।

तृतीयो भेदः कीदृश इति प्रश्ने—

निरन्तरेत्यस्मिन् लघुरेव गुरुर्भवेत् । अपतितात् द्रुतः ।

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | =१६ |
|--------|--------|---|-------------------|-------|---------|
| | | | (६-६=०) (१६-१०=६) | | १६-३=१३ |
| अपतितः | अपतितः | | निरन्तर | पतिता | |

० ० (० + ०) (० + ०)

(१ + १)

० ० ५

तृतीयो भेदः [००५] द्रुतगुरुष्व ।

चतुर्थो भेदः कीदृश इति प्रश्ने—

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | =१६ |
|---|-------------------|-------|---|---------|---------|
| | २-२=० | ५-३=२ | | १५-१०=५ | १६-४=१२ |
| | निरन्तर | पतिता | | पतितः | |
| | (० + ०) + (० + ०) | | | (० + ०) | |
| | ५ | | | १ | |

चतुर्थो भेदः [५१] गुरुर्लघुष्व ।

^१ईदृग्रूपोऽत्र ^२कतिधा भेदः प्रश्न इतीदृशः ।

उद्दिष्टं तत्र संख्याङ्कसंततिं नष्टवल्लिखेत् ॥ ३३१ ॥

यैरङ्कैः पतितेनष्टे लभ्यन्ते ^३ये द्रुतादयः ।

तानेवाङ्काङ्गुलैर्भन्ते ते भेदमुद्दिष्टमाश्रिताः ^४ ॥ ३३२ ॥

यद्वा षट्प्लुतहेत्वङ्कमध्ये ^५ज्ज्यात्प्राचि सप्तमे ।

तदभावे तु षष्ठाङ्के ^६पातितेज्ज्याङ्कमध्यतः ॥ ३३३ ॥

यः शेषः स प्लुताल्लभ्यो लब्धहीनान्त्यशेषतः ।

ज्ञानं पूरणसंख्याया उद्दिष्टोत्तरमिष्यते ॥ ३३४ ॥

इत्युद्दिष्टम्

(क०) अथोद्दिष्टं लक्षयति—ईदृग्रूप इत्यादि । अत्र प्रकृते तालप्रस्तारे, ईदृग्रूप इति भेदस्वरूपमुद्दिश्य ^६कतिधा भेदः?

^१ एवंरूपो (D). ^२ कथितो I ed.; कथितो (D). ^३ ज्ञा प्लुतादयः (D).

^४ इत्युद्दिष्टं अथ प्रकारान्तरे ^५ इत्यधिकं (D). ^६ षष्ठाङ्क (D). ^६ कथितो I ed.

इति तस्य पूरणसंख्यां पृच्छति चेत्, ईदृशः प्रश्नः उद्दिष्टमित्युच्यते। तत्र उद्दिष्टे । नष्टवत् संख्याङ्कसंततिं लिखेदिति । अत्रापि सोदाहरणं वक्ष्यामः । प्लुतप्रस्तारे [३] एकोनविंशत्यङ्कानां संततिं लिखित्वा तत्र लघुद्वयेन द्रुतद्वयेन च युक्ते [। ० ०] भेद उद्दिष्टे सति नष्टे यैः पतितैरङ्कैः ये प्लुतादयो [द्रुतादयो?] लभ्यन्ते उद्दिष्टं भेदमाश्रिताः, ते प्लुतादयः [द्रुतादयः] तानङ्कानेव लभन्त इति । नष्टे अन्त्यावयवस्य पूर्ववत्त्वत्वात् उद्दिष्टेऽप्यन्त्यावयवादि द्रष्टव्यम् । नष्टे हि द्रुतानामपतितादङ्काद्वा तालपूरणत्वेन वा लब्धत्वात् उद्दिष्टभेदस्थिताद् द्रुतात् न कोऽप्यङ्को लभ्यते । अत्रान्त्योपान्त्यद्रुताभ्यामपतितावन्त्यद्वितीयौ दशाङ्कषडङ्कौ विहाय तृतीयेन लघुना पतितस्त्वङ्को लभ्यते । ततोऽपि चतुर्थावयवेन लघुना सान्तरपतित एकाङ्को लभ्यते । तेनात्र लभ्येनाङ्कद्वयेन चत्वारो लब्धाः । लब्धहीनान्त्यशेषत इति । एवं लब्धेन चतुरङ्केण हीनोऽन्त्य एकोनविंशत्यङ्कः । तस्य शेषतः पञ्चदशाङ्कः । पूरणसंख्याया इति । अयं भेदः पञ्चदश इति पूरणसंख्या, तस्या ज्ञानमित्युद्दिष्टस्योत्तरमिष्यते । तथा द्रुतगुरुद्रुत [० १०] इत्युक्तं भेदमुद्दिष्ट्यायं कतिधा? इति संख्याप्रश्ने कृते तत्रान्त्येन द्रुतेनापतितमन्त्यं दशाङ्कं विहायान्त्योपान्त्येन गुरुणा निरन्तरपतितौ द्वितीयतृतीयौ षडङ्ककल्पङ्कौ लभ्येते । ताभ्यां नव लब्धाः । तैर्हीनेऽन्त्य एकोनविंशत्यङ्कैः षडङ्कषट्पुत्रेषु दशस्वयं दशम इति पूरणसंख्याया ज्ञानमित्युद्दिष्टोत्तरम् । एवं सर्वत्र प्रस्तारेषु द्रष्टव्यम् । एतदेव व्यापकमुद्दिष्टोत्तरमवगन्तव्यम् ।

क्वचिल्लाघवार्थमव्यापकमप्युत्तरं दर्शयति—यद्वेत्यति । षट्प्लुतहेत्वङ्कमध्य इति । अत्र षट्शब्देन पूरणप्रत्ययान्तिः षष्ठशब्दो लक्ष्यते । प्लुतहेत्वङ्केत्यनेन षष्ठादीनां दक्षिणसंस्थानां सर्वेषां प्लुतहेतुत्वसामर्थ्यात् आदिशब्दोऽध्याह्रियते, षष्ठादिप्लुतहेत्वङ्कमध्य इति । षष्ठ एकोनविंशत्यङ्कः, सप्तमस्त्रयस्त्रिंशदङ्कः, अष्टमः षष्ट्यङ्कः, नवमः षडुत्तरशताङ्कः, एवं दशमादयोऽपि द्रष्टव्याः । एवमेकोनविंशत्यादयो दक्षिणसंस्थाः । षष्ठादयस्ते सर्वेऽपि प्लुतहेतवः, तेषां मध्ये यः कश्चन प्रकृततालवशादन्यत्वेन कल्पितः । तस्मात् प्राचि पुरातने वामस्थे सप्तमे, तदभावे तु षष्ठाङ्के अन्त्यापेक्षया षष्ठाङ्के, अन्त्याङ्कमध्यतः अन्त्याङ्कमध्ये पातिते सति, यः शेषः, अन्त्याङ्कशेषः सः प्लुताल्लभ्यत इति । अयमर्थः—अत्रोद्दिष्टभेदे प्लुतो दृश्यते । अन्त्ये वा, मध्ये वा, आदौ वा, तत्रैवं विज्ञेयम् । प्लुतप्रस्तारे [३] तावत्प्रथमभेद एव प्लुतो नान्यस्मिन् भेदे । तस्मिन्नेवोद्दिष्टे [३] तत्रान्त्यस्य प्लुतहेतोरेकोनविंशत्यङ्कस्य मध्ये तदपेक्षया सप्तमस्य प्राचोऽङ्कस्याभावात् षष्ठ एकाङ्के पातिते सत्यष्टादशाविंशष्टाः, ते प्लुताल्लभ्या भवन्ति । तैर्हीनोऽन्त्यशेष एकः; तस्मिन् पूरणसंख्याया ज्ञानमयं प्रथमो भेद इत्येतदुद्दिष्टोत्तरम् । लब्धहीनान्त्यशेषत इत्यादिपञ्चद्वयस्य साधारणमित्यवगन्तव्यम् ।*

* [विवरणं]

(क०) प्लुतप्रस्तारे [३] उद्दिष्टस्य भेदस्वरूपस्य पूरणसंख्या ज्ञाननिरूपणम्

उद्दिष्टभेदस्थितात् द्रुतात् न कोऽप्यङ्को लभ्यते

लघुद्वयं द्रुतद्वयं [११००] ईदृशपूषभेदस्य पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने-
संख्यासंततिः

| | | | | | |
|----------|----------|----------|----------|-----------|-------------|
| <u>१</u> | <u>२</u> | <u>३</u> | <u>६</u> | <u>१०</u> | <u>= १६</u> |
| पतितः | अपतितः | पतितः | अपतितः | अपतितः | (१६-४=१५) |

$$\begin{array}{c} 1 \quad \quad \quad 1 \quad \quad \quad 0 \quad \quad \quad 0 \\ (१ \quad + \quad ३) = ४ \quad (१६-४=१५) \end{array}$$

लघुद्वयद्रुतद्वयात्मको [११००] रूपभेदः पञ्चदशतमः इति पूरणसंख्याज्ञानम्

द्रुतगुरुद्रुतात्मके [०५०] भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने-

| | | | | | |
|----------|----------|----------|----------|-----------|-------------|
| <u>१</u> | <u>२</u> | <u>३</u> | <u>६</u> | <u>१०</u> | <u>= १६</u> |
| अपतितः | निरन्तर | पतितौ | अपतितः | (१६-६=१०) | |

$$(१ + १)$$

$$(३ + ६) = ९ \quad (१६-९=१०)$$

द्रुतगुरुद्रुतात्मकः (०५०) रूपभेदः दशमः इति पूरणसंख्या ज्ञानम्
प्लुतात्मके (३) भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने-

| | | | | | |
|----------|----------|----------|----------|----------------------|-------------|
| <u>१</u> | <u>२</u> | <u>३</u> | <u>६</u> | <u>१०</u> | <u>= १६</u> |
| पतितः | अपतितः | निरन्तर | पतितौ | पतितः षष्ठेः एकाङ्कः | |
| | | | | १६-१= शेषः १= | |

$$(० + ०) + (१ + १)$$

$$(१ + ५)$$

$$३$$

$$(२ + ६ + १०) = १८ \quad (१६-१८=१)$$

प्लुतात्मकः (३) रूपभेदः प्रथमः इति पूरणसंख्याज्ञानम्

*[निवरण] (यद्वा-)

प्लुतप्रस्तारे [३] उद्दिष्टस्य भेदस्वरूपस्य पूरणसंख्याज्ञाननिरूपणम् ।

[उद्दिष्टभेदस्थितात् द्रुतात् न कोऽप्यङ्को लभ्यते] प्लुतात्मके (३) भेद
उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने-

संख्यासंततिः

| | | | | | |
|----------|----------|----------|----------|-----------|-------------|
| <u>१</u> | <u>२</u> | <u>३</u> | <u>६</u> | <u>१०</u> | <u>= १६</u> |
| २-२=० | | | ६-६=२ | (१६-१०=६) | १६-१=१५ |
| पतितः | अपतितः | निरन्तर | पतितौ | | (१६-१५=१) |

$$(० + ०) + [(० + ०) + (० + ०)]$$

$$(१ + १)$$

$$(१ + ५)$$

$$=[३]$$

प्लुतरूपः [३] प्रथमो भेदः

द्रुतगुरुद्रुतश्च [०५०] कतिधा भेदः इति प्रश्ने-

संख्यासंततिः

| | | | | | |
|----------|----------|----------|-----------|-----------|-------------|
| <u>१</u> | <u>२</u> | <u>३</u> | <u>६</u> | <u>१०</u> | <u>= १६</u> |
| | | | ६-(३+६)=० | | १६-६=१० |
| | | | निरन्तर | पतितौ | अपतितः |
| | | | (०+०) | (०+०) | |
| | | | (१+१) | | |
| | | | ५ | | |

द्रुतगुरुद्रुतरूपो [०५०] दशमो भेदः ।

यथा द्रुतवर्धितप्लुतप्रस्तारे [० ३] द्रुतप्लुतात्मके [० ३] भेद उद्दिष्टे तत्र प्लुतहेतुषु मध्येऽन्त्यस्य त्रयस्त्रिंशदङ्कस्य मध्ये। ततः प्राचि सप्तम एकाङ्के पातिते सति द्वाविंशदङ्ककोऽवशिष्टः प्लुताल्लभ्यः। तेन हीनेऽन्त्यशेष एकस्मिन् पूरणसंख्याया ज्ञानमयं प्रथम [० ३] इत्येतदुद्दिष्टोत्तरम्। तस्मिन्नेव प्रस्तारे [० ३] प्लुतद्रुतात्मके [३ ०] भेद उद्दिष्टे तत्र द्रुतस्यान्त्यत्वात् अन्त्यं त्रयस्त्रिंशदङ्कं मुक्त्वा प्लुतस्योपान्त्यत्वात् उपान्त्य एकोनविंशत्यङ्के तदपेक्षया प्राचि षष्ठ एकाङ्के पातिते सति येऽवशिष्टाः अष्टादश, ते प्लुताल्लभ्या भवन्ति। तैर्हीनस्यान्त्यस्य त्रयस्त्रिंशदङ्कस्य शेषे पञ्चदशङ्के पूरणसंख्याया ज्ञानमयं पञ्चदशो भेद इत्येतदुद्दिष्टोत्तरम्।*

*[विवरणं—]

द्रुतप्लुतप्रस्तारे [० ३] उद्दिष्टस्य भेदस्वरूपस्य पूरणसंख्याज्ञाननिरूपणम्

द्रुतप्लुतात्मके (० ३) भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने—

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ | ==३३ |
|---|---|----------|------------|--------------|-------|------------------------|
| | | पतितः | अपतितः | निरन्तर | पतिती | पतितः सप्तम एकाङ्कः |
| | | ३-३=० | | ३२-(१०+१६)=३ | | |
| | | [(०+०) + | (१+१)] | | | ३३-१-३२ |
| | | ० | ३ | | | |
| | | (३ | + १० + १६) | | | = ३२ (३३-३२=१) |

द्रुतप्लुतात्मको (० ३) रूपभेदः प्रथमः।

^१ द्रुतात्मके I ed.

^२ दश I ed.

प्लुतद्रुतात्मके (३ ०) भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने—

संख्यासंततिः

| ० | १ | ० १ | ५ | ० ५ | ३ | ० ३ |
|---------|--------|-------------|-------|-----------|----------|-----|
| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ | =३३ |
| पतितः | अपतितः | निरन्तर | पतिती | उपान्त्यः | | |
| २-२=० | | १५-(६+१०)=२ | | | | |
| (०+०) + | (१+१) | | | १६-१=१५ | ३३-१५=१८ | |
| (| १ | + | ५) | | | |
| (| ३ | | | ०) | | |

प्लुतद्रुतात्मको (३ ०) रूपभेदः पञ्चदशतमः

तथा लघुप्लुतप्रस्तारे [१ ३] प्लुतलघ्वात्मके [३ १] भेद उद्दिष्टे तत्र लघोरन्त्यत्वात् तेनान्त्ये प्लुतहेतौ षष्ठ्यङ्के पतितः तत्पूर्वस्त्रयस्त्रिंशदङ्कको लब्धः। अथोपान्त्येन प्लुतेन प्लुतहेतावेकोनविंशत्यङ्के ततः प्राचि षष्ठ एकाङ्के पातिते सत्यष्टादशावशिष्टा लब्धाः। एवं प्लुतलघुभ्यां लब्ध एकपञ्चाशदङ्के तेन हीनस्यान्त्यस्य षष्ठ्यङ्कस्य शेषे नवाङ्के पूरणसंख्याया ज्ञानमयं नवमो भेद इत्येतदुद्दिष्टोत्तरम्।

तथात्रैव [१ ३] प्रस्तारे द्रुतप्लुतद्रुतात्मके [० ३ ०] भेदे उद्दिष्टे तत्र द्रुतस्यान्त्यत्वात् अन्त्यं षष्ठ्यङ्कं मुक्त्वा प्लुतस्योपान्त्यत्वेन उपान्त्ये त्रयस्त्रिंशदङ्कं ततः प्राचि सप्तम एकाङ्के पातिते सति द्वाविंशदङ्ककोऽवशिष्टः प्लुताल्लभ्यते। तेन हीनस्यान्त्यस्य षष्ठ्यङ्कस्य शेषेऽष्टाविंशत्यङ्के पूरण-

^१ लघ्वो I ed.

संख्याया ज्ञानमयम् अष्टाविंशतितम इत्येतदुद्दिष्टोत्तरम् ।
तथा तत्रैव [१ ३] प्रस्तारे प्लुतद्रुतद्वयात्मके [३ ० ०] भेदे
उद्दिष्टे द्रुतद्वयस्थान्त्यत्वादन्त्योपान्त्यौ षष्ठ्यङ्कत्रयस्त्रिंशदङ्को
विहाय एकोनविंशत्यङ्कस्य^१ मध्ये, ततः प्राचि षष्ठ्यङ्काङ्के
पातिते सत्यवशिष्टोऽष्टादशाङ्कः प्लुताल्लब्धः । तेन हीनस्या-
न्त्यषष्ठ्यङ्कस्य शेषे द्विचत्वारिंशदङ्के पूरणसंख्याया ज्ञानमयं
द्विचत्वारिंशतम इत्येतदुद्दिष्टोत्तरम् । तत्रैव [१ ३] प्रस्तारे
द्रुतद्वयप्लुतात्मके [० ० ३] उद्दिष्टे भेदे प्लुतस्थान्त्यत्वात् अन्त्ये
षष्ठ्यङ्के ततः प्राचि सप्तमे द्व्यङ्के पातिते सत्यवशिष्टो-
ऽष्टपञ्चाशदङ्कः प्लुताल्लब्धः । तेन हीनस्यान्त्यस्य
षष्ठ्यङ्कस्य शेषे द्व्यङ्के पूरणसंख्याया ज्ञानमयं द्वितीय
इत्येतदुद्दिष्टोत्तरम् । तत्रैव [१ ३] प्रस्तारे लघुप्लुतात्मके
[१ ३] भेदे उद्दिष्टे पूर्ववद्द्व्यङ्कोऽवशिष्टः । अवोद्दिष्ट-
स्थितेनोपान्त्येन लघुना^२ नष्टवल्लघुलाभहेतावेकाङ्के पातिते
सति पुनरेकस्मिन्नवशिष्टे प्रथमोऽयं भेद इत्युत्तरम् ।
एवमुत्तरोत्तरेष्वप्यङ्केषु प्लुतयुक्तभेदो द्रष्टव्यः ।^३ प्लुतयुक्तभेद-
विषयत्वादेवास्तोत्रस्याव्यापकत्वम् ।

ननु चान्तरोदाहृतलघुप्लुतात्मके [१ ३] भेदे प्लुतस्थान्त्य-
वात् यदेति पश्चात्तराश्रयणेनान्त्यषष्ठ्यङ्कमध्ये तदादिप्राचि
सप्तमे द्व्यङ्के पातिते सति शेषत्वेनाष्टपञ्चाशदङ्कः प्लुताल्लब्धः ।
अथ लघुना पतितोऽङ्को लभ्यः । तत्रान्त्यशेषद्वये गुरुहेतोस्तृतीय-
त्वेन पतितात् षडङ्कात्पूर्वस्य व्यङ्कस्यापतितत्वेन नष्टे द्रुतः

कथं न लब्धः । अत्र द्व्यङ्कैकाङ्कयोरेकतरस्य पातसंभवात्
लघुना को लभ्यत इति संदेहः । तत्रैकाङ्के पातित एकस्यावशिष्ट-
त्वात्प्रथमोऽयं भेद इत्युद्दिष्टोत्तरमिष्टं सिध्यति ।^{*} द्व्यङ्के तु
पातिते^{*} (त्यशेषाभावात् तत्र सिध्यत्येव । अत्र कथं निर्णयः? इति
चेत् उच्यते—प्रथमं तावत् नष्टो नष्टाङ्कभिन्नाङ्कशेषक्रमेण
पूर्वाङ्केषु पातितेषु) यावन्तः^१ अपतिताः तेभ्यस्तावन्तो^२ द्रुता
लभ्याः । एकद्रुतस्य लाभानन्तरं वा आदित एव वा असहाय-
पतिताल्लघुः । सान्तरपतितात्पृथगलघुः । निरन्तरपतिताद् गुरुः ।
गुरुहेतोस्तृतीयात्पतितात्प्लुतो लभ्यत इत्युक्तमेव ।

अत्रायं विशेषो विज्ञेयः—प्रथममपतितात् द्रुतो लभ्यत एव ।
पतितादनन्तरमपतितात् सर्वत्र द्रुतो न लभ्यते । किंतु द्रुतहेतुना
अन्यथा वा यत्रोत्तरेणापतितेन सहितः पातितो लघुहेतुर्भवति, तत्र
पतितादनन्तरमपतितादपि पूर्वाङ्काद् द्रुतो न^१ लभ्यते । एवं
पतितादनन्तरमपतितात् सर्वत्र प्लुतो न लभ्यते । यत्र त्वपतितेन
पूर्वेण सहितः पतितो लघुहेतुर्भवति, तत्र तस्मादपतितादपि द्रुतो न
लभ्यत एव । ततः पूर्वादपतितात् द्रुतो लभ्यत एव । तस्मात् यत्र
लघुर्लभ्यते तत्राङ्कद्वयं निवर्तते, यत्र गुरुर्लभ्यते तत्राङ्कचतुष्टयं
निवर्तते, यत्र प्लुतो लभ्यते तत्राङ्कषट्कं निवर्तते इति न्यायस्य
व्यापकत्वं 'उत्तरेणाकृतार्थेन सहितात्तदसंभवे,' 'अकृतार्थेन पूर्वेण'
(श्लो-३१७, ३१८-अत्रैव) इति वदता ग्रन्थकारेणैव सूचितम् ।

^१ द्व्यङ्केषु पातितेषु यावन्तो १ cd. * (D); missing in १ cd.

^२ पातिताः (D).

^३ द्रुताभ्य एव । द्रुतस्य लाभानन्तरं (D).

^४ द्रुतो लभ्यते १cd.

^१ विंशत्यङ्के. १ cd. ^२ नष्टे तल्लघु (D). ^३ प्लुतयुक्तविषय १ cd.

पुनर्द्वयात्मके [३००] भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने-

| संख्यासंज्ञाः | | | | | |
|---------------|---|---|---|----|------|
| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ |
| | | | | | ३३ |
| | | | | | ६० |
| | | | | | १२ |
| | | | | | २४ |
| | | | | | ४० |
| | | | | | ६० |
| | | | | | ८० |
| | | | | | १०० |
| | | | | | १२० |
| | | | | | १४० |
| | | | | | १६० |
| | | | | | १८० |
| | | | | | २०० |
| | | | | | २२० |
| | | | | | २४० |
| | | | | | २६० |
| | | | | | २८० |
| | | | | | ३०० |
| | | | | | ३२० |
| | | | | | ३४० |
| | | | | | ३६० |
| | | | | | ३८० |
| | | | | | ४०० |
| | | | | | ४२० |
| | | | | | ४४० |
| | | | | | ४६० |
| | | | | | ४८० |
| | | | | | ५०० |
| | | | | | ५२० |
| | | | | | ५४० |
| | | | | | ५६० |
| | | | | | ५८० |
| | | | | | ६०० |
| | | | | | ६२० |
| | | | | | ६४० |
| | | | | | ६६० |
| | | | | | ६८० |
| | | | | | ७०० |
| | | | | | ७२० |
| | | | | | ७४० |
| | | | | | ७६० |
| | | | | | ७८० |
| | | | | | ८०० |
| | | | | | ८२० |
| | | | | | ८४० |
| | | | | | ८६० |
| | | | | | ८८० |
| | | | | | ९०० |
| | | | | | ९२० |
| | | | | | ९४० |
| | | | | | ९६० |
| | | | | | ९८० |
| | | | | | १००० |

पुनर्द्वयात्मकः [३००] रूप भेदः द्विचत्वारिंशत्तमः इति पूरणसंख्या ज्ञानम् ।

द्वुतद्वयप्लुतात्मके [००३] भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने-

| संख्यासंज्ञाः | | | | | |
|---------------|---|---|---|----|------|
| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ |
| | | | | | ३३ |
| | | | | | ६० |
| | | | | | १२ |
| | | | | | २४ |
| | | | | | ४० |
| | | | | | ६० |
| | | | | | ८० |
| | | | | | १०० |
| | | | | | १२० |
| | | | | | १४० |
| | | | | | १६० |
| | | | | | १८० |
| | | | | | २०० |
| | | | | | २२० |
| | | | | | २४० |
| | | | | | २६० |
| | | | | | २८० |
| | | | | | ३०० |
| | | | | | ३२० |
| | | | | | ३४० |
| | | | | | ३६० |
| | | | | | ३८० |
| | | | | | ४०० |
| | | | | | ४२० |
| | | | | | ४४० |
| | | | | | ४६० |
| | | | | | ४८० |
| | | | | | ५०० |
| | | | | | ५२० |
| | | | | | ५४० |
| | | | | | ५६० |
| | | | | | ५८० |
| | | | | | ६०० |
| | | | | | ६२० |
| | | | | | ६४० |
| | | | | | ६६० |
| | | | | | ६८० |
| | | | | | ७०० |
| | | | | | ७२० |
| | | | | | ७४० |
| | | | | | ७६० |
| | | | | | ७८० |
| | | | | | ८०० |
| | | | | | ८२० |
| | | | | | ८४० |
| | | | | | ८६० |
| | | | | | ८८० |
| | | | | | ९०० |
| | | | | | ९२० |
| | | | | | ९४० |
| | | | | | ९६० |
| | | | | | ९८० |
| | | | | | १००० |

द्वुतद्वयप्लुतात्मकः [००३] रूपभेदः द्वितीयः इति पूरणसंख्याज्ञानम् ।

सप्तप्लुतात्मकः [१३] शेषो उद्दिष्टः पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने-

संख्यासंज्ञातिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ | ३३ | ६० |
|---------|---------|---------|------------------------|---------|----------------|-------|---------|
| २-१=१ | | | (७-६=१) | | (१६-(१६+३३)=७) | | ६०-१=५९ |
| पतितः | अपतितः | पतितः | अपतितः | पतितः | नित्यः | पतितो | ६०-५९=१ |
| (० + ०) | (० + ०) | (० + ०) | (१ + ५) | (१ + १) | | | |
| | | | [३] | | | | |
| | | | (१ + ६ + १६ + ३३) = ५६ | | | | ६०-५६=४ |

लघुप्लुतात्मकः [१३] रूपभेदः प्रथमो भेदः इति पूरणसंख्याज्ञानम्

(मु०) उद्दिष्टं निरूपयति-इवुपूप इति । लघु प्रकृतेः प्राप्ति-
प्रस्तारे, इवुपूप इति भेदस्वरूपः कथितः कतिधा किंसंख्यापूरण इति
रूपमुद्दिश्य संख्याप्रश्नः कृतश्चेत्, ईदृशः प्रश्न उद्दिष्टमित्युच्यते । तत्र
नष्टवत् संख्याङ्कसंज्ञाति लिखेत् । एवं लिखितेषु तेषु नष्टपरिज्ञानं यः
पतितैः उद्दिष्टस्थापिताः प्लुतादयो लभ्यन्ते, ते प्लुतादयस्तानेवाङ्कान्
लभन्ते । प्लुतस्याप्येनापि प्रकारेणाङ्क'लाभत्वात् तमाह—ये इति ।
द्वितीयापेक्षया ये षट् प्लुतहेतवोऽङ्काः तेषां मध्ये अन्त्याङ्कात् सप्तमे
पूर्वाङ्के तस्याभावे तु षष्ठाङ्के अन्त्याङ्कमध्यात् पातिते सति यः
शेषः स प्लुताल्लभ्यते । लब्धैरङ्कैः किं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाह—लब्ध-
हीनेति । लब्धैरङ्कैः विहीनः योज्ज्याङ्कस्य शेषः, तस्मात् पूरणसंख्यायाः
प्रथमद्वितीयादिसंख्यायाः ज्ञानमुद्दिष्टप्रश्नस्योत्तरम् । अत्र षड्द्रुतप्रस्तारे
[३] दृष्टान्तं दर्शयामः—तत्र प्लुतरूपो भेदः [३] किं संख्यापूरण इति प्रश्ने
दशाङ्क षडङ्क द्व्यङ्केषु पतितेषु नष्टैः प्लुतो लभ्यते । ततस्तेषां मेलनेन
अष्टादश लब्धाः । द्वितीये पक्षे तु—अन्त्याङ्कात् एकोनविंशत्यङ्कात्
सप्तमस्याङ्कस्य पूर्वस्याभावात् । षष्ठ एकाङ्को अन्त्यमध्ये पातिते
अष्टादश लब्धाः । अयं तु प्लुतपक्षः । एवं लब्धाङ्कहीनं अन्त्येऽङ्के एको
लब्धः, ततश्च प्लुतरूपः [३] प्रथमो भेदः । एवं द्रुतो गुरुश्च द्रुतश्च
(०५०) कतिधा भेद इति प्रश्ने, षडङ्के त्र्यङ्कं च पतिते नष्ट
द्रुतद्वयमध्ये गुरुलभ्यते । ततश्च नव लब्धाः, नव हीने अन्त्याङ्के,
एकोनविंशतो दशावशिष्टाः । ततश्च दशमः, (०५०) एवंविधो भेद
इति ज्ञेयम् ॥ ३३०-३३३- ॥†

१ भावात् तमाह (A).

२ प्लुतो (B).

३ तैरङ्कैः (B).

४ षष्ठाङ्का (B).

†[विचरण (६)] प्लुत प्रस्तारे उद्दिष्टस्य भेदस्वरूपस्य पूरणसंख्याज्ञाननिरूपणम्
प्लुतात्मके [३] भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने—

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | =२१ |
|-----------------|--------|---------------|---------|-----------|---------|
| २-२=० | | | (६-६=०) | (१०-१०=०) | १६-१=१५ |
| पतितः | अपतितः | निरन्तर पतितौ | | पतितः | |
| [(०+०) + (१+१)] | | | | | |
| (१+५) | | | | | |
| [३] | | | | | |

प्लुत रूपः [३] प्रथमो भेदः

द्रुतपुष्टतात्मके (०५०) भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा इति प्रश्ने—

संख्यासंततिः

| १ | २ | ३ | ६ | १० | =१६ |
|---|---|---|---------|---------|---------|
| | | | (३-३=०) | (६-६=०) | १६-६=१० |
| | | | निरन्तर | पतितौ | |
| | | | (१+१) | | |
| ० | ५ | | | | |

द्रुतपुष्टतात्मको (०५०) रूप भेदः दशमः इति पूरणसंख्याज्ञानम् ।

इत्युद्दिष्टम्

आदौ रूपमथैकैकमडकसंख्याडकसंततेः ॥ ३३४ ॥

क्रमादधोऽधो विन्यस्येदन्त्यादीश्चतुरस्तथा ।

स्वपङ्क्तिस्थानिल्लिखेदङ्कान'नप्रसंख्याडक'बधुतान् ॥३३५॥

१ नन्त्ये (D).

२ षट् द्रुतान् (D).

किं तु प्रतिनिधिर्नात्र विद्यते तुर्यषष्ठयोः ॥ ३३६ ॥

इष्टतालद्रुतमितेष्वङ्कुषु लिखितेष्विति ।

क्रमादन्त्योपान्त्यतुर्यषष्ठ्यं द्रुतादयः ॥ ३३७ ॥

मीयन्ते सर्वभेदस्याः पातालः सोऽभिधीयते* ।

| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ | ३३ | इति संख्या |
|---|---|---|----|----|----|----|------------|
| १ | २ | ५ | १० | २२ | ४४ | ६१ | इति पातालः |

(क०) अथ पातालं लक्षयति—आदौ रूपमित्यादि ।

संख्याङ्कसंततेः पूर्ववल्लिखितायाः अधोऽधः आदौ प्रथमकोष्ठ
एकाङ्कस्याधः । रूपमिति । गणकप्रसिद्धया रूपमित्येकमुच्यते ।
अथवा आदौ रूपं संख्याङ्कसंततेरादौ स्थितं स्वरूपमेकाङ्क-
मित्यर्थः । तमादावधः पङ्क्त्यधो न्यस्य । अत्र आदावित्या-
वृत्त्या योजनीयम् । अथ अनन्तरम्, द्व्यङ्कादीनामधोऽधः
क्रमादेकैकमङ्कं न्यसेदिति सामान्यवचनम् । अन्त्यादीनित्यादि
विशेषवचनम् । स्वपङ्क्तिस्थानिति । ^१अधस्ताल्लेख्यपङ्क्ति-
स्थितान्, अन्त्यादीश्चतुरः, अन्त्योपान्त्यतुर्यषष्ठान् । तथेति
यथा संख्याङ्कपङ्क्तौ तद्वदित्यर्थः । अप्रसंख्याङ्कबधुतानिति
तुर्यषष्ठयोः प्रतिनिधिर्नात्र विद्यते इति चान्न विशेषः ।

* एतदधो घ. ड. पुस्तके विहाय सर्वपुस्तकेषु—

‘अन्त्योपान्त्यतुर्यषष्ठमन्त्यादूर्ध्वं स्थितं तथा ।

पञ्चाङ्कयोगादन्त्योऽङ्को भवेत् पातालसंज्ञके ॥’

इति श्लोकोऽधिकः fn. I ed. ^१अधस्ताल्लेख्य (अधस्थ?) पङ्क्ति I ed.

अग्र उपरिपङ्क्तिस्थः संख्याङ्कोऽस्यास्तीत्यग्रसंख्याङ्कवान् अन्त्य एव गृह्यते । तस्यैव सर्वत्र संभवात् अग्रसंख्याङ्कवता युतान् इत्यनेन यथासंभवं युतानामुपान्त्यादीनां केवलानामेव ग्रहणमिष्यते । अन्यथा अग्रसंख्याङ्कवत इत्येव ब्रूयात् । युतानन्त्यादीं त्यत्र उपान्त्यादय एव ग्राह्याः, नान्त्यः । तस्य स्वस्यैव स्वेन युतत्वाभावात् । अत्रायमङ्कलेखनप्रकारः— आदौ लिखितस्यैकाङ्कस्य अन्त्यस्यैव संभवात् तमग्रे^१ संख्याङ्केनैकाङ्केन युतं कृत्वा, द्वचङ्कं द्वचङ्कादधो लिखेत् । तेनान्त्येन द्वचङ्केनाग्रे स्थितद्विसंख्याङ्कवता युतमुपान्त्यमेकाङ्कं मिलित्वा पञ्चाङ्कं व्यङ्कादधो लिखेत् । तेन पञ्चाङ्केनान्त्येनाग्रे स्थित[त्रि]संख्याङ्कवता युतमुपान्त्यं द्वयम्, एवं पञ्चाङ्कं मिलित्वा दशाङ्कं षडङ्कादधो लिखेत् । ततस्तेनान्त्येन दशाङ्केनाग्रे षट्कसंख्याङ्कवता युतमुपान्त्यं पञ्चाङ्कं तुर्यमेकाङ्कं च मिलित्वा द्वाविंशत्यङ्कं दशाङ्कादधो लिखेत् । तेनान्त्येन द्वाविंशत्यङ्केनाग्रे दशसंख्याङ्कवता युतमुपान्त्यं दशाङ्कं तुर्यं द्वचङ्कं च मिलित्वा चतुश्चत्वारिंशदङ्कमेकोनविंशत्यङ्कादधो लिखेत् । तेनान्त्येन चतुश्चत्वारिंशदङ्केनाग्र एकोनविंशतिसंख्याङ्कवता युतमुपान्त्यं द्वाविंशत्यङ्कं तुर्यं पञ्चाङ्कं षष्ठमेकाङ्कं च मिलित्वैकनवत्यङ्कं त्रयस्त्रिंशदङ्कादधो लिखेत् । एवमुत्तरत्रापि इष्टतालद्रुतमितानङ्कान् लिखेत् । इतीष्टतालद्रुतमितेष्वङ्केषु लिखितेषु सत्सु, यत्र अधः पङ्क्तौ, अन्त्योपान्त्यतुर्यषष्ठैः क्रमात् ज्ञेयमाह—सर्वभेदस्था द्रुतादयो

मीयन्त इति । प्लुतप्रस्तारे [३] तावदन्येन चतुश्चत्वारिंशदङ्केन सर्वभेदस्था द्रुता मीयन्ते । उपान्त्येन द्वाविंशत्यङ्केन सर्वभेदस्था लघवो मीयन्त इति । तुर्येण पञ्चमाङ्केन सर्वभेदस्था गुरवो मीयन्ते । षष्ठेनैकाङ्केन द्रुता मीयन्ते [प्लुतो मीयते] । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ ३३५-३३८- ॥

(सु०) अथ पातालमाह—आदाविति । आदौ रूपम्, एकाङ्क^१ लिखेत् । अथ अनन्तरं, संख्याङ्कसंततेः एकैकमङ्कं लिखेत् । क्रमाच्च संख्याङ्कसंततेरधोऽधः स्वपङ्क्तिः स्यात् । यथासंभवमन्त्यादीन् अन्त्योपान्त्यतुर्यषष्ठानङ्कान् समस्थानस्थितेन संख्याङ्केन सहितान् लिखेत् । किं त्विति । यथा संख्यासंततिरचने तुर्यषष्ठयोरभावे तृतीयपञ्चमयोः प्रतिनिधिरुक्तः, तथात्र नास्ति । एवं च इष्टतालो यावत् द्रुतस्तावत् संख्याङ्केषु^४ लिखितेषु क्रमादन्योपान्त्यतुर्यषष्ठैर्यत्र द्रुतादयो मीयन्ते संख्याङ्कः^५ संपद्यन्ते, स पातालः इति संबन्धः । अस्य प्रस्तारः— एकाङ्के दत्ते स एकः । अन्त्ये^६ संख्याङ्कश्चैकः, एवं द्वौ पुरस्तादेयौ । ततः संख्याङ्के द्वयम्, अन्त्याङ्के द्वयं, उपान्त्यः एक इति पञ्च । ततः संख्याङ्के त्रयम्, अन्त्याङ्के पञ्च, उपान्त्ये द्वौ, एवं दश देयाः । ततः संख्याङ्के षट्, अन्त्ये दश, उपान्त्ये पञ्च, तुर्यं एकः, एवं द्वाविंशतिः । ततः संख्याङ्के दश, अन्त्ये द्वाविंशतिः, उपान्त्ये दश, तुर्यं द्वयम्, एवं चतुश्चत्वारिंशदिति ज्ञेयम् । षड्द्रुतप्रस्तारे [३] चतुश्चत्वारिंशत् द्रुताः, द्वाविंशतिलघवः, पञ्च गुरवः, एकः प्लुत इति क्रमात् अन्त्योपान्त्यतुर्यषष्ठैरङ्कैर्मयीयन्ते ॥ ३३५-३३८- ॥

^१ स. नान्त्या: fn. I ed.^२ तमग्रसंख्या I ed.^३ तेनान्त्येन I ed.^४ एकाङ्के (A).^५ स्थितेन (B).^६ सहितात् (A).^७ संख्येष्व-

ङ्केषु (B).

^८ संख्यां धत्ते (B).^९ अन्त्ये एकः (A).

| | | | | | | | | |
|---|---|---|----|----|----|----|-----|-----|
| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ | ३३ | ६० | १०६ |
| १ | २ | ५ | १० | २२ | ४४ | ८९ | १८० | ३५८ |

इति संख्या

इति पातालः

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९

इति पातालः

पङ्क्तिं कृत्वेष्टतालस्थद्रुतसंमितकोष्ठिकाम् ॥ ३३८ ॥
 तिरश्चीं तत्परा^१मूनां कोष्ठेनाथ ततः पराः ।
 द्विद्विकोष्ठोनिताः स्वस्व^२पूर्वतोऽथाङ्कयोजना ॥ ३३९ ॥
 द्वौ द्वौ तासामाद्यकोष्ठौ स्यातामेकाङ्कसंयुतौ ।
 अधस्तन्यास्तृतीयादौ विषमे कोष्ठके लिखत् ॥ ३४० ॥
 अन्याद्यङ्कचतुष्कस्य योगं संख्याङ्कसंघवत्^३ ।
 समे त्वन्त्यं विनन्तेषां योगं न्यस्याथ पङ्क्तिषु ॥ ३४१ ॥
^४परासु शेषकोष्ठेषु चतुर्दशोऽयमिष्यते ।
 नास्ति प्रतिनिधिस्त्वासामङ्कयोस्तुर्यषष्ठयोः ॥ ३४२ ॥
 तामु स्वभावतो यास्तु^५ निष्पन्ना ऊर्ध्वपङ्क्तयः ।
 तन्मध्ये तु समा कोष्ठेऽन्त्यस्थानेऽन्त्यावधस्तनः ॥ ३४३ ॥
 अङ्कः कार्योऽथ तैरङ्कैर्भेदसंख्याभिधीयते ।
 विषमायामूर्ध्वपङ्क्तौ स्थितैरङ्कैरधः क्रमात् ॥ ३४४ ॥
 एकद्रुताद्या विषमव्यादिसंख्या द्रुता^६ भिदाः ।
 सर्वद्रुतान्ता भोयन्ते समपङ्क्तिस्थितैः पुनः ॥ ३४५ ॥

^१ परान्तां (D). ^२ पूर्वतोऽङ्कयोजनात् (D). ^३ संघवत् (D).^४ एतासु (D). ^५ यासु (D). ^६ च द्रुतावधः fn. I ed.

द्रुतहीनावयो द्व्यादिसमसंख्या द्रुता भिदाः ।
 सर्वद्रुतान्ता^१जायन्ते द्रुतमेरुर्यं मतः ॥ ३४६ ॥
 ऊर्ध्वपङ्क्तिस्थसर्वाङ्कयोगात् संख्यापि गम्यते ।

इति द्रुतमेरुः

| | | | | | | | | | | | |
|---|---|----|---|----|---|----|----|-----|----|----|----|
| | | | | | | | | १ | १ | | |
| | | | | | | | १ | १ | ७ | ८ | |
| | | | | | | १ | १ | ५ | ६ | २० | २७ |
| | | | १ | १ | | | | | | | |
| | | १ | १ | ३ | ४ | ६ | १४ | २५ | ४४ | | |
| | १ | १ | २ | २ | ५ | ४ | १२ | ७ | २६ | | |
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | | | |
| ० | १ | ०१ | ५ | ०५ | ३ | ०३ | १३ | ०१३ | | | |

इति द्रुतमेरुकोष्ठकम्

(क०) अथ द्रुतमेरुं लक्षयति—पङ्क्तिं कृत्वेत्यादि ।
 इष्टतालस्थद्रुतसंमितकोष्ठिकामिति । अवास्माकं द्रुतप्लुतात्म-
 कस्ताल (० ३) इष्टः, तत्रस्थाः द्रुताः सप्त; तैः संमिताः
 कोष्ठाः यस्यां सा तथोक्ता । तिरश्चीमिति । नोर्ध्वगां नाप्यधो-
 गताम्, अपितु तिरश्चीमेव^२ । दक्षिणगतां प्रथमं तावत्सप्त-
 कोष्ठिकां तिरश्चीमधःपङ्क्तिं कृत्वा, अथ अनन्तरम्, तत्परां

^१ भोयन्ते fn. I ed.^२ र्चीनामेव (D).

पङ्क्ति कोष्ठेन ऊनां न्यूनां वामस्थप्रथमकोष्ठेन हीनां द्वितीयां परां पङ्क्तिं षट्कोष्ठिकां कुर्यादित्यर्थः । ततः द्वितीयास्याः पङ्क्तेः, पराः तृतीयादयः पङ्क्तयः । स्वस्वपूर्वतो द्विकोष्ठो-
 निता इति । तृतीया परपङ्क्तिः द्वितीयापेक्षया वामस्थप्रथम-
 कोष्ठद्वयहीना सती चतुष्कोष्ठिकात्र कार्या । ततोऽपि परा
 चतुर्थी पङ्क्तिः पूर्ववद् द्विकोष्ठोनिता सती द्विकोष्ठिकात्र कार्या ।
 उदाहरणार्थमेतावदेवोक्तम् । अतः परमपि यावदिष्टं तावदुपरि
 दक्षिणतश्च मेरोर्वधयेत् । अथाङ्कयोजनेति क्रियत इति शेषः ।
 तासां पङ्क्तीनां द्वौ द्वौ चाद्यकोष्ठावेकाङ्कसंयुतौ स्याताम् ।
 अधस्तन्याः पङ्क्तेः तृतीयादौ विषमे कोष्ठके संख्याङ्कसंघवत्
 अन्त्याद्यङ्कचतुष्कस्य योगं लिखेदिति । तुर्यषष्ठयोरभावे तृतीय-
 पञ्चमी प्रतिनिधीकुर्यादित्यतिदेशार्थः । एवमधस्तन्यास्तृतीय-
 कोष्ठेऽन्त्योपान्त्ययोरङ्कयोर्योगं लिखेत् । समे त्विति । चतुर्थादौ
 समसंख्ये कोष्ठे तु, अन्त्यं विनैतेषाम् उपान्त्यतुर्यषष्ठानाम्, योगं
 न्यस्येति अत्रान्त्याभाव एव विशेषः । एवमधस्तन्याः समचतुर्थ-
 कोष्ठे अन्त्यं द्व्यङ्कं विना उपान्त्यस्यैकाङ्कस्य तुर्याभावात्
 तृतीयस्यैकाङ्कस्य योगं द्व्यङ्कं लिखेत् । तस्या विषमे पञ्चमे
 कोष्ठे अन्त्योपान्त्ययोर्द्व्यङ्कयोः तुर्यस्यैकाङ्कस्य च योगं
 पञ्चाङ्कं लिखेत् । तस्याः समे षष्ठे कोष्ठेऽन्त्यं पञ्चाङ्कं
 विना उपान्त्यतुर्ययोः द्व्यङ्कैकाङ्कयोः षष्ठाभावात् पञ्चमस्यै-
 काङ्कस्य च योगं चतुरङ्कं लिखेत् । तस्या विषमे सप्तमे
 कोष्ठे सोपान्त्यतुर्यषष्ठानां चतुष्पञ्चदशेकाङ्कानां योगं द्वाद-
 शाङ्कं लिखेत् ।

परास्त्वित्यादि । द्वितीयादिपरपङ्क्तिषु । शेषकोष्ठे-
 ण्विति । 'तन्मध्ये तु समा कोष्ठे' इति वक्ष्यति । तदितरेषु
 विषमकोष्ठेण्वित्यर्थः । अयं चतुर्योग इष्यत इति अन्त्यादीनां योग
 इत्यर्थः । आसां परपङ्क्तीनां संबन्धिनोः तुर्यषष्ठयोरङ्कयोः
 प्रतिनिधिस्तु नास्ति । तास्त्वित्यादि; तासु तिरश्चीषु पङ्क्तिषु
 याः स्वभावतो निष्पन्नाः । ऊर्ध्वपङ्क्तय इति । प्रथमामधः-
 पङ्क्तिं प्रकृतिं कृत्वा तदूर्ध्वपङ्क्तिक्त्वनयां कृतायां प्रथम-
 पङ्क्तिरेककोष्ठा, द्वितीया द्विकोष्ठा, तृतीयापि द्विकोष्ठिका,
 चतुर्थी त्रिकोष्ठिका, पञ्चम्यपि त्रिकोष्ठिका, षष्ठी चतुष्को-
 ष्ठिका, सप्तम्यपि चतुष्कोष्ठिका, एवमुदाहृते द्रुतमेरावूर्ध्व-
 पङ्क्तयः सप्त भवन्ति । तन्मध्ये इति; तासामूर्ध्वपङ्क्तीनां मध्ये
 समा कोष्ठे इति । समायाः समसंख्यायाः पङ्क्तेः कोष्ठे अङ्क-
 तव्ये, अन्त्यस्थाने पूर्वपङ्क्तिस्थस्य अन्त्याङ्कस्य स्थाने प्रसङ्गे
 सति, अन्त्यादधस्तनाङ्कः कार्य इति । प्रकृते द्रुतमेरी तिसृष्वूर्ध्व-
 पङ्क्तिषु अङ्काङ्कितासु सतीषु त्रिकोष्ठिकायां चतुर्ध्यामङ्कि-
 तव्ये मध्यमकोष्ठे अन्त्यस्यैकाङ्कस्य अधस्तनद्व्यङ्कमादाय
 उपान्त्यमेकाङ्कं च योजयित्वा त्र्यङ्कं लिखेत् । ततो विषमायाः
 पञ्चम्यां द्वितीयकोष्ठे अन्त्योपान्त्ययोस्त्र्यङ्ककयोर्योगं चतु-
 रङ्कं लिखेत् । ततः समायाः षष्ठ्या द्वितीयकोष्ठे अन्त्यादध-
 स्तनस्य पञ्चाङ्कस्य उपान्त्यतुर्ययोस्त्र्यङ्कैकाङ्कयोश्च योगं
 नवाङ्कं लिखेत् । ततो विषमायाः सप्तम्यां द्वितीयकोष्ठे अन्त्यो-
 पान्त्यतुर्याणां नवचतुरेकाङ्कानां योगं चतुर्दशाङ्कं लिखेत् ।

तस्या एव तृतीयकोष्ठे अन्त्यादधस्तनोपान्त्ययोश्चतुरङ्गकाङ्क-
योर्योगं पञ्चाङ्कं लिखेत् । तस्या एव तुरीयकोष्ठे अन्त्यो-
पान्त्ययोः पञ्चैकाङ्कयोर्योगं षडङ्कं लिखेत् । अथ तैरङ्गैर्ज्ये-
माह—भेदसंख्याभिधीयत इति । भेदानां प्रस्तारगतानां ताल-
भेदानां संख्या इयता ।

तदेव विषयव्यवस्थया विवृणोति—विषमायामित्यादिना ।
अत्र विषमायां सप्तम्याम् ऊर्ध्वपङ्क्तौ अधःक्रमात् अधस्ता-
दारभ्य; एकद्रुताद्या विषमव्यादिसंख्या द्रुताः सर्वद्रुतान्ता भिदा
मीयन्ते इति । अत्र आद्यस्थितेन द्वादशाङ्केन द्रुतप्लुतप्रस्तार
एव द्रुता भेदा मीयन्ते । द्वितीयकोष्ठस्थेन चतुर्दशाङ्केन त्रिद्रुता
भेदा मीयन्ते । तृतीयकोष्ठस्थेन षडङ्केन पञ्चद्रुता भेदा
मीयन्ते । अन्त्यकोष्ठस्थेनैकाङ्केन सर्वद्रुता भेदा मीयन्ते ।
समपङ्क्तिस्थितेः पुनरिति । अत्र समायां षष्ठ्यामूर्ध्वपङ्क्तौ
स्थितैरङ्गैस्तु, द्रुतहीनादयो द्व्यादिसमसंख्या द्रुता सर्वद्रुतान्ता
भिदा जायन्ते इति । षड्द्रुतात्मके प्लुतप्रस्तारे [३] द्रुतहीना भेदा
अधःक्रमात् अधस्तनकोष्ठमारभ्य एकद्रुतत्रिद्रुतपञ्चद्रुताद्या मीयन्ते
द्विद्रुता भेदा जायन्ते । द्वितीयकोष्ठस्थेन नवाङ्केन
त्रिद्रुता भेदा जायन्ते । तृतीयकोष्ठस्थेन पञ्चाङ्केन चतुर्द्रुता
भेदा जायन्ते । अन्त्यकोष्ठस्थेनैकाङ्केन सर्वद्रुतो भेदो जायते ।
एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । ज्ञेयान्तरमप्याह—ऊर्ध्वपङ्क्तिस्थेति
॥ -३३८-३४७- ॥

इति द्रुतमेरः

(मु०) द्रुतमेरं निरूपयति—पङ्क्ति कृत्वेति । इष्टतालः यावत्

^१ तृतीये (?) I ed.

द्रुतः तावत्संख्याकैः कोष्ठकैः मितां तिरश्चीं पङ्क्तिं कुर्यात् । ततः
परामूर्ध्वा पङ्क्तिं प्रथमेन एकेन कोष्ठेन हीनां कुर्यात् । ततः परास्तु
पङ्क्तयः प्रथमतः कोष्ठद्वयहीनाः कार्याः, स्वस्वपूर्वपङ्क्तिस्तः सकाशात् ।
एवं स्थापयित्वा इयमङ्क्योजनेत्याह—द्वौ द्विविति । तासां सर्वासां
पङ्क्तीनामाद्यकोष्ठद्वये एकाङ्को देयः । अधस्तन्याः पङ्क्तेः तृतीयादी
विषमे कोष्ठके, तृतीयपञ्चमसप्तमादी संख्याङ्कसङ्घवत्^१ अन्त्योपान्त्यतुर्य-
षष्ठाङ्कयोर्योगं लिखेत् । अधस्तन्याः समकोष्ठकेषु, चतुर्यषष्ठादिषु तु
अन्त्यं विना उपान्त्यतुर्यषष्ठानां योगं लिखेत् । एवमधस्तनपङ्क्तौ अङ्कान्
विलिख्य, परामु ऊर्ध्वस्थासु पङ्क्तिषु प्रथमकोष्ठद्वये एकाङ्कस्य दत्तत्वात्
शेषकोष्ठकेषु अयमेव योगः । अन्त्योपान्त्यतुर्यषष्ठा एवं ग्राह्याः । आसां,
परपङ्क्तीनां संबन्धिनोः तुर्यषष्ठयोरङ्कयोः प्रतिनिधिर्नास्ति । समकोष्ठे
विशेषमाह—तास्विति । तासु परामु^२ पङ्क्तिषु, तिर्यक्पङ्क्तिं^३ विरचितेन
स्वभावतः पृथक्पङ्क्तयो विधेयाः । ऊर्ध्वाङ्कानां^४ पङ्क्तयो निष्पन्नाः ।
तासां मध्ये समायाः पङ्क्तेः कोष्ठे अन्त्यस्थाने अन्त्यादधस्तनोऽङ्को
ग्राह्यः । ततश्च अन्त्यादधस्तनोपान्त्यतुर्यषष्ठानां योगो लेखनीय इत्यर्थः ।
एवं द्रुतमेरुविरचनप्रकारमङ्कनिवेशनप्रकारं चोक्त्वा तैरङ्गैर्ज्येमाह—
स्थितैरिति । विषमायां प्रथमतृतीयपञ्चमादावूर्ध्वपङ्क्तौ स्थितैरङ्गैश्च
अधःक्रमात् अधस्तनकोष्ठमारभ्य एकद्रुतत्रिद्रुतपञ्चद्रुताद्या मीयन्ते
गण्यन्ते । प्रथमकोष्ठके योऽङ्कस्तावत्संख्याक एकद्रुताद्याः । द्वितीयकोष्ठके
विद्रुताः । तृतीयकोष्ठके पञ्चद्रुताः । अन्त्यकोष्ठके सर्वद्रुतो इत्यादि ।
समपङ्क्तिषु पुनः^५ स्थितैः अङ्गैः द्रुतहीनादयः द्व्यादिसमसंख्या द्रुताः
सर्वद्रुतान्ता भिदा जायन्ते । प्रथमकोष्ठके द्रुतहीनाः, द्वितीयकोष्ठके
त्रिद्रुताः, तृतीयकोष्ठके चतुर्द्रुताः, चतुर्यकोष्ठके षड्द्रुताः । अन्त्य-
कोष्ठके सर्वद्रुताः ।

^१ संख्याङ्क सन्तवितव, अन्त्यो (A), (B).

^२ अपरामु (A).

^३ तिरचने (A).

^४ ऊर्ध्वाकाराः (A).

^५ पुरः (A).

^६ चतुर्धादि (A).

^७ षड्द्रुतादयः (A).

परासां शेषकोष्ठेषूपान्त्याधस्तनसंयुतम् ।

त्रियोगमेवमादध्यादन्न च द्रुतमेरुवत् ॥ ३४६ ॥

(क०) अथ लघुमेरुं लक्षयति—लघुमेरावित्यादि ।

प्राग्वत् द्रुतमेराविव कोष्ठपङ्कतीः न्यस्येत् । तदादिमः तासां तिरश्चीनां पङ्कतीनां, आदिमः; एकैककोष्ठ एकाङ्कयुक्तः कर्तव्यः । अधःपङ्कतिकेषु शेषकोष्ठेषु तु अत्र तुशब्दः पर-पङ्कक्तिशेषकोष्ठेभ्यो वेलक्षणं द्योतयति । अन्त्यतुर्यषष्ठयोगं निवेशयेदिति उपान्त्यं त्यक्त्वेत्यर्थः । अत्रापङ्कक्तेर्द्वितीयकोष्ठे प्रथमकोष्ठगतमन्त्यमेकाङ्कं लिखेत् । तृतीयकोष्ठेऽपि द्वितीयकोष्ठगतमन्त्यमेकाङ्कमेव लिखेत् । चतुर्थकोष्ठे त्वन्न प्रतिनिधेः सदसत्त्वे च द्रुतमेरुवदिति वक्ष्यमाणत्वात् प्रतिनिधेः सद्भावादन्त्यमेकाङ्कं, तुर्याभावे तृतीयमेकाङ्कं च योजयित्वा द्व्यङ्कं लिखेत् । पञ्चमकोष्ठेऽन्त्यतुर्ययोर्द्व्यङ्ककाङ्कयोर्योगं व्यङ्कं लिखेत् । षष्ठकोष्ठेऽप्यन्त्यतुर्ययोस्व्यङ्ककाङ्कयोः षष्ठाभावे पञ्चमस्यैकाङ्कस्य च योगं पञ्चाङ्कं लिखेत् । सप्तमे कोष्ठेऽप्यन्त्यतुर्यषष्ठानां पञ्चैकैकाङ्कानां योगं सप्ताङ्कं लिखेत् । परासां पङ्कतीनां शेषकोष्ठेषु द्वितीयादिकोष्ठेषु, उपान्त्याधस्तनसंयुतमेवं त्रियोगमादध्यादिति । द्वितीयस्याः परपङ्कतेः द्वितीयकोष्ठेऽन्त्यमेकाङ्कमुपान्त्याभावेऽपि तदधःकोष्ठस्य सद्भावात् तन्न स्थितमेकाङ्कं च योजयित्वा द्व्यङ्कं लिखेत् । तृतीयकोष्ठे द्व्यङ्कमन्त्यमुपान्त्याधस्तनमेकाङ्कं च योजयित्वा व्यङ्कं लिखेत् । चतुर्थकोष्ठे व्यङ्कमन्त्यमुपान्त्याधस्तनमेकाङ्कं च योजयित्वा चतुरङ्कं लिखेत् । अत्र प्रतिनिधेरसत्त्वात् तुर्याभावे तृतीयो न गृह्यते ।

पञ्चमकोष्ठेऽन्त्योपात्त्याधस्तनतुर्याणां चतुर्द्व्यङ्काङ्कानां योगं सप्ताङ्कं लिखेत् । षष्ठकोष्ठेऽन्त्योपात्त्याधस्तनतुर्याणां सप्तत्रि-द्व्यङ्कानां योगं द्वादशाङ्कं लिखेत् । ततस्तृतीयस्यां द्वितीयकोष्ठेऽन्त्योपात्त्याधस्तनयोरैकद्व्यङ्कयोर्योगं व्यङ्कं लिखेत् । तृतीयकोष्ठेऽन्त्योपात्त्याधस्तनयोस्व्यङ्कयोर्योगं षडङ्कं लिखेत् । चतुर्थे कोष्ठेऽन्त्यं षडङ्कमुपान्त्याधस्तनं चतुरङ्कं च योजयित्वा दशाङ्कं लिखेत् । ततश्चतुर्थ्यां द्वितीयकोष्ठेऽन्त्यमेकाङ्कमुपान्त्याधस्तनं व्यङ्कं च योजयित्वा चतुरङ्कं लिखेत् । एवमुत्तरापि यथेष्टं वर्धयेत् ॥ -३४७-३४६ ॥

(गु०) लघुमेरुं निरूपयति—लघुमेराविति । कोष्ठपङ्कतीः

प्राग्वत् द्रुतमेरुकोष्ठपङ्कतिवत् न्यस्येत् स्थापयेत् । तासां पङ्कतीनामेकैकः प्रथमकोष्ठः एकाङ्कयुक्तः कर्तव्यः । अधःपङ्कतिकेषु तु शेषकोष्ठेषु अधःपङ्कती शेषकोष्ठेषु अन्त्यतुर्यषष्ठानां योगं निवेशयेत् । अन्यासां पङ्कतीनामुपान्त्यात् अधस्तनसंयुतं एतमेव त्रियोगं अन्त्यतुर्यषष्ठयोगमादध्यात् गृहणीयात् । अन्त्योपात्त्याधस्तनतुर्यषष्ठयोर्योगमित्यर्थः । प्रतिनिधेः सत्त्वमसत्त्वं च द्रुतमेरुवत् । यथा द्रुतमेरो अधःपङ्कतो च तुर्यषष्ठयोः प्रतिनिधिः, अन्यासु पङ्कतिषु नास्ति, तथा लघुमेरावित्यर्थः ॥ -३४७-३४६ ॥

सदसत्त्वे प्रतिनिधेः कोष्ठाङ्कैरुध्वपङ्क्तिगैः ।

लघुहीनादुपक्रम्यैकाद्येकोत्तर^१बृद्धलाः ॥ ३५० ॥

^२सर्वलान्ताः क्रमाज्ज्योः संख्या सर्वाङ्कसंगतेः ।

इति लघुमेरुः

^१ बृद्धलाः (D).

^२ सर्वे (D).

^३ संततैः (D).

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|----|----|----|----|
| | | | | | | | | १ |
| | | | | | | १ | ५ | १५ |
| | | | | १ | ४ | १० | २० | ३६ |
| | | १ | ३ | ६ | १० | १५ | ३३ | ६१ |
| | १ | २ | ३ | ४ | ७ | १२ | २१ | ३४ |
| १ | १ | १ | २ | ३ | ५ | ७ | १० | १४ |
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | १० |

इति लघुमेरुकोष्ठकम्

(क०) ^१अत्र ज्ञेयमाह—कोष्ठाङ्कैरित्यादि । ऊर्ध्व-
पङ्क्तिर्गैरिति । द्रुतमेरावुक्तप्रकारेण द्रष्टव्यम् । लघुहीना-
दुपक्रम्येति अधःक्रमादित्येतदत्राप्यनुसंधेयम् । अधःपङ्क्ति-
कोष्ठाङ्केन ^२लघुहीना भेदा ज्ञेयाः । एकादशकोत्तरवृद्धला इति ।
द्वितीयकोष्ठाङ्केनैकलघवो भेदाः; तृतीयकोष्ठाङ्केन द्विलघवः;
एवमेकोत्तरवृद्धलाः सन्तो ज्ञेयाः । सर्वलान्ता इति । अन्त्य-
कोष्ठाङ्केन सर्वलघवो भेदा ज्ञेया इति । प्रकृते द्रुतप्लुतप्रस्तारे
[०३] सप्तम्या ऊर्ध्वपङ्क्तेरधःकोष्ठस्थेन सप्ताङ्केन लघुहीना
भेदा ज्ञेयाः; द्वितीयकोष्ठस्थेन द्वादशाङ्केनैकलघवो भेदा ज्ञेयाः;
तृतीयकोष्ठस्थेन दशाङ्केन द्विलघवो भेदा ज्ञेयाः; अन्त्यकोष्ठ-

^१ तत्र (D).^२ द्रुतहीना I ed.

स्थेन चतुरङ्केण सर्वलघवो भेदा ज्ञेया इति सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।
ज्ञेयान्तरमप्याह—संख्या सर्वाङ्कसंगतेरिति ॥ ३५०, ३५१- ॥*

इति लघुमेरुः

(सु०) लघुमेरोर्ज्ञेयं कथयति—कोष्ठाङ्कैरिति । ऊर्ध्वपङ्क्तिर्नः
ऊर्ध्वपङ्क्तिस्थितैः, कोष्ठाङ्कैः अधःकोष्ठमारभ्य, लघुहीनैकलघ्वादयो
भेदा ज्ञेयाः । अन्तेषु सर्वलघ्वन्ताः सर्वाङ्कमेलनात् संख्यापरिज्ञानं
^१चानुषङ्गात् सिध्यति ॥ ३५०, ३५१- ॥

इति गुरुमेरुः

[विषरणं (क०)] *सप्तद्रुते द्रुतप्लुतप्रस्तारे [०३] लघुमेरुकोष्ठकम्

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|----|----|----|----|---|----|
| | | | | | | | | १ | ४ |
| | | | | | | १ | ३ | ६ | १० |
| | | १ | २ | ३ | ४ | ७ | १२ | | |
| १ | १ | १ | २ | ३ | ५ | ७ | | | |
| १ | २ | ३ | ६ | १० | १६ | ३३ | | | |
| | १ | २ | ५ | १० | २२ | ४४ | | | |
| ० | १ | ० | १ | ५ | ० | ५ | ३ | ० | ५ |

सर्वलघवः
(त्रिलघवः) $४ \times ३ = १२$
द्विलघवः $१० \times २ = २०$
एकलघवः $१२ \times १ = १२$
लघुहीनाः $७ \quad ०$
संख्याङ्कः ३३
पातालः ४४

^१ चानुषङ्गिकं च (A).

कोष्ठो द्व्यङ्कवान् कार्यः । शेषकोष्ठा इति । अधःपङ्क्ततेस्तृतीयादयः कोष्ठाः । अन्त्योपान्त्यषष्ठाङ्कयोगिनः इति । तुर्यमुक्त्वेत्यर्थः । एवमधःपङ्क्ततेस्तृतीयकोष्ठेऽन्त्योपान्त्ययोर्द्व्यङ्ककाङ्कयोर्योगं व्यङ्कं लिखेत् । चतुर्थकोष्ठेऽन्त्योपान्त्ययोः द्व्यङ्कव्यङ्कयोर्योगं पञ्चाङ्कं लिखेत् । अत्र तुर्यस्यानुपादेयत्वात् प्रतिनिधित्वेनैकाङ्को न गृह्यते । ततः पञ्चमे कोष्ठे अन्त्योपान्त्ययोः पञ्चत्यङ्कयोर्योगमष्टाङ्कं लिखेत् । षष्ठे कोष्ठेऽन्त्योपान्त्ययोरष्टाङ्कपञ्चाङ्कयोः षष्ठाभावे पञ्चमस्यैकाङ्कस्य च योगं चतुर्दशाङ्कं लिखेत् । सप्तमे कोष्ठेऽन्त्योपान्त्यषष्ठानां चतुर्दशाष्टकाङ्कानां योगं त्रयोविंशत्यङ्कं लिखेत् । परासां त्विति । परासां द्वितीयादीनां पङ्क्तीनां द्वितीयादिषु कोष्ठेष्वधस्तुर्याङ्कसंयुत इत्यर्थः । अन्त्योपान्त्यषष्ठानां योगो लिख्यत इति । द्वितीयास्याः परपङ्क्ततेः द्वितीयकोष्ठेऽन्त्यमेकाङ्कं तुर्याधस्तनमेकाङ्कं च योजयित्वा द्व्यङ्कं लिखेत् । तृतीयकोष्ठेऽन्त्योपान्त्यपुर्याधस्तनानां द्व्यङ्कैकाङ्कद्व्यङ्कानां योगं पञ्चाङ्कं लिखेत् । चतुर्थकोष्ठेऽन्त्योपान्त्यपुर्याधस्तनानां पञ्चद्वित्यङ्कानां योगं दशाङ्कं लिखेत् । ततोऽप्येवं वर्धयेत् । अत्र ज्ञेयमाह—
लघुस्थाने गुरुज्ञेय इति । गुरुहीनादुपक्रम्यैकाद्येकोत्तरवृद्धाः सर्वगान्ता इत्यहनीयम् । यथा द्रुतप्लुतप्रस्तारे [० ३] तावद् गुरुमेरौ सप्तम्या ऊर्ध्वपङ्क्ततेरधःक्रमात् प्रथमकोष्ठस्थेन त्रयोविंशत्यङ्केन गुरुहीना भेदा ज्ञेयाः । द्वितीयकोष्ठस्थेन दशाङ्केनकगुरवो भेदा ज्ञेयाः । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । शेषं तु

लघुमेरुवदिति । अधःपङ्क्ततौ प्रतिनिधेः सत्त्वं, परपङ्कितेषु प्रतिनिधेरसत्त्वं सर्वाङ्कसंगतेः संख्या च ज्ञेयमित्यतिदेशार्थः ॥ -३५१-३५४ ॥

इति गुरुमेरुः

(सु०) गुरुमेरुं निरूपयति—गुरुमेराविति । अधःपङ्क्ततेः इष्टतालद्रुतप्रमाणकोष्ठकान् अधः पङ्क्तौ विधाय, परा द्वितीया पङ्कितः, तस्याः सकाशादुपरि प्रथमकोष्ठत्रयमेव^१ कर्तव्याः । अन्यासु पूर्वपङ्किततः चतुर्भिः कोष्ठकैः न्यूनाः कार्याः ।

अङ्कविन्यासप्रकारमाह—एकाङ्केति । सर्वासं पङ्क्तीनाम्, आद्याद्यकोष्ठा एकाङ्कवन्तः कार्याः । प्रथमपङ्कितगः प्रथमपङ्क्ततेः द्वितीयः कोष्ठः द्व्यङ्कवान् द्व्यङ्कमुक्तः कार्यः । प्रथमपङ्क्ततेः अन्ये कोष्ठाः, अन्त्योपान्त्यषष्ठाङ्कयोगिनः अन्त्योपान्त्यषष्ठानाम् योगाः तेषु लेखनीयाः । परासां तु द्वितीयादिषु अधः पङ्क्ततेः, तुर्याङ्कसंयुतः योगो लेखनीयः । तत्र षष्ठाङ्कस्थाने अधस्तुर्याङ्कः चतुर्थः युज्यते । अन्यासां पङ्क्तीनां द्वितीयादिकोष्ठकेषु चतुर्थाङ्काधस्तनाङ्कसहितः, अन्त्योपान्त्यषष्ठानां योगो लेख्यः । लघुस्थाने गुरुः । अन्यत् लघुमेरुवत् । प्रतिनिधेः सदसत्त्वात् अधःपङ्क्ततौ तुर्यषष्ठयोः प्रतिनिधिः, अन्यासु पङ्कितेषु नास्ति । ऊर्ध्वपङ्क्ततौ अधःकोष्ठे गुरुहीनाः, द्वितीयकोष्ठे एकगुरवः । तृतीयादिकोष्ठेषु द्व्यादिगुरवः । अन्त्यकोष्ठे सर्वगुरव इति सर्वाङ्कसंगतेः संख्यापरिज्ञानमित्यादिलघुमेरुवदज्ञेयम् ॥ -३५१-३५४ ॥

^१ द्विद्वेकाङ्कानां I ed.

^१ त्रयेण (A).

[निबर्ण] वसुधे गुरुप्लुतप्रस्तारे [५३]

गुरुसंकोष्ठकम्

| | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|-----|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ | २३ | २४ | २५ | २६ | २७ | २८ | २९ | ३० | ३१ | ३२ | ३३ | ३४ | ३५ | ३६ | ३७ | ३८ | ३९ | ४० | ४१ | ४२ | ४३ | ४४ | ४५ | ४६ | ४७ | ४८ | ४९ | ५० | ५१ | ५२ | ५३ | ५४ | ५५ | ५६ | ५७ | ५८ | ५९ | ६० | ६१ | ६२ | ६३ | ६४ | ६५ | ६६ | ६७ | ६८ | ६९ | ७० | ७१ | ७२ | ७३ | ७४ | ७५ | ७६ | ७७ | ७८ | ७९ | ८० | ८१ | ८२ | ८३ | ८४ | ८५ | ८६ | ८७ | ८८ | ८९ | ९० | ९१ | ९२ | ९३ | ९४ | ९५ | ९६ | ९७ | ९८ | ९९ | १०० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|-----|

प्लुतमेरावधःपङ्क्तयेः पञ्चकोष्ठोनिता परा ।
तत्पराः स्वस्वपूर्वातः षट्षट्कोष्ठोनिता मताः ॥३५५॥
अधःपङ्क्तौ तु षष्ठाङ्कस्थाने^१ तुयं नियोजयेत् ।

^१ स्थानं (D).^२ तृतीयोऽत्र योज्यते । इति पाठ एवोपलभ्यते आदर्श-
पुस्तकेषु fin. I ed. त्यक्त्वा नियो (D).

त्रियोगोऽयमधः षष्ठयुक्तः स्यात् परपङ्क्तिषु ॥३५६॥
प्लुतो ज्ञेयो गुरुस्थाने शेषं तु गुरुमेरुवत् ।

इति प्लुतमेरुः

| | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|-----|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ | २३ | २४ | २५ | २६ | २७ | २८ | २९ | ३० | ३१ | ३२ | ३३ | ३४ | ३५ | ३६ | ३७ | ३८ | ३९ | ४० | ४१ | ४२ | ४३ | ४४ | ४५ | ४६ | ४७ | ४८ | ४९ | ५० | ५१ | ५२ | ५३ | ५४ | ५५ | ५६ | ५७ | ५८ | ५९ | ६० | ६१ | ६२ | ६३ | ६४ | ६५ | ६६ | ६७ | ६८ | ६९ | ७० | ७१ | ७२ | ७३ | ७४ | ७५ | ७६ | ७७ | ७८ | ७९ | ८० | ८१ | ८२ | ८३ | ८४ | ८५ | ८६ | ८७ | ८८ | ८९ | ९० | ९१ | ९२ | ९३ | ९४ | ९५ | ९६ | ९७ | ९८ | ९९ | १०० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|-----|

इति प्लुतमेरुकोष्ठकम्

(क०) अथ प्लुतमेरुं लक्षयति—प्लुतमेरावित्यादि ।
अधःपङ्क्तयेः परा तदपेक्षया पञ्चकोष्ठोनिता कार्या । अत्रापि
अधःपङ्क्तिः सप्तकोष्ठिकां कृत्वा तत्परां पङ्क्तिं तस्याः
षष्ठ्यादिकोष्ठैः समानकोष्ठां लिखेत् । सात्र द्विकोष्ठा भवति ।
तत्पराः तृतीयादयः पङ्क्तयः, स्वस्वपूर्वातः द्वितीयादेः
पङ्क्तयेः । षट्षट्कोष्ठोनिता मता इति । तृतीया पङ्क्तिः
द्वितीयपङ्क्तयेः षट्कोष्ठोनिता कार्या । तथा चतुर्थी पङ्क्तिः
तृतीयपङ्क्तयेः षट्कोष्ठोनिता कार्या । एवं पञ्चम्यादीर्यथेष्टं
लिखेत् । अथाङ्कलेखनमाह—अधःपङ्क्तौ त्वित्यादि । षष्ठा-
ङ्कस्थाने तुयं नियोजयेदिति । अधःपङ्क्तौ षष्ठं त्यजेदित्यर्थः ।
शेषं तु गुरुमेरुवदित्यतिदेशेनैकाङ्कवन्त आद्याद्यकोष्ठा इति,

प्रथमपङ्क्तिगो द्वितीयो द्व्यङ्कवानिति, अधःपङ्क्तौ प्रतिनिधेः सत्त्वम् । परपङ्क्तिषु तदभावः 'संख्या सर्वाङ्कसंगतेः' (श्लो. ३५१—अत्रैव) इत्येतत्सर्वमनुसंधेयम् । तेनाधःपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठ एकाङ्कं लिखेत् । द्वितीये द्व्यङ्कं लिखेत् । तृतीये अन्त्योपान्त्ययोर्द्व्यङ्काङ्कयोर्योगं व्यङ्कं लिखेत् । चतुर्थेऽन्त्योपान्त्ययोः व्यङ्कद्वयं द्वयोस्तुर्याभावे तृतीयस्यैकाङ्कस्य च संयोगं षडङ्कं लिखेत् । पञ्चमेऽन्त्योपान्त्यतुर्याणां षट्स्थैकाङ्काणां योगं दशाङ्कं लिखेत् । षष्ठ्योऽन्त्योपान्त्यतुर्याणां दशषड्द्व्यङ्कानां योगमष्टादशाङ्कं लिखेत् । सप्तमेऽपि अन्त्योपान्त्यतुर्याणामष्टादशदशव्यङ्काणां योगमेकत्रिंशदङ्कं लिखेत् । द्वितीयस्यां परपङ्क्तौ द्वितीयकोष्ठेऽन्त्यस्यैकाङ्कस्य षष्ठाधस्तनस्यैकाङ्कस्यैव योगं द्व्यङ्कं लिखेत् । अत्र ज्ञेयमाह—प्लुतो ज्ञेयो गुरुस्थान इति । प्लुतहीनादुपक्रम्येत्याद्यूहनीयम् । तेनात्र द्रुतप्लुतप्रस्तारे [०३] तावत् प्लुतमेरौ सप्तम्यामूर्ध्वपङ्क्तेरधः क्रमात् प्रथमकोष्ठस्थेनैकोत्तरत्रिंशदङ्केन प्लुतहीना^१ भेदा ज्ञेयाः । ^२द्वितीयकोष्ठस्थेन द्व्यङ्केन एकप्लुतौ भेदौ ज्ञेयौ । एवं सर्वत्र प्रस्तारेषु द्रष्टव्यम् ॥ ३५५, ३५७-॥*†

इति प्लुतमेरुः

^१ हीना ज्ञेयाः (D).
ज्ञेयाः [?] (D).

^२ द्वितीयकोष्ठस्थाने दशाङ्केन एक गुरवो भेदा

प्लुतमेरुकोष्ठकम्

* [चिह्नरय] (एकवशात्) द्रुतगुरुप्लुतप्रस्तारे [०३३]

| | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|-----|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ | २३ | २४ | २५ | २६ | २७ | २८ | २९ | ३० | ३१ | ३२ | ३३ | ३४ | ३५ | ३६ | ३७ | ३८ | ३९ | ४० | ४१ | ४२ | ४३ | ४४ | ४५ | ४६ | ४७ | ४८ | ४९ | ५० | ५१ | ५२ | ५३ | ५४ | ५५ | ५६ | ५७ | ५८ | ५९ | ६० | ६१ | ६२ | ६३ | ६४ | ६५ | ६६ | ६७ | ६८ | ६९ | ७० | ७१ | ७२ | ७३ | ७४ | ७५ | ७६ | ७७ | ७८ | ७९ | ८० | ८१ | ८२ | ८३ | ८४ | ८५ | ८६ | ८७ | ८८ | ८९ | ९० | ९१ | ९२ | ९३ | ९४ | ९५ | ९६ | ९७ | ९८ | ९९ | १०० |
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ | २३ | २४ | २५ | २६ | २७ | २८ | २९ | ३० | ३१ | ३२ | ३३ | ३४ | ३५ | ३६ | ३७ | ३८ | ३९ | ४० | ४१ | ४२ | ४३ | ४४ | ४५ | ४६ | ४७ | ४८ | ४९ | ५० | ५१ | ५२ | ५३ | ५४ | ५५ | ५६ | ५७ | ५८ | ५९ | ६० | ६१ | ६२ | ६३ | ६४ | ६५ | ६६ | ६७ | ६८ | ६९ | ७० | ७१ | ७२ | ७३ | ७४ | ७५ | ७६ | ७७ | ७८ | ७९ | ८० | ८१ | ८२ | ८३ | ८४ | ८५ | ८६ | ८७ | ८८ | ८९ | ९० | ९१ | ९२ | ९३ | ९४ | ९५ | ९६ | ९७ | ९८ | ९९ | १०० |

० १ ०१ ०२ ०३ ०४ ०५ ०६ ०७ ०८ ०९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

त्रयोदशकोष्ठयुक्ताः चतस्रः कोष्ठपङ्कतीः ऊर्ध्वत आरभ्य लिखेत् । ततः परे दक्षिणभागे । **स्वस्वपूर्वाति द्विकोष्ठोन्ति** द्वे पङ्कती इति । अत्र प्रथमेन स्वशब्देन लेखनीया पङ्कतिरुच्यते । तस्याः पूर्वा चतुर्थी पङ्कतिस्तदपेक्षया पञ्चमी द्विकोष्ठोन्ति कार्या । तदा असौ पङ्कतिः एकादशकोष्ठिका भवति । द्वितीय-स्वशब्देन षष्ठी पङ्कतिरुच्यते । तस्याः पूर्वा पङ्कतिः पञ्चमी, तदपेक्षया षष्ठी द्विकोष्ठोन्ति कार्या । तदा असौ नवकोष्ठिका भवति । अत्र न्यूनत्वमूर्ध्वोर्ध्वकोष्ठपरित्यागेन षष्ठ्यम् । ततोऽनन्तरं द्वे पङ्कती सप्तम्यष्टम्यौ, षष्ठ्याः षष्ठपङ्कत्यपेक्षयैकोष्ठोने कार्ये । तदा ते प्रत्येकमष्टकोष्ठके भवतः । ततः अनन्तरं तिस्रो नवमीदशम्येकादश्यः पङ्कतयः, अष्टमावलेः अष्टमपङ्कत्यपेक्षया **एकोष्ठोन्ति** कार्याः । तदा ताः प्रत्येकं सप्त कोष्ठिका भवन्ति । **परचात्** अनन्तरं परे द्वादशीत्रयोदश्यौ पङ्कती, **स्वस्वपूर्वाभ्यां पङ्कतिभ्याम्** एकादशीद्वादश्यपेक्षयेत्यर्थः । **द्विद्विकोष्ठोन्ति** इति । एकादश्यपेक्षया द्वादशी द्विकोष्ठोन्ति कार्या; तदा असौ पञ्चकोष्ठिका भवति । तदा द्वादश्यपेक्षया त्रयोदश्यपि द्विकोष्ठोन्ति कार्या; तदा असौ द्विकोष्ठिका भवति । परे चतुर्दशीपञ्चदश्यौ पङ्कती । तथेति स्वस्वपूर्वाभ्यामित्यर्थः । **एकैकोन्ति** इति । त्रयोदश्यपेक्षया चतुर्दश्येकोष्ठोन्ति कार्या; तदा असौ द्विकोष्ठिका भवति । तदपेक्षया पञ्चदश्यप्येकोष्ठोन्ति कार्या; तदा असौ एककोष्ठा भवति । एवं पञ्चदश पङ्कतयो भवन्ति । ^३अतः परमेता एव यथेष्टमधो वर्धनीयाः ॥ -३५७-३६०- ॥

^१ तथा I cd.^२ त्रयोदशी I cd.^३ ततः (D).

(सु०) संयोगमेरुं निरूपयति—**संयोगमेराविति** । ऊर्ध्वःक्रमेण **इष्टतालद्रुतमितसंख्याकैः** ^१चतस्रः कोष्ठपङ्कतयः कर्तव्याः । पङ्कत्यान्तर-लेखनप्रकारमाह—ततः परे इति । ततः परंपङ्कतिषु द्वे पङ्कती पञ्चम-षष्ठपङ्कती **स्वस्वपूर्वाति** स्वकीयपूर्वपूर्वपङ्कतिषु; **द्विद्विकोष्ठोन्ति** द्वाभ्यां द्वाभ्यां कोष्ठाभ्यां न्यूनं कार्ये । ततः अनन्तरम् **षष्ठ्याः** षष्ठपङ्कतेः सकाशाद् द्वे पङ्कती; **एकोष्ठोने** प्रत्येकमेकोष्ठोने न्यूनं कर्तव्ये । सप्तमाष्टमपङ्कती इत्यर्थः । ततः अनन्तरम् **अष्टमावलेः** अष्टमपङ्कतेः सकाशात्, **तिस्रः** पङ्कतयः, नवमदशमेकादशपङ्कतयः **एकोष्ठोन्ति** कार्याः । **परचात्** अनन्तरम्, **परे** द्वे पङ्कती द्वादशी-त्रयोदश्यौ पङ्कती द्विद्विकोष्ठोन्ति, प्रत्येकं द्विद्विकोष्ठोन्ति कार्ये । **तथा परे** चतुर्दशीपञ्चदश्यौ पङ्कती, **स्वस्वपूर्वाभ्यां पङ्कतिभ्यां** एकैकोन्ति कर्तव्ये ^२ ॥ -३५७-३६०- ॥

आद्यासु चतसृषां क्रमेण सकलद्रुताः ॥ ३६० ॥

समस्तलघवः सर्वगुरवः सकलप्लुताः ।

(क०) अथोर्ध्वपङ्कतीनां द्रुतादिनियमं तत्तत्कोष्ठेषु लेखनीयाङ्गनियमं च तत्र वक्तुमारभते—**आद्यास्वित्यादिना** । आसां पञ्चदशीनां मध्ये, **आद्यासु चतसृषु** ऊर्ध्वपङ्कतिषु क्रमेण प्रथमादिक्रमेण सकलद्रुताः प्रथमपङ्कती **सकलद्रुता** भेदा ज्ञेयाः । द्वितीयपङ्कती **समस्तलघवो** भेदाः । तृतीयपङ्कती **सर्वगुरवो** भेदाः । चतुर्थपङ्कती **सकलप्लुता** भेदाः । अत्र प्रथमं तावत् सुखेन द्रुतादिपङ्कतिभेदपरिज्ञानाय पञ्चदशोर्ध्वपङ्कति-^३

^१ इष्टतालो यावत् द्रुतः तावत्संख्यैः कोष्ठकैः युतास्ताः कार्याः (A).^२ संयोगमानयोगजभेदात्तां पञ्चदशाधिकत्वाभात् पञ्चदश पङ्कतिनैव संयोग-मेरुर्भवति (B).^३ पङ्कतिपूर्व प्रथमादि I cd.

‘कोष्ठकेषु ऊर्ध्वं प्रथमादिक्रमेण द्रुतादीन्, तद्द्वियोगं त्रियोगं चतुर्योगं च लिखेत् । प्रथमायां द्रुतम्, द्वितीयायां लघुम्, तृतीयायां गुरुम्, चतुर्थ्यां प्लुतम्, पञ्चम्यां दलो, षष्ठ्यां दगौ, सप्तम्यां दपौ, अष्टम्यां लगौ, नवम्यां लपौ, दशम्यां गपौ, एकादश्यां दलगान्, द्वादश्यां दलपान्, त्रयोदश्यां च दगपान्, चतुर्दश्यां दलगपान्, पञ्चदश्यां दलगपांश्च दक्षिणसंस्थान् लिखेत् । आस्वे-
बोर्ध्वपङ्क्तिषु त्रयोदशतिर्यक्पङ्क्तयः संभवन्ति । ‘तावद् द्रुतोऽत्र तालः स्यात्पङ्क्तिर्यावत्तिथी तिरः’ (श्लो. -३७६-अत्रैव)
इति वक्ष्यमाणत्वात् तिर्यक्पङ्क्तिषु तालभेदपरिज्ञानाय तत्पङ्क्तिवामभागे तूपरिष्ठादारभ्यैकैकद्रुतवर्धितान् द्रुतादीन् ताल-
भेदान् लिखेत् । प्रथमे तिर्यक्पङ्क्तौ द्रुतम्, द्वितीयस्यां लघुम्, तृतीयस्यां लघुद्रुतौ, चतुर्थ्यां गुरुम्, पञ्चम्यां गुरुद्रुतौ, षष्ठ्यां प्लुतम्, सप्तम्यां प्लुतद्रुतौ, अष्टम्यां प्लुतलघू, नवम्यां प्लुतलघुद्रुतान्, दशम्यां प्लुतगुरू, एकादश्यां प्लुतगुरुद्रुतान्, द्वादश्यां प्लुतौ, त्रयोदश्यां प्लुतौ द्रुतं च, वामसंस्थान् लिखेत् ।
तत्रोर्ध्वपङ्क्तिष्वानेव पङ्क्तिः ॥ -३६०-३६१- ॥

(सु०) प्रथमपङ्क्तिचतुष्टये ज्ञेयमाह—आद्यास्त्विति । आसां पङ्क्तीनां मध्ये, आद्यासु चतसृषु ऊर्ध्वपङ्क्तिषु, क्रमेण सकलद्रुता सकलद्रुतादयो भेदा ज्ञातव्याः । प्रथमपङ्क्तौ सकला द्रुता भेदाः, द्वितीय-
पङ्क्तौ सकला लघवाः, तृतीयपङ्क्तौ सकला गुरवः, चतुर्थपङ्क्तौ सकलाः प्लुता भेदाः इति ॥ -३६०-३६१- ॥

एकाङ्क्युक्तनिःशेषकोष्ठाद्या स्यात् परा पुनः ॥ ३६१ ॥

खयुक्तैर्विषमैः कोष्ठैः ‘समैस्त्वेकाङ्कसंयुतैः ।

कर्तव्या गुरुपङ्क्तेस्तु त्रयः कोष्ठा नभोऽन्विताः ॥ ३६२ ॥

तुर्यं एकाङ्कवानेवं चतुष्कोष्ठाः परा अपि ।

(क०) एकाङ्क्युक्तनिःशेषकोष्ठाद्या स्यादिति । तस्याः त्रयोदशसु कोष्ठेष्वेकाङ्कानेव लिखेत् । परा पुनरिति । द्वितीया तु विषमैः प्रथमतृतीयपञ्चम्यादिभिः कोष्ठैः, खयुक्तैः बिन्दु-
युक्तैः, समैस्तु द्वितीयचतुर्थषष्ठ्यादिभिः कोष्ठैस्तु एकाङ्कसंयुतै-
रुपलक्षिता कर्तव्येति । द्वितीयपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे बिन्दुम् ।
द्वितीयकोष्ठे एकाङ्कम् । तृतीयकोष्ठे बिन्दुं, चतुर्थकोष्ठेऽप्ये-
काङ्कमित्येवमेकान्तरितत्वेन लिखेत् । गुरुपङ्क्तेस्त्विति । तृतीय-
पङ्क्तेस्त्वाद्यास्तत्रयः कोष्ठा नभोऽन्विताः बिन्दुयुक्ताः कर्तव्याः ।
तुर्यश्चतुर्थः कोष्ठे एकाङ्कवान् । एवं परा अपि चतुष्कोष्ठा
इत्यत्र वीप्सा द्रष्टव्या । तेन तुर्याष्टमद्वादशषोडशादीन् बिन्दु-
कोष्ठान्तरितत्वेनैकाङ्कयुक्तान् लिखेदित्यर्थः ॥ -३६१, ३६३- ॥

(सु०) एतासु चतसृषु पङ्क्तिषु अङ्कविन्यासप्रकारमाह—
एकाङ्केति । एकाङ्क्युक्तनिःशेषकोष्ठा इति—एकाङ्केन युक्तानि
निःशेषाणि सर्वाणि कोष्ठानि यस्याः । एवंविधा आद्या पङ्क्तिर्भवेत् ।
परा द्वितीया पङ्क्तिः पुनः, विषमैः प्रथमतृतीयपञ्चमादिकोष्ठकैः,
खयुक्तैः शून्ययुक्तैः, समैः कोष्ठैः द्वितीयतुर्यषष्ठ्यादिकोष्ठकैः, एकाङ्कसंयुतैः
उपलक्षिता भवेत् । तृतीयाया गुरुपङ्क्तेः त्रयः कोष्ठा नभोऽन्विताः
त्रयस्तत्रयः कोष्ठा नभसा शून्येन अन्विताः युक्ताः कर्तव्याः । तुर्यः
चतुर्थकोष्ठः, एकाङ्कवान् एकाङ्कयुक्तः कार्यः । एवं परा अपि

चतुष्कोष्ठयः चतुर्णां कोष्ठानां समाहारः चतुष्कोष्ठयः, तत्र त्रिषु कोष्ठेषु शून्ययुक्ताः, चतुर्थं तु एकाङ्कयुक्ता इत्यर्थः ॥ -३६१-३६३- ॥

प्लुतपङ्क्तौ सशून्याः स्युः पञ्च षष्ठस्तु रूपवान् ॥ ३६३ ॥

^१ षट्कोष्ठास्तद्वदन्ये स्युः षट्सु पङ्क्तिष्वनन्तरम् ।

द्वियोगजाः क्रमाद्देवा दलघू दगुरुद्वयो ॥ ३६४ ॥

लग्नौ लग्नौ गणौ चेति तदङ्कप्रक्रिया^२ त्वियम् ।

(क०) प्लुतपङ्क्ताविति । चतुर्थपङ्क्तावाद्याः पञ्च कोष्ठाः सशून्याः सविन्दवः स्युः । षष्ठः कोष्ठस्तु रूपवान्; रूपमिति गणकपरिभाषया एकमुच्यते । यथा 'रूपग्रसप्त-विंशतिः' इति तेषां वाक्येऽभिधानात् । तेनैकाङ्कवानित्यर्थः । अन्ये षट्कोष्ठास्तद्वत्स्युरिति । षष्ठद्वादशाष्टादशादीनेकाङ्कवतो लिखेत् । इतरान् बिन्दुयुक्तान् लिखेदित्यर्थः । षट्सु पङ्क्तिष्वनन्तरमिति ग्रन्थो व्याख्यातचरः । तामु षट्पङ्क्तिष्वङ्कलेखन-प्रकारं वक्तुमाह—तदङ्कप्रक्रियेति ॥ -३६३-३६५- ॥

(मु०) चतुर्थ्यां प्लुतपङ्क्तौ पञ्च आद्याः कोष्ठाः सशून्याः शून्यसहिताः कार्यः । षष्ठस्तु षष्ठः कोष्ठः रूपवान् एकाङ्कयुक्तः कार्यः । अन्या अपि षट्कोष्ठयः अपरेऽपि षट् कोष्ठाः तद्वत्; पञ्चसु कोष्ठेषु शून्ययुक्ताः, षष्ठे कोष्ठके एकाङ्कयुक्ता इत्यर्थः । अनन्तरं षट्सु पङ्क्तिषु द्वियोगजा^३ भेदाः क्रमात् ज्ञेयाः । दलघू द्रुतलघू पञ्चम्यां पङ्क्तौ; दगुरू द्रुतगुरू षष्ठ्यां पङ्क्तौ; दपो द्रुतप्लुतौ सप्तम्यां पङ्क्तौ; लग्नौ लघुगुरू

अष्टम्यां पङ्क्तौ; लग्नौ; लघुप्लुतौ नवम्यां पङ्क्तौ; गणौ गुरुप्लुतौ दशम्यां पङ्क्ताविति । एतासु पञ्चम्यादिषु षट्सु पङ्क्तिषु अङ्क-विन्यासप्रकारं प्रतिज्ञाय शेषपूर्वकमाह—तदङ्केति ॥ -३६३-३६५- ॥

अत्रोपरिष्ठादारभ्य स्यादधोऽधोऽङ्कलेखनम् ॥ ३६५ ॥

अन्त्यपूर्वद्वितीयाङ्कतुर्यषष्ठास्तथा क्रमात् ।

योज्या दलगणेषु स्युस्तेषु तद्योगजा भिदाः ॥ ३६६ ॥

पङ्क्तौ तदङ्कयोगाङ्कं तत्कोष्ठे संभवांलिखेत् ।

(क०) अत्राङ्कलेखने पूर्वमेवभ्यः प्रकारभेदं दर्शयति—अत्रोपरिष्ठादारभ्येति । ^२अन्त्यपूर्वेत्यादि । अन्त्यपूर्वद्वितीयाद्याः, अन्त्यद्वितीयतुर्यषष्ठाङ्काः क्रमाद्योज्या इति [०।।५।५] अयमर्थः—अत्र पञ्चम्यां पूर्वपङ्क्तावन्यपूर्वस्तुर्यो योज्यः [०।] । षष्ठ्यामूर्ध्वपङ्क्तावन्यपूर्वद्वितीयो योज्यः [०५] । सप्तम्यामन्त्यपूर्वः षष्ठः [०५] । अष्टम्यां द्वितीयपूर्वस्तुर्यः [१५] । नवम्यां द्वितीयपूर्वः षष्ठः [१५] । दशम्यां तुर्यपूर्वः षष्ठः [५५] । तथा तद्योगजा भिदाः । अन्त्यादियोगजा भेदाः । तेषु दलगणेषु दलगणपङ्क्तिष्वङ्कलेखने । क्रमाद्योज्याः स्युरिति । यथायोगं योजनीया इत्यर्थः । पङ्क्ताविति । पञ्चम्यादिपङ्क्तौ तदङ्क-योगाङ्कं पूर्वाक्तं तत्तदङ्कयोगनिष्पन्नमङ्कम् । तत्कोष्ठे इति । तत्तत्पङ्क्तिष्वङ्कलेखने । संभवांलिखेदिति । संभवशब्दार्थस्तुतरत्र प्रपञ्चयिष्यते । सोऽपि तत्रैवावगन्तव्यः ॥ -३६५-३६७- ॥

^१ षट्कोष्ठय (मु०)

^२ प्रक्रियान्वितम् (D).

^३ द्वितीययोगजा (B).

^१ यद्योगजा (मु०).

^२ अन्त्यपूर्वो द्वितीयाङ्कतुर्यषष्ठाः क्रमाद्योज्याः (D).

(सु०) उपरिष्ठात् आरभ्य अशोषः अङ्का लेखनीयाः ।
अन्त्यपूर्वति । अन्त्यः पूर्वा येषां ते अन्त्यपूर्व, तथाविधाः । द्वितीयाङ्क-
तुर्यषष्ठाः बलगणेषु द्रुतलघुगुरुप्लुतेषु यथाक्रमं योज्याः । द्रुते अन्त्याङ्कः,
लघो द्वितीयाङ्कः, गुरो तुर्यः, प्लुते षष्ठ इति । तेषु यद्योगजा भिदाः
यद्योगात् जाता भेदाः, तेषामङ्कानां योगम्; पङ्कतौ पञ्चम्यादिपङ्कतौ,
तदङ्कयोगाङ्कं पूर्वोक्ततत्तदङ्कयोगनिष्पन्नमङ्कम्, तत्कोष्ठे तत्तत्पङ्कति-
कोष्ठे, यथासंभवं लिखेत् । द्रुतलघुपङ्कतौ अन्त्यद्वितीययोगः, द्रुतगुरुपङ्कतौ
अन्त्यतुर्ययोगः, द्रुतप्लुतपङ्कतौ अन्त्यषष्ठयोगः, लघुगुरुपङ्कतौ द्वितीय-
तुरीययोगः, लघुप्लुतपङ्कतौ द्वितीयषष्ठयोगः, गुरुप्लुतपङ्कतौ चतुर्थ-
षष्ठयोग इति ॥ -३६५-३६७- ॥

लेख्यपङ्कत्युपरिश्रेणी या तिरश्ची तदाश्रिताः ॥ ३६७ ॥

^१अङ्का दलगपानां स्युराद्यपङ्कतिचतुष्टये ।

तेषु प्रस्तुत^२भेदस्थद्रुतादिव्यक्तिसंश्रितान् ॥ ३६८ ॥

अङ्कान् गृहणीत तेऽप्य^३न्त्यद्वितीयाद्या द्रुतादिषु ।

प्रस्तुतेषु विपर्यस्ताः स्युरङ्कासंभवे तु खम् ॥ ३६९ ॥

(क०) लेख्यपङ्कतीत्यादि । आद्यपङ्कतिचतुष्टय
ऊर्ध्वभूते दलगपपङ्कतिचतुष्टये तिरश्ची वा लेख्यपङ्कत्युपरि-
श्रेणीत्यनेन लेख्यपङ्कतेरपि तिरश्चीत्वं मन्तव्यम् । तदाश्रिताः
उपरिश्रेणीमाश्रिता ये दलगपानामङ्काः स्युः तेऽवच्छेषे । प्रस्तुत-
भेदस्थद्रुतादिव्यक्तिसंश्रितानिति । प्रस्तुतभेदा दलादिद्वियोगजाः
तत्रस्था द्रुतादयः, तेषां व्यक्तीः संश्रिता इति तथोक्ताः
तानङ्कान् गृहणीत । तेऽपीति आद्यपङ्कतिचतुष्टयगतद्रुतादि-
व्यक्तिसंश्रिता अङ्काः प्रत्यवमृश्यन्ते तच्छब्देन; अपिशब्दः

समुच्चयार्थो भिन्नक्रमश्च । अन्त्यद्वितीयाद्या इति । द्रुतादिषु
द्वियोगभवेषूपक्रान्तेषु सप्तम् । विपर्यस्ता इति । परस्परं व्यवहित-
पङ्कतिकोष्ठस्था इत्यर्थः । लेख्यपङ्कत्युपरिश्रेणीत्यत्र संनिहि-
ताया एव पङ्कतेर्विवक्षितत्वात् तद्विपर्यासोऽत्र व्यवहितत्वम् ।
तेन यथाभूता अप्यङ्काः क्वचिदव्यवधानासंभवेऽपि योज्या स्युः ।
अङ्कासंभवे त्विति । संनिहितोपरिपङ्कतिगतानां विपर्यस्तानां
वा प्रस्तुतद्रुताद्यङ्कानामसंभवे सति तु खं लिखेत् । उक्तप्रकारेण
द्वियोगपङ्कतिकोष्ठेष्वङ्कलेखनमुच्यते । तत्र दलपङ्कताबाद्यकोष्ठे
तदूर्ध्वतियक्पङ्कतिगतदलाङ्कौ संयोज्य द्व्यङ्कं लिखेत् । द्वितीय-
कोष्ठेऽन्यं द्व्यङ्कमुपरिपङ्कतिगतद्रुताङ्कस्यैव संभवात्तेन संयोज्य
व्यङ्कं लिखेत् । तृतीयकोष्ठेऽन्योपात्तौ त्रिद्व्यङ्कानुपरिपङ्कतौ
दलाङ्कयोः संभवात्ताभ्यां संयोज्य सप्ताङ्कं लिखेत् । एवं सर्वत्र
संभवशब्दार्थो द्रष्टव्यः ।

चतुर्थादिकोष्ठेष्वन्योपात्तौ यथासंभवं दलाङ्काभ्यां
संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेत् । एवं चतुर्थकोष्ठे एकादशाङ्कम् ।
पञ्चमकोष्ठे विंशत्यङ्कम् । षष्ठकोष्ठे द्वाविंशदङ्कम् । सप्तम-
कोष्ठे चतुष्पञ्चाशदङ्कम् । अष्टमकोष्ठे सप्ताशीत्यङ्कम् ।
नवमकोष्ठे त्रिचत्वारिंशदुत्तरशताङ्कम् । दशमकोष्ठे एकत्रिंश-
दुत्तरद्विशताङ्कम् । एकादशे कोष्ठे षट्सप्तत्युत्तरत्रिंशत्यङ्कं च
लिखेत् । अथ दगपङ्कतौ प्रथमकोष्ठे तदूर्ध्वतियक्पङ्कतिगतदगा-
ङ्कावादाय द्व्यङ्कं लिखेत् । द्वितीयकोष्ठेऽन्यं द्व्यङ्कमुपरि-
पङ्कतिगतद्रुताङ्केन संयोज्य व्यङ्कं लिखेत् । तृतीयादिकोष्ठेषु
यथासंभवमन्यतुर्याङ्कौ यथासंभवमुपरिपङ्कतिगतदगाङ्काभ्यां

^१ येऽङ्का (D).

^२ भेदस्त् (D).

^३ न्त (D).

संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेत् । एवं तृतीयकोष्ठे चतुरङ्कम् ।
चतुर्थकोष्ठे पञ्चाङ्कम् । पञ्चमकोष्ठे नवाङ्कम् । षष्ठकोष्ठे
त्रयोदशाङ्कम् । सप्तमकोष्ठेऽष्टादशाङ्कम् । अष्टमकोष्ठे चतु-
विंशत्यङ्कम् । नवमकोष्ठे पञ्चत्रिंशदङ्कं च लिखेत् ।

अथ द्रुतप्लुतपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे 'लेख्यपङ्क्त्युपरिश्रेणीषु
संनिहितायां वा व्यवहितासु वा व्यस्तेषु दलगपाङ्कषु द्रुताङ्कस्य
सद्भावेऽपि क्वचिदपि प्लुताङ्काभावेन दपाङ्कयोगासंभवेन,
'अङ्कासंभवे तु खम्' (श्लो. -३६६ अत्रैव) इति वचनाद्
बिन्दुमेव लिखेत् । द्वितीयकोष्ठे तूपरिपङ्क्तिगतदपाङ्कौ संयोज्य
द्व्यङ्कं लिखेत् । तृतीयादिकोष्ठेषु यथासंभवमन्यषष्ठी यथा-
संभवमुपरिपङ्क्तिगतताभ्यां दपाङ्काभ्यां संयोज्य तत्तदङ्कं
लिखेत् । एवं तृतीयकोष्ठे व्यङ्कम् । चतुर्थकोष्ठे चतुरङ्कम् ।
पञ्चमकोष्ठे पञ्चाङ्कम् । षष्ठकोष्ठे षडङ्कम् । सप्तमकोष्ठे
सप्ताङ्कम् । अष्टमकोष्ठे एकादशाङ्कं च लिखेत् । अथ लग-
पङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे संनिहितायामुपरिपङ्क्तौ लगाङ्कयो-
रभावात् तदुपरि व्यवहितपङ्क्तिगतलगाङ्कावादाय द्व्यङ्कं
लिखेत् । अयमेव विपर्यस्तशब्दार्थो वेदितव्यः ।

द्वितीयकोष्ठे त्वन्त्यस्य 'द्व्यङ्ककस्यात्रानुपादेयत्वात् संनि-
हितोपरिपङ्क्तौ लघ्वङ्कसद्भावेऽपि गुर्वङ्काभावाद्व्यवहितो-
परिपङ्क्तिगतगुर्वङ्कस्य अस्यां लगपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठोपयुक्त-
त्वेन पुनर्ग्राह्यत्वाभावात् प्रस्तुतलगाङ्कयोगासंभवेन पूर्ववद्

१ छ. लेख्यम् । पङ्क्त्युपरि० fn. I ed.

२ द्व्यङ्कस्य संनिहितो I ed.

बिन्दुमेव लिखेत् । तृतीयकोष्ठे तूपान्त्यं द्व्यङ्कं व्यवहितोपरि-
पङ्क्तिगतलघ्वङ्केन संयोज्य व्यङ्कं लिखेत् । चतुर्थादिसप्त-
कोष्ठेषु क्वचिदुपरिपङ्क्तौ लगाङ्कयोगासंभवेऽपि पङ्क्तावुप-
क्रान्तोपान्त्ययुग्माभावात् तत्तत्तिर्यक्पङ्क्तिवामभागपादलिखित-
द्रुतलघुप्लुतात्मकादिविषमद्रुततालप्रस्तारेषु केवललगयुक्तभेदा-
संभवाच्च बिन्दून्नेव लिखेत्* । (१पञ्चमादिषु विषमकोष्ठेषु
उपान्त्यतुर्गै यथासंभवं तत्तदुपरिपङ्क्तिगतलगाङ्काभ्यां संयोज्य
तत्तदङ्कं लिखेत् ।) अथ लपपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे तदुपरिपङ्क्तौ
लपाङ्कासंभवेऽपि तत्तिर्यक्पङ्क्तिवामभागलिखितं तत्तद्द्रुत-
प्लुतात्मकतालस्य प्रस्तारे लघुप्लुतयुक्तभेदासंभवाद् बिन्दुं
लिखेत् । द्वितीयकोष्ठे तादृशतालभेदसंभवाद्विपर्यस्तौ लपाङ्का-
वादाय द्व्यङ्कं लिखेत् । एवं संभवासंभवशब्दयोरर्थप्रपञ्चो
वेदितव्यः ।

तृतीयादिविषमकोष्ठेषूपान्त्यषष्ठयोरभावात् तत्ताल-
प्रस्तारेषु तादृशभेदासंभवाच्च बिन्दून्नेव लिखेत् । चतुर्थादिसप्त-
कोष्ठेषु यथासंभवमुपान्त्यषष्ठी यथासंभवं लपाङ्काभ्यां
संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेदिति । तृतीयकोष्ठे बिन्दुम् । चतुर्थ-
कोष्ठे व्यङ्कं, पञ्चमकोष्ठे बिन्दुं, षष्ठकोष्ठे चतुरङ्कं, सप्तम-
कोष्ठे बिन्दुं च लिखेत् । अथ गपपङ्क्तौ प्रथमादिषु कोष्ठेषु
पूर्ववत् तत्तालेषु तादृशभेदासंभवाद्विन्दून्नेव लिखेत् । चतुर्थ-

* एतदग्रे किञ्चित् वृद्धिं स्यात् fn. I ed.

लिखेत्) (इति पाठः अधिकं वर्तते) (D).

१ (पञ्चमादिषु ...

२ ख. तद्द्रुत fn. I ed.

३ प्लुतभेदा I ed.

कोष्ठे तादृशतालभेदसंभवादुपरिपङ्क्तिषु विपर्यस्तौ गपाङ्का-
वादाय 'द्वचङ्क' लिखेत् । पञ्चमादिषु त्रिषु कोष्ठेषु पूर्ववत्
तालभेदासंभवाद्विन्दून् लिखेत् । अष्टमद्वादशादिषु व्यन्तरितेषु
कोष्ठेषु यथासंभवं तुर्यषष्ठी, यथासंभवं विपर्यस्ताभ्यामपि
गपाङ्काभ्यां संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेत् । इत्यष्टमकोष्ठे चतुरङ्कं
लिखेत्^१ ॥ -३६७-३६९ ॥

(सु०) कुत्रत्या^३ अन्त्यद्वितीयाद्या ग्राह्या इत्यपेक्षायामाह—
लेख्येति । लेख्या या पङ्क्तिः तस्या उपरिश्रेणी या उपरि पङ्क्तिः
तिरश्चो विद्यते, तामाश्रिताः ये अङ्काः द्रुतलघुगुरुप्लुतानां स्युः । आद्ये
पङ्क्तिचतुष्वे ऊर्ध्वकोष्ठगतेषु द्रुतादीनामङ्केषु मध्ये प्रस्तुता ये भेदाः
द्रुतलघुगुरुप्लुतयुक्ता आदिः तत्र स्थिता ये द्रुतादयः तेषां पङ्क्तिः,
तद्वचञ्जकप्रथमपङ्क्त्यादिः, तत्संश्रितान् अङ्कान् गृह्णीत । ततश्च
द्रुतलघुपङ्क्तौ प्रथमद्वितीयपङ्क्तयोः अङ्का ग्राह्याः । द्रुतगुरुपङ्क्तौ प्रथम-
तृतीयपङ्क्त्योरङ्का ग्राह्याः । द्रुतप्लुतपङ्क्तौ प्रथमचतुर्थपङ्क्त्योरङ्का
ग्राह्याः । लघुगुरुपङ्क्तौ द्वितीयतृतीयपङ्क्त्योरङ्का ग्राह्याः । लघुप्लुत-
पङ्क्तौ द्वितीयचतुर्थपङ्क्त्योरङ्का ग्राह्याः । गुरुप्लुतपङ्क्तौ तृतीय-
चतुर्थपङ्क्त्योरङ्का ग्राह्याः इति । अङ्कग्रहणे विशेषमाह—तेऽपेति ।
तेऽपि अन्त्यद्वितीयाद्या अङ्काः, प्रस्तुतेषु द्रुतादिषु विपर्यस्ताः विपरीता
भवेयुः । द्रुतलघुपङ्क्तौ आद्यायाः द्रुतपङ्क्तः अन्त्ये ग्राह्याः; द्वितीय-
स्याश्च लघुपङ्क्तः उपान्त्ये ग्राह्ये सति विपर्ययः । द्वितीयपङ्क्तेरन्त्यः,
प्रथमपङ्क्तेरुपान्त्य इति । एवमन्यास्वपि पङ्क्तिषु विपर्ययो बोद्धव्यः ।
अङ्कासंभवे अङ्कानामसंभवे तु खं शून्यं लेखनीयम् ॥ -३६७-३६९ ॥

त्रियोगजाश्च ये भेदाश्चतुर्योगभवश्च^४ यः ।

तत्पङ्क्तौनामपि ज्ञेयमेवमेवाङ्कपूर्णम् ॥ ३७० ॥

^१ ख. स्वङ्कं fn. I ed.

^२ (अथ संभवासंभवौ (?) ॥) I ed.

^३ कुत्रत्या (A).

^४ भवास्य ये (D).

किंतु 'त्रियोगजे भेदे ये त्रयः स्युर्द्वियोगजाः ।

तेषां संनिहिताद्यानां प्रागुक्तोऽङ्कविपर्ययः ॥ ३७१ ॥

(क०) अथ दलगपङ्क्त्यादित्रियोगपङ्क्तिषु चतसृष्वे-
कस्यां चतुर्योगपङ्क्तौ चाङ्कलेखनमतिदिशति—त्रियोगजाश्चे-
त्यादिना । अत्र संभवासंभवौ विपर्यासश्चातिदेशार्थं । पृथ-
गभिधाने विशेषं दर्शयति—किन्त्वित्यादिना । त्रियोगजभेदे
प्रत्येकं ये द्वियोगजास्त्रयो भेदाः संभवन्ति । संनिहिताद्यानां
तेषामिति । संनिहित आद्यो येषां ते तथोक्ताः । अत्र संनिहित-
शब्देन^२ प्रतियोग्यनुपादानेऽपि प्रकरणादङ्क एव प्रतियोगी
गम्यते, अङ्कसंनिहित इति । अयमर्थः—द्वियोगपङ्क्तिषु ये
त्रयः प्रथमकोष्ठ एको वा सशून्याः संभवन्ति, त्रयः तान्विहाया-
नन्तराङ्कवानेव कोष्ठः प्रथमत्वेन ग्राह्यः । ततः परमशून्या
अपि द्वितीयत्वादिना गणनीया इति किंचिद् द्वियोगजा एव
योज्याः, न त्वेकैका इत्यपि विशेषः ।

अङ्कविपर्ययस्तु प्रागुक्त एव । एतदुक्तं भवति । त्रियोगज-
पङ्क्तिष्वङ्कनीयकोष्ठसमानसंख्यकोष्ठगतान् संभवत्तत्तद्वि-
योगजपङ्क्तिष्वङ्कानादाय तैः सहान्त्यादीन् यथोचितं संयोज्य
तत्तदङ्कं लिखेत् । एवमुक्तरीत्या दलगपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे
दलदलगपङ्क्तिषु [०१, ०९, १५] परिक्रमेण प्रथमकोष्ठगतान्
त्वीन्द्रचङ्कानादाय षडङ्कं लिखेत् [२+२+२=६] । द्वितीय-
कोष्ठेऽन्त्यं षडङ्कं दलदलगपङ्क्तिद्वितीयकोष्ठगताभ्यां व्यङ्काभ्यां

^१ द्वियोगजा भेदा ये त्रयः स्युर्द्वियोगजाः (D).

^२ शब्दे प्रति I ed.

^३ ख. लगप (?) fn. I ed.

संयोज्य द्वादशाङ्कं लिखेत् । ^१लगपङ्क्तौ द्वितीयकोष्ठस्य सशून्यत्वादङ्काभावः [६+३+३+०=१२] । तृतीयादिकोष्ठेष्वन्त्योपान्त्यतुर्यानिङ्कनीयकोष्ठसमानसंख्यकोष्ठगतैः संभवद्भिर्द^२लदगलगपङ्क्त्यङ्कैः संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेत् । एवं तृतीयकोष्ठे द्वात्रिंशदङ्कं लिखेत् [१२+६+७+४+३=३२] । चतुर्थकोष्ठे षष्ठ्यङ्कम् [३२+१२+११+५+०=६०] । पञ्चमकोष्ठे चतुस्त्रिंशदुत्तरशताङ्कम् [६०+३२+६+२०+६+७=१३४] । षष्ठकोष्ठे एकपञ्चाशदुत्तरद्विशताङ्कम् [१३४+६०+१२+३२+१३+०=२५१] । सप्तमकोष्ठे पञ्चशत्यङ्कं च लिखेत् [२५१+१३४+३२+५४+१६+११=५००] । अथ दलपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे दलपङ्क्तिप्रथमकोष्ठगतं द्व्यङ्कं दलपङ्क्तिप्रथमकोष्ठयोः सशून्यत्वात्तत्तद्वितीयकोष्ठगतौ द्व्यङ्कौ च आदाय षडङ्कं लिखेत् [०१, ०३, १३] [२+२+२=६] । 'संहिताद्यानाम्' (श्लो. - ३७१ अत्रैव) इति वचनेनात्ताङ्कवानेव कोष्ठः प्रथमत्वेन गृह्यत इत्युक्तत्वाद् द्वितीयकोष्ठेऽन्त्यं षडङ्कं 'दलदपङ्क्ति-द्वितीय (तृतीय) कोष्ठगताभ्यां व्यङ्काभ्यां संयोज्य द्वादशाङ्कं लिखेत् । लपपङ्क्तौ द्वितीयस्य[?] [तृतीयस्य] सशून्यत्वादङ्कासंभवः [६+३+३+०=१२] ।

एवं तृतीयादिषु कोष्ठेषु यथासंभवमन्त्योपान्त्यषष्ठान् यथासंभवं तत्तद्वियोगपङ्क्तिष्वङ्कनीयकोष्ठसमानसंख्यकोष्ठ-

गतैरङ्कैः संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेत् । एवं तृतीयकोष्ठे द्वात्रिंशदङ्कम् [१२+६+७+४+३=३२] । चतुर्थकोष्ठे षष्ठ्यङ्कम् [३२+१२+११+५+०=६०] । पञ्चमकोष्ठे द्वाविंशत्युत्तरशताङ्कं लिखेत् । [६०+३२+२०+६+४=१२२] । अथ लगपपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे पूर्वोक्तप्रकारेण षडङ्कम् [०५, ०३, ५३] [२+२+२=६] । द्वितीयादिकोष्ठेषु यथासंभवमन्त्यतुर्यषष्ठान् यथासंख्यं तत्तद्वियोगपङ्क्तिगतकोष्ठाङ्कैर्यथासंभवं संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेत् । एवं द्वितीयकोष्ठे द्वादशाङ्कम् [६+३+३+०=१२] । तृतीयकोष्ठे विंशत्यङ्कं लिखेत् [१२+४+४+०=२०] । अथ लगपपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे लगपङ्क्तिप्रथमकोष्ठलपपङ्क्तिद्वितीयकोष्ठगपपङ्क्तिचतुर्थकोष्ठस्थितान् द्व्यङ्कानादाय षडङ्कं लिखेत् [१५, १३, ५३] [२+२+२=६] । द्वितीयादिसमकोष्ठेष्वन्त्यस्य सद्भावेऽपि तस्यान्तानुपादेयत्वादुपान्त्यतुर्यषष्ठानामुपादेयत्वेऽप्यसंभवात् तत्तद्वियोगपङ्क्तिष्वेतत्कोष्ठसमसंख्यकोष्ठेष्वङ्कसंभवात् तत्तत्तियं पङ्क्तिवामभागलिखिततालप्रस्तारेषु केवललगपयुक्ततालभेदासंभवाच्च बिन्दून्नेव लिखेत् । एवं द्वितीयकोष्ठे बिन्दुं तृतीयादिविषमकोष्ठेषु यथासंभवमुपान्त्यतुर्यषष्ठान् यथासंख्यं तत्तद्वियोगविषमकोष्ठाङ्कैर्यथासंभवं संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेत् ॥ ३७०, ३७१ ॥

(सु०) द्वितीयपङ्क्तावुक्तमङ्कप्रकारमन्यासु पङ्क्तिष्वतिदिशति—त्रियोगजा इति । ये त्रियोगजा भेदाः ये त्रियोगजाश्चत्वारो भेदाः, यश्च चतुर्योगभवश्च यश्च एकश्चतुर्योगजः, तत्पङ्क्तौनामपि, अनेन प्रकारेण अङ्कपूर्णं कर्तव्यम् । अयं तु विशेषः—त्रियोगजेषु भेदेषु ये

^१ लगपङ्क्तौ I ed. ^२ लगदगपङ्क्ति (?) I ed. ख. लदगलगपङ्क्ति

fin. I ed. ^३ दलपपङ्क्ति [?] I ed.

द्वियोग्या भेदाः सन्ति, तेषां **संनिहिताद्यानां** संनिहितमादितः कृत्वा पूर्वब-
दङ्कः कर्तव्यः । द्रुतलघुगुरुविपर्ययप्रयोगपङ्क्तौ अन्त्योपास्त्यतुरीया
ग्राह्याः । अत्र एतद् द्वियोगी भेदद्वयं, द्रुतलघ्वोः द्रुतगुर्वोः लघुगुर्वीनित-
पङ्क्तीनामन्त्योपास्त्यतुर्याः विपर्ययेण ग्राह्याः ॥ ३७०, ३७१ ॥

चतुर्योगे तु चत्वारो ये स्युर्भेदास्त्रियोगजाः ।

तदङ्गेष्वेव पूर्वोक्तं स्याद्विपर्ययसंयोजनम् ॥ ३७२ ॥

ये चत्वारस्त्रियोगोत्थाश्चतुर्योगोत्थपञ्चमाः ।

भेदास्ते पङ्क्तिषु ज्ञेयाः क्रमादन्त्यासु ^१पङ्क्तिषु ॥३७३॥

दलगा दलपाश्चैव दगल्ल लगपाः क्रमात् ।

त्रियोगजाश्चतुर्योगोद्भवा दलगपा इति ॥ ३७४ ॥

एष संयोगमेवः स्यादतो ज्ञेयमथोच्यते ।

तिर्यक्पङ्क्तिस्थकोष्ठाङ्गुस्तैस्तैः सर्वद्रुतादयः ॥ ३७५ ॥

ऊर्ध्वपङ्क्तिगता मेयास्तदभावस्तु शून्यतः ।

तावद् द्रुतोऽत्र तालः स्यात् पङ्क्तिर्यावत्तिथीतिरः ॥३७६॥

उपरिष्ठात् समारभ्य संख्या पङ्क्त्यङ्क^२संगतेः ।

इति संयोगमेवः

^१ पञ्चसु (सु०)

² ख. ग. संयुते: fn. I ed. संयुतात् (सु०)

संयोगमैरुकोष्ठकम्

| | | | | |
|-----------|----|---|---|------------------|
| [०] | ० | १ | २ | ३ |
| १ | १ | ० | ० | = १ |
| [१] | २ | १ | ० | ० १ = २ |
| [०१] | ३ | १ | ० | ० ० २ = ३ |
| [२] | ४ | १ | १ | ० ३ = ४ |
| [०२] | ५ | १ | ० | ० ० २ = ५ |
| [१२] | ६ | १ | ० | ० १ १ = ६ |
| [०१२] | ७ | १ | ० | ० ० १ ३ = ७ |
| [०२३] | ८ | १ | १ | ० ० १ २ = ८ |
| [१२३] | ९ | १ | ० | ० १ ० १ २ = ९ |
| [०१२३] | १० | १ | १ | ० ० १ १ १ = १० |
| [०१२३४] | ११ | १ | ० | ० ० १ १ २ = ११ |
| [०१२३४५] | १२ | १ | १ | ० १ १ १ १ = १२ |
| [०१२३४५६] | १३ | १ | १ | ० ० १ १ १ १ = १३ |

(क०) अथ दलगपपङ्क्तौ विशेषं दर्शयति—**चतुर्योगे त्वित्यादि** । चतुर्योगे भेदे त्रियोगजा ये चत्वारोऽपि भेदाः स्युः, तदङ्कोष्ठेव त्रियोगजाङ्कोष्ठेव पूर्वोक्तविपर्ययसंयोजनं स्यादिति नियमेन द्वियोगजैकैकाङ्कानामनुपादानमत्र विशेषो दर्शितः । एवं *दलगपपङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे चतसृणां त्रियोगपङ्क्तीनां प्रथमकोष्ठेषु स्थितान् चतुरः षडङ्कानादाय चतुर्विंशत्यङ्कं लिखेत् [०।५, ०।३, ०५३, १५३] [६+६+६+६=२४] । **द्वितीयादि-**कोष्ठेषु यथासंभवमन्त्योपात्युत्तर्यष्टान् यथासंख्यं त्रियोगपङ्क्तिकोष्ठगतैरङ्कैर्यथासंभवं संयोज्य तत्तदङ्कं लिखेत् । ये चत्वार इत्यादेशं न्यस्यार्थः पङ्क्तिपरिज्ञानाय प्रथमत एव दर्शितः । **एष संयोगमेरुः स्यात्** इति संयोगमेरोः स्वरूपनिरूपणस्य निगमनम् । एष द्रुतादिसंयोगजविविधभेदबोधकत्वादन्वर्थो द्रष्टव्यः । *अभीष्टार्थप्रदत्वादेतेषां मेरुवन्मेरुत्वमवगन्तव्यम् । अतो ज्ञेयं वक्तुमाह—अतो ज्ञेयमित्यादिना । तिर्यक्पङ्क्तिस्थेत्यादि । तैस्तैस्तिर्यक्पङ्क्तिस्थैः कोष्ठाङ्कैः, ऊर्ध्वपङ्क्तिगताः ऊर्ध्वपङ्क्ति-कोष्ठस्थिताः सर्वद्रुतादयो भेदाः मेया इति । तत्तत्कोष्ठगत-संख्याङ्कपरिमिता विज्ञेया इत्यर्थः । तदभावास्तु शून्यत इति । तत्तत्कोष्ठस्थशून्यात् तत्तद्भेदाभावो ज्ञेय इत्यर्थः । यथा त्रयोदश्यां तिर्यक्पङ्क्तौ तावत्प्रथमकोष्ठस्थेनैकाङ्केन सर्वद्रुतो भेदो मेयः । अनन्तरं कोष्ठत्रयस्थितेभ्यो बिन्दुभ्यो लगपात्मकस्य तत्पङ्क्तितालस्य प्रस्तारे सर्वलभुसर्वगुरुसर्वप्लुताणां भेदानामभावो ज्ञेयः । पञ्चमकोष्ठस्थेन षट्सप्ततृत्तरत्रिंशत्यङ्केन

तस्मिन्काले [ताले] दलयुक्ता भेदाः संख्येयाः । षष्ठकोष्ठस्थेन पञ्चत्रिंशदङ्केन द्रुतगुरुयुक्ता भेदाः । सप्तमकोष्ठस्थेनैकाद-शाङ्केन द्रुतप्लुतयुक्ताः । अष्टमादिकोष्ठत्रयस्थितेभ्यः शून्येभ्यः क्रमात् लगलपगपयुक्तभेदाभावो ज्ञेयः । एकादशाङ्ककोष्ठस्थेन पञ्चशत्यङ्केन दलगयुक्तभेदाः । द्वादशकोष्ठस्थेन द्वाविंशत्युत्तर-शताङ्केन दलपयुक्ता भेदाः । त्रयोदशकोष्ठस्थेन विंशत्यङ्केन दगपयुक्तभेदाः । चतुर्दशकोष्ठस्थेन बिन्दुना लगपयुक्तभेदाभावः । पञ्चदशकोष्ठस्थेन चतुर्विंशत्यङ्केन दलगपयुक्ता भेदा मेया इति । एवं यथेष्टमधोर्वाधितासु पञ्चदशकोष्ठात्मिकासु विपर्ययपङ्क्तिषु कोष्ठकैर्द्रष्टव्यम् । एवमेव प्राचीष्वप्युत्तरोत्तरं न्यूनकोष्ठासु तिर्यक्पङ्क्तिषु कोष्ठाङ्कैर्यथासंभवं भेदा ज्ञेयाः । ‘तावद् द्रुतोऽत्र’ इत्यस्य वाक्यस्यार्थः प्रागेव दर्शितः । **उपरिष्ठात् समारभ्य संख्या पङ्क्त्यङ्कसंगतेः** इत्यस्यायमर्थः—उपरितनतिर्यक्पङ्क्तिमारभ्य अधोऽधस्तिर्यक्पङ्क्त्यङ्कसंगतेर्हेतोः पूर्वोक्ता संख्या परिज्ञायत इति । तद्यथा—प्रथमायां तिर्यक्पङ्क्तावेकः । द्वितीयायां द्वौ । तृतीयायां त्रयः । चतुर्थ्यां तिर्यक्पङ्क्तौ षट् । पञ्चम्यां दश । षष्ठ्यामेकौनविंशतिः । सप्तम्यां त्रयस्त्रिंशत् । अष्टम्यां षण्तिः । नवम्यां षडुत्तरं शतम् । दशम्यामेकनवत्युत्तरं शतम् । एकादश्यां चत्वारिंशदुत्तरा त्रिंशती । द्वादश्यां दशोत्तरा षट्शती । त्रयोदश्यां नवाशीत्युत्तरं सहस्रम् । एवमधोऽधःपङ्क्तिष्वपि पङ्क्त्यङ्क-संगतेः संख्या ज्ञेया ॥ ३७२-३७७ ॥

इति संयोगमेरुः

* लकारोऽधिक इव भाति[?] fin. I ed.

१ भेदकत्वा (क्त्वा) दन्वर्धो

(मु०) विशेषमाह—चतुर्थो गे तु इति । चतुर्थो गे त्रियोगजा-
श्चत्वारो भेदाः, तदङ्केषु पूर्वोक्ता विपर्यया योजनीयाः । ये चत्वार इति ।
त्रियोगे गोत्या ये चत्वारो भेदाः, चतुर्थो गे गोत्यपञ्चमा भेदा इति । चतुर्थो गे गोत्याः
पञ्च भेदाः येषु तेन सह पञ्चेत्यर्थः । ते क्रमात् अन्त्यासु, पञ्चसु
पङ्क्तिषु ज्ञेयाः । तासु पङ्क्तिषु क्रमेण ये ज्ञातव्यास्तानाह—दलगा इति ।
अन्त्यानां पञ्चानां पङ्क्तीनां मध्ये, आद्यपङ्क्ती दलगाः द्रुत-
लघुगुरवः, द्वितीयपङ्क्ती दलगाः द्रुतलघुप्लुताः^१ ; तृतीयपङ्क्ती दलगाः
द्रुतगुरुप्लुताः^२ ; चतुर्थपङ्क्ती लगणाः लघुगुरुप्लुताः^३ ; अन्त्यपङ्क्ती दलगाः
द्रुतलघुगुरुप्लुता इति । एष एव संयोगमेव स्यात् । एतस्मात्संयोगमेवोक्तं
प्रतिज्ञाय^४ कथयति—तिर्यगिति । तिरश्चीना या पङ्क्तिः, तत्स्थानि
यानि कोष्ठानि, तत्रस्थितैः^५ तैस्तैः कोष्ठाङ्कैः^६ कथं भूतैरित्यपेक्षायामाह
—सर्वद्रुतादय इति । सर्वद्रुताः सर्वलघवः, सर्वगुरव इति ऊर्ध्वपङ्क्तिगता
ज्ञेया विज्ञेयाः । तदभावस्तु शून्यत इति, शून्यतस्तु तदभावः । तेषां
सर्वद्रुतादीनां भेदानामभावः । तिरः तिरश्चीना यावत्तिर्ययावत्संख्याका
द्रुतपङ्क्तिः, तावत्^७ द्रुतलगाभोज्ञ स्यादिति विज्ञातव्यम् । उपरिष्ठात्स-
मारभ्य पङ्क्त्यङ्कसंयुताद् योगात् संख्या विज्ञायत इति । प्रस्तारस्तु
मूलग्रन्थ एव सम्यग्दर्शितः ॥ ३७२-३७७- ।

इति संयोगमेवः

द्रुतहीनादयो भेदोद्धारो ये मेह^८ बोधिताः ॥ ३७७ ॥

सर्वप्रस्तारवत् तेषां प्रस्तारः किं तु तेषु यः ।

^१ चतुर्थो गे गोत्याः पञ्चमो येषु तेन सह पञ्चेत्यर्थः (A). ^२ प्रतिज्ञा-
पयति (B). ^३ स्थितैरङ्कैरिति संबन्धः (A). ^४ कथं भूतैः कोष्ठैरिति
संबन्धः (B). ^५ सर्वासु तासु इति (B). ^६ मेधा (मूलम्) ज्ञातव्याः (B).
^७ द्रुततालो (A). ^८ बोधिताः (D).

द्रुतादिनियमः सोऽत्र न भङ्गव्यः प्रयत्नतः ॥ ३७८ ॥

इति खण्डप्रस्तारः

(क०) अथ खण्डप्रस्तारं लक्षयति—द्रुतहीनादय
इत्यादिना । मेहबोधिता इति । मेरुषु द्रुतलघुगुरुप्लुतमेरुषु चतुर्षु
बोधिता ज्ञापिता द्रुतहीनादयो भेदोद्धारो इति । द्रुतहीनादयो
द्व्यादिसमसंख्यद्रुता भिदाः । सर्वद्रुतान्ता इति, 'लघुहीनादुप-
क्रम्यैकाद्येकोत्तरवृद्धलाः' (श्लो. -३५० अत्रैव) इति च, 'शेषं तु
लघुमेरुवत्-गुरुमेरुवत्', (श्लो. -३५४, ३५७-अत्रैव) इति च ये
भेदोद्धारः प्रदर्शितास्तेषां भेदानाम् । प्रस्तारवदिति । 'न्यस्या-
ल्पमाद्यान्' (श्लो. -३९६ अत्रैव) इत्यादिनोक्तरीत्येत्यर्थः ।
अत्र विशेषमाह—किं त्विति । तेषु भेदेषु यो द्रुतादिनियमो
द्विद्रुतश्चतुर्द्रुत एकलघुद्विलघुर्भेद इत्यादिद्रुतादिसंख्यानियमो
विद्यते सोऽत्र न भङ्गव्यः । प्रयत्नत इति । अयमर्थः—खण्ड-
प्रस्तारे सर्वप्रस्तारोक्तरीत्या द्रुतादिसंख्यानियममङ्गे प्राप्तेऽपि
द्रुतादिसंख्यानियममपरित्यज्यैव प्रस्तारः कर्तव्य इति । अत्रो-
दाहरणार्थं प्लुतभेदेषु खण्डः प्रस्तारः प्रदर्श्यते । प्रथमं प्लुतं
लिखित्वा [३] तदधस्ततोऽल्पं गुरुं न्यस्य प्रागूने लघुं लिखत्
[१५] । अनन्तरमाद्यालघोरधस्तादल्पे द्रुते लिखितव्ये द्रुतहीन-
भेदानां प्रस्तुतत्वाद् द्रुतादिनियमो न भङ्गव्य इति वचनेन
तत्र द्रुतमलिखित्वा गुरोरधो लघुं न्यस्य प्रागूने गुरुं लिखत्
[३१] । तदनन्तरमाद्याद् गुरोरधो लघुं न्यस्य शेषं यथोपरीति

शेषं लघुं लिखित्वा प्रागूनेऽपि लघुं लिखेत् [॥१॥] । एवं द्रुतही-
नाश्चत्वारो भेदा द्रुतमेरोः षष्ठोर्ध्वपङ्क्त्यावधः क्रमात्प्रथमकोष्ठ-
स्थेन चतुरङ्केण बोधिता भवन्ति ।

अथ द्वितीयकोष्ठस्थेन नवाङ्केन द्विद्रुतानां भेदानां बोध्य-
त्वादादौ द्रुतद्वयं गुरुं च लिखित्वा [००५] सर्वप्रस्तारवद्गुरोरधो
लघुं न्यस्य प्रागूने गुरोः संभवेऽपि द्रुतनियमभङ्गो मा भूदिति
लघुं द्रुतौ च वामसंस्थत्वेन लिखेत् [००१॥] । एवमन्यानपि सप्त
भेदान् सर्वप्रस्तारवदुपक्रम्य खण्डप्रस्ताराविरोधेन लिखेत् । अथ
तृतीयकोष्ठस्थेन पञ्चाङ्केन बोध्येषु चतुर्द्रुतभेदेष्वदादौ चतुरो
द्रुतान् एकं लघुं च लिखित्वा [००००१] पूर्वोक्तप्रकारेणाधोऽधो
लिखेत् । अथ चतुर्थकोष्ठगतैकाङ्केन सर्वद्रुतभेदो बोध्यः
[००००००] । अस्मिन्नैव प्लुतप्रस्तारे [३] लघुमेरौ षष्ठोर्ध्व-
पङ्क्त्यधःकोष्ठगतेन पञ्चाङ्केन लघुहीना भेदा ज्ञेयाः ।
द्वितीयकोष्ठगतेन सप्ताङ्केनैकलघवो भेदा ज्ञेयाः । तृतीय-
कोष्ठस्थेन षडङ्केन द्विलघवो भेदाः । चतुर्थकोष्ठगतैनाङ्केन
सर्वलघुभेदो ज्ञेयः । गुरुमेरावपि षष्ठोर्ध्वपङ्क्त्यधःकोष्ठस्थेन
चतुर्दशाङ्केन गुरुहीना भेदाः ज्ञेयाः । द्वितीयकोष्ठस्थेन
पञ्चाङ्केनैकगुरवो भेदाः । तथा प्लुतमेरावपि षष्ठोर्ध्वपङ्क्त्यधः-
कोष्ठस्थेनाष्टादशाङ्केन प्लुतहीना भेदा ज्ञेयाः । द्वितीयकोष्ठस्थे-
नैकाङ्केन सर्वप्लुतो भेदः । एवं सर्वत्र खण्डप्रस्तार उन्नेयः
॥ -३७७-३७८ ॥*

इति खण्डप्रस्तारः

* [विवरणम् (क०)] खण्डप्रस्तारे षडद्रुतप्रस्तारः [३]

| द्रुतमेरुप्रस्तारः | लघुमेरुप्रस्तारः | गुरुमेरुप्रस्तारः | प्लुतमेरुप्रस्तारः |
|----------------------|------------------|--------------------|---------------------|
| द्रुतहीनाः ४ भेदाः | लघुहीनाः ५ भेदाः | गुरुहीनाः १४ भेदाः | प्लुतहीनाः १८ भेदाः |
| १ ३—१ | १ ३—१ | १ ३—१ | १ १५—१ |
| २ १५—१ | २ ००५—१ | २ १११—१ | २ ००५—२ |
| ३ ५१—१ | ३ ०५०—१ | ३ ००१—२ | ३ ५१—१ |
| ४ १११—२ | ४ ५००—२ | ४ ०१०—३ | ४ १११—२ |
| १+१+२=४ | ५ ०००००—३ | ५ १००—४ | ५ ००१—३ |
| द्विद्रुताः ६ भेदाः | १+१+३=५ | ६ ००००१—५ | ६ ०१०—४ |
| ५ ००५—१ | एकलघवः ७ भेदाः | ७ ०११—१ | ७ १००१—५ |
| ६ ००११—१ | ६ १५—१ | ८ १०१०—२ | ८ ००००१—६ |
| ७ ०१०१—२ | ७ ५१—१ | ९ ०००१०—३ | ९ ०५०—१ |
| ८ १००१—३ | ८ ००००१—२ | १० ११००—४ | १० ०११०—२ |
| ९ ०५०—१ | ९ ०००१०—१ | ११ ००१००—५ | ११ १०१०—३ |
| १० ०११०—२ | १० ००१००—२ | १२ ०१०००—६ | १२ ००१००—४ |
| ११ १०१०—३ | ११ ०१०००—३ | १३ १००००—७ | १३ ५००—५ |
| १२ ५००—४ | १२ १००००—४ | १४ ००००००—८ | १४ ११००—६ |
| १३ ११००—५ | १+२+४=७ | १+५+८=१४ | १५ ००१००—७ |
| १+३+५=९ | द्विलघवः ८ भेदाः | एकगुरवः ५ भेदाः | १६ ०१०००—८ |
| चतुर्द्रुताः ५ भेदाः | १३ ००११—१ | १५ १५—१ | १७ १००००—९ |
| १४ ००००१—१ | १४ ०१०१—२ | १६ ००५—२ | १८ ००००००—१० |
| १५ ०००१०—१ | १५ १००१—३ | १७ ५१—१ | २+६+१०=१८ |
| १६ ००१००—२ | १६ ०११०—३ | १८ ०५०—१ | सर्वप्लुतः १ भेदः |
| १७ ०१०००—३ | १७ १०१०—२ | १९ ५०००—२ | १९ ३—१ |
| १८ १००००—४ | १८ ११००—३ | २+१+२=५ | १ |
| १+४=५ | ३+३=६ | | |
| सर्वद्रुताः १ भेदः | सर्वलघवः १ भेदः | | |
| १९ ००००००—१ | १९ १११—१ | | |
| १ | १ | | |

(सु०) मेरुषु बोधितानां भेदानां प्रस्तारमाह—द्रुतहीनादय इति । पञ्चभिरपि मेरुभिः द्रुतहीनादयो भेदा ये ज्ञापिताः; तेषां प्रस्तारः सर्वप्रस्तारवत् सर्वसाधारणत्वेन यः पूर्वं निदिष्टः प्रस्तारः तद्वदेव कर्तव्यः । परं त्वयं विशेषः—तेषु भेदेषु, यो द्रुतादिनियमः द्रुतादिसंख्यानियमः, हीनत्वेन संख्यया च द्रुतहीनैकद्रुतत्वादिनियमः । सोऽत्र न भङ्गस्तव्यः । तस्य द्रुतादिनियमस्य यथा भङ्गो न भवति तथा प्रयत्नतः प्रस्तारः कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र परिज्ञानार्थं दृष्टान्तं दर्शयामः—षड्द्रुतप्रस्तारे चत्वारो द्रुतहीनाः । तत्र पूर्वं प्लुतः स्थाप्यः [३]; प्लुतस्याधस्तादल्पो गुरुर्देयः, पूर्वं लघुः [१५]; गुरोर्धस्ताल्लघुः, पूर्वं गुरुः [११]; ततः [आद्याद्] गुरोर्धस्ताल्लघुः, अनन्तरमुरिस्थितो लघुः, तालपूरणार्थं पूर्वो लघुः [११] इति चत्वारो भेदाः । एवं द्विद्रुतादिषु ज्ञातव्यम् । एकलघुप्रस्तार-स्त्वेवमेव ॥ ३७७-३७८ ॥

इति खण्डप्रस्तारः

^१संख्येषा मेरुकोष्ठाङ्काद्यस्मात्पूर्वोक्तरीतितः ।
लभ्यते तत्र नष्टाङ्कं पातयेद्य शेषतः ॥ ३७९ ॥
^२तृतीयपञ्चमोपात्त्यावपाते लभ्यते लघुः ।
परो यद्यकृतार्थः स्यात् सह तेनाथ ^३चेदुभौ ॥ ३८० ॥
अकृतार्थां ततस्ताभ्यां स्वं विनैवैष लभ्यते ।
परे कृतार्थे ग्राह्यः स्यादकृतार्थः पुरातनः ॥ ३८१ ॥
पतिताद् ^४गुरुलाभः स्यात् सह प्राचा तदा परा ।
चतुरङ्की ^५निवर्तते पतिते पञ्चमेऽप्यथ ^६ ॥ ३८२ ॥

^१ संख्येषां (सु०) (D). ^२ तृतीय (D). ^३ ग. घ. चेद् द्रुतौ fn. I cd

^४ पतिताद् (D). ^५ किञ्चि वतते (D). ^६ त्वय (D).

गुरुः प्लुतो भवेत् प्राचा सह चैषा^१ निवर्तते ।

रूपाप्तौ प्रापकाङ्कभ्यः शेषेष्वेष पुनर्वाधिः ॥ ३८३ ॥

गुरुलाभे त्वपातार्हः पञ्चमः शेषतां व्रजेत् ।

अङ्गाभावे तु गृह्यन्ते लघवस्तालपूर्तये ॥ ३८४ ॥

इति द्रुतमेरुनष्टम्

इति द्रुतमेवंधःपङ्क्तिरसमकोष्ठनष्टम्

(क०) अथ द्रुतमेरोः प्रथमपङ्क्तिरसमकोष्ठे नष्टं लक्षयति—संख्येष्वेत्यादि । पूर्वोक्तरीतित इति । ‘समे त्वन्त्यं विनैतेषां योगं न्यस्य’ (श्लो. -३४९. अत्रैव) इत्यर्थः । यस्मान्मेरु-कोष्ठाङ्कात् एषा संख्या लभ्यते, तत्र संख्याङ्के नष्टाङ्कं पातयेत् । अथ अनन्तरं शेषतः शेषे । तृतीयपञ्चमोपात्त्याविति । ‘समे त्वन्त्यं विना’ इत्युक्तत्वात्तयोरेव प्रथमं तत्कोष्ठे द्रुतहीनसंख्या-हेतुत्वेन क्रमेणोपात्त्यवमित्यर्थः । अपाते लभ्यते लघुरिति । अपाते तृतीयस्य वा पञ्चमस्य वा शेषाङ्कानन्तर्भावे सतीत्यर्थः । परो यद्यकृतार्थः स्यादिति । तृतीयात्परस्य विषमकोष्ठस्थस्या-कृतार्थत्वे यदीति संभावना । तस्य क्वचित्कृतार्थत्वमपि संभवतीत्यर्थः । सह तेनेति । अकृतार्थेन सह पाते लघुर्लभ्यते । अथ चेदिति । अथ परावुभावकृतार्थो चेत्, ततस्ताभ्यां स्वं विनैवैष लभ्यत इत्यर्थः । ततस्तर्हि ताभ्यामकृतार्थाभ्यां पराभ्यामेव, स्वं विना स्वशब्देनात्र तृतीयपञ्चमावुच्यते । तृतीयं वा पञ्चमं वा विनेत्यर्थः । एवं लघुर्लभ्यते । परे कृतार्थे इति । परस्मिन् कृतार्थे

^१ चैष (D).

सति अकृतार्थः पुरातनो ग्राह्यः स्यात् । पतिताद् गुरुलाभ इति । तृतीयाल्पञ्चमाद्वा पतिताद् गुरुलाभः स्यात् । सह प्राचेति । तदा गुरुलाभकाले प्राचा सह पतिताङ्कपूर्वेणाङ्केन सहिता परा चतुरङ्की । चतुर्णामङ्कानां समाहारः । निर्वर्तते गुरुलाभ-हेतुत्वेन कृतार्थत्वादित्यर्थः । पतिते पञ्चमेऽप्यर्थेति । अथ तृतीयपातानन्तरं पञ्चमेऽपि पतिते सति गुरुः प्लुती भवेत् । प्राचा सह चैषा निर्वर्तते इति । प्राचा षष्ठाङ्केन सहैषा च परा षडङ्कीत्यर्थः । निर्वर्तते प्लुतहेतुत्वेन कृतार्थो भवतीत्यर्थः । रूपाप्ताविति । प्रापकाङ्कभ्यो लघ्वादिस्वरूपलाभे सति यदि शेषाङ्काः संभवेयुः, तर्हि शेषेषु तेज्वङ्कष्वेव एव विधिः पुनः कार्यः । गुरुलाभे सत्यपातार्हः पञ्चमः शेषतां व्रजेत्; पञ्चम-मारभ्य प्राक्तनाः शेषा भवन्तीत्यर्थः । एवं प्लुतलाभे सप्तमः शेषतां व्रजेदिति द्रष्टव्यम् । अङ्काभावे त्विति । शेषाङ्काभावे तु तालपूर्तये लघवो गृह्यन्ते ग्राह्या [लघुयुक्ताङ्को लभ्यः] इत्यर्थः ॥ ३७६-३८४ ॥

इति द्रुतमेवंधःपङ्क्तिरसमकोष्ठनष्टम्

(सु०) द्रुतमेवंधःपङ्क्तेः समकोष्ठेषु नष्टमाह—संख्येषामिति । एषां द्रुतहीनादिभेदानां संख्या पूर्वोक्तरीतितः पूर्वोक्तप्रकारेण, यस्मात् मेरुकोष्ठाङ्कात् लभ्यते तस्मात् तत्र तस्यां संख्यायां नष्टाङ्कं पातयेत् । अथ अनन्तरम्, शेषतः शिष्टे अन्त्याङ्के अन्त्याङ्कान् तृतीय-पञ्चमोपान्त्यौ तृतीयपञ्चमावङ्की उपान्त्यौ, अपाते यदा अङ्को न पतति, तदा लघुर्लभ्यते । यदि पर अकृतार्थः स्यात्, तेन सह लघुः कर्तव्यः । अथ अनन्तरम्, परी उभौ अकृतार्थौ चेत्, ततः तर्हि तान्मात्रम्,

अकृतार्थाभ्यामङ्काभ्यामेव, स्वं विना पतितमङ्कं विना तृतीयं वा पञ्चमं वा विनेत्यर्थः । एष लघुः, लभ्यते । परे कृतार्थ इति । परे, परस्मिन्, कृतार्थे सति, अकृतार्थः पुरातनः पूर्वो ग्राह्यः स्यात् । पूर्वेण अकृतार्थेन सह लघुः कर्तव्यः इत्यर्थः^१ । पतिताद् गुरुलाभ इति । पतितात् अङ्कात् प्राचा पूर्वेणाङ्केन सह गुरुः लभ्यते । तदा परा अग्रे स्थिता चतुरङ्की चतुर्णामङ्कानां समाहारः, चतुर्द्विताः निर्वर्तते गुरुलाभहेतुत्वेन कृतार्थत्वादित्यर्थः । अथ, तृतीयपातानन्तरम्, पञ्चमेऽपि पतिते सति, स एव गुरुः प्लुती भवेत् । पतितात् प्राचा पूर्वेणाङ्केन सह एषा पङ्क्तिः निर्वर्तते अङ्कनिवृत्तिर्भवति । रूपाप्तौ रूपस्य आप्तौ सत्यां, प्रापकाङ्केभ्यः गुर्वादिप्रापका येऽङ्काः तेभ्यः, शेषेषु एष एव पूर्वविधिः कर्तव्यः । गुरुलाभे तु सति अपातार्हः पञ्चमः शेषो भवति । तत आरभ्य तृतीयपञ्चमौ उपान्त्यावित्यादि विधिः विधानं कार्यमित्यर्थः । अङ्काभावे अङ्कानामाभावे तु, तालपूर्तये तालपूरणार्थं लघवो गृह्यन्ते ग्राह्या इत्यर्थः ।

अत्र परिज्ञानार्थमुदाहरणं दर्शयामः—अष्टद्रुतप्रस्तारे [१३] द्रुतहीनाः सप्त भेदा भवन्ति । अत्र प्रथमो भेदः कीदृगिति नष्टप्रश्ने, एकः सप्तसु पात्यते अवशिष्टेषु षट्सु तृतीयश्चतुरङ्कः पतति गुरुर्लब्धः ततः पञ्चमे द्व्यङ्के पतिते, 'पतिते पञ्चमेऽप्यथ गुरुः प्लुती भवेत्' (श्लो. -३८२, ३८३-अत्रैव) इति न्यायेन स एव गुरुः प्लुतो भवति । तालपूरणार्थमेको लघुर्ग्राह्यः । एवं लघुः प्लुतश्च [१३] प्रथमो भेदः । एवं द्वितीयभेदे पृष्टे द्व्यङ्के अन्त्यसप्तमध्ये पातिते सति, अवशिष्टेषु पञ्चसु तृतीये चतुरङ्के पतिते गुरुर्लब्धः, पञ्चमो द्व्यङ्कः शेषतां प्राप्तः । ततोऽवशिष्टे एकस्मात् तृतीये पतिते पुनरपि गुरुलाभ इत्यादि ज्ञेयम् ॥ ३७६-३८४ ॥*

इति द्रुतमेवंधःपङ्क्तिरसमकोष्ठनष्टम्

^१ तमङ्कं विना (B).

^२ परेण कृतार्थेन सह कर्तव्यः (B).

^३ एकस्मिन् (B).

* [विवरणम्] द्रुतमेवैधः पङ्क्तिरसमकोष्ठनष्टस्य द्रुतहीनमेवैधस्वरूपस्य
निरूपणम् । अष्टद्रुतप्रस्तारे [१३] द्रुतहीनाः ७ भेदाः ।

प्रथमो भेदः कीदृश इति प्रश्ने—

‘पतिताद् गुरुलाभः स्यात् । पतिते पञ्चमेऽप्यथ गुरुः प्लुती भवेत्’ । ताल-
पूरणार्थं एको लघुः ग्राह्यः ।

| संख्यासन्ततिः | पञ्चमः | | | | तृतीयः | | | |
|---------------|--------|---|---|-------|--------|-------|----|-------|
| | १ | १ | २ | २ | ५ | ४ | १२ | ७ |
| | | | | पतितः | | पतितः | | ७-१=६ |
| | | | १ | ३ | | (५) | | |
| | | | | (२ + | ४) | =६ | | |

प्रथमो भेदः [१३] लघुः प्लुतश्च ।

द्वितीयभेदः कीदृश इति प्रश्ने—

| संख्यासन्ततिः | तृतीयः | | | | पञ्चमः | | | |
|---------------|--------|---|---|-------|--------|--------|----|-------|
| | १ | १ | २ | २ | ५ | ४ | १२ | ७ |
| | | | | पतितः | | अपतितः | | ७-२=५ |
| | | | | ५ | | शेषः | | ५ |
| | | | | (१ | | + | ४) | =५ |

द्वितीयो भेदः [५५] गुरुद्वयम् ।

उद्दिष्टे तु गुरोर्लभ्यस्तृतीयोऽन्त्यात् पुरातनः ।

प्राग्बन्धतुनिवृत्तिः स्यात् तृतीयः पञ्चमस्तथा ॥३८५॥

प्लुताल्लभ्यौ^१ निवृत्तिस्तु षण्णामथ^२ पुनर्विधिः ।

^१ प्लुताल्लभ्यौ (D).

^२ मथः पुनः (सु०)

लघोरङ्को^१ न लभ्यते निवृत्तिस्त्वङ्कोर्द्वयोः ॥ ३८६ ॥
लब्ध्याङ्कयोगहीनेऽन्त्ये शेषादुद्दिष्टबोधनम् ।

इति द्रुतमेवैधः पङ्क्तिरसमकोष्ठोद्दिष्टम्

इति द्रुतमेवैधः पङ्क्तिरसमकोष्ठनष्टोद्दिष्टम्

(क०) अथ तत्कोष्ठोद्दिष्टमाह—उद्दिष्टे त्वित्यादि ।

उद्दिष्टे भेदेऽन्त्यत्वेन यदि गुरुदृश्यते, तस्माद् गुरोरन्त्यादङ्कात्
पुरातनः तृतीयोऽङ्को भवतीत्यर्थः ।^४ प्राग्बन्धं नष्टोक्तप्रकारेण
चतुर्निवृत्तिः चतुर्णामङ्कानां निवृत्तिर्भवेत् उद्दिष्टे यदि प्लुतो
दृश्यते, तस्मात्प्लुतातृतीयः, तथा पञ्चमश्च प्राप्यते । तृतीय-
पञ्चमौ प्लुताल्लभ्यौ भवतः । निवृत्तिस्तु षण्णामिति । षडङ्का
निवर्तन्त इत्यर्थः । अथ पुनर्विधिरिति । निवृत्तिव्यतिरेकाङ्क-
सङ्कावे पुनर्विधिः कार्यः । उद्दिष्टभेदे यदि लघुदृश्यते, तस्मात्
लघोरङ्को न लभ्यते । निवृत्तिस्त्वङ्कोर्द्वयोरिति । लघुदर्श-
नादङ्कद्वयं निवर्तनीयमित्यर्थः । लब्ध्याङ्कयोगहीनान्त्य इति
लघ्वङ्कयोगहीनेऽन्त्ये शेषादुद्दिष्टबोधनमिति सर्वोद्दिष्टवद् द्रष्ट-
व्यम् ॥ ३८५-३८७-॥

इति द्रुतमेवैधः पङ्क्तिरसमकोष्ठोद्दिष्टम्

^१ घ. रङ्गेन fin. I ed.

^२ लब्ध्यान् (D).

^३ ख. घ. ड. हीनान्त्य

fin. I ed. हीनान्त्ये (D). ^४ [‘एवं प्लुतलाभे सप्तमः शेषतां ब्रजेदिति द्रष्टव्यम् ।

अङ्कामावे त्विति । शेषाङ्कभावे तु तालपूर्तये लघुयुताङ्को लभ्यः] I ed.

* धनुश्चिह्नान्तर्गतमधिकमिव भाति fin. I ed.

(सु०) उद्दिष्टं निरूपयति—उद्दिष्टे स्थिति । गुरोरन्त्यात् प्रथमं तृतीयोऽङ्को लभ्यते । पूर्ववत् चतुर्णामङ्कानां निवृत्तिः, प्लुतात् तृतीयः पञ्चमश्चाङ्को लभ्यते, ततः षण्णामङ्कानां निवृत्तिः । अथ पुनरेवमेव प्रकारः, लघोस्त्वङ्को न लभ्येत । द्वयोरङ्कयोर्निवृत्तिः, पूर्वास्त्वमङ्क-मन्त्यात्पातयित्वा, शेषात् अवशिष्टात् उद्दिष्टसंख्यापरिज्ञानम् । अत्रैवं दृष्टान्तः—अष्टद्रुतप्रस्तारे [१३] लघुद्वयं गुरुश्च द्रुतहीनेषु कथितः कतिधा भेद इति प्रश्ने, अन्त्यात् सप्ताङ्कात् तृतीयश्चतुरङ्को लब्धः । चतुरङ्के अन्त्यमध्ये च पातिते त्रयोऽवशिष्टाः । ततश्च तृतीयो भेद इत्युत्तरम् ॥ ३८५-३८७- ॥*

इति द्रुतमेवंधःपङ्क्तिरसमकोष्ठोद्दिष्टम्

* [विवरणं] द्रुतमेवंधःपङ्क्तिरसमकोष्ठोद्दिष्टस्य द्रुतहीनभेदस्वरूपस्य पूरण-संख्याज्ञानतिरूपणम् ।

गुरोरन्त्यात् तृतीयो लभ्यते । चतुर्णामङ्कानां निवृत्तिः । प्लुतात् तृतीयः पञ्चमश्च प्राप्तः । षण्णामङ्कानां निवृत्तिः । लघोरङ्को न लभ्यते । अङ्कद्वय-निवृत्तिः ।

अष्टद्रुतप्रस्तारे [१३] लघुद्वयं गुरुश्च [१५] द्रुतहीनेषु कतिधा इति प्रश्ने—

पञ्चमः तृतीयः

| | | | | | | | | |
|---------------|---|---|---|---|---|---|----|----|
| संख्यासन्ततिः | १ | १ | २ | २ | ५ | ५ | १२ | =७ |
|---------------|---|---|---|---|---|---|----|----|

पातितः

(१ १ ५) ७-५=२

५

चतुरङ्के अन्त्यमध्ये पातिते त्रयोऽवशिष्टाः ।

लघुद्वयं गुरुश्चेति [१५] रूपभेदः तृतीयः इति पूरणसंख्या ज्ञानम् ।

समस्तनष्टवध्रष्टं विषमो कोष्ठके भवेत् ॥ ३८७ ॥

द्रुते लब्धे ततः पूर्वैरङ्कैः स्यात् समकोष्ठवत् ।

इत्याद्यपङ्क्तिविषमकोष्ठनष्टम्

(क०) अथ द्रुतमेकविषमकोष्ठे नष्टं लक्षयति—समस्त-नष्टवदिति । ‘पातयेत्पूर्वपूर्वाङ्कं तत्र त्वपातितो द्रुतः’ (श्लो. ३२७- अत्रैव) इत्यादि सर्वमनुसंधेयम् । विशेषमाह—द्रुते लब्ध इति । समकोष्ठवदिति । द्रुतलाभानन्तरम्, ‘तृतीयपञ्चमो-पान्त्यावपाते लभ्यते लघुः’ (श्लो. ३८०- अत्रैव) इत्यादि सर्वमनुसंधेयमित्यर्थः ॥ -३८७, ३८८- ॥

इति द्रुतमेवंधःपङ्क्तिविषमकोष्ठनष्टम्

(सु०) द्रुतमेरौ प्रथमपङ्क्तिविषमकोष्ठे नष्टमाह—समस्तेति । सर्वसाधारणपूर्वोक्तनष्टवत् विषमो कोष्ठके नष्टं ज्ञातव्यम् । अयं तु विशेषः—द्रुते लब्धे सति अवशिष्टे पूर्वपूर्वरङ्कैः समकोष्ठवद् विधानम् । यथा सप्तद्रुतप्रस्तारे [०३] प्रथमो भेदः कीदृगिति प्रश्ने, अन्त्ये द्वादशाङ्क-मध्ये एकस्मिन् पातिते अवशिष्टेष्वेकादशसु चतुरङ्कपञ्चाङ्कौ पातितौ; ‘लघुनिरन्तरे त्वस्मिन्’ (श्लो. ३२६- अत्रैव) इति न्यायेन गुरुलब्धः । ततो गुरुहेतोस्तृतीयोऽङ्कं द्व्यङ्कैः अवशिष्टे द्वये पतिते सति, स एव गुरुः प्लुतो भवति । एवं च द्रुतः प्लुतश्च [०३] प्रथमो भेदः । एवं दशमो भेदः कीदृगिति प्रश्ने, दशसु पातितेषु अवशिष्टे द्वये चतुरङ्कस्य अपातात् द्रुतो लब्धः । द्रुते लब्धे सति समकोष्ठवद् विधानम् ततश्चतुरङ्कात् तृतीये पतिते गुरुलब्धते, ‘पातितो गुरुलाभः स्यात्’ (श्लो. ३८२- अत्रैव) इति । ततस्तात्पर्यार्थं लघुः, एवं लघुर्मुहूर्तश्च सप्तद्रुतप्रस्तारे [०३]; एकद्रुते दशम इत्यादिज्ञेयम् ॥ -३८७, ३८८- ॥*

इति द्रुतमेवंधःपङ्क्तिविषमकोष्ठनष्टम्

* [विवरणम्] द्रुतमेवंधः पञ्चक्रितविषमकोष्ठनष्टस्य एकद्रुतभेदस्वरूपस्य निरूपणम् ।

सप्तद्रुतप्रस्तारे [०३] एकद्रुताः २२ भेदाः

द्रुते लब्धे सति अवशिष्टैः पूर्वैरङ्कैः समकोष्ठवत् विधानम् ।

प्रथमो भेदः कीदृशः? इति प्रश्ने—

संख्यासन्ततिः

| | | | | | | |
|----------|----------|----------|--------------|----------|----------|-------------|
| <u>१</u> | <u>१</u> | <u>२</u> | <u>२</u> | <u>५</u> | <u>५</u> | <u>= १२</u> |
| | | | २-२=० | ११-६=२ | १२-१=११ | |
| | | | निरन्तरपतितौ | | | |

० ३ (१ + ५)

एवं प्रथमो भेदः [०३] द्रुतः प्लुतश्च ।

दशमो भेदः कीदृगिति प्रश्ने—

तृतीयपञ्चमोपात्त्यावपाते लभ्यते लघुः । 'गृह्यन्ते लघवः तालपूर्तये' ।

तृतीयः

संख्यासन्ततिः

| | | | | | | |
|-------|---|--------|---|---------|---|------|
| १ | १ | २ | २ | ५ | ५ | = १२ |
| २-२=० | | — | | १२-२=१० | | |
| पतितः | | अपतितः | | | | |

१ ५ ०

एवं दशमो भेदः [१०] लघुर्गुरुद्वयश्च ।

समस्तोद्दिष्टवत् प्रोक्तमुद्दिष्टमिह सूरिभिः ॥ ३८८ ॥

द्रुताङ्कानन्तरं कार्यं विधानं समकोष्ठवत् ।

इति प्रथमपञ्चक्रितविषमकोष्ठोद्दिष्टम्

इत्यधस्तियं पञ्चक्रितनष्टोद्दिष्टम्

अथ तत्कोष्ठोद्दिष्टं लक्षयति—समस्तोद्दिष्टवदिति ।
'यैरङ्कैः पतितैर्नष्टः' (श्लो. ३३२- अत्रैव) इत्याद्यनुसंधेयम् ।
विशेषमाह—द्रुताङ्कानन्तरमिति । द्रुताङ्कपरिज्ञानानन्तरम् ।
समकोष्ठवदिति । 'उद्दिष्टे तु गुरोर्लभ्यस्तृतीयोऽन्यात्परातनः'
(श्लो. ३८५- अत्रैव) इत्याद्यनुसंधेयम् ॥ ३८८, ३८९- ॥

इति द्रुतमेवंधः पञ्चक्रितविषमकोष्ठोद्दिष्टम्

इति द्रुतमेवंधः पञ्चक्रितनष्टोद्दिष्टम्

(सु०) प्रथमपञ्चक्रितविषमकोष्ठोद्दिष्टमाह—समस्तेति । इह
विषमकोष्ठे; उद्दिष्टं सर्वसाधारणम् । समस्तोद्दिष्टवत् पूर्वोक्तोद्दिष्टवत्
'यैरङ्कैः पतितैर्नष्टः' (श्लो. ३३२- अत्रैव) इत्यादिरनुसंधेयम् । परं तु
द्रुताङ्कानन्तरं समकोष्ठवत् विधानम् । यथा द्रुतो गुरुर्लघुश्च [०५]
सप्तद्रुतप्रस्तारे [०३] एकद्रुतेषु द्वादशभेदेषु कतिधा भेद इति
प्रश्ने, चतुरङ्के द्व्यङ्कद्वये च पतिते एवंविधभेदस्य समस्तोद्दिष्टस्य
लभ्यमानत्वात् अपटौ लब्धाः । तेष्वन्याङ्केषु पातितेषु चतुर्णामव-
शिष्टत्वात् चतुर्थो भेदः एवं विधः [०५] इति । एवं विषमकोष्ठोद्दिष्टं
ज्ञेयम् ॥ ३८८, ३८९- ॥†

इति द्रुतमेवो प्रथमपञ्चक्रितविषमकोष्ठोद्दिष्टम्

† [विवरणम्] द्रुतमेवंधः पञ्चक्रितविषमकोष्ठोद्दिष्टस्य एकद्रुतभेदस्वरूपस्य
पूरणसंख्याज्ञानम्

सप्तद्रुतप्रस्तारे [०३] एकद्रुताः १२ भेदाः

१ ष्टे (A). (B).

लब्धद्रुताङ्कानन्तरं समकोष्ठवद् विधानं कार्यम् ।

द्रुतगुरुलघ्वात्मके [०५१] भेद उद्दिष्टे पूरणसंख्या कतिधा? इति प्रश्ने—

| | | | | | | | |
|---------------|-------------|---|---|---|-------|---|--------|
| संख्यासन्ततिः | १ | १ | २ | २ | ५ | ५ | = १२ |
| | निरुत्पतितौ | | | | पतितः | | १२-६=४ |
| | ० | | ५ | | १ | | |
| | (२+२) | | + | | ४) | | = ८ |

एवं द्रुतगुरुलघ्वात्मकः [०५१] रूपभेदः चतुर्थः इति पूरणसंख्याज्ञानम् ।

कोष्ठे समोर्ध्वपङ्क्तिस्थे परासामधिको भवेत् ॥ ३६६ ॥

द्वितीयाधस्तनः पात्यस्तत्र त्वपतिताद् द्रुतः ।

पतिताल्लः पात्य'पातानन्तर्येऽल्पो महान्भवेत् ॥ ३६० ॥

रूप'पूर्तौ निवर्तन्ते पूर्ववत् स्वीयपङ्क्तिगाः ।

अधःसमव'दन्यत् स्यान्निरुत्तौ तु पुनर्विधिः ॥ ३६१ ॥

यस्मात् स यस्मामूर्ध्वायां पङ्क्तौ सा विषमा यदि ।

विधिविषमकोष्ठोक्तः समा चेत् तर्ह्ययं मतः ॥ ३६२ ॥

विषमोर्ध्वश्रेणिसंस्थे कोष्ठे ऽधोविषमोदितः ।

इति द्रुतमेखरपङ्क्तिनष्टम्

(क०) अथ द्रुतमेखरोः परपङ्क्तिनष्टं लक्षयति—कोष्ठ इत्यादिना । परासां पङ्क्तीनां समोर्ध्वपङ्क्तिकोष्ठे द्वितीयाधस्तना^१ङ्कैरधिकः पात्यो भवेत् । तत्र तेष्वङ्केषु मध्येऽपतिता-

^१ मानानन्तरं (D). ^२ पूर्व (D). ^३ ख. ग. दन्या स्यान्नि fin. I ed.

घ. ड. दन्यः स्यान्नि fin. I ed. ^४ इत्युपरि तिर्यक् पङ्क्ति (D). ^५ नाङ्कः पात्यो I ed.

दङ्काद् द्रुतो लभ्यो भवेत् । पतिताल्लः लघुर्लभ्यो भवेत् ।
पात्यपातानन्तर्यं इति । पात्ययोरङ्कयोः पातस्य आनन्तर्यं
निरन्तरयोः पाते सतीत्यर्थः । अल्पो लघुर्महान् भवेदित्यर्थः ।
रूपपूर्तौ लघ्वादिस्वरूपप्राप्तौ सत्यां स्वीयपङ्क्तिगा अङ्काः पूर्वव-
दधःपङ्क्ताविव । निवर्तन्ते इति । लघुप्राप्तावङ्कद्वयं, गुरुप्राप्ता-
वङ्कचतुष्टयं, प्लुतप्राप्तावङ्कषट्कं च निवर्तते । पुनर्विधौ न
गण्यत इति यावत् । अन्यत् अवशिष्टम् । अधःसमवत् अधः-
पङ्क्तौ समकोष्ठवद् द्रष्टव्यम् । निवृत्तौ तु रूपहेत्वङ्कनिरुत्तौ
तु रूपान्तरप्राप्तये पुनर्विधिः कार्यः । यस्यामूर्ध्वायां पङ्क्तौ
यस्मात् अङ्कात्, स विधिर्भवेत्, सा अधःपङ्क्तिः विषमा
विषमसंख्याका यदि भवति चेत्, विषमकोष्ठोक्तोऽधःपङ्क्तिः
विषमकोष्ठोक्तो विधिः कार्यः । समा चेत्समसंख्याका चेत्,
तत्तर्ह्ययमिदानीमुक्तो विधिः संमतः । विषमोर्ध्वश्रेणिसंस्थे
कोष्ठेऽधो विषमोदितोऽधःपङ्क्तिविषमकोष्ठोक्तो विधिः कार्यः
॥ -३६६-३६३- ॥

इति द्रुतमेखरपङ्क्तिनष्टम्

(स०) अथान्यासां पङ्क्तीनां नष्टमाह—कोष्ठ इति । समोर्ध्व-
पङ्क्तिस्थ इति द्वितीयचतुर्थादिः, तत्र स्थिते; परासाम् अन्यासां
पङ्क्तीनाम्; कोष्ठे द्वितीयाङ्कात् अधस्तनः, अधिकः अङ्कः, उपान्त्यः,
तृतीयपञ्चमावित्यादि अधःसमवत् । एवं च अपतिताद् द्रुतो लभ्यते,
ततः पतिताद् लघुर्लभ्यते । उपान्त्यानां पतितयोः आनन्तर्यनैरन्यन्यायेन
महान् भवेत् । लघुर्गुरुः गुरुश्च प्लुत इति । रूपपूर्तौ रूपस्य लघ्वादि-
स्वरूपस्य, पूर्तौ परिपूरणे सति, स्वीयपङ्क्तिगा या अङ्काः पूर्ववत्

अधःपङ्क्तिवत् निवर्तन्ते । लघावक्कुद्वयम्; गुरावक्कुचतुष्टयम्; प्लुते
अक्कुषट्कमिति । अन्यत्सर्वमधःपङ्क्तिसमकोष्ठनष्टवत् । अक्कुनिवृत्तौ तु
पुनर्विधानम् । परं तु स पुनर्विधिः यस्मात्, तस्मात् कोष्ठकात् कर्तव्यः,
स कोष्ठकः 'यस्यां पङ्क्तौ विद्यते सा पङ्क्तिः यदि विषमा, विषम-
कोष्ठोक्तो विधिः । यदि समा चेत्, तर्हि अयमेव विधिः', विषमासु ऊर्ध्व-
श्रेणीषु विद्यमाने कोष्ठे, अधःपङ्क्तिविषमकोष्ठनष्टपरिज्ञानवद्विधिः
कर्तव्यः । यथा षड्द्रुतप्रस्तारे [३] द्विद्रुताः नव भेदाः संभवन्ति । तत्र
प्रथमो भेदः कीदृगिति प्रश्ने, नवसंख्यायामेकाङ्के पातिते, अवशिष्टेष्वष्टसु
द्वितीयाधस्तनः पञ्चाङ्कः तृतीयस्यङ्कश्च पातितः, पूर्वपतितात्
लघुर्जातः । उपान्त्यपातानन्तर्यात् स एव लघुः महान् गुरुर्जातः । ततश्च
द्रुतद्वयं गुरुश्च [००५] प्रथमो भेद इति ॥ -३८६-३६३- ॥*

इति द्रुतमेखपरपङ्क्तिनष्टम्

* [विवरणम् (क०)] द्रुतमेखपरपङ्क्तिनष्टसमकोष्ठनष्टस्य द्विद्रुतभेदस्वरूपस्य
निरूपणम् ।

षड्द्रुतप्रस्तारे [३] द्विद्रुताः ६ भेदाः

प्रथमो भेदः कीदृगः? इति प्रश्ने—

संख्यासन्ततिः

| | | | |
|-------|-------|--------------|-------|
| १ | १ | ३ | =६ |
| | | ५ | ६-१=५ |
| ३-३=० | ५-५=० | निरन्तरपतिती | |

५

एवं प्रथमो भेदः [००५] द्रुतद्वयं गुरुश्च ।

यैरङ्कैः पतितैर्नष्टे लभ्यन्ते ये प्लुतादयः ॥ ३६३ ॥
तेभ्य उद्दिष्टसंस्थेभ्यस्तदङ्कावाप्तिरिष्यते ।
द्रुतहीनाद्यकोष्ठासु पङ्क्तिपूर्वार्धसु यो लघुः ॥ ३६४ ॥
तस्मादुद्दिष्टरूपस्थान्नाङ्कः कश्चिदवाप्यते ।
लब्धाङ्कन्यूनितान्त्याङ्कशेषादुद्दिष्टवेवनम् ॥ ३६५ ॥

इति द्रुतमेखपरपङ्क्त्युद्दिष्टम्

इति द्रुतमेखनष्टोद्दिष्टे

(क०) अथ द्रुतमेखपरपङ्क्त्युद्दिष्टं लक्षयति—यैरङ्कैः
रित्यादिना । द्रुतहीनाद्यकोष्ठास्त्विति । द्रुतेन हीना द्रुतहीना
आद्यकोष्ठा यासां तास्तथोक्ताः, तासूर्ध्वसु पङ्क्तिषु ।
यो लघुरिति । उद्दिष्टभेदस्य इत्यर्थः । उद्दिष्टरूपस्थात्तस्माल्लघोः
कश्चिदङ्कः । न प्राप्यत इति । नष्टे तस्य लघोरपतिताङ्कलब्ध-
त्वादिति भावः । सुगममन्यत् ॥ -३६३-३६५ ॥

इति द्रुतमेखपरपङ्क्त्युद्दिष्टम्

इति द्रुतमेखनष्टोद्दिष्टे

(सु०) अथ द्रुतमेखपरपङ्क्त्युद्दिष्टमाह—यैरङ्कैरिति । यैरङ्कैः
पतितैः नष्टात् ये प्लुतादयो लभ्यन्ते; तेभ्यश्च एते अङ्काः लभ्यन्ते ।
समासु पङ्क्तिषु विशेषमाह—द्रुतहीनेति । द्रुतहीनः आद्यकोष्ठो यासां
ताः, ऊर्ध्वसु पङ्क्तिषु समास्त्वित्यर्थः । तासु यो लघुः, तस्मात् तत्र न

^१ च. नष्टैर्लभ्यन्ते fn. I ed. नष्टात् (सु०).

^२ कैश्चि (D).

^३ तान्यान्ते (D).

^४ च. बोधनम् । fn. I ed.

^५ ते ते अङ्काः (A).

(सु०) लघुमेवैधः पङ्क्तिनष्टं निरूपयति—लघुमेराविति । अघः-
पङ्क्तेः नष्टाङ्केन ऊनः योज्योऽङ्कः, तस्य शेषतः शेषे, पूर्वेषामङ्कानां
पात्यमानानां मध्ये अपतितात् अङ्कात् द्रुतो लभ्यते । पतितात् पूर्वाम्यां
द्वाभ्यामङ्काभ्यां, परेण एकेनाङ्केन च सह गुरुर्भवति । वृत्तगुर्वङ्कानन्तर
इति वृत्तो निष्पन्नो गुरुः येभ्यस्ते वृत्तगुरुवः, ते च तेऽङ्काः, तेभ्योजनन्तरे
संनिहिते; पतिते गः गुरुः, प्लुती भवेत् पतिते गुरुरेव प्लुती भवति । षड्-
द्रुतप्रस्तारे [३] लघुहीनाः पञ्च भेदाः । तत्र प्रथमो भेदः कीदृगिति प्रश्ने
पञ्चाङ्कमध्ये एकाङ्के पातिते सति, अवशिष्टेषु चतुर्षु पूर्वः व्यङ्कः पतितः,
चतुर्भिर्गुरौ जाते, अनन्तरे एकाङ्के च पातिते गुरुः प्लुतो जातः इति । षड्-
द्रुतप्रस्तारे [३] लघुहीनेषु प्लुतः [३] प्रथमो भेद इति ॥ ३६६-३६८-॥*

इति लघुमेवैधः पङ्क्तिनष्टम्

* [विवरणम्] लघुमेवैधः पङ्क्तिनष्टसमकोष्ठनष्टस्य लघुहीनभेदस्वरूपस्य
निरूपणम् ।

षड्द्रुतप्रस्तारे [३] लघुहीनाः ५ भेदाः ।

अपतितात् द्रुतो लभ्यते । पतितात् पूर्वाम्यां द्वाभ्यामङ्काभ्यां परेण एकाङ्केन
च सह गुरुर्भवति । वृत्तगुर्वङ्कानन्तरे पतिते^१ गुरुः प्लुती भवेत् ।

प्रथमो भेदः कीदृशः? इति प्रश्ने—

संख्यासन्ततिः

| | | | | | |
|------------|---|--------------|---|-------|-----|
| १ | १ | १ | २ | ३ | = ५ |
| १-१=० | | ४-३=१ | | ५-१=४ | |
| पतितः ३ | | पतितः (५) | | | |

एवं प्रथमो भेदः [३] प्लुतः ।

नष्टे तु परपङ्क्तीनां पातयेत् प्रातिलोम्यतः ॥ २६८ ॥

द्वितीयं च तृतीयाधस्तनमङ्कं च पञ्चमम् ।

परेषु च निवृत्तेषु शेषेष्वेव पुनर्विधिः ॥ ३६९ ॥

समस्तनष्टवच्चान्न द्रुतादेः प्राप्तिरिष्यते ।

किंतु लब्धे लघौ शेषेष्वद्याधस्तनतः क्रिया ॥ ४०० ॥

सोऽधस्तनः^२ स्वपङ्क्तिस्थ^३ विधिमेवं प्रवर्तयेत् ।

शेषेऽङ्काश्रितपङ्क्त्यङ्काभावे तु लघवो मताः ॥ ४०१ ॥

अधस्तनश्रेणिसंख्या नष्टस्येव विधिः स्मृतः ।

इति लघुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

(क०) अथ लघुमेरुपरपङ्क्तीनां नष्टमाह—नष्टे
त्वित्यादिना । प्रातिलोम्यतः पातयेदिति । अत्र प्रातिलोम्यशब्देन
द्वितीयतृतीयाधस्तनपञ्चमाङ्केषु पात्येषु क्वचिदनुपपत्त्या तृती-
याङ्कपातनम् । किंच 'समस्तनष्टवच्चान्न द्रुतादेः प्राप्तिरिष्यते',
इति शेषेष्वद्याधस्तनतः क्रियेति, सोऽधस्तनः स्वपङ्क्तिस्थविधि-
मेवं प्रवर्तयेदिति चातिदेश्यमाणेष्वर्थेषु क्वचिदनुपपत्त्या अन्यथा-
करणं च विवक्षितम् । तत्र कानुपपत्तिरिति चेत्; उच्यते—
प्रस्तुतैकलघ्वादिभेदनियमभङ्ग एवानुपपत्तिः, सा मा भूदिति
प्रातिलोम्याश्रयणं कर्तव्यमित्यर्थः । आद्याधस्तन इति ।
आद्यायां तिर्यक्पङ्क्तौ स्थितात् लघुहेतोरधस्तन इत्यर्थः । अत्र
आद्यग्रहणाभावे तृतीयादितिर्यक्पङ्क्तिषु द्वितीयादितिर्यक्पङ्क्ति-
स्थोऽप्यधस्तनया प्राप्नोति । अतः कर्तव्यमाद्यग्रहणम् । शेषेऽङ्का-
श्रितपङ्क्त्यङ्काभावे तु लघवो मता इति । अङ्काश्रितपङ्क्त्यङ्का-

^१ च. क्रियाः fn. I ed.

^२ च. नस्थ fn. I ed.

^३ घ. स्थं वि

fn. I ed. ^४ घ. स्थं विधिवेन fn. I ed.

भावे पातयोग्यैरङ्कुराश्रितश्चासौ पङ्क्त्यङ्कश्च तत्तन्पञ्चभेदो-
चितपङ्क्तौ तत्तत्तालापेक्षया अन्त्याङ्क इति यावत् । तस्याङ्क-
स्याभावे तु शेषे । तत्तन्पञ्चभेदस्वरूपलेखने वामसंस्थत्वेन प्रवृत्ते
सति चरमभाग इत्यर्थः । लघवो मता इति । तत्तद्भेदानु-
गुण्येनैकद्वयादयो लघवो ग्राह्या इत्यर्थः । इममेवार्थं स्पष्टीकर्तु-
मुक्तम्, 'अधस्तनश्रेणि'संख्या' इति लघव इत्यस्य विशेषणम् ।
नष्टाङ्कश्रिताङ्केऽधस्तनी श्रेणिरका चेद्, एको लघुग्राह्यः; द्वे
चेद् द्वौ; तिस्रश्चेत् त्रय इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥ -३६८-४०२- ॥

इति लघुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

(सु०) लघुमेरौ परपङ्क्तीनां नष्टमाह—नष्टे त्विति ।
पतितनष्टाङ्कावशेषे प्रातिलोभ्यतः पूर्वपूर्वद्वितीयतृतीयस्याधस्तनपञ्च-
माङ्कान् पातयेत् । रूपलब्धौ पूर्ववत् । अङ्कनिवृत्तौ जातायां पुनरप्येष
एव विधिः कार्यः । द्रुतादेः प्राप्तिस्तु समस्तनष्टवत् । कित्वयं विशेषः—
लघौ लब्धे शेषेषु अवशिष्टेषु य आद्यः, तस्य अधःस्थितादङ्कात्
विधिः; सोऽधःस्थितो अङ्कः, स्वपङ्क्तिस्थविधिं स्वपङ्क्तौ योऽङ्को
विहितः विधिः, तमेव प्रवर्तयेत् । अङ्काश्रितपङ्क्त्यङ्काभावे तु
अधस्तनश्रेण्यो यावत्; तावत्संख्याका एकद्वयादयो लघवो ज्ञातव्याः ।
यथा षड्द्रुतप्रस्तारे [३] एकलघवः सप्त भेदाः; तेषु प्रथमो भेदः
कीदृगिति प्रश्ने, अन्त्यसप्ताङ्कमध्ये एकाङ्के पातिते अवशिष्टेषु षट्सु
द्वितीयः चतुरङ्कः, तृतीयाधस्तनो द्व्यङ्कश्च पातिते निरन्तरपतितत्वाद्
गुरुः, अङ्काभावे लघुः, ततश्च लघुर्गुरुश्च [१५] प्रथमो भेद इति
॥ -३६८-४०२- ॥*

इति लघुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

* [विवरणम्] लघुमेरुपरपङ्क्तिनष्टसमकोष्ठनष्टस्य एकलघुभेदस्वरूपस्य
तिरूपणम्

षड्द्रुतप्रस्तारे [३] एकलघवः ७ भेदाः ।

प्रथमो भेदः कीदृशः? इति प्रश्ने—

संख्यासन्ततिः

| | | | | |
|---|---|---|---|-----|
| १ | २ | | ४ | = ७ |
| | | २ | | |

$$२-२=०, ६-४=२, ७-१=६$$

निरन्तरपतितौ

१

५

एवं लघुमुवात्मकः [१५] रूपभेदः प्रथमः इति पूरणसंख्याज्ञानम् ।

गुरुमेरोरधःपङ्क्तौ नष्टं सकलनष्टवत् ॥ ४०२ ॥

प्लुतलाभस्तु गुरुवत्,

इति गुरुमेवधःपङ्क्तिनष्टम्

(क०) अथ गुरुमेवधःपङ्क्तिनष्टमाह—गुरुमेरोरि-
त्यादिना । प्लुतलाभस्तु गुरुवदिति । यथा लघुमेरोरधःपङ्क्तौ
पतिताद् गुरुलब्धः, तथा गुरुमेरोरधःपङ्क्तौ निरन्तरपतिताभ्यां
प्लुतौ लभ्यते इत्यर्थः ॥ -४०२-४०३- ॥

इति गुरुमेवधःपङ्क्तिनष्टम्

(सु०) गुरुमेवधःपङ्क्तिनष्टमाह—गुरुमेरोरिति । गुरुमेरोः
अधःपङ्क्तौ सकलनष्टवत् नष्टं कार्यम् । प्लुतलाभस्तु गुरुवदिति । यथा

लघुमेरोः अधःपङ्क्तौ पतितात् गुरुलब्धः, तथा गुरुमेरोः अधःपङ्क्तौ निरन्तरपतिताभ्यां प्लुतो लभ्यत इति । यथा षड्द्रुतप्रस्तारे [३] गुरुहीनाश्चतुर्दश भेदाः, तत्र प्रथमभेदे पृष्ठे अन्त्याङ्कमध्ये एकाङ्के पातिते, अवशिष्टेषु त्रयोदशसु पूर्वोऽष्टाङ्कः पञ्चाङ्कश्च पतितौ लब्धव्ये गुरुः प्लुतो भवेदित्यनेन प्लुतप्राप्तिरिति षड्द्रुतप्रस्तारे गुरुहीनेषु प्लुतः [३] प्रथमो भेदः ॥ -४०२-४०३- ॥†

इति गुरुमेवधःपङ्क्तिनष्टम्

† [विवरणम्] गुरुमेवधःपङ्क्तिनष्टमकोटनष्टस्य गुरुहीनभेदस्वरूपस्य निरूपणम् ।

निरन्तरपतिताभ्यां प्लुतो लभ्यते ।

षड्द्रुतप्रस्तारे [३] गुरुहीनाः १४ भेदाः

प्रथमो भेदः कीदृशः ? इति प्रश्ने—

संख्यासन्ततिः

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|----|
| १ | २ | ३ | ५ | ८ | १४ |
|---|---|---|---|---|----|

$$५-५=० \quad १३-८=५ \quad १४-९=५$$

निरन्तरपतितौ

३

एवं प्रथमो भेदः [३] प्लुतः ।

परपङ्क्तिष्वथोच्यते ।

तृतीयाधस्तनस्थाने तृतीयोऽङ्कोऽत्र पात्यते^१ ॥ ४०३ ॥

स्थाने तु पञ्चमस्याधः पञ्चमो लघुवद् गुरौ ।

लब्धेऽधो^१ व्रजनं शेषाल्लघुवद् गुरुलभनम् ॥ ४०४ ॥
लघुमेरुवदन्यत् तु नष्टे स्यात् परपङ्क्तिषु ।

इति गुरुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

(क०) अथ गुरुमेरुपरपङ्क्तिषु नष्टमाह—परपङ्क्तिष्विति । लघुवद् गुरौ लब्ध इति । लघुमेरौ परपङ्क्तिषु लघौ लब्धे यथा आद्याधस्तनतः क्रिया कृता, तथात्र गुरौ लब्धे सति । शेषादधोव्रजनमिति । शेषादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । शेषमधिष्ठाय आद्याधस्तनतः क्रिया कर्तव्येत्यर्थः । लघुवद् गुरुलभनमिति । लघुमेरुपरपङ्क्तिषु पतितात् यथा लघुप्राप्तिः, तथात्र पतिताद् गुरुप्राप्तिरित्यर्थः । शिष्टं लघुमेरुवद् द्रष्टव्यमित्याह—लघुमेरुवदिति ॥ -४०३-४०५- ॥

इति गुरुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

(सु०) गुरुमेरोः परपङ्क्तिनष्टमाह—परपङ्क्तिष्विति । लघुमेरुनष्टवत् सर्वम् । किंतु लघुमेरौ तृतीयस्यधस्तनोऽङ्कः पात्यते । अत्र तस्य स्थाने तृतीयोऽङ्कः पात्यते । पञ्चमस्य स्थाने पञ्चमस्याधस्तनाङ्कः पात्यः । लघुमेरौ लघौ लब्धे यथा अधोगमनम्, तथात्र गुरुमेरौ गुरौ लब्धे अधोगमनं शेषात् विधानम् । अङ्काभावेऽपि यथा अधस्तनश्रेणिष्वस्य लघुवः लघुमेरौ प्राप्यन्ते, तथात्र गुरवः प्राप्यन्त इति । यथा षड्द्रुतप्रस्तारे [३] एकगुरवः पञ्चभेदाः, तत्र प्रथमे भेदे पृष्ठे अन्त्याङ्कमध्ये एकाङ्के पतिते, अवशिष्टेषु चतुर्षु पूर्वं द्व्यङ्कः, एकाङ्कश्च पतिते गुरुलब्धः, लब्धे गुरौ आद्यात् षड्द्रुतादङ्कादारभ्य [३] क्रियायां क्रियमाणायाम-

मेकाङ्के लब्धे पतिते लघुर्लब्धः । ततश्च लघुर्गुरुश्च [15] प्रथमो भेद इति ॥ -४०३-४०५- ॥*

इति गुरुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

* [विवरणम्] गुरुमेरुपरपङ्क्तिनष्टनष्टस्य एकगुरुभेदस्वरूपस्य निरूपणम् ।

पतितात् लघुप्राप्तिः ।

पङ्क्तुप्रस्तारे [3] एकगुरुवः ५ भेदाः

प्रथमो भेदः कीदृशः? इति प्रश्ने—

संख्यासन्ततिः

| | | | | |
|-------|---|--------------|-------|-------|
| | | १ | २ | = ५ |
| १ | २ | | | |
| १-१=० | | २-१=१ | ४-२=२ | ५-१=४ |
| पतितः | | निरन्तरपतितो | | |
| ! | | 5 | | |

एवं प्रथमो भेदः [15] लघुर्गुरुश्च ।

समस्तनष्टवन्नष्टं प्लुतमेरुवादाहृतम् ॥ ४०५ ॥

इति प्लुतमेरुवधःपङ्क्तिनष्टम्

(क०) अथ प्लुतमेरुनष्टं लक्षयति—समस्तनष्टव-
दित्यादिना । प्लुतमेरुरधःपङ्क्तौ नष्टं सर्वनष्टवद् द्रष्टव्य-
मित्यर्थः ॥ -४०५ ॥

इति प्लुतमेरुवधःपङ्क्तिनष्टम्

(सु०) प्लुतमेरुनष्टं निरूपयति—समस्तेति । साधारणनष्टवत्
प्लुतमेरुरधःपङ्क्तिनष्टं ज्ञातव्यम् ॥ -४०५ ॥

इति प्लुतमेरुवधःपङ्क्तिनष्टम्

विशेषः कथ्यते त्वेष द्वितीयादिषु पङ्क्तिषु ।

अधो गच्छेत् ^१प्लुते पूर्णं गुरुमेरौ गुराविव ॥ ४०६ ॥

द्रुतो लघुर्गुरुवा^२न्त्यैरङ्कैर्लब्धः ^३प्लुतो भवेत् ।

तदङ्काधस्तनैः सार्धमङ्कुषट्कमतीत्य च ॥ ४०७ ॥

अधःपङ्क्तौ स्थितैरङ्कैः शेषैरेष पुनर्विधिः ।

पङ्क्तौ तु प्लुतहीनायां नान्तिमः प्लुततां व्रजेत् ॥ ४०८ ॥

इति प्लुतमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

(क०) द्वितीयादिषु परपङ्क्तिषु विशेषं दर्शयति—
अधो गच्छेदित्यादिना । गुरुमेरौ गुराविवेति । गुरुमेरौ गुरौ
लब्धे यथा अधोगमनमुक्तं तथाव प्लुते पूर्णं लब्धे सतीत्यर्थः ।
अधो गच्छेदिति । आद्याधस्तनतः क्रियां कुर्यादित्यर्थः । अथ
प्लुते पूर्णं इत्येतदावृत्त्या अपूर्णं इति पदं विभज्य व्याख्येयम् ।
प्लुतेऽपूर्णं लब्धे सति अन्त्याङ्केन लब्धो द्रुतो लघुर्गुरुवा^२ प्लुतो
भवेदिति प्लुतः कर्तव्य इत्यर्थः । अथवा प्लुतो भवेदित्यनेनैव
पूर्वं प्लुतेन लब्ध इति गम्यते । पङ्क्तौ तु प्लुतहीनायामिति ।
आद्याधस्तनपङ्क्तावित्यर्थः । नान्तिमः प्लुततां व्रजेदिति ।
अन्तिमोऽङ्कलब्धो द्रुतादिः प्लुतो न भवतीत्यर्थः ॥ ४०६-४०८ ॥

इति प्लुतमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

१ प्लुतः पूर्णं (D). २ गुरुर्वाचं (D). ३ प्लुतो (D).

ॐ

शिवाभ्यां नमः

श्री-निःशङ्कुशार्ङ्गदेव-प्रणीतः

संगीतरत्नाकरः

चतुरकल्लिनाथ-विरचितया कलानिध्याख्यटीकया, सिंह-
भूपालविरचितया संगीतसुधाकराख्यटीकया च समेतः

षष्ठो वाद्याध्यायः

ततं येनावनद्धं च भुवनं निजमायया ।

१ आनन्दघनमध्येमि तं ब्रह्म^२सुषिरे हरम् ॥ १ ॥

चित्रा वाचः प्रवर्तन्ते धातुवृत्तिविचित्रिताः ।

यतस्तं नौमि विस्तारतत्त्वौघानुगतं शिवम् ॥ २ ॥

(क०) अथ गीतोपयोगित्वेन तदनन्तरोद्दिष्टस्य वाद्यस्य
प्रकरणमारभमाणस्तावदादौ समुचितेष्टदेवतां स्मृत्वा स्तौति—
ततं येनेत्यादिना श्लोकद्वयेन । येन परमेश्वरेण कर्त्ता;
निजमायया करणभूतया, भुवनं ततं विस्तारितम् । अवनद्धं च

१ तदानन्दघनं नौमि (D).

२ च. सुषिरं fn. I ed.

बद्धं च । आनन्दघनम् निरतिशयानन्दस्वरूपम् । तम् हरम् ।
ब्रह्मसुषिरे हृत्पङ्कजे, हृत्पङ्कजस्य ब्रह्मसुषिरत्वं प्रागेव
पिण्डोत्पत्तिप्रकरणे ‘चेतनस्थानम्’ (श्लो. -८३. प्र. २. प्रथमे
स्वरगताध्याये) इत्यत्र प्रतिपादितम् । अध्येमि स्मरामीति
संबन्धः । अत्र ततावनद्धघनसुषिरशब्दैर्वक्ष्यमाणा वाद्यभेदा
ध्वन्यन्ते । चित्रा वाच इत्यादि । धातुवृत्तिविचित्रिता इति ।
धातवो भूवादयः, वृत्तयः समासा वा, अभिधागोण्यादयो वा ।
धातुभिर्वृत्तिभिश्च विचित्रिताः चित्रा वाचः । विविधानि
वाक्यानि वेदादीनि यतः शिवात् प्रवर्तन्ते । तेन कारणेन
कर्तृत्वेन वा प्रवक्तृत्वेन वा कारणभूतादित्यर्थः । विस्तार-
तत्त्वौघानुगतमिति । विस्तारवान् विस्तारः, तत्त्वानां महदा-
दीनाम्, ओषः समूहः । विस्तारश्चासौ तत्त्वौघश्च, तेनानुगतम्
तदुत्पत्तिस्थितिलयाधिष्ठानत्वात्तमनुगतो वा । तच्छब्दात्;
“तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्” (तै० उ० २-६) इति श्रुतेः ।
तं शिवं नौमि स्तौमीति संबन्धः । अत्र धात्वादिभिः शब्दैर्वक्ष्य-
माणा वाद्यविधयो ध्वन्यन्ते ॥ १, २ ॥

(सु०) एवं पञ्चमाध्याये सपरिकरं गीतमुक्तम् । अतो वक्ष्य-
माणयोर्वाद्यनृत्ययोर्मध्ये वाद्यानुगात् नृत्यात् वाद्यस्य प्रधानत्वात् गीतानु-
गामित्वाच्च गीताभिव्यक्तिहेतुत्वाच्च वीणाद्यगीतानन्तरं वाद्यं विवक्षुः
मङ्गलमाचरन्नभिधेयमभिव्यनक्ति—ततमिति । तम्; शिवं हरम् अध्येमि
स्मरामि । “इक् स्मरणे” (धा० अ० १०४७) इत्यनेनाधिपूर्वस्येकः
स्मरणाथत्वात् । कुत्र स्मरामि? ब्रह्मसुषिरे ब्रह्मरन्ध्रे; तद्व्युपासन-
स्थानं परमेश्वरस्य । कथं भूतम्? आनन्दघनम् आनन्देन घनं व्याप्तम् ।
अथवा आनन्दश्च सुखरूपश्चासौ घनः कूटस्थश्च तथाविधं तम्, कम्?

येन भुवनं जगत् तत् व्याप्तम् । अवनद्धम् अन्तरपि स्मृतम् । ननु कथं तस्य 'निधर्मकस्य व्याप्त्यादिः संभवति? अत आह—**निजमाययेति ।** मायिका एवैते धर्माः, न तु तात्त्विकाः । “आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्ति धर्माः” इति पञ्चपादिकाचार्यावचनात्^३ । पक्षे अहं वाद्यम् अध्येमि स्मरामि । अभिघातुमभिलषामित्यर्थः । शिवं कल्याणरूपम्, येन वाद्येन, तत् वीणादिकम्, अवनद्धम् मुरजादिकं च प्रसिद्धमिति शेषः । आनन्ददायकं घनं कांस्यतालादिकं च, सुषिरं वंशादिकं वाद्यम् । **निजमायया** निजप्रपञ्चेन, ब्रह्म बृहत् विस्तृतमित्यर्थः । मङ्गलाचरणबाहुल्यस्य श्रेयोबाहुल्यहेतुत्वात्पुनरपि मङ्गलमाचरति—**चित्रा इति । तं शिवं नौमि** स्तोमि च । विस्तारेण तत्त्वेषु प्रकृत्यादिषु चतुर्विंशती अनुगतमनुस्मृतम् । ततश्च चित्रा विचित्रिता वाचः वेदरूपाः प्रवर्तन्ते । धातवः सप्त त्वगादयः, तेषां वृत्तिर्व्यापारविशेषः, तेन विचित्रिताः । अथवा धातवः कफादयः, तद्वृत्त्या विचित्रिता इति । पक्षे शिवं कल्याणरूपं वाद्यं नौमि स्तोमि । विस्तीर्णनादभेदत्वात्, ‘विस्तीर्णनादभेदत्वात् विस्तारो धातुरुच्यते’ (श्लो. १३४ अत्रैव) इति वक्ष्यमाणो विस्तारः, तत्त्वमोषश्च गीतानूगवाद्यभेदो वक्ष्यमाणो, तदनुगतम् । यतः वाद्यात् विचित्रिता वाचो वाद्याक्षराणि प्रवर्तन्ते । अथवा चित्रा संज्ञिका या वीणाया वाचः । अथवा चित्रा वृत्तिर्वक्ष्यमाणस्य वाचः शब्दाः, ‘किंभूताः? धातुवृत्तिविचित्रिताः ‘ये प्रहारविशेषोत्थाः स्वरास्ते धातवो मताः । (श्लो. १२५- अत्रैव)’ ‘वृत्तिर्गुणप्रधानत्वरूपा व्यवहृतिर्मता’ । (श्लो. १६५- अत्रैव)’ इति च वक्ष्यमाणः । तैः विचित्रिता इति संबन्धः ॥ १, २ ॥

^१ नियामकस्य (A). ^२ नित्यत्वं चेति (A), (B). ^३ जिज्ञासाधिकरणे प्रथमवर्णके-चिदिकरसस्यापि आनन्दादीनां कल्पितधर्मताकानां कथनम् (पुटं २३ पङ्क्तिः २) M. G. O. Series No. 155, 1958. ^४ हेतुत्वात् (A), (B). ^५ किं विधाः (A).

गीतं चतुर्विधाद् वाद्याज्जायते चोपरज्यते ।

^१ मीयते च ततोऽस्माभिर्वाद्यमद्य निगद्यते ॥ ३ ॥

तत् तत् सुषिरं चावनद्धं घनमिति स्मृतम् ।

चतुर्धा तत्र पूर्वाभ्यां श्रुत्यादिद्वारतो भवेत् ॥ ४ ॥

गीतं ततोऽवनद्धेन रज्यते मीयते घनात् ।

(क०) अत्र गीतप्रकरणानन्तरं वाद्यप्रतिपादने सोपपत्तिकां सङ्गतिं दर्शयति—**गीतं चतुर्विधादित्यादिना । तत्र पूर्वाभ्यामिति ।** तत्र सुषिरावनद्धघनेषु मध्ये, पूर्वाभ्यां तत्सुषिराभ्याम् । **श्रुत्यादिद्वारत इति ।** अत्रादिशब्देन स्वरमूर्च्छनाक्रमतानालंकारजातिगीतयो गृह्यन्ते । श्रुत्यादय एव द्वारं मुखं तस्मात् गीतं भवेत्, संगीतमुत्पद्यत इत्यर्थः । ततः अनन्तरमुक्तं **गीतम् अवनद्धेन रज्यते ।** तत्र तत्र नादसाम्यं यथा भवति तथा ध्वननेन रक्तातिशययुक्तं क्रियत इत्यर्थः । **घनात् मीयत इति ।** घनवाद्यात् लघ्वादिक्रियया संमितं क्रियत इत्यर्थः । एवं चतुर्विधानामपि वाद्यानां गीत एवोपकारकत्वमवगन्तव्यम् ॥ ३-५- ॥

(सु०) एवं मङ्गलाचरणं विधाय पूर्वाध्यायैः सह संबन्धमाह—**गीतमिति । चतुर्विधात्** ततादिलक्षणात् चतुर्विधात् वाद्यात् गीतं जन्यते उत्पाद्यते, उपरज्यते रञ्जकं क्रियते; **मीयते** गण्यते निगद्यते च । यद्यतः तत् तस्मात्कारणात् । अत्र गीतानन्तरं वाद्यं निगद्यते उच्यत इति । अवशिष्टेन जनोपरञ्जने मानान्युक्तानि । कस्माद्वाद्यात् किं ^२ जायत इत्यपेक्षायामाह—**तत्तमिति ।** तत् वाद्यं चतुर्विधम् । तत्,

^१ घ. नीयते ड. मीयते in. E ed.

^२ आयातः (A).

सुषिरम्, अवनदं, घनमिति । तत्र पूर्वार्थ्यां तत्सुषिराभ्यां श्रुति-
स्वरादिद्वारेण गीतं भवेत् उत्पाद्यते तद्गीतमवनद्वेन रज्यते अनुरज्यते ।
घनात् मीयते गण्यत इति ॥ ३-५-॥

‘वाद्यतन्त्रीततं वाद्यं सुषिरं सुषिरं मतम् ॥ ५ ॥

चर्मावनद्वचदनमवनदं तु वाद्यते ।

घनो मूर्तिः साभिघाताद् वाद्यते यत्र तद् घनम् ॥ ६ ॥

(क०) ततादीनां सामान्यलक्षणमाह—वाद्यतन्त्री-
त्यादिना । वाद्या वादनीया तन्त्री यस्मिन्तद्वाद्यतन्त्रीति तत्त-
वाद्यस्य लक्षणम् । सुषिरं छिद्रमस्यास्तीति सुषिरमिति सुषिर-
वाद्यस्य लक्षणम् । चर्मावनद्वचदनमित्यवनद्ववाद्यस्य लक्षणम् ।
घन इत्यस्य व्याख्यानं मूर्तिरिति । सा मूर्तिः । यत्राभिघाता-
द्वाद्यत इति । यत्र यस्मिन् गीतादौ विषये, अभिघातात्
परस्परपीडनाद्धेतोः वाद्यते ध्वन्यते तद्घनमिति, मूर्तिरेव
घनमित्यर्थः ॥ ५-६ ॥

(मु०) ततादिलक्षणमाह—ततमिति । तन्व्या तत् विस्तारितं
ततमित्युच्यते । सुषिरं सन्धिद्वं सुषिरमिति वंशादि । चर्माण अवनदं
पिहितं वदनं मुखं यस्य तदवनदम् । घनो मूर्तिरित्युच्यते । तन्त्री-
चर्मादिहीनं कांस्यादिघटितमित्यर्थः । सा मूर्तिः अभिघातात् यत्र ध्वन्यते
वाद्यते तत् घनमिति ॥ ५-६ ॥

ततं वीणा द्विधा सा च श्रुतिस्वरविवेचनात् ।

तत्र श्रीशाङ्गदेवेन श्रुतिवीणोदिता पुरा ॥ ७ ॥

वक्ष्यते स्वरवीणात्र तस्यामपि विचक्षणाः ।

अङ्कित्वा स्वरदेशानां भागानुद्भिन्वते श्रुतीः ॥ ८ ॥

(क०) तत्र तद्भेदान् दर्शयितुमाह—ततं वीणेत्या-
दिना । श्रुतिवीणोदिता पुरेति । स्वरगताध्याये (श्लो. ११-३८
प्र. ३- प्रथमे स्वरगताध्याये) इत्यर्थः । तस्यामपि स्वरवीणाया-
मपि विचक्षणाः सूक्ष्मबुद्धयः; स्वरदेशानाम् दण्डादिषु षड्जादि-
स्वरप्रदेशानाम्; भागान् चतुःसंख्याकादिकान्; अङ्कित्वा
तत्तच्छ्रुतीनां न्यूनाधिकभावो यथा न भवति तथा चिह्नि-
तान्कृत्वा; श्रुतीः उद्भिन्वते तीव्रादिकाः श्रुतीः प्रादुर्भवन्ति ।
श्रुतिवीणायां तु स्वराः स्वत एव प्रादुर्भवन्ति ॥ ७-८ ॥

(मु०) तद्भेदानाह—ततमिति । वीणा ततमुच्यते । सा द्विधा;
श्रुतिवीणा, स्वरवीणा चेति । तत्र श्रुतिवीणा पूर्वमुक्ता श्रुतिनिरूपणावसरे
सारणी प्रस्तावे (श्लो. १२-२१. प्र. ३. प्रथमे स्वरगताध्याये) ।
स्वरवीणा अधुना वक्ष्यते । तस्यामपि स्वरवीणायाम्; विचक्षणा
संगीतमर्मज्ञाः; स्वरदेशानाम् स्वरप्रदेशानां भागान् अवयवान्, अंशान्
अङ्कित्वा संज्ञान् कृत्वा चिह्नित्वा श्रुतीः उद्भिन्वते श्रुत्युदयप्रकारं
कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ७-८ ॥

तद्भेदास्वेकतन्त्री स्यान्नकुलश्च त्रितन्त्रिका ।

चित्रा वीणा विपञ्ची च ततः स्यान्मत्तकोकिला ॥ ९ ॥

आलापिनी किनरी च पिनाकीसंज्ञिता परा ।

निःशङ्कवीणेत्याद्याश्च शाङ्गदेवेन कीर्तिताः ॥ १० ॥

^१ ततं तन्त्री ततं वाद्यं (मु०) ततं तन्त्रीगतं (D).

^२ व्याप्तं (A).

^३ स्वरूपं (A).

^१ उद्भिन्वते (D).

^२ श्रुतिः (D).

(क०) अथ स्वरवीणाभेदानुद्दिशति—तद्देवास्त्वित्यादिना । निःशङ्कवीणेत्याद्याश्चेत्यत्र आद्यशब्देन देशान्तरे सुप्रसिद्धा चान्यापि स्वरवीणा गृह्यते । निःशङ्कवीणेति स्वनामकरणेन अप्रसिद्धामप्यन्यां स्वरबुद्ध्या निर्माया तस्याः स्वेच्छया संज्ञां कुर्यादिति गम्यते । एवं सुषिरादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ ६-१० ॥

(सु०) स्वरवीणाभेदानाह—तद्देवा इति । तस्याः स्वरवीणाया भेदा एकतन्त्रीनकुलादयो ज्ञातव्याः ॥ ६-१० ॥

वंशः पावः पाविका च मुरली मधुकर्षपि ।

काहला^१तुण्डुकिन्यौ च^२बुक्का भृङ्गमतः परम् ॥ ११ ॥

शङ्खादयश्च वाद्यस्य सुषिरस्य भिदा मताः ।

पटहो मर्दलश्चाथ हुडुक्का^३करटा घटः ॥ १२ ॥

^४घडसो^५ढवसो ढक्का कुडुक्का^६कुडवा तथा ।

^७रञ्जा डमरुको डक्का मण्डिडक्का च डक्कुली ॥ १३ ॥

सेल्लुका झल्लरी भाणस्त्रिवली दुन्दुभिस्तथा ।

भेरी^८निःसाण^९तुम्बक्को भेदाः स्युरवनद्वगाः ॥ १४ ॥

तालोज्ज्य कांस्यतालः स्याद् घण्टा च क्षुद्रघण्टिका ।

जयघण्टा ततः^{१०}कम्पा शक्तिपट्टादयस्तथा ॥ १५ ॥

प्रभेदा घनवाद्यस्य प्रोक्ताः सोढलसूनना ।

^१ ग. च. ड. तुण्डिकि fin. 1 ed.

^२ ख. ग. बुक्का घ. तुक्का ड. ढक्का

^३ च करटुकः (D).

^४ घनसो (D).

^५ ढवसो (D).

^६ कुडुपा (D)

ग. कुडवा, घ. कडुवा fin. 1 ed.

^७ रञ्जो (D).

^८ घ. निस्वान

fin. 1 ed.

^९ तम्बट्टो (D).

^{१०} कम्पा 1 ed.

(क०) सुषिरादिभेदानुद्दिशति—वंशः पाव इत्यादिना ॥ ११-१६- ॥

(सु०) सुषिरवाद्यभेदानाह—वंश इति । वंशपावादयः सुषिरवाद्यभेदाः ज्ञेयाः । अवनद्वभेदानाह—पटह इति । पटहमर्दलादयो भेदा अवनद्वगाः अवनद्ववाद्यसंबन्धिनः । घनभेदानाह—ताल इति । कांस्यतालादयो घनवाद्यभेदाः शार्ङ्गदेवेनोक्ताः ॥ ११-१६- ॥

शुष्कं गीतानुगं नृत्तानुगमन्यद् द्वयानुगम् ॥ १६ ॥

चतुर्थेति मतं वाद्यं तत्र शुष्कं तदुच्यते ।

यद्विना गीतं नृत्ताभ्यां तद्गोष्ठीत्युच्यते बुधैः ॥ १७ ॥

ततः परं तु त्रितयं भवेदन्वर्थनामकम् ।

(क०) स्वरूपतश्चतुर्भेदभिन्नस्य वाद्यस्य प्रयोगभेदेन पुनश्चातुर्विध्यं दर्शयति—शुष्कमित्यादिना ॥ -१६, १८- ॥

(सु०) वाद्यस्य पुनश्चातुर्विध्यमाह—शुष्कमिति । वाद्यं चतुर्विधं भवति । शुष्कं, गीतानुगं, नृत्तानुगं, गीतनृत्तानुगमिति । तत्र गीतनृत्ताभ्यां विना कृत्यं स्वतन्त्रं यद्वाद्यते तच्छुष्कम्; तच्च लोकगोष्ठीत्युच्यते । गीतानुगादिवयं सार्थकनामकम् । गीतानुगम् यद् गीतमनुगच्छति अनुसरति तद्गीतानुगम् नृत्तानुगम् यत् नृत्तमनुसरति तन्नृत्तानुगम् । द्वयानुगम् यद् गीतं नृत्तं चानुसरति तद् द्वयानुगमिति ॥ -१६-१८- ॥

वाद्यं दक्षाध्वरध्वंसोद्वेगत्यागाय शंभुना ॥ १८ ॥

^१ तालकांस्यवादयो (A).

^२ नृत्याभ्यां 1 ed.

चक्रे कौतुकतो नन्दि स्वातितुम्बुलारवः ।
 अभिषेके नरेन्द्राणां यात्रायामुत्सवे तथा ॥ १६ ॥
 मङ्गलेषु च सर्वेषु विवाहोपनयादिषु ।
 उत्पाते संभ्रमे युद्धे नाटके वीररौद्रिणि ॥ २० ॥
 सर्वातोद्यानि वाद्यन्ते कानिचिस्वल्पमङ्गले ।
 विश्रान्तौ रङ्गसंस्थानां गायतां नृत्यतामपि ॥ २१ ॥
 एतान्युत्साहकारीणि वीराणां मङ्गलाय च ।
 कुर्वन्ति हृदयस्फूर्ति दुःखमन्यूलयन्ति च ॥ २२ ॥
 गीतनृत्त^१गतन्यूनप्रच्छादनपटन्यपि ।
 वाद्यान्यतस्ततादीनि,

(क०) वाद्यस्येश्वरकर्तृकत्वं दर्शयति—वाद्यं दक्षाध्व-
 रेत्यादिना । शंभुना प्रयोजकेन, नन्दिस्वात्यादिभिः प्रयोज्यैः चक्रे
 कारितमित्यर्थः । वाद्यप्रयोगस्य कालविशेषानाह—अभिषेक
 इत्यादि । गीतनृत्ते (त्ये)ति । गीतनृत्त (त्य)गतन्यूनप्रच्छादन-
 पटन्यपीति अत्रापिशब्देन वाद्यप्रतिपादने प्रयोजनमिदं^२मपि
 दर्शयति । तत्प्रयोजनं गीतनृत्त (त्य)गतन्यूनताप्रच्छादनम् । अत्र
 न्यूनशब्दो धर्मपरत्वेन नेयः । यतस्तत्र पटूनि अतः ततादीनि
 वाद्यानीति संबन्धः । वाद्यानि वादनीयानीत्यर्थः ॥ १८-२३-॥

(गु०) वाद्योत्पत्तिमाह—वाद्यमिति । दक्षयागध्वंसेन यो जात
 उद्वेगः अस्वास्थ्यं तदुपशान्तये शंभुना यद् वाद्यं चक्रे व्यधायि ।

^१ च. नन्दी साकं तुम्बुल fn. I ed. ^२ स्वाति (मि) I ed. ^३ नृत्य
 I ed. ^४ ख. ग. घ. तनोम्यतस्ततादीनि fn. I ed. ततानियततादीनि (D).
^५ मिति I ed.

स्वात्यादिभिर्गणैः अनन्दि सम्यक्कृतमित्यर्थः; वाद्यवादनसमयानाह—
 अभिषेके इति । उत्पाते उत्पाते भूते भूतावेशादिबाधामु, संभ्रमे संभ्रमेषु
 देवतामहोत्सवादिषु राजाभिषेकादिषु सर्वाणि वाद्यानि वाद्यन्ते । अल्पे
 मङ्गले कानिचित् लोकस्थितिमनतिक्रम्य अल्पान्येव वादनीयानीत्यर्थः ।
 रङ्गसंस्थानां नर्तकानां गायतां च ^३कुशीलवादीनां ^४विश्रान्तौ च स्वल्पान्येव
 वाद्यानि वादनीयानीत्यर्थः । ^५वाद्यानि स्तुवन्नुपयोगमाह—एतानीति ।
 यतः तानि पटहादिवाद्यानि संग्रामे रणे वीराणामुत्साहमुत्पादयन्ति ।
 प्रहारादिदुःखं नाशयन्ति च । ततादीनि तु वाद्यानि गीतादिगतं न्यूनत्वं
 तत्साम्यात्प्रच्छादयन्ति ॥ १८-२३-॥

तत्रादौ ब्रूमहे वयम् ॥ २३ ॥

तस्य वादनभेदाश्च विविधाः करसारणाः ।
 सुषिरं पटहं तस्य पाटांस्तद्वचनास्तथा ॥ २४ ॥
 पाटप्रभववाद्यानि प्रबन्धान् वाद्यसंश्रयान् ।
 मर्दलाख्यं ततो वाद्यं भेदान् मार्दलिकस्य च ॥ २५ ॥
^६गुणान् दोषांश्च तद्बृन्दं स्वरूपस्य च लक्षणम् ।
 हुडुक्काद्यवन्द्धानां स्वस्वपाटसमन्वितम् ॥ २६ ॥
 घनस्य च गुणान् दोषान् वाद्यवादकसंगतान् ।
 हस्तयोश्च गुणानत्र वाद्याध्याये यथाक्रमम् ॥ २७ ॥
 अङ्गुष्ठपर्वदंध्यं स्यादङ्गुलं द्वादशाङ्गुलम् ।
 वितस्तिस्तद्द्वयं हस्तौ वाद्यभाण्ड^७मितौ भवेत् ॥ २८ ॥

^१ प्रक्षीलवादि (B). ^२ विश्रान्तौ (A). ^३ वाद्यादि श्रवणे उपयोग-
 माह (A). ^४ ततम् I ed. ^५ गुणदोषां I ed. ^६ मितौ (D).

(क०) तत्र श्रुतिस्वरविवेकनिदर्श^१कतया गीतोत्पादक-
मिति प्रथमोद्दिष्टं ततवाद्यमारभ्याध्याये क्रमेण प्रतिपाद्या-
नर्थानुद्दिशति—तत्रादौ ब्रूमहे^२ वयमित्यादिना । तस्य वादन-
भेदांश्चेत्यादिभिश्च यथाक्रमं ब्रूमहे इति क्रिया^३कारकसंबन्धो
दृष्टव्यः । वाद्यानां स्वरूपनिरूपणार्थमङ्गुलादिपरिमाणविशेषान्
लक्षयति—अङ्गुष्ठपर्वत्यादिना ॥ -२३-२८ ॥

(सु०) अस्मिन्नध्याये^४ अभिधेयान् पदार्थान् संगृह्णाति—तत्रा-
वाविति । परिभाषालक्षणमाह—अङ्गुष्ठेति । वाद्यभाण्डादीनां दण्डादीनां
च मितौ माने अङ्गुष्ठपर्वदैर्धर्ममङ्गुलं ज्ञातव्यम् । तथाविधैः द्वादशभि-
रङ्गुलैर्वितस्तिः, वितस्तिद्वयं हस्त इति ॥ -२३-२८ ॥

ग्रन्थिन्नणभिदा हीनः श्लक्ष्णः खदिरदारुजः ।

सुवृत्तः सरलो दण्डो वितस्तिपरिधिर्भवेत् ॥ २९ ॥

त्रिहस्तदैर्ध्र्यस्तावच्च सुषिरं^५ दधदन्तरा ।

सार्धाङ्गुलपरीणाहमूर्ध्वार्धो वदने तथा ॥ ३० ॥

कनिष्ठाङ्गुलिमानं^६ वाभग्नं रन्ध्रत्रयं दधत् ।

त्रेताग्निंसंस्थितं^७ यद्वा द्वे रन्ध्रे तर्जनीमिति ॥ ३१ ॥

एकमेव त्वधः शङ्कुस्थाने सार्धाङ्गुलायतम् ।

दधानः ककुभं सारं खादिरं वान्यदवाहजम् ॥ ३२ ॥

तिर्यक्संस्थेन दैर्घ्येणाष्टाङ्गुलं^८ व्यङ्गुलायतम् ।

अङ्गुला^९धिक^{१०}पार्श्वं च मध्ये कूर्मोन्नताकृतौ ॥ ३३ ॥

^१ दर्शनतया I ed. ^२ ततमित्यादिना I ed. ^३ क्रियासंबन्धो I ed.

^४ प्रतिपाद्यान् (B). ^५ दण्डकं तथा (D). ^६ स्यात् गर्भं (D). वा गर्भं I ed.

^७ ह्रवा द्वि (D). ^८ गुल I ed. ^९ गुल्या (D). ^{१०} घ. पार्श्वे

fn. I ed.

स्थितेन पत्रिकाधारगतेन च समन्वितम् ।

गर्तमध्ये च रन्ध्रेण योण्याकारेण संयुतम् ॥ ३४ ॥

रन्ध्रे^१ तस्य निविष्टेन रन्ध्रा^२स्थौल्येन शङ्कुना ।

अन्वितां पत्रिकां मिश्रलोहजां द्व्यङ्गुलायतम् ॥ ३५ ॥

चतुरङ्गुलदैर्ध्या^३ च मध्ये कूर्मोन्नता^४ बहिः ।

निम्न^५ मध्यं मनागन्तर्धारयन्तमधः पुनः ॥ ३६ ॥

द्विदण्डिकं शङ्कुनाष्टाङ्गुलदैर्ध्र्ययुजा तथा ।

वृत्तेन व्यङ्गुलस्थूलोत्तरार्धश्लक्ष्णमूर्तिना ॥ ३७ ॥

कूर्म^६ पृष्ठोन्नतं मध्यमुत्तरार्धस्य विभ्रता ।

दण्ड^७ वक्त्रं^८ मितस्थौल्या^९ धरभागयुतेन च ॥ ३८ ॥

दण्डवक्त्रप्रविष्टाधोभागेन च विराजितम् ।

एवंविधस्य दण्डस्योर्ध्वा^{१०} प्रात् सप्तदशाङ्गुले ॥ ३९ ॥

अधोभागेऽभिसदृशं विधाय विवरद्वयम् ।

^{११} एकद्विगुणां तन्वीं क्षिप्त्वा रन्ध्रे परत्र तु^{१२} ॥ ४० ॥

तन्वीप्रान्तान्तरे^{१३} क्षिप्त्वा प्रोतं तद् द्विगुणे ततः ।

^{१४} द्विगुणाकर्षणात् कर्षत् पुनरेवं समाचरेत् ॥ ४१ ॥

(क०) अथैकतन्व्यां वीणायां दण्डादिलक्षणकथनपूर्वक-
निर्माणप्रकारं तत्पवित्रतां चोक्त्वा तद्वादनप्रकारं वामदक्षिणो-

^१ तत्र I ed. रन्ध्र (D). ^२ रन्ध्रस्थौ I ed. ^३ दैर्घ्यं (D)

^४ कूर्मोन्नताद् I ed. ^५ घ. ड. मध्यां fn. I ed. ^६ दण्डकं (D)

^७ ख. पृष्ठोपमं fn. I ed. ^८ वक्त्रमित I ed. ^९ ख. मिति fn. I ed

^{१०} धार (D). ^{११} धर्वाक्षः सप्तदशाङ्गुलैः I ed. ^{१२} एकत्र द्विगुणां I ed

^{१३} च I ed. ^{१४} तत्र (D). ^{१५} द्विगुणाकर्षणात् I ed.

भयहस्तभेदास्तदुद्भववाद्यभेदांश्च दर्शयति—‘ग्रन्थित्रणभिदा-
हीनः’ इत्यारभ्य ‘घोषकश्चैकतन्त्रिका’ इत्यन्तेन ग्रन्थसंदर्भेण
स्पष्टार्थो ग्रन्थः ॥ २६-१०६ ॥

(मु०) एकतन्त्र्या वीणाया लक्षणमाह—ग्रन्थीति । ग्रन्थिः
अर्बुदमिव ‘प्रभेदः कुटिलत्वं ताभ्यां हीनः, ईलक्षणे मसृणः, सुवृत्तो वर्तुलः,
सरलो दीर्घः, वितस्तिः परिधियस्य; एवंविधः खरिकाण्डोत्पन्नो दण्डो
भवेत् । हस्तत्रयं दीर्घ्यं यस्य तावद्वस्तव्यप्रमाणं सुषिरं छिद्रमन्तरा मध्ये
दधत् धारयत्; सार्धाङ्गुलपरीणाहमिति सुषिरविशेषणम् । ऊर्ध्वमधश्च
वदने मुखद्वयं दधदिति संबन्धः । अभ्यन्तमस्फुटितं रन्ध्रत्रयं कनिष्ठाङ्गुलि-
प्रमाणं त्रेताग्निवत् संस्थितं दधत् अथवा रन्ध्रद्वयं तर्जनीप्रमाणकं
शङ्कुस्थाने अधस्तादेकं रन्ध्रं सार्धाङ्गुलिप्रमाणकं दधत् दण्डो भवेदिति
संबन्धः । ककुभं वैष्णिकप्रसिद्धं दधानः, आरः सह वर्तमानं सारं, खारि-
काण्डजम्, अन्यकाण्डजं वा तिर्यक्संस्थितेन पाश्वस्थेन देध्येण अष्टाङ्गुलम्,
अङ्गुलत्रयविस्तृतम्, अङ्गुलात् किञ्चिदधिकपाश्वं सार्धाङ्गुलपाश्वं सपादा-
ङ्गुलपाश्वं वा कूर्मवत् उन्नता आकृतियस्य; एवंविधम् । मध्ये स्थितेन
पत्रिकाया आधारभूतेन गर्तेन च समन्वितम् गर्तस्य मध्ये च
योन्याकारेण रन्ध्रेण संयुतम् शङ्कुना युक्तां पत्रिकां धारयन्तम् ।
कीदृशेन शङ्कुना? तस्य ककुभस्य रन्ध्रे निविष्टेन रन्ध्रे स्थितेन
रन्ध्रस्य अस्थौल्यमल्पं यस्य; कथंभूतां पत्रिकाम्? कास्यादिमिश्रेण
लोहेन घटितां द्व्यङ्गुलायतां चतुरङ्गुलदीर्घां च मध्ये कूर्मवत् उन्नतां
मनाक् किञ्चित् अन्तर्निम्नमध्यम्, एवंविधां पत्रिकां बहिर्धारयन्तं
‘ककुभमिति संबन्धः । अधोत्तरार्धस्य मध्यं विभ्रता शङ्कुना विराजित-
मष्टाङ्गुलं दीर्घ्यं यस्य शङ्कोः, तथाविधेन वृत्तेन वर्तुलेन द्व्यङ्गुल-
स्थूलमुत्तरार्धं यस्य, ‘ईलक्षणा मूर्तियस्य । कथंभूतमुत्तरार्धस्य मध्यम्?

१ प्रभेदे स्फुटितत्वं (B).

२ कुस्तेति (B).

३ अश्लक्षणा (B).

कूर्मपृष्ठवत् उन्नतमिति । दण्डमुखवत् प्रमाणं स्थौल्यं यस्यैवंविधेन
अधरभागेन युतेन च शङ्कुना, दण्डस्य वक्त्रे प्रविष्टः अधोभागो यस्य;
एवंविधेन च शङ्कुना विराजितं ककुभं दधानो दण्डो भवेत् ।
एवंविधस्येति । एवंविधस्य दण्डस्य अधोभागे नेत्रसदृशं विवरद्वयं
विधाय; ‘परत्र रन्ध्रे तु एकद्वित्रिगुणम् एकगुणां द्विगुणां त्रिगुणां वा
‘तन्त्रीं निक्षिप्य, ‘द्विगुणाकर्षणात् तन्त्रीं कर्षेत् आकर्षयेदिति संबन्धः
॥ २६-४१ ॥

षष्ठ्यङ्गुलपरीणाहं सुपक्वं वर्तुलं च यत् ।

तुम्बस्पोत्संघतस्तस्य वदनं द्वादशाङ्गुलम् ॥ ४२ ॥

वृत्तस्थानस्थया नाभ्याधोमुख्या मध्यरन्ध्रया ।

व्यङ्गुलायतया युक्तं पृष्ठसंश्लिष्टं पूर्वया ॥ ४३ ॥

तुम्बकं मध्यरन्ध्रं स्यात् कर्परं नालिकेरजम् ।

अन्तस्थरन्ध्रसंलग्नं पृष्ठमध्येन रन्ध्रिणा ॥ ४४ ॥

‘तं दधन्ध्रमध्येऽथ तन्त्री’प्रान्ते ‘निवेश्य तौ ।

संवेष्ट्य कीलकेऽन्तस्थे कीलकं भ्रामयेन्मुहुः ॥ ४५ ॥

तावद् यावत् दूढो बन्धस्तुम्बकस्यैव^१ जायते ।

एवं तुम्बकमुत्तानं दण्डे तज्जैनबध्द्यते ॥ ४६ ॥

दोरकं नागपाशेन द्विगुणेनान्वितं ततः ।

सुबलश्लक्ष्णसूत्रोत्थं दण्डे तुम्बोर्ध्वदेशतः ॥ ४७ ॥

संवेष्ट्य नागपाशोऽस्मिन् बद्धप्रान्तां^{१०} दृढां घनाम् ।

१ अपरत्र एकत्र रन्ध्रे (B).

२ तन्त्री (B).

३ द्विगुणां (B).

४ संघनं तस्य (D).

५ पृष्ठया I ed.

६ ड. दधत्तन्ध्रं fin. I ed.

७ प्रान्ती I ed.

८ ड. निवेशितौ fin. I ed.

९ स्थीय (D).

१० दृढं

घनं (D).

श्लक्षणां स्नायुमयीं तन्त्रीं ^१कृष्टा संपीडय पत्रिकाम् ॥ ४८ ॥

^२तन्त्र्या संवेष्टय ककुभं निबध्नीयाद् दृढं ततः

वैणवी ^३यवविस्तारं तन्त्रीं ^४द्वयङ्गुलदैर्घ्यभाक् ॥ ४९ ॥

तन्त्रीपत्रिकयोस्तरन्तोर्वा ^५नादस्य सिद्धये ।

संदिग्धपत्रिका तन्त्रीं ^६श्लेषं भेष्या ^७कलावता ॥ ५० ॥

या पक्ववेणुवल्कोत्या दोरिका त्रिवृता शुभा ।

कनिष्ठा ^८ङ्गुलिविस्तारा द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यभाक् ॥ ५१ ॥

सुवृत्ता मसृणा तुम्बादधस्तादङ्गुलत्रये ।

दण्डे संवेष्टयेन्मन्द्रस्वरस्थानोप ^९लक्षिताम् ॥ ५२ ॥

यत्राभिदधिरे धीरास्तां वीणामेकतन्त्रिकाम् ।

प्रकृतिः सर्ववीणानामेषा श्रीशार्ङ्गोदिता ॥ ५३ ॥

(सु०) ^{१०}षष्ठ्यङ्गुलेति । तुम्बं अलावुम्, षष्ठ्यङ्गुलं सुपक्वं, वर्तुलं च यद्भवेत्, तस्य वदनम् उत्सेधतः ^{११}उत्सेधात् द्वादशाङ्गुलं कुर्यात् । तत्तुम्बकं ^{१२}नाभ्या संयुक्तं नालिकेरजं कर्परं दधत् स्यात् । कथंभूतया नाभ्या? वृत्तस्थाने ^{१३}फलकसंबन्धस्थाने स्थितया, अधोमुखं यस्याः, तथा-विधया ^{१४}मध्ये रन्ध्रसंयुक्तया त्र्यङ्गुलेन ^{१५}आयामेन युक्तया, तुम्बस्य पृष्ठे ^{१६}संश्लिष्टं पूर्वं यस्या इति । कथंभूतं कर्परम्? अन्तः सन्निष्ठं ^{१७}रन्ध्रयुक्तं च, रन्ध्रं मध्येन दधदिति संबन्धः । तस्य रन्ध्रस्य मध्ये तन्त्रीप्रान्ते निवेश्य अन्तस्थे कोलके संवेष्टय तं कोलकं मुहुस्तावद् भ्रामयेत्,

^१ कृत्वा (D). ^२ तदा (D). ^३ घन (D). ^४ तन्त्री I ed.

^५ ख. ग. जीवना ड. जीवो ना fn. I ed. ^६ श्लक्ष्णं (D). ^७ ड. कला च

सा fn. I ed. ^८ तत्र विस्तारा I ed. ^९ लक्षिकां I ed. ^{१०} षष्ठ्य (A).

^{११} छेदतः छेदात् (A), (B). ^{१२} नाभि (B). ^{१३} फलसंबन्धन (A), (B).

^{१४} मध्यरन्ध्रयुक्तया (B). ^{१५} आयामेन (A). ^{१६} संयुक्तं पृष्ठं (B).

^{१७} संश्लिष्टं पृष्ठं (A). ^{१८} रन्ध्रयुक्तेन रन्ध्रिणा मध्येन (B).

यावत्तुम्बस्य बन्धो दृढो जायते । एवमिति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण उत्तानं तुम्बकं तज्जैः वैणिकैः दण्डे निबध्यते । ततः अनन्तरं ^१सुबलेन श्लक्षणेन सूत्रोत्थं दोरकं द्विगुणेन नागपाशेन अन्वितं तुम्बोर्ध्वप्रदेशे दण्डे संवेष्टय, अस्मिन् नागपाशे बद्धप्रान्ते यस्यैवविधा स्नायुमयीं तन्त्रीं कृष्ट्वा आकृष्य पत्रिकां च संवेष्टय दृढं ककुभं तथा तन्त्र्या निबध्नीयादिति संबन्धः । ततः अनन्तरं वैणवी ^२वेणुरचित्ता यवमात्रा यामा ^३द्वयङ्गुलदीर्घा वर्तुला तन्त्री स्यात् तां ततः, तुम्बादधोभागे दण्डे संवेष्टयेत्; मन्द्राणां स्वराणां स्थानोप ^४लक्षणाय । एवंविधं लक्षणं यस्या विद्यते तां वीणामेक-तन्त्रीमित्याहुः । इयं सर्वासां वीणानां प्रकृतिः । अन्यास्वनुक्तं लक्षण-मेतस्या गृहीतव्यमित्यर्थः ॥ ४२-५३ ॥

^५दर्शनं स्पर्शनं चास्या भोगस्वर्गाप ^६वर्गदम् ।

^७पुनाति ब्रह्महत्यादिपातकैः पतितं जनम् ॥ ५४ ॥

दण्डः शंभुस्मा तन्त्री ककुभः कमलापतिः ।

इन्दिरा पत्रिका ब्रह्मा तुम्बं नाभिः सरस्वती ॥ ५५ ॥

दोरको वासुकिर्जीवा मुद्रांशुः सारिका रविः ।

सर्वदेवमयी तस्माद् वीणेयं सर्वमङ्गला ॥ ५६ ॥

अधस्तुम्बमधोवक्त्रं ^{१०}मूर्ध्वा तन्त्री ^{११}यथा भवेत् ।

तथास्या ^{१२}दोरिकादेशं वामस्कन्धे निधाय च ॥ ५७ ॥

ककुभं दक्षिणस्याङ्ग्रेः पाष्ण्यां संधाय यन्ततः ।

न्यस्तां पृष्ठे कनिष्ठाया वामहस्तस्य कन्निकाम् ॥ ५८ ॥

^१ प्रखरलक्षणं सूत्रोत्थं (A) प्रखरलक्षणसूत्रे (B). ^२ प्रवेशेन (B).

^३ तेषु रचित (A). ^४ यामात् (A). ^५ लक्षिकाया (B). ^६ दर्शनस्पर्शने

I ed. ^७ वर्गदे I ed. ^८ पुनीतो विप्र I ed. ^९ दोरिका I ed.

^{१०} मूर्ध्वा I ed. ^{११} यथा I ed. ^{१२} दारिका (D).

१सारणात् सारणेत्युक्तामनामाङ्गुलिर्वेष्टिताम् ।
 आकुञ्चन् २मध्यमं ३पार्श्वं लग्नं तर्जनीका^४प्रतः ॥ ५६ ॥
 निपीडघोरः स्थलासन्नं तन्त्री^५मधिनधाय च ।
 ऊर्ध्वाधः सारयेन्नादसिद्धये हस्तं तु दक्षिणम् ॥ ६० ॥
 त्यक्त्वा वितस्ति जीवा^६तस्तन्त्री^७ विन्यस्य सारयेत् ।
 अन्यत्रोपरिवाद्यान्तं नोर्ध्वं वक्षःस्थलान्नयेत् ॥ ६१ ॥

(सु०) एकतन्त्रीं वीणां स्तौति—दर्शनेति । वीणावादनं विन्या-
 समाह—अथ इति । अधोमुखं तुम्बम् । अधस्तात् द्विधा भवति । १तन्त्री
 चोर्ध्वं भवेत् । तथा दोरिकादेशं वामे स्कन्धे निधाय स्थापयित्वा ककुभं
 च दक्षिणचरणस्य पार्श्वं यत्नतो संधाय^{१०} उपसारयित्वा वामहस्तस्य
 ११कनिष्ठायाः पृष्ठे न्यस्तां स्थापितां कन्निकां वेणुदण्डां सारणात् अध
 उर्ध्वं प्रसारणात्, सारणाशब्दाभिधेयं १२अनामिकं किञ्चिदङ्गुलिर्वेष्टितामा-
 कुञ्चन्त्या मध्यमायाः पार्श्वं लग्नां, तर्जनीकाग्रेण निपीड्य तन्त्र्याः समीपे
 निधाय कन्नामूर्ध्वाधः सारयेदिति संबन्धः । दक्षिणं तु हस्तं जीवातो
 वितस्ति त्यक्त्वा तन्त्र्यां विन्यस्य स्थापयित्वा सारयेत् । तं दक्षिणहस्तम्
 उपरि वाद्यान्यत्र वक्षःस्थलादुर्ध्वं न नयेदिति ॥ ५४-६१ ॥

कन्निका तत्किंवा चोक्ता सारणा सा चतुर्विधा ।

उत्क्षिप्ता संनिविष्टाऽभ्योभयो स्यात् कम्पितेत्यपि ॥ ६२ ॥

- १ सारणा सारणे I ed. २ मध्यमा I ed. ३ व. ड. पार्श्वं fn. I ed.
 ४ लग्नां I ed. ५ ख. तर्जनीका ततः fn. I ed. ६ मध्ये (D). ७ च.
 जीवान्तस्त fn. I ed. ८ ख. ग. तस्तन्त्री वि घ. तस्तन्त्र्या वि fn. I ed.
 ९ तन्त्रीवक्त्रं चोर्ध्वं (B). १० सारयित्वा (B). ११ कनिष्ठायां (B).
 १२ अनामं किञ्चिदङ्गुलि (B).

श्लिष्टा तन्त्री यदोत्प्लुत्य निपतेत् सारणा^१न्मुहुः ।
 तदोत्क्षिप्ता संनिविष्टा^२ स्पृष्ट्वैवं सारणे भवेत् ॥ ६३ ॥
 क्रमादेतद् द्वयाभ्यां स्यादुभयो सारणा मता ।
 स्वरस्थाने कम्पनेन कम्पिता कन्निकोच्यते ॥ ६४ ॥
 घातः पातश्च संलेखस्तथोल्नेखावले^३खकौ ।
 भ्रमरः संघितच्छिन्नौ नवमी नखकर्तरी ॥ ६५ ॥
 व्यापारा दक्षिणस्येति पाणेरवामस्य तु द्वयम् ।
 स्फुरितः^४ खसितश्चेति करयोर्लभयोस्त्वमी ॥ ६६ ॥
 घोषो रेफोऽथ बिन्दुः स्यात् कर्तरी चार्धकर्तरी ।
 निष्क्रोटिताख्यः स्खलितः शुकवक्त्रश्च मूर्च्छना ॥ ६७ ॥
 ५तलहस्तोऽर्धचन्द्रश्च प्रसारः ६कुहरोऽपरः ।
 त्रयोदशेति सर्वेऽमी स्पृश्वतुर्विंशतिर्युताः ॥ ६८ ॥
 करनामान्यपीमानि मन्वते वाद्यवेदिनः ।

(सु०) सारणाभेदानाह—कन्निकोति । वादनवेणुदण्डरूपं कन्नि-
 का सा । तस्याः क्रिया च सारणेत्युच्यते । सा सारणा चतुर्विधा;
 उत्क्षिप्ता, संनिविष्टा, उभयो, कम्पितेति । एतासां लक्षणमाह—
 श्लिष्टेति । यदा कन्ना तन्त्र्या श्लिष्टा सती १तन्त्रीमुत्प्लुत्य पूर्वस्थानं
 विमुच्य दूरं गत्वा मुहुः वारं वारं २भरेत् सारणान्निपतेत् अधोगच्छेत्;
 तदा उत्क्षिप्ता इत्युच्यते । तन्त्रीं स्पृष्ट्वा विमुच्य कन्नायाः सारणात्
 संनिविष्टा द्वयाभ्यासात् क्रमात् अस्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा सारणाभ्यासात्
 उभयो; स्वरस्थाने कम्पनात् कम्पिता इति उच्यते । वीणावादनं

- १ सारणा I ed. २ स्पृष्ट्वैवं सारणे I ed. ३ लेखिका (D).
 ४ ड. खचित fn. I ed. चरितश्चेति (D). ५ ताल (D). ६ ककुभो (D).
 ७ तन्त्री मुद्धृत्य (A). ८ सारयेत् (A).

करव्यापारमाह—घात इति । घातादयो नव व्यापाराः दक्षिणहस्तस्य;
स्फुरित^१खसितौ द्वौ व्यापारौ वामहस्तस्य । घोषादयस्त्रयोदश व्यापाराः
द्वयोहस्तयोः, सर्वे मिलिता व्यापाराः चतुर्विंशतिः । न केवलमेतानि
हस्तव्यापारनामानि, अपि तु हस्तनामान्यपीति बाह्यवेदिन आहः
॥ ६२-६६- ॥

घातः स्यान्मध्यमाक्रान्ततर्जन्या तन्त्रिकाहतिः ॥ ६६ ॥

इति घातः (१)

घातः केवलया पातः;

इति पातः (२)

संलेखोऽन्तस्थया^२ऽऽहतिः ।

इति संलेखः (३)

अन्तर्मध्यमया घातमुल्लेखं संप्रचक्षिरे ॥ ७० ॥

इत्युल्लेखः (४)

अवल्लेखो मध्यमया स्यात् तन्त्रीताडनं बहिः ।

इत्यवल्लेखः (५)

अङ्गुल्यान्येज्ययाप्याह^३ल्लेखं चावल्लेखकम् ॥ ७१ ॥

सर्वाभिस्तिष्ठभिः^४स्ताभ्यामथवेति च ते जगुः ।

अन्तर्बहिर्मुखौ घातौ तयोस्ते ब्रुवते क्रमात् ॥ ७२ ॥

इति मतान्त^५रेणोल्लेखावल्लेखौ

^१ बलितौ (B).

^२ स्तथाऽऽहतिः I ed.

घ. स्तयाऽऽहतिः fin. I ed.

^३ हुः संलेख I ed.

^४ भिद्वाभ्या I ed (सु).

^५ रेण संलेखावल्लेखौ (सु).

ध्रमरोऽन्तःक्रमाच्छोघं चतुरङ्गुलिताडनम् ।

इति ध्रमरः (६)

मध्यमानामिकाभ्यां तु बहिर्घातोऽत्र संघितः ॥ ७३ ॥

इति संघितः (७)

तर्जनीपाश्वर्लग्नयास्तन्वया बहिरनामया ।

हननं चिच्छन्नामाच्छे श्रीमत्सोढलनन्दनः ॥ ७४ ॥

इति चिच्छन्नः (८)

क्रमाद् द्रुतं नखैर्घातश्चतुर्भिर्नखकर्तरी ।

इति नखकर्तरी (९)

इति नव दक्षिणहस्तव्यापाराः

(सु०) एतेषां क्रमाल्लक्षणमाह—घातः स्यादिति । मध्यमाङ्गुल्या^१श्लिष्टया तर्जन्या तन्त्रिकाया आघातो घात इत्युच्यते; इति घातः (१) ^२केवलं तर्जन्या रंहतिः पातः; इति पातः (२) तथा तर्जन्या ^३अन्तर्मध्ये आहतिः संलेखः; इति संलेखः (३) मध्यमया अङ्गुल्या तद्वति ^४अन्तर्मध्ये घातमुल्लेखः; इत्युल्लेखः (४) मध्यमया बहिस्तन्वयास्ताडनमवल्लेखः; इत्यवल्लेखः (५) मतान्तरमाह—अङ्गुल्येति । अन्योन्यसंश्लिष्टया अङ्गुल्या उल्लेखौवल्लेखौ (संलेखावल्लेखश्च) कार्यावित्यन्ये केचिद् आचार्या आहुः । अथवेति । त एव विकल्पेन सर्वाभिरङ्गुलीभिः तिसृभिर्द्वाभ्यां वा उल्लेखावल्लेखौ (संलेखावल्लेखौ) कर्तव्यावित्याहुः । तयोः उल्लेखावल्लेखयोः (संलेखावल्लेखयोः)

^१ अश्लिष्टया (B).

^२ केवलया तर्जन्या आहतिः (B).

^३ अन्त-

र्मध्ये (B).

^४ अन्तरघात (B).

क्रमात् अन्तर्बहिर्मुखौ^१ घातो, उल्लेखे (संलेखे) अन्तर्मुखः, अवलेखे बहिर्मुख इत्यन्ये आचार्या ब्रुवन्ते विवृणुते इति मतान्तरेण उल्लेखावलेखकौ (संलेखावलेखकौ) इत्यवलेखः (५) तन्व्या अन्तर्घतसृभिरङ्गुलीभिः क्रमात् शीघ्रं ताडनं भ्रमरः इति भ्रमरः (६) मध्यमानामिकान्यामङ्गुलीभ्यां तन्व्या बहिर्घतः संधितः इति संधितः (७) तर्जन्याः पादबे लम्नाया श्लिष्टायाः तन्व्या अनामिकया बहिः हननं घातः च्छिन्नः इति च्छिन्नः (८) चतुर्भिः अङ्गुलीभिः क्रमात् नखैः घातः नखकर्तरी इति नखकर्तरी (९) इति नव दक्षिणहस्तव्यापाराः ॥ -६६-७५- ॥

स्फुरिते^३ कम्पिता तन्त्रीः पृष्ठलग्नेव सारणा^४ ॥ ७५ ॥

इति स्फुरितः (१)

सुह्रुः सारणया तन्त्रीघर्षणं खसितो मतः ।

इति खसितः (२)

इति वामहस्तव्यापारद्वयम्

तन्त्री लग्नाङ्गुष्ठापार्श्वं कर्तरीवच्च हन्यते ॥ ७६ ॥

कनिष्ठासारणाभ्यां वा यत्रासौ घोष उच्यते ।

इति घोषः (१)

दक्षिणानामया यत्र तन्त्रीरन्तर्निहन्यते ॥ ७७ ॥

वामस्य मध्यमाङ्गुल्या बहिस्तं रेफमूचिरे ।

इति रेफः (२)

अनामया बहिस्तन्त्रीघाताज्जातो यदा ध्वनिः ॥ ७८ ॥

^१ मुखौ घातो (A). ^२ अन्तर्मुखः (B). अन्तर्मुखावलेखे (A).

^३ स्फुरितः कम्पितस्तन्त्री पार्श्ववर्त्तनैः प्रसारणात् (D). ^४ घ. कम्पते fin. I ed.

^५ ग. सारणम् fin. I ed. ^६ त्वन्तस्तन्त्री नि (D).

तर्जन्या धार्यते बिन्दुनिःशङ्कनोदितस्तदा ।

इति बिन्दुः (३)

अङ्गुलीभिश्चतसृभिः क्रमेण करयोद्वयोः ॥ ७९ ॥

बहिस्तन्त्रीहृतिस्तूर्णं कर्तरी कीर्तिता बुधैः ।

इति कर्तरी (४)

दक्षिणः कर्तरीं कुर्याद् वामहस्तस्तु तन्त्रिकाम् ॥ ८० ॥

यत्र सारणया हन्ति प्राहुस्तामर्धकर्तरीम् ।

इत्यर्धकर्तरी (५)

उत्सृष्ट^१ सारणा यत्र हन्ति तन्त्रीं प्रदेशिनीं ॥ ८१ ॥

निष्कोटिताभिधं पाणिममुं वाद्यविदो विदुः ।

इति निष्कोटितः (६)

उत्क्षिप्तया सारणया वामस्तन्त्रीं द्रुतं यदा ॥ ८२ ॥

निहन्ति कर्तरीतुल्यो दक्षिणः स्थलितस्तदा ।

इति स्थलितः (७)

तन्त्रीकुर्वोऽङ्गुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां शुकवक्त्रकः ॥ ८३ ॥

इति शुकवक्त्रकः (८)

उद्वेष्टपरिवर्तभ्यां तन्व्यां भ्राम्यति दक्षिणे ।

स्वरस्थाने द्रुतं कन्नासारणं मूर्च्छना मता ॥ ८४ ॥

इति मूर्च्छना (९)

तलेन दक्षिणो हस्तस्तन्त्रीं हन्ती^२तरः पुनः ।

^१ उत्सृज्य (D). ^२ सारणां (D). ^३ प्रदेशिनीं (D). ^४ नखेन

(D). ^५ हन्त्योभयः करः (D).

प्रदेशिन्या स्पृशेद् यत्र तलहस्तो भवेदसौ ॥ ८५ ॥

इति तलहस्तः (१०)

स्पर्शोऽङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यामर्धचन्द्रोऽभिधीयते ।

इत्यर्धचन्द्रः (११)

चतुरङ्गुलिसंघाते कुञ्चिताङ्गुष्ठके तले ॥ ८६ ॥

कनिष्ठातर्जनीपाश्वर्शस्तन्व्याः^१ प्रसारकः ।

इति प्रसारकः (१२)

करस्य किञ्चित् साङ्गुष्ठसकलाङ्गुलिकुञ्चने ॥ ८७ ॥

कनिष्ठाङ्गुष्ठसंस्पर्शस्तन्व्याः^२ स्यात् कुहरः करः ।

इति कुहरः (१३)

इति त्रयोदशोभयहस्तव्यापाराः

(मु०) वामहस्तव्यापारद्वयं लक्षयति—स्फुरित इति । तन्व्या पृष्ठे लम्बा सारणा^३ कम्पिता इव यत्र स स्फुरितः इति स्फुरितः (१) सारणया मुहुः पुनः पुनः, यत्र तन्व्याः घर्षणं सः^४ खसितः इति खसितः (२) इति वामहस्तव्यापारद्वयम् । त्रयोदशविधमुभयहस्तव्यापारं लक्षयति—तन्त्रीति । यत्र तन्त्री हि; लम्बाङ्गुष्ठपाश्वर्शं लघ्वमाङ्गुष्ठपाश्वर्शं यस्याम्, एवंविधा कर्तरीवत्, कनिष्ठया सारणया कम्पया वा हन्यते स घोषः इति घोषः (१) दक्षिणानामया दक्षिणहस्तस्य वा अनामिका तथा तन्त्री अन्तः निहन्यते, वामस्य वामहस्तस्य मध्यमाङ्गुल्या बहिश्च निहन्यते तं रेफमित्याहुः; इति रेफः (२) अनामया अनामिकया अङ्गुल्या बहिः तन्व्या घातात् जातो ध्वनिः यदा तर्जनी धार्यते^५ स्थिते

^१ ख. स्तन्यां प्र. fn. I ed.

^२ ख. स्तन्यां स्या fn. I ed.

^३ कम्पन

इव (B).

^४ खसितः (B).

^५ स्थितैरेव क्रियते (A), (B).

सति, एवं क्रियते तदा बिन्दुः इति बिन्दुः (३) ^१द्वयोः करयोः हस्तयोः चतसृभिः अङ्गुलीभिः तन्व्या बहिः तूर्णं शीघ्रं, तन्त्रीहतिः, तन्व्या घातः कर्तरी स्यात्; इति कर्तरी (४) दक्षिणः दक्षिणहस्तः यत्र पूर्वोक्तां कर्तरीं करोति, वामस्तु सारणया कम्पया तन्त्रिकां हन्ति, ताम्^२ अर्धकर्तरीत्याहुः; इत्यर्धकर्तरी (५) यत्र प्रदेशिनी तर्जनी उत्सृष्ट-सारणां, सारणां कक्षां त्यक्त्वा तन्त्रीं हन्ति, अमुं पाणिं निष्कोटिता-भिधमिति वाद्यविद आहुः; इति निष्कोटितः^३ (६) यत्र वामः वामहस्तः तस्य तर्जनी, तथा, उत्क्षिप्तया ध्वनितया सारणया कम्पया यदा तन्त्रीं द्रुतं हन्ति, दक्षिणः, दक्षिणहस्तः कर्तरीमुल्यः कर्तरीहस्तसदृशः तदा स्थलितः इति स्थलितः (७) अङ्गुष्ठतर्जनीरग्राम्यां तन्व्या कर्षः आकर्षणं यत्र तं शुकवक्त्रमित्याहुः; इति शुकवक्त्रकः (८) दक्षिणे दक्षिणहस्ते^४ तन्व्या उद्वेष्टपरिवर्तान्यां वामदक्षिणगामित्वेन ध्राम्यति सति, स्वरस्थाने द्रुतं कम्पयाः सारणं मूच्छना भवति; इति मूच्छना (९) दक्षिणहस्ततलेन तन्त्रीं हन्ति, इतरः वामहस्तः पुनः प्रदेशिन्या तर्जनीया तन्त्रीं यत्र स्पृशेत् असौ तलहस्तो भवेत्; इति तलहस्तः (१०) अङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां तन्व्या स्पर्शः अर्धचन्द्रः इत्यर्धचन्द्रः (११) तले कुञ्चिताङ्गुष्ठके सति, चतसृष्वङ्गुलीषु मिलितासु कनिष्ठातर्जनीयोः पाश्वर्श्यां तन्व्याः स्पर्शः प्रसारः; इति प्रसारकः (१२) करस्य, हस्तस्य अङ्गुष्ठसहितास्वङ्गुलीषु, ^५किञ्चित् अल्पमाकुञ्चितासु तन्व्यां कनिष्ठया अङ्गुष्ठेन च स्पर्शः कुहरः; इति कुहरः (१३) इति त्रयोदशो-भयहस्तव्यापाराः ॥ -७५-८८- ॥

एतद्वस्तुसमायोगाद् वादनं वाद्यमुच्यते ॥ ८८ ॥

^१ द्वयोन्रतयोस्तिसृभिः अङ्गुलीभिः (A).

^२ सारणया (A).

^३ ऊर्ध्व-

कर्तरी (A).

^४ निष्कोटिजः (A).

^५ शुकवक्त्रः (A).

^६ हस्तेन (B).

^७ उद्वेग परि (A).

^८ द्रुततरो (A).

^९ नखे कुञ्चिते अङ्गुष्ठके (A).

^{१०} मध्यमा कुञ्चितासु तन्व्यां (A).

छन्दो धारा कैकुटी ^१च कङ्कालं वस्तु च द्रुतम् ।
गजलीलं दण्डकं चोपरिवाद्यमतः परम् ॥ ८६ ॥
वाद्यं पक्षिरुतं चेति दशधा परिकीर्तितम् ।
खसितस्फुरितौ यत्र क्रियेते बहुधा करौ ॥ ९० ॥
^२तारं च स्पृश्यते ^३स स्याच्छन्दो ^४यतिमनोहरः ।

इति छन्दः (१)

स्खलितो मूर्च्छना वाद्य कर्तरीरेफसंयुतौ ॥ ९१ ॥
उल्लेखरेफौ यत्रास्तां धारां ब्रूते हरप्रियः ।

इति धारा (२)

शुकवक्त्रः स्फुरितको घोषः स्यादर्धकर्तरी ॥ ९२ ॥
क्रमादेते करा यत्र तामाहुः कैकुटीं बुधाः ।

इति कैकुटी (३)

स्फुरितमूर्च्छनासंज्ञेः कर्तरीव्रितयेन च ॥ ९३ ॥
युक्तं करैः क्रमादेभिः कङ्कालं कथितं बुधैः ।

इति कङ्कालम् (४)

स्पृष्टतारमुपेतं यत् कर्तर्या ^५खसितेन च ॥ ९४ ॥
कुहरेणाय तद्वाद्यं वस्तु वस्तुविदो विदुः ।

इति वस्तु (५)

कर्तरीखसितौ यत्र क्रमेण कुहरः करः ॥ ९५ ॥
रेफभ्रमरघोषाश्च तद् द्रुतं ब्रुवते बुधाः ।

इति द्रुतम् (६)

बहुधा मूर्च्छना हस्ताः स्फुरिताः कर्तरी ततः ॥ ९६ ॥
खसितो यत्र तत् प्राहुर्गजलीलं कलाविदः ।

इति गजलीलम् (७)

स्खलितो मूर्च्छनाख्यश्च कर्तरीरेफसंयुतः ॥ ९७ ॥
खसितो यत्र वाद्यज्ञा दण्डकं तद्वभाषिरे ।

इति दण्डकम् (८)

ऊर्ध्वाधोगौ क्रमाद्वस्तौ रेफकर्तरीकाह्वयौ ॥ ९८ ॥
निष्कोटित^१ तले हस्तौ^२ द्वावप्युपरिवाद्यकम्^३ ।

इत्युपरिवाद्यकम् (९)

^४समस्तहस्तवाद्यं तु वाद्यं पक्षिरुतं मतम् ॥ ९९ ॥

इति पक्षिरुतम् (१०)

इति दशविधं वाद्यम्

(सु०) पूर्वोक्तं वाद्यं लक्षणपूर्वकं विभज्यते—एतदिति । एतेषां पूर्वोक्तानां हस्तव्यापाराणां घातादीनां ^५समायोगात् ^६मेलनात् यद् वादनं तद् वाद्यं इत्युच्यते । तस्य छन्द आदयः पक्षिरुतान्ता दश भेदाः । तान् क्रमेण लक्षयति—“खसितेति । यत्र ^७खसितस्फुरितौ पूर्वोक्तौ वामौ करौ बहुधा मुहुर्मुहुः क्रियेते, विधीयेते, तारस्थानं च स्पृश्यते स छन्दः; इति छन्दः (१) उल्लेखरेफौ, पूर्वोक्तौ करौ उल्लेखादिकरसंयुक्तौ, कर्तरीरेफसंयुतौ; कर्तर्यादिरेफसंयुतौ च, अथ मूर्च्छना स्खलितश्च यत्र आस्तां तां धारामिति हरप्रियः ब्रूते; इति ^८धारा (२) शुकवक्त्रादयः कराः

^१ कोटिते I ed. ^२ हस्ते I ed. ^३ वाद्यके I ed. ^४ समस्तहस्तस्य

(D). ^५ मेलनाय वाद्यते (A). ^६ खसितेति (A). ^७ खसितस्फुरितौ (A). ^८ धारणा (A).

^१ ज (D). ^२ करः (D). ^३ सम्यक् (D). ^४ यदि (D).

^५ स्खलितेन च इति ऋचिन् पाठः fn. I ed.

क्रमात् यत्र क्रियन्ते सा ^१कैकुटी इति कैकुटी (३) स्फुरितमूर्च्छना नव-
कर्तरीकर्तयैर्धकर्तरीभिः क्रमाद् (स्तेः?) करैर्युक्तं कङ्कालः इति कङ्कालः
(४) यत्र वाद्ये स्पृष्टतारस्थानोपेतं, ^२तारस्थानस्थस्पर्शं कर्तरी^३खसित-
कुहराश्च कराः क्रियन्ते तद् वाद्यं वस्तु इति वाद्यवेदिन आहः; इति
वस्तु (५) यत्र क्रमेण कर्तयैर्वायः कराः क्रियन्ते तद् द्रुतम्; इति द्रुतम्
(६) यत्र मूर्च्छना हस्तः बहुधाः बहवः, ततः अनन्तरम्; स्फुरितकर्तरी-
^४खसिताः, तत् कलावेदिनः गजलीलमिति प्राहुः; इति गजलीलम् (७)
स्खलितादयः कराः क्रमेण यत्र क्रियन्ते तद् दण्डकम् इति दण्डकम् (८)
हस्तौ, द्वौ हस्तौ ^५क्रमात् ऊर्ध्वधोनी दक्षिणहस्तः ऊर्ध्वप्रचारवान्,
वामहस्त अधःप्रचारवान्; ततः अनन्तरं दक्षिणो रेफः, वामः
कर्तरी; ततो दक्षिणो निष्कोटितः, वामः ^६तलहस्तः, तदुपरिवाद्यकम्
इत्युपरिवाद्यकम् (९) समस्तानां घातादीनां हस्तानां वाद्यं पश्चिस्तम्;
इति पश्चिस्तम् (१०) इति दशविधं वाद्यम् ॥ ८८-९९ ॥

सकलं निष्कलं चेति द्विविधं वाद्यमच्यते ।
तन्त्रीसंलग्नजीवातः स्थूलो यत्र ध्वनिर्भवेत् ॥ १०० ॥
तदुक्तं सकलं वाद्यमपरं त्वन्यथा जगुः ।
^७आधोरिकां पत्रिकां चेत् तर्जनीस्पर्शवजितम् ॥ १०१ ॥
सार्यते कस्त्रिकावाद्यं तदाहुः सकलाभिधम् ।
अपनीय कलां कस्त्रामधो नैषाददेशतः ॥ १०२ ॥
न नयेत् तर्जनीस्पर्शं^८ तन्त्याश्वेन्नैष्कलं तदा ।
सूक्ष्मश्चात्र भवेन्नादः सारणामत्र केचन ॥ १०३ ॥

^१ कौमुदी (B). ककुटी (A). ^२ वाद्ये तारस्थानस्पर्शा (B). ^३ खसित
(A). ^४ खसिता (A). ^५ क्रमेण (A). ^६ स्थूलहस्तः (A). ^७ आधोरिकं
पत्रिकं चेत् I ed. घ. ड. आधोरिकां पत्रिकां चेत् fn. I ed. ^८ घ. ड. स्पर्श-
स्तन्त्या fn. I ed.

आमध्यमस्वरस्थानं सारणायां प्रपेदिरे ।

(सु०) अन्यथा वाद्यभेदानाह—सकलमिति । सकलनिष्कल-
भेदेन वाद्यं द्विविधम् । तत्र सकलं लक्षयति—तन्त्रीति । तन्त्या
^१संलग्नया जीवा वीणावादकप्रसिद्धा, तद्धेतुकः स्थूलो नादो यत्र भवति
^२तत् सकलं वाद्यम् । मतान्तरेण अन्यथा लक्षयति—अपर इति ।
आधोरिका पत्रिका च यत्र तर्जन्या न स्पृश्यते, कस्त्रिका च सार्यते तद्
वाद्यं सकलं इति । निष्कलवाद्यं लक्षयति—अपनीयेति । अधः नैषाददेशतः
निषादप्रदेशात्, कलां कलासंज्ञिकाम्, कस्त्राम् अपनीय अपसार्यते तन्त्यां
तर्जनीस्पर्शं न नयेत् न प्रापयेत् यदि, तदा निष्कलं वाद्यमिति । अत्र
निष्कले वाद्ये सूक्ष्मो नादो भवेदिति, केचन आचार्याः सारणायां कस्त्रायां,
आमध्यमस्वरस्थानं मध्यमस्वरस्थानपर्यन्तं सारणक्रियां प्रपेदिरे इति
अङ्गघकार्पुः ॥ १००-१०४- ॥

अवोचदिति निःशङ्कः शिष्याभ्यासाय वादनम् ॥ १०४ ॥
श्रुत्यादिक्रमतो गीतं^३निष्पत्तौ त्विदं^४मादिशेत् ।
वक्ष्यामः स्वररन्ध्राणां यद् वंशेऽष्टा^५दशाङ्गुले ॥ १०५ ॥
प्रथमे सप्तके स्थानं वीणायामपि तन्मतम् ।
स्वराणां किंतु वीणानामधराधरतारता ॥ १०६ ॥
मध्यमे सप्तके स्थानं ततः स्याद् द्विगुणान्तरम् ।
तृतीये सप्तके स्थानं ततोऽपि द्विगुणान्तरम् ॥ १०७ ॥
^६अङ्केतं च स्वरस्थानान्यमूनि^७मुखबुद्धये ।

^१ संलग्नया या (B). ^२ तदा (B). ^३ निष्पत्त्यै (D). ^४ मादिशत्
(D). ^५ षष्ठाङ्गुलान्तरम् (D). ^६ अङ्कित्वा यत् स्व (D). अङ्कघते (सु०).
^७ च मुखबुद्धये (D). च. मुखसिद्धये fn. I ed.

यथास्वं स्वर^१भेदानां विभागा^२च्छतिदेशधीः ॥ १०८ ॥

स्याद् ग्राममूर्च्छनादीनामुद्बोधः सुकरस्ततः ।

^३एषोऽपि जनकः प्रोक्ता घोषकश्चैकतन्त्रिका ॥ १०९ ॥

इत्येकतन्त्रीवीणालक्षणम्

(सु०) वाद्यनिरूपणप्रयोजनमाह—अबोचदिति । इदं वादनं शाङ्गेदेवः शिष्याभ्यासार्थमबोचत् । श्रुत्यादिक्रमेण गीतनिष्पत्ति^४ इदं वक्ष्यमाणमकथयत् । वक्ष्यमाणमेवाह—वक्ष्याम इति । द्वादशाङ्गुले वंशे प्रथमसप्तके यद् रन्ध्राणां स्थानं वक्ष्यामः तदेव स्वराणां स्थानं, वीणा-यामपि ज्ञातव्यम् । किं त्वयं विशेषः—वीणासंबन्धिनो स्वराणामधरा-धराणां तारत्वम्; वेणुवाद्यानामधराधराणां मन्द्रत्वमिति । मध्यम इति । वीणायां मध्यमे^५ सप्तके स्वराणां स्थानम्; ततः अष्टादशाङ्गुलवंशात् द्विगुणान्तरं कार्यम् । तृतीये सप्तके मध्यमसप्तकात् द्विगुणान्तरं स्वराणां स्थानम् । अङ्कुषते चित्तवृत्ते; अमूनि स्वरस्थानानि स्वराणां स्थानानि सुखबुद्धये सुखबोधार्थमुपयुज्यन्ते । स्वरदेशानां^६ यथास्वं श्रुतिसंख्याया विभागात् श्रुतिस्थानस्य धीर्ज्ञानम् । चतुःश्रुतीनां स्वराणां स्थानं चतुर्धा विभजेत् । त्रिश्रुतीनां त्रिधा, द्विश्रुतीनां द्विधेति । एवं श्रुतिपरिज्ञाने ग्राममूर्च्छनातानकूटतानालंकारादीनामुत्कृष्टो बोधः सुगमः^७ एषोऽपि वीणाजनको घोषः एकतन्त्रीति बोध्यते ॥ १०४-१०९ ॥

इत्येकतन्त्रीवीणालक्षणम्

तन्त्रीद्वयेन नकुलः स्यादन्वर्था त्रितन्त्रिका ।

तन्त्रीभिः सप्तभिश्चित्रा विपञ्ची नवभिर्मता ॥ ११० ॥

^१स्वरदेशानां (D). ^२विभागाश्चेति (D). ^३एषा पिञ्जरिकाः(?)

I ed. घ. एषोऽपि जनकः च. एषोऽपि जनकः fn. I ed. ^४निष्पत्तिः (B).

^५मध्यमसप्तके (A). ^६यथोक्तं (A).

कोणाङ्गुलीवादीनीया चित्रा तद्वद् विपञ्चिका ।

क्रमादन्येऽङ्गुलीकोणव्यवस्थामूचिर^१ तयोः ॥ १११ ॥

चित्रायामङ्गुलीमात्रं विपञ्च्या^२सुभयं परे ।

तन्त्रीणामेकविंशत्या कीर्तिता मत्तकोकिला ॥ ११२ ॥

मुख्येयं सर्ववीणानां त्रिस्थानैः सप्तभिः स्वरैः ।

संपन्नत्वात् तदन्यास्तु तस्याः प्रत्यङ्गमीरिता ॥ ११३ ॥

करणै^३श्चित्रयन्त्यस्तास्तस्याः स्युरपरञ्जिकाः ।

(क०) नकुलादीनां लक्षणान्यपि स्पष्टार्थानि । तत्र त्रितन्त्रिकैव लोके जन्तृशब्देनोच्यते । मत्तकोकिलैव लोके स्वर-मण्डलमित्युच्यते । मुख्येयमित्यादि । इयं मत्तकोकिला सर्व-वीणानां मुख्या प्रकृतिरित्यर्थः । तत्र हेतुः—त्रिस्थानैः सप्तभिः स्वरैः संपन्नत्वादिति । त्रिस्थानैः, मन्द्रमध्यताराख्यस्थानत्रयोद्-भूतैरित्यर्थः । तदन्यास्त्विति । मत्तकोकिलातो व्यतिरिक्ता वीणास्तु, तस्या मत्तकोकिलायाः । प्रत्यङ्गमीरिता इति । विकृतय इत्यर्थः । करणैश्चित्रयन्त्य इति । करणानि अनन्तरं वक्ष्यमाणानि रूपादीनि । तस्याः स्युरपरञ्जिका इति तदनुवादित्वादित्यर्थः ॥ ११०-११४ ॥

(सु०) नकुलादिलक्षणमाह—तन्त्रीति । द्वाभ्यां तन्त्रीभ्यां युक्तो नकुलः । त्रितन्त्रिका; अन्वर्था, त्रिभिस्तन्त्रीभिर्युक्ता त्रितन्त्रिका; सप्तभिः तन्त्रीभिः चित्रा; नवभिः तन्त्रीभिः विपञ्ची इति । एतासां मध्ये चित्रा विपञ्ची च कोणेन वीणादिवादनने वेणवादिना

^१ज्ययोः (D). ^२सुभयं (D). ^३चित्रयन्त्यस्ता (D).

अङ्गुलीभिश्च वादनीया । मतान्तरमाह—**क्रमादिति ।** अन्येः केचित्, तयोः चित्ताविपञ्चयोः **अङ्गुलिकोणव्यवस्थाम्** ; अङ्गुलिकोणे^१ व्यवस्थाम् ऊचिरे आहुः, चित्ता अङ्गुलीभिः, विपञ्ची कोणेनेति । परे अन्ये तु, चित्रायाम् अङ्गुलीमात्रम् ; विपञ्चयाम् अङ्गुलीभिः कोणेन च वादनीयेत्यहुः । **एकविंशत्या** एकविंशतिसंख्याभिः तन्त्रीभिः **मत्तकोकिला ।** इयं मत्तकोकिला, सर्ववीणाणां सर्वासां वीणाणां मध्ये **मुख्या**, विस्थानस्थैः सप्तभिः स्वरैर्युक्तत्वात् । **अन्याः** वीणाः नकुलादयस्तु मत्तकोकिलाया अङ्गम् । विचित्रयन्त्र्यः ताश्च वक्ष्यमाणलक्षणैः करणैः, तां मत्तकोकिलां चित्रयन्त्र्यः ताः तस्या उपरञ्जिकाः उपरञ्जनहेतवः ॥ ११०-११४-॥

रूपं कृतप्रतिकृतं प्रतिभेदस्ततः परम् ॥ ११४ ॥
स्याद् रूपशेषमोघश्च प्रतिशुष्केति षड्विधम् ।
करणं तस्य वक्ष्यामि लक्ष्मोदाहरणैः समम् ॥ ११५ ॥
मुख्यवीणाप्रयुक्तस्य गुवादिभञ्जनेन यत् ।
युगपद्वादनं रूपं विपञ्च्यादिषु तद्यथा ॥ ११६ ॥
वाद्यते गुरुमुख्यायां^२ यदा द्वे लघुनी तदा ।
विपञ्च्यादौ यदा त्वस्या लस्तं दान्यासु दध्यम् ॥ ११७ ॥

इति रूपम् (१)

एतत् कृतप्रतिकृतं पश्चात् प्रत्यङ्गवादेन ।

इति कृतप्रतिकृतम् (२)

रूपक्रियाविपर्यासात् प्रतिभेदो भवेद् यथा ॥ ११८ ॥
वाद्यते लघ्वं तज्जैर्मत्तकोकिलया यदा ।

^१ कोणेष्ववस्थाम् (A). ^२ मुख्यानां (D). ^३ दान्यस्तु (D).

गुरुस्तदा विपञ्च्यादिवीणाभिरिति तद्विधिः ॥ ११९ ॥

इति प्रतिभेदः (३)

यदा विदारीविच्छेदं कुरुते मुख्यवैणिकः ।
तदान्यासां वादनं यद् रूपशेषं तदुच्यते ॥ १२० ॥

इति रूपशेषम् (४)

यदा बिलम्बितलयं प्रयुङ्कते मुख्यवैणिकः ।
^१तथैवातिद्रुतलयं करचानुर्योगतः ॥ १२१ ॥
वैपञ्चिकाद्याः कुर्युश्चेदोघमाचक्षते तदा ।

इत्योघः (५)

अंशसंवाद्यन्तरस्वरव्यञ्जिकया^२ यदा ॥ १२२ ॥
^३तन्त्र्यैकयैव करणं स्यान्मुख्यामुख्यवीणयोः ।
प्रतिशुष्कां तदाचष्ट शाङ्गदेवो विदांवरः ॥ १२३ ॥

इति प्रतिशुष्का (६)

इति षट् करणानि

(क०) रूपादीनां करणानां लक्षणान्याह—रूपमिति ।

^४मुख्यवीणाप्रयुक्तस्येति । तान्यपि स्पष्टार्थानि ॥ ११४-१२३ ॥

(सु०) करणविचित्रयन्त्र्य इत्युक्तम् । तत्र कानि करणानीत्य-
पेक्षायां विभागपूर्वकं तानि करणानि लक्षयति—रूपमिति । रूपादिभेदेन
करणं षड्विधम् । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—मुख्येति । मुख्यवीणा-
प्रयुक्तस्य मुख्यायां वीणायां प्रयुक्तो यो गुवादिः गुरुः^५प्रयुक्तः लघुर्वा तस्य

^१ तदैवाति I ed. तदैवादिद्रुत (D). ^२ यया (D). ^३ तवैकयैव (D).

^४ मुक्तवीणा (D). ^५ प्रत्ययो (A).

भञ्जनेन शकलीकरणेन विपञ्च्याविषु वीणासु युगपद्वादनं रूपम् (१); तदेव उदाहरणेन दर्शयति—तद्यथेति । वाद्यते इति स्पष्टार्थः । तदेव रूपं पश्चात् प्रत्यङ्गवादने प्रत्यङ्गे वादिते सति सर्वस्मिन्नपि गुणादौ वादिते सति स कृतप्रतिकृतम् इति कृतप्रतिकृतम् (२); पूर्वोक्तरूप-क्रियया वैपरीत्ये प्रतिभेदः; तमेव विवृत्य दर्शयति—यथेति । मुख्यो वैणिकः मत्तकोकिलाया यदा लद्वयं लघुद्वयं वाद्यते, तथैव मुख्या विपञ्च्यादि वादकाः हस्तवैदग्ध्याद् द्रुतलयं कुर्युः । तदा विपञ्च्यादि-वीणाभिः तद्विधिः गुरुः क्रियते स प्रतिभेदः इति प्रतिभेदः (३); यदा मुख्यवैणिकः मत्तकोकिलाया वादयिता विदारीणां यदा विच्छेदं करोति, तदा अन्यासां विपञ्च्यादीनां वादनं रूपशेषः इति रूपशेषः (४); यदा मुख्यवैणिकः विलम्बितलयप्रयोगं दर्शयति, तथैव अमुख्या विपञ्च्यादि-वादकाः, करञ्चातुर्ययोगतः हस्तवैदग्ध्याद् द्रुतलयं कुर्युः तदा ओघ इत्योघः (५); मुख्यामुख्यवीणयोः मुख्यवीणायां मत्तकोकिलायां, अमुख्यवीणायां विपञ्च्यादौ च अंशं संवादिनं च स्वरं विहाय, अन्यतर-स्वरव्यञ्जिकया एकयैव तन्व्या करणं स्यात्, तदा प्रतिशुष्का इति प्रतिशुष्का (६) । ॥ ११४-१२३ ॥

इति षट् करणानि

अथ धातवः

पुष्णन्ति वीणावाद्यं ये रक्ति दधति चातुलाम् ।
कुर्वन्त्य^१ दुष्टपुण्ड्रं च तान्, धातूनधुना ब्रुवे ॥ १२४ ॥
ये प्रहारविशोत्थाः स्वरस्ते धातवो मताः ।

१ प्रत्येके वादिते सति (B). २ कृतप्रति कृतान्मां पूर्वोक्त रूपक्रियायाः (B). ३ ते (D). ४ दुष्ट (D). दुष्ट I ed.

विस्तारकरणाविद्वव्यञ्जनाश्चेति धातवः ॥ १२५ ॥
चतुर्धा तेषु विस्तारश्चतुर्धा बोधितो बुधैः ।
विस्तारजश्च^१ संघातजोऽय स्यात् समवायजः ॥ १२६ ॥
अनु^२बन्धश्चेति चतुर्भेदः संघातजो भवेत् ।
द्विहृत्तरो द्विरधरोऽप्यधराद्युत्तरान्तकः ॥ १२७ ॥
उत्तराद्यधरान्तश्चेत्यष्टधा समवायजः ।
त्रिहृत्तरस्त्रिरधरोऽप्य^३ द्विहृत्तरपूर्वकः ॥ १२८ ॥
अधरान्तो द्विरधरोत्तरान्तश्चोत्तरादि^४कात् ।
परो द्विरधरोऽय स्यादधरादिद्विहृत्तरः ॥ १२९ ॥
मध्योत्तरद्विरधरोऽधरमध्यद्विहृत्तरः ।
एवं चतुर्दशविधो विस्तारः शास्त्रिणोदितः ॥ १३० ॥
करणस्य तु भेदाः स्यू रभिभोत्तचयसंज्ञकौ ।
तथा नीरटितो ह्लादोऽनुबन्ध^५ इति पञ्च ते ॥ १३१ ॥
क्षेपः प्लुतोऽतिपातश्चाति^६ कोर्णोऽप्यनुबन्धकः ।
इत्याविद्धे पञ्च भेदा दश तु व्यञ्जने मताः ॥ १३२ ॥
पुष्प^७ कलं तलं बिन्दू रेफो^८ऽनुस्वनितं ततः ।
निष्कोटितमथोन्मूढमव^९मूढोऽनुबन्धनौ ॥ १३३ ॥
इति सर्वे चतुस्त्रि^{१०}शन्मिलिता धातवो मताः ।

अथ धातवः

१ संघातः तज्जोऽतः समवा (D). २ बद्धश्चेति (D). ३ य (D).
४ सञ्ज्ञिकः (D). ५ काः (D). ६ स्यू रुहितो (D). ७ बद्ध (D).
८ चाविकी (D). ९ पुष्पकं च कलं बिन्दु (D). १० निस्वनितं I ed. अनुस्वरितं (D). ११ मूढानुबन्धनौ I ed. मूढानुबन्धनौ (D). १२ विंश (D).

(क०) धातून् लक्षयितुमादौ तत्प्रयोजनान्याह—पुष्णन्ती-
त्यादि । धातुस्वरूपमाह—ये प्रहारेत्यादि ॥ १२४-१३४-॥

(सु०) धातून् प्रयोजनपूर्वकं वक्तुं प्रतिजानीते—पुष्णन्तीति ।
ये वीणायाः पूर्वोक्तं वाद्यं पुष्णन्ति पुष्टं कुर्वन्ति, रक्तं रञ्जकत्वं च
दधति कुर्वन्ति; अदुष्टां दोषरहितां 'पुष्टि' नादं च ये धातवः कुर्वन्ति,
अधुना तान् ब्रूवे कथयामि इति । धातून् लक्षयित्वा विभजते—य इति ।
ये प्रहारविशेषेण उत्थाः उक्ताः स्वराः, ते धातवः चतुर्धा; विस्तारः;
करणः; आविद्धः, व्यञ्जनश्चेति । विस्तारोऽपि चतुर्धा, विस्तारजः;
संघातजः, समवायजः, अनुबन्धजश्चेति । संघातजोऽपि द्विरुत्तरादिभेदेन
द्विरुत्तरः, द्विरधरः, अधराद्युत्तरान्तकः, उत्तराद्यधरान्तः चेति, चतुर्विधः;
समवायजस्तु त्रिरुत्तरादिभेदेन (त्रिरुत्तरः त्रिरधरः, द्विरुत्तराद्यधरान्तः;
द्विरधरोत्तरान्तः, उत्तरादिद्विरधरः, अधरादिद्विरुत्तरः, मध्यमोत्तर-
द्विरधरः, अधरमध्यद्विरुत्तरः इति) अष्टविधः । एवं चतुर्दशविधो
विस्तारधातुः । करणधातौ रिभितादयः (रिभितः, उच्चयः, नीरटितः;
ह्लादः, अनुबन्धः इति) पञ्च भेदाः । आविद्धे क्षेपादयः (क्षेपः, प्लुतः;
अतिपातः, अतिकीर्णः, अनुबन्धकः इति) पञ्च भेदाः । व्यञ्जनस्य पुनः
पुष्पादयो (पुष्पं, कलं, तलं, विन्दुः, रेफः, अनुस्वनितं, निष्कोटितं,
उन्मृष्टं, अवमृष्टं, अनुबन्धनः, इति) दश भेदाः । एवं सर्वे मिलित्वा
चतुस्त्रिंशद्भेदा भवन्ति ॥ १२४-१३४-॥

अथ लक्षणम्

विस्तीर्णनादभेदत्वाद् विस्तारो धातुरुच्यते ॥ १३४ ॥
प्रहारलाघवात् कृत्वा स्वरानेकीकृतानिव ।

¹ पुष्टि (B).

वैचित्र्यात् क्वापि 'विश्रान्तः' स्वरो विस्तारजो भवेत् ॥ १३५

² एकविस्तारसंज्ञं तमपरे सुरयो जगुः ।

अलंकारत्वमप्यस्य निःशङ्को निरदोधरत् ॥ १३६ ॥

इति विस्तारजः

(क०) विस्तारधातुलक्षणमाह—विस्तीर्णनादभेदत्वा-
दिति । विस्तीर्णश्चासौ नादभेदश्चेति कर्मधारयः । नादभेदस्य
विस्तीर्णत्वं^१ नाम अयममुकः स्वर इति विविक्तत्वेन ज्ञानविष-
यत्वं द्रष्टव्यम् । प्रहारलाघवादिति । वादने हस्तलाघवादित्यर्थः ।
एकविस्तारसंज्ञमिति । एकस्यैव स्वरस्य विविक्तत्वादिति
भावः । अलंकारत्वमपीति । अस्य विस्तारजस्य न केवलं
स्वररूपत्वम्, किंतु विशिष्टवर्णसंदर्भस्वरूपत्वमपीत्यर्थः एवमेक-
प्रहारभवो विस्तारजः । द्विप्रहारभवः संघातजः । त्रिप्रहारभवः
समवायजः । यथायोगमेतद्भेदमिष्टाणोद्भवोऽनुबन्धो नामान्वर्थो
द्रष्टव्यम् ॥ -१३४-१३६ ॥

(सु०) तत्र विस्तारधातुभेद^२ लक्षयति—विस्तीर्णेति । विस्तीर्णो
नादभेदो यस्य स तथाविधः, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात्, विस्तारो
धातुः प्रहाराणां लाघवात् शीघ्रकरणात् एकीभूतानेव स्वरान् कृत्वा
क्वापि 'स्वरवैचित्र्यात् विश्रान्तः' विस्तारजो धातुः । अन्ये त्वेतमेक-
विस्तारमित्याहुः । शाङ्गदेवस्तु एतस्य अलंकारसंज्ञत्वमपि निरदोधरत्
निर्धारयति स्म ॥ -१३४-१३६ ॥

¹ विक्रान्तः (D).

² स्वरे (D).

³ एवं (D).

⁴ ख. ग. घ.

रधीधर in. I ed.

⁵ विस्तीर्णभेदत्वं I ed.

⁶ भेदान् (B).

⁷ स्वरे (A).

अन्नोत्तराधरो ज्ञेयो मन्द्रतारौ स्वरो क्रमात् ।
 उत्तराधर^१घातो हि तयोर्निष्पादकाविह ॥ १३७ ॥
 संघातजे ये चत्वारस्तथाष्टौ समवायजे ।
 भेदा^२स्तेऽन्वर्थनामानस्तल्लक्ष्मोक्तिरनर्थिका ॥ १३८ ॥
 तथापि बालबोधाय^३ तान् वयं विवृणीमहे ।
 मन्द्रस्वरद्विरुच्चारद् धातुरत्र द्विरुत्तरः ॥ १३९ ॥

इति द्विरुत्तरः (१)

तारस्थाने द्विराघाताद् धातुद्विरधरो भवेत् ।

इति द्विरधरः (२)

यस्त्वादितारो मन्द्रान्तः सोऽधराद्युत्तरान्तकः ॥ १४० ॥

इत्यधराद्युत्तरान्तकः (३)

आदौ मन्द्रस्ततस्तार उत्तराद्यधरान्तके ।

इत्युत्तराद्यधरान्तकः (४)

एते संघातजे^४ भेदा द्विःप्रहारभवे मताः ॥ १४१ ॥

इति संघातजस्य भेदचतुष्टयम्

(क०) अन्नोत्तराविति । अत्र, वीणायाम्, उत्तरस्वरो मन्द्रः, अधरस्वरस्तार इत्यनेन वैपरीत्यं दर्शितं भवति । शरीरे हि अधरो मन्द्रः, उत्तरस्तार इति द्रष्टव्यम् । तत्रोपपत्तिमाह—
 उत्तराधरघातो हीति । हि यस्मात्कारणात् उत्तरतन्वीघातो मन्द्रस्वरस्य निष्पादकः, अधरतन्वीघातस्तारस्वरस्येत्यर्थः ॥ १३७—१४१ ॥

^१ संघातो तयोर्निष्कोटितानि ह (D).

^२ स्तन्वर्थ (D).

^३ बोधार्थ

(D). ^४ संघातजा (D).

(मु०) अत्रेति । अत्र उत्तरो मन्द्रः, अधरस्तारः; अत्र ऊत्तर-
 'धातुमन्द्रनिष्पादकः, अधर'धातुस्तारनिष्पादक इति । संघातज इति ।
 संघातजे ये चत्वारो भेदा उक्ताः; समवायजे चाष्टौ, तेषामन्वर्थनामत्वे
 प्रसिद्धत्वेऽपि बालबोधार्थं लक्षणं कथयाम इति । मन्द्रस्वराणां द्विरुच्चा-
 रणात् द्विरुत्तरो धातुः इति द्विरुत्तरः (१); तारस्थाने द्विराघातात्
 द्विरुच्चारणात् द्विरधरः इति द्विरधरः (२); आदौ तारमुच्चार्य अन्ते
 मन्द्रमुच्चारणम् अधराद्युत्तरान्तकः इत्यधराद्युत्तरान्तकः (३); आदौ
 मन्द्रमुच्चार्य पश्चात्तारोच्चारणम् उत्तराद्यधरान्तकः इत्युत्तराद्यधरान्तकः
 (४) एते द्विःप्रहारभवे संघातजे चत्वारो भेदाः ॥ १३७—१४१ ॥

मन्द्रस्वरत्रिराघाताद् धातुमाहुस्त्रिरुत्तरम् ।

इति त्रिरुत्तरः (१)

^५ त्रिस्तारस्वरघातेन धातुस्त्रिरधरो भवेत् ॥ १४२ ॥

इति त्रिरधरः (२)

द्विरुत्तराधरान्तो द्विम्रस्तारा^६न्तगो भवेत् ।

इति द्विरुत्तराधरान्तः (३)

तारस्थानं^७ द्विःप्रहृत्य विदध्यान्मन्द्रमन्ततः ॥ १४३ ॥

यदा तदा द्विरधरोत्तरान्तो धातुरुच्यते ।

इति द्विरधरोत्तरान्तः (४)

उत्तराद्विद्विरधरे मन्द्रतारो द्वि^८रिष्यते ॥ १४४ ॥

इत्युत्तराद्विरधरः (५)

^१ घातो मन्द्र (A).

^२ घातस्तार (A).

^३ द्विप्रकारभवे (B).

^४ त्रिस्थान (D).

^५ तारोन्तरो (D).

^६ स्थाने (D).

^७ रुच्यते (D).

सकृत् तारोऽय^१ मन्द्रो द्विरधरादिद्विरुत्तरे ।

इत्यधरादिविरुत्तरः (६)

^२मध्योत्तरद्विरधरे तारौ मध्यस्थमन्द्रकौ ॥ १४५ ॥

इति मध्योत्तरद्विरधरः (७)

मन्द्राद्यन्तो भवेत् तारोऽधरमध्यद्विरुत्तरे ।

इत्यधरमध्यद्विरुत्तरः (८)

त्रिप्रहारभवे भेदाः स्युरिमे समवायजे ॥ १४६ ॥

इत्यष्टौ समवायजभेदाः

सजातीयविजातीयभेदसंमिश्रणोद्भवः ।

अनुबन्धाभिधो धातुः शाङ्गदेवेन कीर्तितः ॥ १४७ ॥

इत्यनुबन्धः

इति चतुर्विंश विस्तारजधातुभेदाः

(सु०) मन्त्रेति । मन्द्रस्वराणां त्रिराधातात् त्रिवारमाधाता-
दुच्चारणात् विरुत्तरो धातुः, इति विरुत्तरः (१); त्रिवारं तारस्वरा-
भिधातात् त्रिरधरः, इति त्रिरधरः (२); द्विमन्द्रस्वराधाते सकृत्तारे
धाते द्विरुत्तराधरान्तः, इति द्विरुत्तराधरान्तः (३); तारस्थानं द्विः
प्रहृत्य मन्द्रस्य सकृद्भाते द्विरधरोत्तरान्तः, इति द्विरधरोत्तरान्तः (४);
मन्द्रं सकृदुच्चार्य तारस्य द्विरुच्चारणे उत्तरादिविरधरः, इत्युत्तरादिविरधरः
(५); सकृत्तारमाहृत्य द्विमन्द्रधाते अधरादिविरुत्तरः, इत्यधरादिविरुत्तरः
(६); मध्यस्थो मन्द्रो ययोः, एवंविधो तारो उच्चार्यते चेत्;

^१ तारोक्त (D).

^२ मन्द्रोत्तराधरे तारो मन्द्रमध्यस्थ (D).

तार-मध्यमन्द्र-तारा उच्चार्यन्ते चेत्; तदा मध्योत्तरद्विरधरः, इति
मध्योत्तरद्विरधरः (७); मन्द्रद्वयमध्यगततारोच्चारणे [मन्द्र-मध्यतार-
मन्द्रा उच्चार्यन्ते चेत्; तदा] अधरमध्यद्विरुत्तरः, इत्यधरमध्यद्विरुत्तरः
(८); त्रिप्रहारोद्भवे समवायज एतेऽष्टौ भेदाः । अनुबन्धस्तु सुगमः
॥ १४२-१४८ ॥

इति ^१चतुर्विंश विस्तारजधातुभेदाः

लघुगुर्वात्मकैर्घातैः करणाविद्वयोः क्रियाः ॥ १४८ ॥

करणोऽल्पगुरुस्तत्र तद्भेदलक्षयेऽधुना ।

रिभितो द्वौ लघू गान्तौ

इति रिभितः (१)

चतुर्लान्तगुरुहचयः ॥ १४९ ॥

इत्युच्यते (२)

षड्लोऽन्तगु^३नीरटितः

इति ^४नीरटितः (३)

ह्लादोऽष्टलघुरन्तगः ।

इति ह्लादः (४)

करणस्यानुबन्धस्तु स्याद् विस्तारानुबन्धवत् ॥ १५० ॥

इत्यनुबन्धः (५)

इति पञ्च करणधातुभेदाः

^१ चतुर्विधा धातुविस्तारभेदाः (B). ^२ लोऽन्त (D). ^३ निरघितः (D).
^४ निरघितः (D).

(क०) करणस्यानुबन्धस्तु स्याद्विस्तारानुबन्धवदिति;
यथायोगं रिभितादिभेदमिश्रणोद्भव इत्यतिदेशार्थः ॥ १४८-
१५० ॥

इति पञ्च करणधातुभेदाः

(सु०) लघ्विति । लघुगुरुस्वरूपैः घातैः करणाविद्धयोः धात्वोः
क्रियाः तयोर्मध्ये अत्यगुरुः करणः । तस्य पञ्च भेदान् क्रमेण
लक्षयति—तद्भेदानिति । आदौ द्वौ लघू अन्ते गुरुः तदा [115] रिभितः
इति रिभितः (१); आदौ चत्वारो लघवः, अन्ते गुरुश्चेत्, [11115]
उच्चयः इत्युच्चयः (२); आदौ षड् लघवः, अन्ते गुरुश्चेत्, [1111115]
नीरटितः इति नीरटितः (३); आदावष्टौ लघवः, अन्ते गुरुश्चेत्,
[11111115] ह्लादः, इति ह्लादः (४); विस्तारानुबन्धवत् करणस्यानु-
बन्धः (५); सजातीयविजातीयभेदसंमिश्रणाज्जातव्यः ॥ १४८-१५० ॥

इति पञ्च करणधातुभेदाः

भूरिगुरुहीनो वाऽऽविद्धोऽस्य ^६विवृतैर्भिदाः ^६ ।

^६क्षेपो लघुगुरुभ्यां स्यात्

इति ^७क्षेपः (१)

प्लुतो ^८लघुगुरुभवेत् ॥ १५१ ॥

इति प्लुतः (२)

^१ क्रियातन्मध्ये (A).

^२ उच्चायः (B).

^३ ह्लादः (A).

^४ विवृणो भिदाः I ed. ^५ इति विद्धः (D). ^६ उत्क्षेपो लघुगुरुभ्यां (D).

^७ उत्क्षेपः (D). ^८ ड. लघुगुरुभवेत् fin. I ed (सु) [151].

अतिपातो लगाभ्यां द्विः

इत्यतिपातः (३)

चतुर्वारं लघो ततः ।

लघुर्यत्रातिकीर्णोऽसौ

^९इत्यतिकीर्णः (४)

अनुबन्धस्तु पूर्ववत् ॥ १५२ ॥

इत्यनुबन्धः (५)

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्च नवभिलसंघुभिः क्रमात् ।

क्षेपादयोऽत्र चत्वारो भवन्तीत्यपरेऽद्भवत् ॥ १५३ ॥

इति पञ्चाऽऽविद्धधातुभेदाः

(क०) अनुबन्धस्तु पूर्ववदिति । आविद्धधात्वनुबन्धस्तु
यथायोगं क्षेपादिभेदमिश्रणोद्भव इत्यर्थः ॥ १५१-१५३ ॥

इति पञ्चाऽऽविद्धधातुभेदाः

(सु०) आविद्धधातुभेदान् लक्षयति—भूरिगुरिति । बहुगुरुयुक्तो
गुरुहीनो वा धातुराविद्धः । तस्य भेदान् लक्षयति—क्षेप इति । एको
^{१०}लघुः गुरुद्वयं च क्षेपः [155] इति क्षेपः (१); लघुगुरुलघुभिः प्लुतः
[151] इति प्लुतः [प्लुतो लघुगुरुभवेत् [15]?] (२); द्विरुच्चारिताभ्यां
लघुगुरुभ्यामतिपातः [15, 15] इत्यतिपातः (३); चतुर्वारं लघुगुरु
^{११}उच्चार्यान्ते लघुः अतिकीर्णः [15, 15, 15, 15] इत्यतिकीर्णः (४);
सजातीयविजातीयसंमिश्रणाद् अनुबन्धः; इत्यनुबन्धः पूर्ववत् (५) ।

^१ वंदा विकीर्णो (D).

^२ इति विकीर्णः (D).

^३ लघुगुरुः (A)

[15] क्षेपः.

^४ उच्चार्यान्ते लघुः (A).

आद्यानां चतुर्णां मतान्तरेणान्यथालक्षणमाह—**द्वाभ्यामिति ।** द्वाभ्यां लघुभ्यां शेषः; [॥] त्रिभिलंघुभिः प्लुतः; [॥] त्रिभिश्चतुर्भिलंघुभिरतिपातः [॥, ॥] [चतुर्भिलंघुभिः अतिपातः [॥, ॥]? नवभिलंघुभिरतिकीर्णः [॥, ॥, ॥] इति केचिदाहुः ॥ १५१-१५३ ॥

इति पञ्चाऽऽविद्धधातुभेदाः

अङ्गुलीभेदमात्रेण व्यञ्जनस्तद्भिदा^१ भवे ।

अङ्गुष्ठाभ्यां कनीयस्या तन्त्रीरेका निहन्यते ॥ १५४ ॥

युगपद् यत्र तत्पुष्पमभिलेषुः^२ पुरातनाः ।

इति पुष्पम् (१)

एकस्वरं यदा नानास्थानकं तन्त्रिकाद्वयम् ॥ १५५ ॥

अङ्गुष्ठाभ्यामेककाले निहन्ति स्यात् कलं तदा ।

इति कलम् (२)

दक्षिणाङ्गुष्ठतो हन्ति वामाङ्गुष्ठनिपीडिताम् ॥ १५६ ॥

तन्त्रीं यत्र तदाचष्ट तलं सोढलनन्दनः ।

इति तलम् (३)

बिन्दुरेकत्र तन्त्र्यां स्यात् प्रहारो गुरुनादकृत् ॥ १५७ ॥

इति बिन्दुः (४)

रेफस्त्वेकस्वरो घातः क्रमात् सर्वाङ्गुलीकृतः ।

इति रेफः (५)

तलं कृत्वावरोहेण घातोऽनुस्वनितं मतम् ॥ १५८ ॥

^५इत्यनुस्वनितम् (६)

^१ भिदा I ed. ^२ तन्त्री चैका (D). ^३ लेखुः I ed. ^४ निस्वनितं I ed. अनुस्वनितं (D). ^५ इति अनुस्वनितम् (D).

वामाङ्गुष्ठेन तूर्ध्वाधोघातो निष्कोटितं मतम् ।

इति निष्कोटितम् (७)

घातोऽतिमधुरध्वानस्तर्जन्योन्मूष्टमुच्यते ॥ १५९ ॥

इत्युन्मूष्टम् (८)

कनिष्ठया दक्षिण्याङ्गुष्ठाभ्यामप्यधः सरन् ।

हन्ति त्रिस्थानकं तन्त्रीत्रयमेकस्वरं पृथक् ॥ १६० ॥

यत्रावमूष्टमाचष्ट तद् यज्ञपुरं मण्डनः ।

इत्यवमूष्टम् (९)

उक्तानुबन्धवद् बोध्यमनुबन्धस्य लक्षणम् ॥ १६१ ॥

नन्वेकलक्षमभेदोऽयं गण्यते किं पृथक्पृथक् ।

सैवं तद्घातुभेदानां बाहुल्यं यत्र दृश्यते ॥ १६२ ॥

विशिष्टो धातुना तेन सोऽनुबन्धो^३ भिदां व्रजेत् ।

इत्यनुबन्धः

(क०) व्यञ्जनधातूनाह—अङ्गुलीभेदमात्रेणेति ।

व्यञ्जनधातौ प्रहारसंख्यानियमो लघुगुरुनियमश्च न विवक्षित इत्यर्थः । उक्तानुबन्धवद् बोध्यमनुबन्धस्य लक्षणमिति यथा-योगं पुष्पादिभेदमिश्रणोद्भव इत्यर्थः । अत्रानुबन्धचतुष्टये द्वितीयाद्यनुबन्धलक्षणेषु पूर्वपूर्ववदित्यतिदेशात् चतुर्णामप्येकलक्षणत्वेन पृथग्गणनमयुक्तमित्याक्षिपति—नन्विति । तत्तद्घातुभेदानां पृथक्त्वे सत्येव पूर्वपूर्ववदित्यतिदेशस्य मिश्रणमात्रविषयत्वेन

^१ स्वरान् (D). ^२ ग. घ. मण्डवत् fn. I ed. मण्डलः (D). ^३ बन्धा (D).

चतुर्णामपि भिन्नलक्षणत्वात् पृथग्वर्णनमुपपद्यत इति समाधत्ते—
मैवमिति ॥ १५४-१६३- ॥

(सु०) व्यञ्जनधातुभेदानाह—अङ्गुलीति । अङ्गुलीनां भेद-
मात्रेण व्यञ्जनधातुः । तत्राङ्गुष्ठद्वयेन कनिष्ठया च यत्रैका तन्त्री
निहन्त्यते तत् ^१पुष्पम् (१); यदा नानास्थान^२कैश्च चावर्तमानभेकस्वरं
तन्त्रिकाद्वयमेकस्मिन् काले अङ्गुष्ठाभ्यां वादको हन्ति चेत्, तदा कलम्
इत्युच्यते (२); तथैव वामाङ्गुष्ठेन निपीड्य दक्षिणाङ्गुष्ठतस्तन्त्री
यत् हन्ति, तदा तलम् (३); एकस्यां तन्त्र्यां गुरुनादकारी प्रहारो बिन्दुः
(४); एकस्मिन्नेव स्वरे क्रमात् सर्वाभिरङ्गुलीभिः कृतो धातो रेफः
(५); पूर्वस्मिन् लक्षितं तलं कृत्वा अवरोहेण धातुः अनुस्वनितम्
(६); वामाङ्गुष्ठेन ऊर्ध्वमधश्च धातो निष्कोटितम् (७); तर्जण्या
अतिमधुरनादकारी ^३उन्मृष्टम् (८); दक्षिणकनिष्ठया अङ्गुष्ठाभ्या-
मधः ^४सरन् गच्छन् स्थानत्रये एकस्वरं तन्त्रीद्वयं यत् पृथक् हन्ति
तदवमृष्टम् (९); इति यज्ञपुराणप्रामाण्यवासी शाङ्गदेव आचष्टे ।
सजातीयविजातीयभेदसंमिश्रणादनुबन्धस्य लक्षणं पूर्ववद्द्रोष्यं ज्ञातव्यम् ।
आक्षिपति—नन्विति । अयमनुबन्धो भेद एकलक्षणयुक्त एव, किमिति
पृथग्वर्ण्यते ? परिहरति—मैवमिति । येषां धातुभेदानां यत् बाहुल्यम्
आधिक्यं दृश्यते तेन धातुना विशिष्टोऽसौ अनुबन्धः भेदं प्राप्नोति
॥ १५४-१६३- ॥

इत्येते धातवः प्रोक्ताः सर्ववाद्योपयोगिनः ॥ १६३ ॥

यथास्थानं प्रयोक्तव्यास्ते च वृत्ति^१समाश्रयाः ।

तत्र जाति^२रुदात्ता स्याद् विस्तारे करणे घना ॥ १६४ ॥

आविद्धधातौ रिभिता व्यञ्जने ललिता मता ।

इति चतुस्त्रिंशद्धातवः

(क०) धातुलक्षणमुपसंहरति—इत्येत इति । सर्ववाद्यो-
पयोगिन इति । अत्र सर्वशब्दः संकुचद्वृत्तिः ततवाद्यविषयो
दृष्टव्यः । इतरेषु प्रहारविशेषोत्पत्त्यसकलस्वरासंभवात् । वृत्ति-
समाश्रया इति वृत्तयो वक्ष्यमाणाः चित्रादयः, तासामाश्रयभूता
इति तत्पुरुषः । यथास्थानं प्रयोक्तव्या इति; यस्मिन् ^१रागे येन
धातुना रक्तिविशेषो लभ्यते स तस्य स्थानं तदनतिवृत्त्येत्यर्थः ।
सुगममन्यत् ॥ -१६३, १६५- ॥

इति चतुस्त्रिंशद्धातवः

(सु०) उपसंहरति—इत्येत इति । एते वाद्योपयोगिनो धातवः
प्रोक्ताः । एते वृत्तिसमाश्रयेण यथास्थानं रागतानादिसिद्ध्यर्थं प्रयोक्तव्याः ।
वृत्तीरनुपमदेवं लक्षयिष्यति । तत्रेति । एषु धातुषु मध्ये विस्तारे धातो
उदात्ता जातिः करणे धातो ^२घनः जातिः; आविद्धे धातो रिभिता
जातिः; व्यञ्जने धातो ^३ललिता जातिरिति जातिलक्षणं नाम्नैव
ज्ञातव्यम् । एवं चतुस्त्रिंशद्धातवः प्रतिपादिताः ॥ -१६३, १६५- ॥

इति चतुस्त्रिंशद्धातवः

वृत्तिर्गुणप्रधानत्वरूपा व्यवहृतिर्मता ॥ १६५ ॥
चित्रा वृत्तिर्दक्षिणा च तिस्रः स्युरिति वृत्तयः ।

^१ पुष्टं (A). पुष्टं (B). ^२ स्थाने च वर्तमानं (B). ^३ उत्सृष्टम्
(B). ^४ स्वरं (A). ^५ ग. समास्थिताः fn. I ed. ^६ रुदारा (D).

^१ ग्रामे (C). ^२ घनजातिः (A). ^३ लक्षिता (A).

चित्रा बाद्यप्रधानत्वाद् गीतस्य गुणतोच्यते ॥ १६६ ॥
 उभयोः समभावेन वृत्तिर्वृत्तिरुदाहृता ।
 गीतप्रधानता बाद्यगुणता दक्षिणा मता ॥ १६७ ॥
 द्रुतादिकाल्लयानासां नियच्छन्ति क्रमात् परे ।
 समां स्रोतोगतं तद्वद् गोपुच्छं च यतिं क्रमात् ॥ १६८ ॥
 मागधीं संभाविताख्यां गीतिं च पृथुलां क्रमात् ।
 ओघं चानुगतं तत्त्वं बाद्यान्येतान्यनुक्रमात् ॥ १६९ ॥
 मार्गं चित्रं वातिकाख्यं दक्षिणाख्यं यथाक्रमम् ।
 अनागतसमातीतान् ग्रहानिह च मन्वते ॥ १७० ॥

इति वृत्तित्रयम्

(क०) अथ धात्वाश्रितत्वेन प्रसक्ता वृत्तिः ससामान्यं लक्षयति—वृत्तिर्गुणप्रधानेत्यादिना । ‘गुणप्रधानत्वरूपा व्यवहृतिः’ इत्यत्र गुणप्रधानग्रहणसामर्थ्यात् गीतवाद्ययोर्व्यवहृतिरिति गम्यते । कथम्? प्रकृतत्वेन वाद्यस्यैवोपादान एकस्यैकदा गुणप्रधानभावायोगात् द्वयोरुपादानं कर्तव्यम् । तत्र प्रकृतसाहचर्येण गीतनृत्ते प्रसक्ते, तयोर्मध्ये नृत्तापेक्षया बाद्यं प्रति गीतस्यैवान्तरङ्गत्वात् तदेवोपादेयं भवति । तेन गीतवाद्ययोर्व्यवहृतिरित्यर्थः । चित्रादीनां विशेषलक्षणानि स्पष्टार्थानि । द्रुतादिकानित्यादि । चित्रायां द्रुतलयम्; वृत्तौ मध्यलयम्; दक्षिणायां विलम्बितलयं

नियच्छन्ति नियमयन्ति । एवं यतिगीतबाद्यमार्गग्रहानपि क्रमेण योजयेत् ॥ -१६५-१७० ॥

इति वृत्तित्रयम्

(सु०) वृत्तिं लक्षयति—वृत्तिरिति । गुणप्रधानत्वरूपो गीत-वाद्ययोर्व्यवहारो वृत्तिरित्युच्यते । सा त्रिविधा—चित्रा, वृत्तिः, दक्षिणा चेति । एतासां लक्षणमाह—चित्रेति । बाद्यस्य प्राधान्यं गीतस्य गुणत्वमङ्गत्वं चित्रा वृत्तिः इत्युच्यते । उभयोर्मतवाद्ययोः साम्यं वृत्तिसंज्ञिका वृत्तिः । गीतस्य प्राधान्यं बाद्यस्याङ्गत्वं दक्षिणा वृत्तिः । एतासु मतान्तरेण लयादीन् नियमयति—द्रुतादिकानिति । एतासां चित्रादीनां वृत्तीनां क्रमात् द्रुतमध्यविलम्बिता लया इत्यपरे आचार्या नियममाहुः । चित्रायां समा यतिः; वृत्तौ स्रोतोगता; दक्षिणायां गोपुच्छेति । चित्रायां मागधी; वृत्तौ संभाविता; दक्षिणायां पृथुलेति । चित्रायामोघं बाद्यम्; वृत्तावनुगतम्; दक्षिणायां तत्त्वं बाद्यमिति । एतानि बाद्यान्यनुपदमेव लक्षयिष्यति । चित्रायां चित्रो मार्गः; वृत्तौ वातिकः; दक्षिणायां दक्षिण इति । चित्रायामनागतो ग्रहः; वृत्तौ समः; दक्षिणायाम् अतीतग्रह इति ॥ -१६५-१७० ॥

इति वृत्तित्रयम्

तत्त्वं भवेदनुगतमोघश्चेति निरूपितम् ।
 गीतानुगं त्रिप्रकारं बाद्यं तल्लक्षम् कथ्यते ॥ १७१ ॥
 लयं तालं विरामं च यतिं गीतिं तथाक्षरम् ।
 वर्णग्रामविभागं च नानाजात्यंशकादिकम् ॥ १७२ ॥

¹ त्वं I ed. ² भागेन (D). ³ बाद्यानुगता (D). ⁴ ग्रहानि
 च समन्वितम् (D).

¹ लक्षणादीन् नियमयति (A). ² पृथुलेति (A). ³ ख. ग. लक्षम्
 तद् द्रुवे fin, I ed.

व्यञ्जद्गीतगतं गीतमिलितं तत्त्वमुच्यते ।

इति तत्त्वम्

किञ्चिद्गीतानुहरणद्वयाच्च त्वनुगतं मतम् ॥ १७३ ॥

यथा विरतिरन्यत्र स्थितिः स्थानान्तरेष्वपि ।

विलम्बिते गीतलये वैदग्ध्याद् द्रुतवादनम् ॥ १७४ ॥

इत्यनुगतम्

गीतस्यान्ते^१ऽनुकर्तापि भागशश्चातुरीवशात् ।

निरन्तरैः पाणिघातैः समुदायानुकारितम् ॥ १७५ ॥

वादको दर्शयेद् वाद्ये^२ यत्रौघं^३ तं प्रचक्षते ।

इत्योषः

एकविंशतितन्त्री^४स्थमेतद्^५ धात्वादिवादनम् ॥ १७६ ॥

एकतन्त्र्यादिवीणासु यथायोगं प्रवर्तयेत् ।

एकतन्त्र्यां च यत् प्रोक्तं तज्ज्ञेयं नकुलादिषु ॥ १७७ ॥

^६वेणावपि तदिच्छन्ति वेणुप्रावीण्यशालिनः ।

इति गीतानुगं वाद्यम्

इति वृत्तित्रयलक्षणम्

^१ स्यान्तेन कर्ता (D). ^२ वाद्यं (D). ^३ यत्रौघस्तं (D). ^४ च.
तन्त्रीणामे fin. I ed. ^५ ड. वाद्यादि fin. I ed. ^६ वेणुष्वपि (D).

(क०) एवं वृत्तीनां प्रयोगनिरूपणे प्रसक्तानि तत्त्वादीनि वाद्यानि ससामान्यं लक्षयितुमाह—तत्त्वं भवेदित्यादिना । अत्र गीतानुगमिति^१ तत्त्वादीनां त्रयाणां वाद्यानां सामान्यलक्षणम् । तेषां विशेषलक्षणानि स्पष्टार्थानि । तत्र विरामशब्दस्य अवसानार्थत्वात् लयाद्भेदो द्रष्टव्यः । तथा विरतिशब्दस्यापि ॥ १७१-१७८ ॥

इति गीतानुगवाद्यत्रयलक्षणम्

(सु०) वृत्तित्रयानुगतं वाद्यत्रयं लक्षयति—तत्त्वमिति । वाद्यं त्रिविधम्—तत्त्वम्, अनुगतम्, ओघश्चेति । एतेषां लक्षणं प्रतिज्ञाय क्रमशः कथयति—लयमिति । गीतिगतं लयतालानां व्यञ्जयत्प्रकटीकुर्वद्वाद्यं तत्त्वमित्युच्यते । गीतस्य किञ्चिदनुहरणादंशाभिव्यक्तेर्वाद्यम् अनुगतमित्युच्यते । अन्यत्र गीते यथा विरतिस्तथैवानुगते वाद्ये विरतिः, स्थानान्तरे स्थितिः तथैव तत्र, किन्तु गीतलये विलम्बिते सति तदनुगतं वाद्यं वैदग्ध्यात् चातुर्यात् द्रुतवादेन द्रुतलयेन वादनं यस्मिन्निति । यस्मिन् वाद्ये गीतस्य अनुकर्ता त्रयं गीतानुकारमनुकुर्वन्नपि^२ तदेव चातुर्यात् भागशः^३ समुदायानुकारितमवयवसंघातानुकारं, पाणिघातैः पाणिप्रहारैः दर्शयेत् स ध्रुवः ओघः । एकैति । एतद्विस्तारधात्वादिवादनमेकविंशतितन्त्री या मत्तकोकिला, तत्र स्थितं ज्ञातव्यम् । एतदेकतन्त्र्यादिवीणासु यथासंभवं प्रवर्तयेत् कुर्यात् । एकतन्त्र्यां तु यद्वादनं प्रोक्तं तन्नकुलादिषु वक्ष्यमाणे वेणवे यथासंभवं योज्यम् ॥ १७१-१७८ ॥

इति गीतानुगवाद्यत्रयलक्षणम्

^१ ततादीनां (C). ^२ तदेकः (A). ^३ समवायानु (A).

भेदानिर्गीतवाद्यस्य वैणस्याथ प्रचक्ष्महे ॥ १७८ ॥
 आश्रावणारम्भविधिवैकल्यपाणिस्ततः परम् ।
^२संघोटना चतुर्थी च पञ्चमी परिघट्टना ॥ १७९ ॥
 मार्गासारितकं लीलाकृतमासारितत्रयम् ।
 वशेति शुष्कवाद्यानि तत्त्वक्ष्म व्याहरेऽधुना ॥ १८० ॥
 विस्तारधातुभेदानामादिमं द्विः प्रयुज्यते^३ ।
 द्वितीयं च प्रयुज्य^४ द्विराद्यं^५ भेदं द्वितीयकम्^६ ॥ १८१ ॥
^७लीलाकृतिं द्विरुच्चार्य तद्वद् युग्मान्तराण्यपि ।
 प्राक्प्राग्युग्मोत्तरादीनि प्रयुञ्जीत^८ तदा भवेत् ॥ १८२ ॥
 आश्रावणं शुष्कवाद्यमत्रत्वाह विशाखिलः ।
 विस्तारधातुभेदानां प्रयोगे द्रुतरूपताम् ॥ १८३ ॥

(क०) एवं गीतानुगवाद्यप्रसङ्गाद् बुद्ध्यारूढान् संगीत-
 वाद्यभेदान् लक्षयितुमाह—भेदानिर्गीतवाद्यस्येत्यादिना । अथ
 अनन्तरम् । वैणस्येति वीणायाः संबन्धी वैणः, तस्य । निर्गीत-
 वाद्यस्य भेदानुद्दिशति—आश्रावणेत्यादि । आसारितत्रयमिति ।
 ज्येष्ठं मध्यं कनिष्ठमित्यर्थः । निर्गीतवाद्यान्येव शुष्कवाद्यानी-
 त्युच्यन्ते । विस्तारधातुभेदानां चतुर्दशानामादिमं विस्तारजं
 नाम भेदं द्विः द्विवारं प्रयुज्य, द्वितीयं च द्विरुत्तराख्य-
 मपि द्विःप्रयुज्य, आद्यं भेदं विस्तारजं द्वितीयकं द्विरुत्तरं लीना-
 कृतिमन्तर्भूताकारं द्विरुच्चार्य, तद्वद्युग्मान्तराण्यपि प्राक् प्राग्युग्मो-

^१ वक्र (D). ^२ संघोटना (D). ^३ प्रयुज्य चेत् (D). ^४ प्रयुज्येद्
 द्वि (D). ^५ भेद (D). ^६ द्वितीयके (D). ^७ लीलाकृतं (D).
^८ तथा (D).

त्तरादीनीति । अयमर्थः—प्रथमद्वितीयभेदौ प्राग्युग्मम् । तदुत्तरः
 तृतीयो भेदः द्विरुत्तराख्यं स आदिर्येषां युग्मानां तानि तथो-
 क्तानि । ^१तृतीयचतुर्थौ द्वितीयं युग्मम् । एवं पञ्चमषष्ठौ तृतीयं
 युग्मम् । सप्तमाष्टमौ चतुर्थं युग्मम् । एवं सप्त युग्मानि
 प्रयुञ्जीत चेत्, तदा आश्रावणा नाम शुष्कवाद्यभेदो भवति
 (इति)? विशाखिलो नाम आचार्यः । द्रुतरूपताम् द्रुत^२लय-
 युक्तस्वरूपताम् ॥ -१७८-१८३ ॥

(यु०) वाद्यभेदानाह—भेदानिति । निर्गीतवाद्यस्य गीतशून्य-
 वाद्यस्य वीणासंबन्धिनो वाद्यभेदान् प्रचक्ष्महे कथयामः । तानेव
 भेदानाह—आश्रावणेति । आश्रावणादय आसारितान्ताः शुष्कस्य गीतानु-
 गतवाद्यस्य भेदाः । तेषां लक्षणमाह—विस्तारेति । विस्तारधातोर्भेदानां
 पूर्वोक्तानां मध्ये आदिमं विस्तारजं द्विः द्विवारं प्रयुज्य, द्वितीयं च द्विवारं
 प्रयुज्य, आद्यं भेदं द्वितीयं च द्विवारं प्रयुज्य, आद्यं भेदं द्वितीयभेदे लीना
 विलीना दक्षिणाकृतिर्यस्य तथाविधं द्विवारमुच्चार्य तद्वदेव युग्मान्तराणि
 द्वौ द्वौ भेदौ द्विरुत्तरादिको यदा प्रयुञ्जीत तदा आश्रावणेत्युच्यते ।
 मतान्तरमाह—शुष्केति । विशाखिल आचार्यः ^३आश्रावणं शुष्कवाद्य-
 माह । विस्तारधातुभेदानां द्रुतलययुक्तस्वरूपतां चाहति संबन्धः
 ॥ -१७८-१८३ ॥

आद्यखण्डे यदाद्यौ द्वावेकादशचतुर्दशौ ।

वर्णः पञ्चदशस्तद्वच्चतुर्विंशो गुरुर्भवेत् ॥ १८४ ॥

लघवोऽष्टादशान्ये सुरेवं खण्डे द्वितीयके ।

^१ द्वितीय (C).

^२ लघु I cd.

^३ आश्रावणायां (A).

योज्या इत्यर्थः । चतस्रस्तु युग्मजा इति । एकोनविंशत्यासु चतसृषु संशताशाः प्रयोज्या इत्यर्थः । एवं कला द्वाविंशतौ पातकलाविधिः कर्तव्यः* ॥ १८७-१९० ॥

(सु०) एतस्यां ध्रुवायां मुनेर्भरतस्य मतात् पातकलाविधि ब्रूमः । द्वाविंशतिमिति । केचिदाचार्याः एतस्यां ध्रुवायां द्वाविंशति कलाः प्राहुः । केचिदष्टाविंशति कलाः; अन्ये द्वाविंशतिरिति । शम्यात्रयमिति । अनागते ग्रहे त्रयः शम्याः, त्रयस्तालाः [श श श, ता ता ता]; समग्रहे द्वे शम्ये, द्वौ तालौ [श श ता ता] । ततः अनन्तरम्, अतीतग्रहे शम्याः, तालाश्च द्वादश [श ता] । ताश्च कलाः यथाक्षरस्य षट्पितापुत्रकस्य षट्

३ । ५ ५ । ३ ५ ५ । ३

युग्मजाः चञ्चत्पुटात् जाताश्चतस्रः [संता शता शता, शता शता] ॥ १८७-१९० ॥

अथाष्टाविंशतौ विधिः ॥ १९० ॥

द्वादशात्र कलाः प्राग्वद् द्विकलोत्तरवत् ततः ।

कला द्वादश शेषास्तु स्युरेकलयुग्मवत् ॥ १९१ ॥

अथ द्वाविंशतिः प्राच्याः स्युश्चतुर्विंशतिः कलाः ।

द्वितीयपक्षवत् प्रान्ते त्वष्टौ द्विकलयुग्मवत् ॥ १९२ ॥

(क०) अष्टाविंशतिकलापक्षे पातकलाविधि दर्शयितुमाह—अथाष्टाविंशतावित्यादि । द्वादशात्र कलाः प्राग्वदिति । प्राग्वदत्र द्वाविंशतिकलापक्षवत्; आद्यासु द्वादशकलासु शम्यादयः

३ । ५ ५ । ३ ५ ५ । ३

* [शशश ता ता ता, शश ता ता, श ता; संता शता शता, संश ता श]

१ विंशतिकला (A), (B).

पूर्वोक्ता द्वादश पातकला योज्याः [शशश ता ता ता, शश, ता ता, शता,] । ततः त्रयोदश्यादिषु कलासु । द्विकलोत्तर-वदिति । निप्रता, शनिता, निशता, प्रनिसं इति द्वादश पातकला योज्याः । शेषा इति । पञ्चविंश्यादयः चतस्रः । एककलयुग्म-वदिति संशताशा योज्या इत्यर्थः* । अथ द्वाविंशतीत्यादि, प्राच्याः स्युश्चतुर्विंशतिः कला द्वितीयपक्षवदिति अष्टाविंशति-कलापक्षवद् इत्यर्थः । प्रान्ते तु अष्टाविंशतिपञ्चविंश्यादयः, अष्टौ द्विकलयुग्मवदिति निशनिताशप्रनिसाः प्रयोज्या इत्यर्थः ॥ १९०-१९२ ॥*

(सु०) अष्टाविंशतिकलापक्षे पातकलाविधिमाह—अष्टाविंशता-विति । द्वादशेति । अत्र अष्टाविंशतिकलायां ध्रुवायां द्वादश कलाः प्राग्वत् द्वाविंशतिध्रुवावत् । ततो द्विकलेनोत्तरेणैव ज्ञेया द्वादश कलाः । शेषाश्चतस्रः एककलचञ्चत्पुटवत् । द्वाविंशत्कलापक्षे चतुर्विंशति कलाः द्वितीयपक्षवत् अष्टाविंशतिपक्षवत्कार्या । अन्त्या अष्टौ कलाः द्विकल-चञ्चत्पुटवत् ॥ १९०-१९२ ॥†

एषु त्रिविधेषु पक्षेषूत्तरश्चञ्चत्पुटस्तथा ।

अतीतेन ग्रहेण स्याद् विदारीरथ *कीर्तयेत् ॥ १९३ ॥

शम्यात्रयेण प्रथमा परा तालत्रयेण तु ।

* [शशश ता ता ता, शश ताता, श ता, निप्रता शनिता निशता प्रनिसं, ५ ५ । ३

सं ता श ता । अष्टाविंशति कलाः ।] १ द्वाविंशदित्यादि (C). † [शशश ता ता ता शश ता ता, शता निप्रता शनिता निशता प्रनिसं, निश निता शप्र निसं । द्वाविंशत्कलाः ।] २ कीर्तये I ed.

शम्याद्वया तृतीया स्यात् तुर्या तालद्वयेन तु ॥ १६४ ॥
 पञ्चमी शम्यातालाभ्यां षष्ठी स्यात् पञ्चपाणिना ।
 चच्चत्पुटा सप्तमी स्यात् तास्तिस्त्रो मन्वते परे ॥ १६५ ॥
 यथाक्षरस्य युग्मस्य द्विरावृत्त्या विदारिका ।
 आद्या तथा द्वितीया स्यात् तयोरन्ते कलाद्वयम् ॥ १६६ ॥
 एवमष्टादश कलास्ततो युग्माद्यथाक्षरात् ।
 विदारी स्यात् तृतीयान्ये विदारीरन्यथा जगुः ॥ १६७ ॥
 *आद्या द्विकलयुग्मेन द्वितीया च तथा भवेत् ।
 यथाक्षरेणोत्तरेण तृतीयान्येऽन्यथा जगुः ॥ १६८ ॥
 पूर्वोक्ता द्वादश कला विदार्याद्या परा पुनः ।
 यथाक्षरेणोत्तरेण शेषा युग्माद्यथाक्षरात् ॥ १६९ ॥
 एवमाश्रावणामाह ^२श्रीमान्यज्ञपुराणप्रणीः ।

इत्याश्रावणा

(क०) आश्रावणायां तत्तन्मतभेदेन विदारीं दर्शयितु-
 माह—विदारीरथेत्यादिना । विदारी गीतखण्डमिति प्रागुक्तम् ।
 अत्र वाद्यखण्डमिति द्रष्टव्यम् । उत्तरो ग्रन्थस्तु विस्पष्टार्थः
 ॥ १६३-२००- ॥

इत्याश्रावणा

(सु०) एष्विति । एषु त्रिष्वपि पक्षेषु उत्तरः षट्पितापुत्रकः,
 चच्चत्पुटश्च अतीतग्रहेण युक्तः कार्यः । शम्येति । प्रथमा विदारी

* अयं श्लोकः ख. ग. पुस्तकयोः न विद्यते fn. I ed.
 काक्षरात् (D). ^२ ख. ग. श्रीमच्छाङ्गपुराणप्रणीः fn. I ed.

^१ युग्मादि-

शम्याद्वयेण कार्या । द्वितीया तु तालद्वयेण कार्या । तृतीया शम्याद्वयेन
 कार्या । तुर्या तु तालद्वयेन । पञ्चमी शम्यातालाभ्याम् । षष्ठी पञ्च-
 पाणिना षट्पितापुत्रकेण । सप्तमी चच्चत्पुटेनेति । अन्येषां मतमाह—
 ता इति । परे आचार्याः ताः विदारीः । तिस्र इति मन्वते । ता एव
 लक्षयति—यथाक्षरस्य इति । यथाक्षरस्य चच्चत्पुटस्य द्विरावृत्त्या
 प्रथमा विदारी । तथैव द्वितीया । तयोः प्रथमद्वितीययोः विदार्योः;
 अन्ते कलाद्वयमधिकम् । यथाक्षरचच्चत्पुटवत् तृतीया विदारी^२ । अन्ये
 आचार्याः, विदारीत्रयमन्यथा जगुः अलक्षयन् । द्विगुणचच्चत्पुटेनाद्या ।
 तथैव द्वितीया । यथाक्षरषट्पितापुत्रकेण तृतीया^३ । तृतीयेति । अन्ये त्वाद्या
 विदारी पूर्वोक्ता द्वादश कला । परा पुनः यथाक्षरषट्पितापुत्रकेण शेषा
 यथाक्षरचच्चत्पुटादित्याहुः^४ ॥ १६३-२००- ॥

इत्याश्रावणा

^५स्युरारोहावरोहाभ्यां युक्ता विस्तारधातुजाः ॥ २०० ॥
 भेदास्तलेन रिभितद्वाद्वाभ्यां मिश्रिताः क्रमात् ।
 ततः करणभेदं द्विस्त्रिर्वाभ्यस्य विलीनवत् ॥ २०१ ॥
 बहुलेन प्रयुक्ते चैकविस्तारे पुनस्तथा ।

३। ५५। ३५५। ३

^१ [शशश, ता ता ता, शश, ता ता, श ता, संता शता शता, संश ता श] ।

५५। ३५५। ३५५। ३५५। ३५५। ३५५। ३

^२ [संता शता संता शता, संता शता संता शता, - - संता शता] ।

३। ५५। ३

^३ [निश निता शप्र निसं, निश निता शप्र निसं, संता शता शता] ।

३। ५५। ३५५। ३

^४ [शशश, ता ता ता, शश, ता ता शता संता शता शता, संश ताश] ।

^५ स्वरारोहा (D).

स्वमतेन प्रतिमुखं दर्शयति—अत्र प्रतिमुखे । पूर्वोक्त इति ।
 १शताताशताशतासमिति । एवं त्रिवारमावृत्तः कार्यः ‡ । मात्रया
 तु विवारिकेति । मात्रया अष्टकलात्मिकया ॥ २१०-२१५ ॥

इति वक्त्रपाणिः

(सु०) १वक्त्रपाणिं लक्षयति—बहुलेति । बहुलौ आविद्धकरणी
 धातु यस्मिन्, एकश्च व्यञ्जनधातुः, विस्तारधातुश्च नास्ति स वक्त्रपाणिः ।
 अत्र द्वे तालाङ्गे, मुखं प्रतिमुखं चेति १कर्तव्यमेव, न वा प्रवृत्तमेककं च
 मद्रकादिषु लक्षितमङ्गं ज्ञातव्यम् । २अत्र ध्रुवमाहुः—गुरुव इति । या
 मात्रेति । मद्रके द्विकले वस्तुनः प्रान्ते या मात्रा स्थिता तस्यास्तालोऽत्र
 ध्रुवायां कर्तव्यः । अष्टसु कलासु मुखं कर्तव्यम् । ततः प्रतिमुखं चतुर्वार-
 मावृत्तेन उत्तरेण षट्पितापुत्रकेण कार्यम् । अन्ये त्वेवमाहुः—पूर्वोक्ता
 या अष्टौ कलाः ता ३एव त्रिवारवृत्ताः । प्रतिमुखमिति । एकया मात्रया
 तु विदारीति ॥ २१०-२१५ ॥

इति वक्त्रपाणिः

अङ्गुष्ठाभ्यां च तर्जण्या तन्त्रीं निष्पीड्य वादयन् ।

बिन्दुं मिथो मेलयेत् वादिसंवादिनौ स्वरो ॥ २१६ ॥

बहुधा तद् गुणत्वेन प्रयुञ्जीतानुवादिनः ।

(क०) अथ संखोटनां लक्षयति—अङ्गुष्ठाभ्यामि-
 त्यादि । बिन्दुं व्यञ्जनधातुभेदं १वादयन्निति पूर्वोण संबन्धः ।

१ (शता ताश तासं I ed.) स्वमतेन प्रति मुखं— ‡ शता ताश ताश तासं,
 शता ताश ताश तासं, शता ताश ताश तासं । २ वक् (D). ३ वक्
 (A), (B). ४ कर्तव्ये वा (B). ५ अतव्या (B). ६ एवं (A).
 ७ वादयेदिति (D).

वादिसंवादिनौ स्वरो मिथो मेलयेतेति । षड्जपञ्चमावृषभधैवतौ
 गान्धारनिषादावन्यौ वा १स्वरौ विकृतावस्थौ द्वादशभिरष्टभिर्वा
 श्रुतिभिरन्तरितौ मिथः संगत्या २संवादयेदित्यर्थः । तद्गुणत्वे-
 नेति । तयोर्वीदिनोः गुणत्वेनोपसर्जनत्वेन, अनुवादिनः स्वराण्
 प्रयोगे बहुधा प्रयुञ्जीतेति । वादिनं वा स्थायिनं कृत्वा तत्परि-
 वारत्वेन अनुवादिनः प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ॥ २१६-२१७- ॥

(सु०) ३संखोटनां लक्षयति । अङ्गुष्ठाभ्यामिति । द्वाभ्यामङ्ग-
 गुष्ठाभ्यां तर्जण्या च तन्त्रीं पीडयित्वा बिन्दुं धातुमेकत्र ४तन्त्र्या प्रहररूपं,
 पूर्वलक्षितं वादयित्वा वादिसंवादिनौ द्वौ स्वरो संयोजयेत् । तयोः
 वादिसंवादिनोः गुणत्वेनाङ्गत्वेन च बहुधा अनुवादिनः प्रयुञ्जीत
 ॥ २१६-२१७- ॥

विवादिनोऽल्पकान् कुर्याद् विस्तारस्य भिदास्तथा ॥ २१७ ॥

धात्वन्तरैर्मिश्रयित्वाभ्यस्येद् द्विस्त्रिः ५पृथक्ततः ।

केवलास्ताः प्रयुज्य द्विस्तासु मग्नानिवापरान् ॥ २१८ ॥

धातून्यत्र प्रयुञ्जीत प्राहुः ६संखोटनाममम् ।

(क०) विवादिनोऽल्पकान् कुर्यादिति । यस्मिन् प्रयोगे
 यो विवादी स्वरः तमनभ्यस्तं लङ्घितं वा कुर्यादित्यर्थः ।
 विस्तारस्य भिदा इति । विस्तारजादींश्चतुर्दश विस्तारधातु-
 भेदान् धात्वन्तरैः करणादिधातुभेदैरित्यर्थः । मिश्रयित्वेति ।
 संकीर्णान् कृत्वेत्यर्थः । द्विस्त्रिर्वा पृथग्भ्यसेदित्यर्थः । ततः

१ स्वरौ द्वादशभि (C). २ वादये (C). ३ संघोटना (B). संघटना
 (A). ४ तन्त्र्यां (B). ५ पृथक् पृथक् (D). ६ संघोटना (D).

अनन्तरं, ताः विस्तारस्य भिदाः केवलाः धात्वन्तरामिश्रा द्विस्त्रिर्वा प्रयुज्य तासु मग्नानिव लीनानिव अपरान् धातून् करणादिधातुभेदान् यत्र प्रयुज्जीत अमूं संखोटानां नाम निर्गीत-वाद्यभेदं प्राहुः ॥ -२१७-२१९- ॥

(सु०) विवादिन इति । विवादिनः स्वरान् अल्पकान् कुर्यात् । विस्तारधातुभेदान् अन्यैः धातुभेदैः संमिश्र्य पृथक् पृथक् द्विवारं त्रिवारं वा अभ्यस्येत् । ततः अनन्तरं केवलान् विस्तारधातुभेदान् द्विः प्रयुज्य, तासु भिदासु अपरान् धातून् मग्नानिव विलीनानिव यत्र वादकः प्रयुज्जीत, सा संखोटना ॥ -२१७-२१९- ॥

गुरु द्वौ लघवोऽष्टौ च द्वौ गुरु च लघुर्गुरुः ॥ २१९ ॥
यत्र द्वादश ला गोऽन्ते सा स्यात् 'संखोटनाध्रुवा ।
यथाक्षरद्विकलयोः स्युरत्रोत्तरयोः कलाः ॥ २२० ॥
नात्र संख्या विदारीणां भणिता भरतादिभिः ।

इति संखोटना

(क०) अत्र ध्रुवामाह—गुरु द्वावित्यादि । यथाक्षर-द्विकलयोरित्यादि । अयमर्थः—सप्तविंशत्यक्षरात्मिकायां संखोटना-ध्रुवायां* यथाक्षरस्य षट्पितापुत्रकस्य कलाः संताशताशताः [३।५५।३], द्विकलस्य तस्यैव कलाः निप्र ताश नितानि श ताप्र निसं इत्येता यथायोगं प्रयोज्या इति । सुगममन्यत् ॥ -२१९-२२१- ॥

इति संखोटना

¹ संघोटना (D). ² संघोटना (D). * [५५ ॥ ॥ ॥ ५५ ५५ ॥ ॥ ॥ ५] २७ अक्षरात्मिका संखोटना ध्रुवा ।

(सु०) ¹एतस्यां ध्रुवामाह—गुरु इति । अत्र ध्रुवायां यथा-क्षरद्विकलयोः षट्पितापुत्रकयोः कलाः कायाः । अत्र विदारीणां च कला-संख्या भवन्ति । भरतादिभिस्तु कलासंख्या नोक्ताः ॥ -२१९-२२१- ॥

इति संखोटना

भेदा व्यञ्जनधातून् भेदैः करणधातुजैः ॥ २२१ ॥
चित्रिता ललिताः स्निग्धा क्रियन्ते करलाघवात् ।
आरोहबहुला यस्यां तामाहुः परिघट्टनाम् ॥ २२२ ॥

(क०) परिघट्टनां लक्षयति—भेदा इति । व्यञ्जन-धातून्तः पुष्पादयो दश भेदाः (श्लो. १५४-१६३ अत्रैव) । करणधातुजैरिति । घातादिभिः पञ्चभिर्भेदैः (श्लो. ६६-७२ अत्रैव) । चित्रिता इति । यथायोगं मिश्रणे रूपान्तरं प्रापिता इत्यर्थः । आरोहबहुलाः आरोहवर्णनं प्रचुराः ॥ -२२१, २२२ ॥

(सु०) ²परिघट्टनां लक्षयति—भेदा इति । व्यञ्जनधातून्तः भेदाः, करणधातुजैः भेदैः, चित्रिता विचित्रिताः, मिश्रिताः, करलाघवात् मर्दिताः ललिताः सुकुमाराः स्निग्धाः च क्रियन्ते, आरोहबहुलाः आरोह-प्रचुरा यस्यां सा परिघट्टना ॥ -२२१, २२२ ॥

गुरुण्यष्टौ च लघवः स्व्युच्चतुर्विंशतिर्गुरुः ।
द्वौ षोडश लघून्यन्ते गुरुर्यत्र ⁴ध्रुवात्र सा ॥ २२३ ॥
संपक्वष्टकावद् यद्वा स्युः संपिष्टकवत् कलाः ।
संपिष्टके कलाः प्रोक्ता दश द्वादश वा पुरा ॥ २२४ ॥

¹ एतस्या (A). ² आरोहे बहुलो (D). ³ परिघट्टनां (A). ⁴ ध्रुवा च (D).

(सु०) मार्गासारितं लक्षयति—विस्तारैति । विस्ताराविद्ध-
करणानां मिश्रितभेदप्रयोगात् तथा पूर्वोक्तकलतलप्रयोगात् मार्गासारितकं
भवति । अन्ये आचार्याः, 'कलतलाख्यभेदमिश्रितकरणं धातुप्रयोगो
मार्गासारितस्य लक्षणमित्याचक्षते । 'तमाह—गाश्चत्वार इति* ।
एकमिति । एकं खण्डं ध्रुवायाः चच्चत्पुटताले गेयम् । अन्यत् खण्डद्वयं
तु उत्तरे षट्पितापुत्रके तालाध्यायेनोक्तकनिष्ठासारिते यः पातकलाविधिः
सोज्ज कर्तव्यः ॥ २२८-२३१ ॥

इति मार्गासारितम्

प्रयोगोऽभिसृतस्य स्यात् तथा परिसृतस्य^१ चेत् ।
तथा लयान्तरगतो बाद्यतालकलाविधौ ॥ २३२ ॥
माधुर्यं सौकुमार्यं च तदा लीलाकृतं भवेत् ।
षड्जग्रामस्थजात्यंशे यद्गीतं वार्तिके पथि ॥ २३३ ॥
आसारितं तदेवोक्तं धीरेरभिसृताह्वयम् ।
^२जात्यंशे मध्यमग्रामसंस्थे परिसृतं त्विदम् ॥ २३४ ॥

(क०) अथ लीलाकृतं नाम निर्गीतवाद्यं लक्षयति—
प्रयोगोऽभिसृतस्येत्यादि । अभिसृतस्य परिसृतस्य च प्रयोगः तथा
लयान्तरगतैति । प्रयोगश्च बाद्यतालकलाविधौ स्यात् । माधुर्यं
सौकुमार्यं च यतः स्यात् तत्ततो लीलाकृतमित्यर्थः । अभिसृतस्य
स्वरूपमाह—षड्जग्रामेत्यादि । परिसृतस्य स्वरूपमाह—जात्यंश
इत्यादि ॥ २३२-२३४ ॥

(सु०) लीलाकृतं लक्षयति—प्रयोग इति । वक्ष्यमाणलक्षणस्य
अभिसृतस्य परिसृतस्य च प्रयोगः पूर्वोक्तलयान्तरस्येव कलाविधौ प्रयोगः
कार्यः । तत्र माधुर्यं सौकुमार्यं च यदि विद्येत तदा लीलाकृतम् । अभि-
सृतपरिसृते लक्षयति—षड्जग्रामेति । षड्जग्रामस्थाः षड्जग्रामोत्पन्ना
जातयः, तासामंशे रागे यदुपनिबद्धं गीतं वार्तिके मार्गे पूर्वोक्तमासारितं
तद्वदभिसृतमित्युच्यते । मध्यमग्रामोत्पन्ने जात्यंशे यदुपनिबद्धमासारितं
परिसृतमित्युच्यते ॥ २३२-२३४ ॥

अन्ये तु माषघातादिसप्ताङ्गमपरान्तकम् ।
ब्रुवतेऽभिसृतं तत्तु प्रदानादिनवाङ्गकम् ॥ २३५ ॥
प्राहुः परिसृतं मृग्यं तालाध्याये लयान्तरम् ।
गीतकत्रयसंयोगादेवं लीलाकृतं^३ त्रिधा ॥ २३६ ॥
प्रयोगौ द्वौ पदे^४ श्चान्यः सार्थकैश्च निरर्थकैः ।

(क०) तयोरेव मतान्तरेण स्वरूपमाह—अन्ये
त्वित्यादि । माषघातादीनि सप्ताङ्गानि यस्येति तत्तथोक्तम् ।
प्रदानादीनि नवाङ्गकानि यस्येति तत्तथोक्तम् । तदित्यपरान्तकं
परामृश्यते । लयान्तरं तालाध्याये मृग्यमिति । तत्र हि 'तद्वल्ल-
यान्तरं मार्गलयाभ्यां द्विगुणं ततः' (श्लो. -१८४ पञ्चमे
तालध्याये) इति कनिष्ठासारितद्वेगुण्येनोक्त आसारितभेदो
दृष्टव्यः । गीतकत्रयसंयोगादिति । अभिसृतपरिसृतलयान्तरा-
ख्यस्य गीतकत्रयस्य प्रयोगात् । अस्य लीलाकृतस्य द्वौ प्रयोगौ
अभिसृतपरिसृताख्यौ, सार्थकैः वाचकलक्षकव्यञ्जकैः पदैश्च

^१ अत्र ध्रुवामाह (B).

* [SS SS ॥ ॥ ॥ ॥ SS ॥ ॥ ॥ ॥ SS ॥]

इत्याद्य खण्ड । एवं खण्डद्वयं परं स्यात् ।

^२ च (D)..

^३ जात्यंशे (D).

^४ मतं (D).

^५ पदैस्तस्याः (D).

भवतः । अन्यः तृतीयः प्रयोगो लयान्तराख्यो निरर्थकः तेन-
तेनादिभिरनुकरणशब्दैर्वा भवति ॥ २३५-२३७- ॥

(सु०) मतान्तरमाह—अन्ये त्विति । पूर्वोक्तमाषघातादि-
सप्ताङ्गं उक्तमपरान्तकमभिसूतं, ^२प्रदानादिनवाङ्गसंयुक्तमपरान्तकं
परिसूतमिति च केचिदाहुः । लयान्तरलक्षणं तालाध्याये उक्तम् । एवं
गीतकव्यसंयोगेन लीलाकृतं त्रिधा त्रिप्रकारं संभवति । तत्र सार्थकैः
निरर्थकैश्च पदैः प्रयोगद्वयम् ॥ २३५-२३७- ॥

वीणावाद्यं मानतालयुक्तं ^३शम्यादिर्वाजितम् ॥ २३७ ॥

आहुरेके मानहीनमपि त्वाह विशाखिलः ।

ध्रुवायां तूभयस्तालः परैस्त्वनियमात्मकः ॥ २३८ ॥

इति लीलाकृतम्

(क०) अत्र वाद्ये तालमानयोगविषये मतभेदान्
दर्शयति—वीणावाद्यमित्यादि । ध्रुवायां तूभयस्ताल इति ।
अपरान्तकासारितात्मिकायां लीलाकृतध्रुवायामुभयस्तालः
चतुरश्रः व्यश्रश्च ॥ -२३७, २३८ ॥

इति लीलाकृतम्

(सु०) वाद्ये मानविषये मतान्तरमाह—वीणावाद्यमिति ।
ततवाद्यं मानेन तालेन च युक्तं कार्यम् । एके, केचिद् द्वाभ्यां वजित-
मेतदाहुः । विशाखिलस्तु मानहीनं तालहीनं चाह । एतस्य ध्रुवायां
यत्किञ्चन तालद्वयं स्वेच्छया उपनिबन्धनीयम् ॥ -२३७, २३८ ॥

इति लीलाकृतम्

^१ सप्ताङ्गयुतमपरान्तक (B).

^२ प्रधानादि (B).

^३ स्यात् ताल (D).

आसारितत्रयं पूर्वं तालाध्याये निरूपितम् ।

यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमिति त्रिधा ॥ २३९ ॥

प्रत्येकं तस्य चावृत्तिर्वर्णालंकारशोभना ।

वृत्तित्रयेण वाद्यैश्च तत्त्वाद्यैः करणेन च ॥ २४० ॥

धातुना चित्रिता कार्या बुधैर्बीणाविधाविह^१ ।

इत्यासारितत्रयम्

इति नकुलादिपञ्चवीणालक्षणम्

(क०) आसारितत्रयं लक्षयति—आसारितत्रयमित्यादि ।

तस्य आसारितत्रयस्य, वर्णालंकारशोभनावृत्तिः,^२ वृत्तित्रयेण
चित्रावृत्तिदक्षिणानां त्रयेण, तत्त्वाद्यैः तत्त्वोधानुगतैः, करणेन
धातुना करणधातुना च प्रत्येकमष्टभिः कर्तव्येत्यर्थः
॥ २३९-२४१- ॥

इत्यासारितत्रयम्

इति नकुलादिपञ्चवीणालक्षणम्

(सु०) आसारितत्रयं लक्षयति—आसारितेति । ^३त्रिविध-
मासारितं तालाध्याये उक्तमपि यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमिति, तस्य
प्रत्येकमावृत्तित्रयं वर्णालंकारशोभनाभेदं पूर्वोक्तचित्रादिवृत्तित्रयेण तत्त्वा-

^१ खर्वीणादिवीणानां वक्ष्यन्ते भरतादयः ।

कृत्वा श्रुत्वा वाद्यकाले चाङ्गुलैर्दण्डघट्टनम् ॥

ब्रह्मघ्नो न्याशु शिगघ्नो त्यभापन्त धनञ्जयः [?] ।

इति अधिकम् (D).

^२ शोभनावृत्तिः (D).

^३ त्रिविस्तराविद्वकरणानां (B).

यैश्च वाद्यैः, करणधातुना च इह वीणाविधौ बुधैः विचित्रं कार्यम्
॥ २३६-२४१- ॥

इत्यासारितवयम्

इति नकुलादिपञ्चवीणालक्षणम्

आलापिनीगतं लक्ष्म वक्ष्ये लक्ष्यविदां मतम् ॥ २४१ ॥
नवमुष्टिमितो देध्यै वेंणवः सुषिरान्तरः ।
अङ्गुलद्वन्द्वपरिधिः प्राग्वद् ^१ग्रन्थ्यादिर्वाजितः ॥ २४२ ॥
श्लक्ष्णः समः सुवृत्तश्च दण्डः स्यात् ककुभं दधत् ।
अङ्गुलद्वयविस्तारमङ्गुला ^२र्धायितं तथा ॥ २४३ ॥
तदर्धं पिण्डसंयुक्तमुन्मुखं पत्रिकोज्झितम् ।
एकदण्डमधोभागे शङ्कुना तु विराजितम् ॥ २४४ ॥
चतुरङ्गुलदैर्ध्येण बहिर्मध्योन्नतेन च ।
तस्य तुम्बं ^३परीणाहे द्वादशाङ्गुलसंमितम् ॥ २४५ ॥
चतुरङ्गुलवक्त्रं च दन्तनाभिसमन्वितम् ।
अप्रादधस्तात् पादोने मुष्टियुग्मे निबध्यते ॥ २४६ ॥
अत्र ^४मेषान्त्रतन्त्री स्यात् सूक्ष्मा श्लक्ष्णा समा दृढा ।
कर्परं नारिकेलोत्थं दोरकः ^५सारिकास्तथा ॥ २४७ ॥
व्रीण्येतानि निबध्यन्ते यत्र ^६सालापिनी मता ।
दशमुष्टिमितं दण्डमन्नाहुः खादिरं परे ॥ २४८ ॥

^१ दोषविर्जितः (D). ^२ मङ्गुल्यर्धयुतं (D). ^३ तुम्ब (D).

^४ रङ्गुलिवर्कं चेदन्तनाभि (D). ^५ अप्रमेयान्त्रि (D). ^६ दोरको दोरिका-
स्तथा I ed. ^७ दोरिका तथा (D). ^८ व. ड. च. न विद्यन्ते fn. I ed.

^९ चालापिनी (D).

पट्टसूत्रमयीं तन्त्रीं यद्वा कार्पाससूत्रजाम् ।

रक्तचन्दनजान् सर्वान् वीणादण्डान् परे जगुः ॥ २४९ ॥

दशमुष्ट्यधिकं मानं क्वचित्लक्ष्येषु दृश्यते ।

(क०) आलापिनीलक्षणमाह—आलापिनीगतमिति ।

आलापिन्याः किनरीभेदानां लघ्वादीनां च लक्षणानि विस्पष्टार्थ-
त्वात् ग्रन्थत एवावगन्तव्यानि ॥ -२४१-२५०- ॥

(मु०) आलापिनीलक्षणमाह—आलापिनीगतमिति । वेणोः
नवमुष्टिपरिमितो दीर्घत्वे दण्डः स्यात् । अङ्गुलद्वयं परिधिः वर्तुलप्रमाणं
यस्य; प्राग्वत् एकतन्त्रीदण्डवत्; ग्रन्थ्यादिर्वाजितः ग्रन्थिभेदादिर्वाजितः;
श्लक्ष्णः मसृणः; समः आदिमध्यावसानेषु समप्रमाणः; सुवृत्तः वर्तुलश्च;
अङ्गुलद्वयविस्तारः, तथा अर्धाङ्गुलमानेनायतं अर्धाङ्गुलायामः तदर्धं
पिण्डसंयुक्तम्, उन्मुखम् ऊर्ध्वमुखं यस्य, पत्रिकया उज्झितं हीनम्, एकेन
दण्डेन युक्तं, अधोभागे अधःप्रदेशे तु चतुरङ्गुलदैर्ध्येण, बहिःप्रदेशे मध्येन
चोन्नतेन शङ्कुना विराजितं ककुभं दधत् दण्डः स्यादिति संबन्धः ।
तस्य दण्डस्य अग्रात् अधस्तात् तुम्बं दधत्, अधश्चतुर्थीशेन मुष्टिद्वये
द्वादशाङ्गुलसंमितं चतुरङ्गुलमुखं च नागदन्तनाभियुक्तं निबध्यते ।
अत्रेति । अत्र आलापिन्याम्, मेपस्य अजस्य आन्त्रेण तन्त्री कार्या ।
नारिकेलोत्थं कर्परं, दोरकः, सारिकाश्च, एतानि व्रीणि यत्र निबध्यन्ते
सा आलापिनी ज्ञातव्या । मतान्तरमाह—दशेति । अत्र, परे आचार्याः
दशमुष्टिमितं खादिरं दण्डमाहुः । यद्वा पट्टसूत्रमयी कार्पाससूत्रमयी वा
तन्त्री कार्या । परे आचार्याः रक्तचन्दनजान् सर्वान् वीणादण्डान् जगुः
॥ -२४१-२५०- ॥

^१ चेत् तदा ततवत् (A). ^२ शोने (B). ^३ गुजपरिधिः (B).

^४ गजदन्त (B). ^५ दोरिका काश्चन सन्ति (A).

तुम्बं वक्षसि निक्षिप्य वामाङ्गुष्ठेन तस्य च ॥ २५० ॥
 मूलमुत्पीड्य धृत्वा तामथ मध्यमया सुधोः ।
 दक्षिणस्यानामया वा वादयेद् बिन्दुधातुवत् ॥ २५१ ॥
 बिन्दुहस्तेन वा मन्त्रे मध्ये तारे च वादयेत् ।
 त्रयस्तु दक्षिणात् पाणेश्चत्वारो वामतः स्वराः ॥ २५२ ॥
 इत्युक्तं कैश्चिदाचार्यैरपरे त्वन्यथा जगुः ।
 मध्यमो मुक्तया तन्वया तर्जन्याद्यङ्गुलीत्रयात् ॥ २५३ ॥
 वामस्यानामिकावर्ज्यात् त्रयः स्युः पञ्चमादयः ।
 मुक्ततन्वयाथ षड्जः स्यादृषभस्तर्जनीभवः ॥ २५४ ॥
 गान्धारो मध्यमाङ्गुल्या दक्षिणेनाथ वादनम् ।
 आरोहेणावरोहेण सप्तकद्वितये भवेत् ॥ २५५ ॥
 एभिः स्वरैर्विरचितं विचित्रं रागमालपेत् ।
 गायेद् गीतं निबद्धं च प्रबोणो वीणयानया ॥ २५६ ॥
 इदमालापिनीलक्ष्म श्रीनिःशङ्केन कीर्तितम् ।

इत्यालापिनीलक्षणम्

(मु०) आलापिनीवादनप्रकारमाह—तुम्बमिति । वक्षसि तुम्बं निक्षिप्य स्थापयित्वा, वामाङ्गुष्ठेन तस्य तुम्बस्य मूलं निष्पीड्य मध्यमया अङ्गुल्या तामालापिनी धृत्वा, दक्षिणहस्तस्य अनामिकया पूर्वोक्तबिन्दु-धातुवत् वादयेत् । त्रयः स्युरिति । दक्षिणपाणिना वादनात् त्रयः स्वराः, वामपाणिना चत्वारः स्वरा इति केचित् आचार्या आहुः । अपरे तु अन्यथा आहुः । मुक्तया अप्रतिबद्धया तन्वया मध्यमः मध्यमस्वरः वामहस्तस्य

अनामिकया विना तर्जन्यादिभिः तिसृभिरङ्गुलीभिः क्रमात् पञ्चमादयः, पञ्चमधैवतनिषादाः । अथ विमुक्तया तन्वया षड्जः ततो दक्षिण-हस्ततर्जन्या ऋषभः मध्यमाङ्गुल्या गान्धार इति । अथ स्वरवादन-प्रकारपरिज्ञानानन्तरम्, सप्तकद्वितये आरोहावरोहाभ्यां कार्यम् । एभिः सप्तकद्वयस्थैः स्वरैः रागालापं कुर्यात् । तस्मिन् निबद्धं गीतं जानया आलापिन्या वीणया गायेत् ॥ २५०-२५७ ॥

इत्यालापिनीलक्षणम्

किनरी द्विविधा लघ्वी बृहती चेति कीर्तिता ॥ २५७ ॥
 तत्र लघ्वीगतं लक्ष्म सांप्रतं प्रतिपाद्यते ।
 स्याद्विस्तृतित्रयं दैर्घ्यं मानं पञ्चाङ्गुलाधिकम् ॥ २५८ ॥
 पञ्चाङ्गुलः परीणाहो वेणुदण्डस्य यत्र च ।
 गर्भेऽस्य व्यापकं रन्ध्रं ककुभः शाकदारुजः ॥ २५९ ॥
 सार्धद्व्यङ्गुलविस्तारो दैर्घ्यं पञ्चाङ्गुलश्च सः ।
 तस्मादधोऽङ्गुलन्यूना दैर्घ्यविस्तारयोर्भवेत् ॥ २६० ॥
 मध्ये कूर्माश्रिता लौही पत्रिका ककुभस्थिता ।
 गुध्रवक्षोऽस्थिनलिका कनिष्ठाङ्गुलसंमिता ॥ २६१ ॥
 लौही कांस्यमयी यद् वा कीर्तिता सारिकाब्धया ।
 श्लिष्टा वस्त्रमेषोभिश्चमर्दनेन चतुर्दश ॥ २६२ ॥
 चतुर्दश स्वरस्थाने दण्डपृष्ठे निवेशयेत् ।

(मु०) किनरी लघ्वीयितुं विभजते—किनरीति । किनरी द्विविधा, द्विप्रकारा—लघ्वी बृहती चेति । तत्र लघ्व्या लक्षणं प्रतिज्ञाय

¹ णानामया वैमा वादयेद् (D).

² नामया (D).

³ द्वितयं (D).

⁴ स्यादिति (A).

¹ वादनद्वयं कार्यम् (A).

² लौहीः (D).

³ यन्त्रा (D).

⁴ कीर्तिताः (D).

⁵ ख. ग. मयोमिश्र fn. I ed.

⁶ मर्दने च (D).

कथयति—स्यादिति । वेणुदण्डस्य दीर्घत्वे^१ मानं पञ्चाङ्गुलाधिकवितस्ति-
त्रयं परिमाणम् । परिणाहो वर्तुलप्रमाणं पञ्चाङ्गुलम् । अस्य
वेणुदण्डस्य, गर्भे मध्ये व्यापकं वेतरन्ध्रं शाककाष्ठजः साध्याङ्गुलद्वय-
मायामः, पञ्चाङ्गुलः^२ ककुभः, तस्मात् ककुभात् दीर्घ्यं आयामे^३ च
अर्धाङ्गुलन्यूना मध्ये कूर्मवदुन्नता च लोहमयी पत्रिका ककुभे वर्तमाना
कार्या । गृध्रेति । गृध्रनामानः पक्षिणः, तेषाम् अस्थिनलिका, सच्छिद्रा
अस्थिखण्डा कनिष्ठाङ्गुलिप्रमाणा लोहमयी कांस्यमयी वा सच्छिद्रा
नलिकाः चतुर्दशसंख्याकाः, दग्धवस्त्वमपीमिश्रेण सिक्थकेन मर्दनेन
समुत्थेन श्लिष्टा दण्डस्य पृष्ठे तललम्नाः चतुर्दशस्वरस्थाने स्थापयेत्
॥ -२५७-२६३- ॥

सप्तकस्य द्वितीयस्य यो निषादो भवेदधः ॥ २६३ ॥

तस्य स्थाने भवेदाद्या सारिकान्योर्ध्वमङ्गुलात् ।

स्थापयेदन्तरे किञ्चित् किञ्चित् पूर्वाधिके परा ॥ २६४ ॥

द्व्यङ्गुलावध्यष्टमौ तु पूर्वस्यास्त्र्यङ्गुलान्तरे ।

स्थापयित्वा पराः षट् च पूर्वपूर्वाधिकान्तरे ॥ २६५ ॥

चतुरङ्गुलपर्यन्तं सारिकाः संनिवेशयेत् ।

तुम्बं दण्डस्थकुकुभस्याधःसंधौ निवेशयेत् ॥ २६६ ॥

तृतीयतुर्यसार्योस्तु मध्येऽधस्ताद् द्वितीयकम् ।

पूर्वस्मादपरं तुम्बं विस्तारेऽभ्यधिकं मनाक् ॥ २६७ ॥

दण्डाग्राद् द्व्यङ्गुलेऽधस्ताद्वन्ध्रं कृत्वाथ निक्षिपेत् ।

चलशङ्कुं गले रन्ध्रं दधमानं^४मतोऽङ्गुलात् ॥ २६८ ॥

अधस्तादङ्गुलोत्सेधं^१ मेढकं बाणपुङ्खवत् ।

कृत्वा ततोऽग्रतः किञ्चित् स्थिरशङ्कुं निवेशयेत् ॥ २६९ ॥

ततो लोहमयीं श्लक्ष्णां वर्तुलां च समां दृढाम् ।

गजकेशोपमां तन्त्रीं निबध्य ककुभे दृढम् ॥ २७० ॥

सारिकामस्तकन्यस्तामानोतां^२ मेढकोपरि ।

लग्नां द्वितीयप्रान्तेन वेष्टयेच्चलकीलके ॥ २७१ ॥

शङ्कुं तं भ्रामयेत् तावद् यावत् तन्त्री दृढा भवेत् ।

भ्रामणं वैपरीत्येन तन्त्री शैथिल्यकारणम् ॥ २७२ ॥

तन्त्रीदैर्घ्येऽथ दाढर्चाय चलशङ्कुर्गलस्थिते ।

छिद्रे न्यस्याथ संकीलं स्थिरशङ्कौ निवेशयेत् ॥ २७३ ॥

लघ्वी सा किनरी प्रोक्ता शाङ्गदेवेन सूरिणा ।

अस्यां स्थायिनमारभ्य गणयेत् सप्तकद्वयम् ॥ २७४ ॥

सारिकुकुभयोर्मध्ये तर्जण्याद्यङ्गुलित्रयात् ।

वादयेत् किनरीवीणातन्त्रीं दक्षिणपाणिना ॥ २७५ ॥

वामस्य तिसृभिस्ताभिरङ्गुलीभिस्तु तन्त्रिकाम् ।

तत्तत्सारिप्रदेशस्थां स्वरव्यक्त्यै निपीडयेत् ॥ २७६ ॥

वितस्त्यभ्यधिका दीर्घ्ये परिणाहेऽङ्गुलाधिका ।

लघ्व्याः स्याद् बृहती स्नायुमया तन्त्रीस्त्रितुम्बिका ॥ २७७ ॥

आलापिनीवदस्यां च स्थाप्यं तुम्बं तृतीयकम् ।

अन्यलघ्वीगतं लक्ष्म बृहतीं किनरीं श्रयेत् ॥ २७८ ॥

इति द्विविधाकिनरीलक्षणम्

^१ दीर्घस्य (A).

^२ पञ्चाङ्गुलदीर्घः (B).

^३ आयामेन (B).

^४ न ततो (D).

^१ मेढकं (D).

^२ मेढकोपरि (D).

^३ ड. तन्त्री दीर्घाऽथ fin. I ed.

^४ ख. दाढर्चाऽथ fin. I ed.

(सु०) स्थापनाप्रमाणमाह—सप्तकस्थितिः । द्वितीयस्य सप्तकस्य अधःस्थाने यो निषादः, तस्य स्थाने प्रथमा सारिका किञ्चिदङ्गुलाधिकान्तरे द्व्यङ्गुलायामा स्थाप्या । परा अष्टमी सारिका तु सप्तम्याः सकाशात् व्यङ्गुलान्तरप्रदेशे स्थाप्या । अन्यास्तु षट्सारिकाः पूर्व-पूर्वापेक्षया किञ्चिदधिकान्तरे चतुरङ्गुलाः स्थाप्याः । तुम्बमिति । दण्डस्थककुम्भस्य अधःसंधौ तुम्बं निवेशयेत् । ततो द्वितीयमपि तुम्बं पूर्व-^१तुम्बात् किञ्चिदधिकं विस्तारं तृतीयचतुर्थसारिकयोर्मध्यस्थाने स्थापयेत् । दण्डापादिति । दण्डस्य अग्रात् द्व्यङ्गुलमित्यधस्तात् प्रदेशे रन्ध्रं कृत्वा चलं भ्रमणयोग्यं शङ्कुं कीलकं निक्षिपेत् । गले कण्ठप्रदेशे रन्ध्रं दधमानं दधतमिति शङ्कुविशेषणम् । “दध धारणे” (भ्वादिः, ञ) इति भौवादिकस्य धातो रूपम् । अङ्गुलोत्सेधं शङ्कोरङ्गुलादधस्तात् अङ्गुलोर्ध्वं शरपुङ्खवत् द्विशृङ्गमेढकं शङ्कुं कृत्वा, ततः किञ्चिदग्रतः स्थिरं ^२अभ्रमणयोग्यं शङ्कुं निवेशयेत् । ततः गजकेशोपमाम्, गजकेशोपमाम् लोहमयीं तन्वीं दृढं ककुम्भे निबध्य सारिकामूर्धनि निबद्ध-^३मेढकोपरि आनीतां द्वितीयप्रान्तेन ^४चलशङ्कुं वेष्टयेत् । तं चलशङ्कुं तावद् भ्रामयेत्, यावद् दृढा तन्वी भवेत् । तस्य शङ्कोः वैपरीत्येन भ्रमणं तन्व्याः शैथिल्यमापादयेति । तन्वी दीर्घे सति, अथ दाढर्चाय दृढस्थितये चलशङ्कोः कण्ठरन्ध्रे कंचन लोहमयं कीलं स्थिरशङ्को स्थापयेत् । इयं लघ्वी किनरीति । अस्यामिति । अस्यां किनर्यां स्थायिनमंशस्वरमारभ्य सप्तकद्वयं गणयेत् । किनरीवीणाया तन्वीं दक्षिणेन पाणिना सारोककुभयोर्मध्ये तज्ज्यादिभिर्वाद्येदिति संबन्धः । वामहस्तस्य ताभिः तज्ज्यादिभिः तिसृभिः अङ्गुलीभिः सारीस्थस्वरव्यक्तये तन्वीं निपीडयेत् । बृहती किनरी लक्षयति—वितस्तीति । लघुकिनर्याः सकाशात् बृहती किनरी दीर्घत्वे वितस्त्या अधिकपरिणाहे आयामे अङ्गुलेनाधिका गोस्तायुरचिता

तन्वी यस्यां, तुम्बत्रययुता । तृतीयं तुम्बं यस्याम् आलापिन्यां यथा स्थाप्यते तथैवास्यां स्थापनीयम् । अन्यत् लक्षणं बृहत्किनरी लघुकिनरी-स्थमाश्रयति ॥ -२६३-२७८ ॥

इति द्विविधाकिनरीलक्षणम्

किनरी^१त्रितयं तत्र देशीसंसिद्धमन्यथा ।

बृहती मध्यमा लघ्वीत्यथाऽऽसां लक्ष्मं^२ कथ्यते ॥ २७९ ॥

तिर्यग्यबोदरैः षड्भिर्निस्तुषैः स्यादिहाङ्गुलम् ।

बृहतीदण्डमानं स्याद् दैर्घ्यं^३ पञ्चाशदङ्गुलम् ॥ २८० ॥

षडङ्गुलोऽत्र परिधिर्दण्डे दैर्घ्यं तु काकुम्भे ।

षडङ्गुलं शिरस्त्वस्य दैर्घ्यं विस्तारयोर्भवेत् ॥ २८१ ॥

चतुरङ्गुलसमानं द्व्यङ्गुलं तु तदुच्छ्रये ।

निक्षिपेत् काकुम्भं दण्डं वीणादण्डोत्तरे तथा ॥ २८२ ॥

दण्डांशः परिशेषोऽत्र तावान् यावति शेषिते^४ ।

वीणादण्डान्तककुम्भशिरोमध्यान्तरे^५ स्थितः ॥ २८३ ॥

तन्वीभागस्तृतीयांशाधिकव्यङ्गुलको भवेत् ।

मध्ये कूर्मोन्नतां लौहीं^६ पत्रिकां शिरसि क्षिपेत् ॥ २८४ ॥

^७परितोऽर्धाङ्गुलन्यूना शिरसोऽसौ प्रकीर्तिता ।

वीणाशोषोदधस्ताच्च सार्धद्व्यङ्गुलतः स्थितम् ॥ २८५ ॥

ऊर्ध्वाधो दैर्घ्यं भागद्वयं विस्तरेऽर्धाङ्गुलायतम् ।

तिर्यग्दैर्घ्यं तावद्वयद्वन्द्वं^८ चोभयतोमुखम् ॥ २८६ ॥

^१ पूर्वात् (B).

^२ भ्रमण (A).

^३ इत्यस्य मेढकोपरि (A).

^४ चलशङ्को निवेशयेत् (A).

^५ ताभ्यां भवेत् (B).

^१ द्वितयं (D).

^२ वक्ष्यते I cd.

^३ ख. ग. ड. पञ्चदशाङ्गुलं

fn. I cd

^४ डान्तरे (D).

^५ शेषितं (D).

^६ ककुम्भे (D).

^७ न्तरः (D).

^८ पत्रिका द्व्यङ्गुलिन्यूना (D).

तिर्यग्रन्धे^१ चलं शङ्कुमूर्ध्वरन्ध्रनिविष्टया ।
 लौह्या सारिकया युक्तं न्यसेत् प्रान्तान्तरं पुनः ॥ २८७ ॥
 सारिकायाः शिरोमूले बध्नीयात् काकुभे सुधीः ।
 तन्वीरन्ध्रात् पुरः^२ स्वाङ्घ्रिद्वयङ्गुले मेढको भवेत् ॥
 स च स्यात् कर्तरीयुक्तो गले रन्ध्रान्वितोऽथवा ।
 कर्तरीया^३ गलरन्ध्रे वा सारिका तां निवेशयेत् ॥ २८६ ॥
 तद्रन्ध्रे दण्डान्तरालं विदध्यात् सयवाङ्गुलम् ।
 मेढकात् पुरतः शङ्कुः स्थिरः सार्धाङ्गुला^४न्तरे ॥ २८० ॥
 तिर्यग्रन्ध्रे निवेशोऽस्य चलशङ्कुवदिष्यते ।
 चलशङ्कुभ्रामणादि ज्ञेयं पूर्वोक्तरीतितः ॥ २८१ ॥
 गृध्रवक्षोस्थिजा यद्वा तत्पादास्थिसमुद्भवाः ।
 कांस्यमध्योऽथवा लौह्यो नलिकाः सारिका^५ मताः ॥
 सार्धाङ्गुलास्ताः परिधौ दण्डपृष्ठे निवेशयेत् ।
 यन्मेढकशिरोमध्यादुपक्रम्यान्तरं भवेत् ॥ २८३ ॥
 सारोमस्तकमध्यानां तदिदानीं निरूप्यते ।
 आद्यान्तरं तत्र यवाधिकं पञ्चाङ्गुलं मतम् ॥ २८४ ॥
 द्वितीयमन्तरालं तु चतुरङ्गुलं^६भूतम् ।
 तस्मात् तृतीयतुर्यं तु यवन्मूले मते सताम् ॥ २८५ ॥
 यवाधिकव्यङ्गुलं तु ज्ञेयं पञ्चममन्तरम् ।
 यवोने^७व्यङ्गुलं षष्ठं सयवद्वयङ्गुलं पुनः ॥ २८६ ॥

^१ रन्ध्रे (D).^२ ख. ग. स. न्वी । ड. साङ्घ्रि fin. I ed.^३ कर्तरीया (D).^४ लोत्तरे I ed.^५ ख. ग. च. सारिकाभिधाः fin. I ed.^६ रङ्गुलकं मतम् (D).^७ यवोनेद्वयङ्गुलं I ed.

अन्तरालं सप्तमं स्यात् सार्धद्वयङ्गुलमष्टमम् ।
 नवमं तु यवा^८र्धोनं सार्धाङ्गुलमितं मतम् ॥ २८७ ॥
 दशमं द्वयङ्गुलं हीनं^९ यवोनेकादशं ततः ।
 द्वादशं तु तृतीयांशन्यूनं तस्मात् त्रयोदशम्^{१०} ॥ २८८ ॥
 सतृतीयांशाङ्गुलं स्यादङ्गुलं तु चतुर्दशम्^१ ।
 द्वितीयान्तरतोऽधस्तान्येतु तुम्बमधोमुखम् ॥ २८९ ॥
 अन्यत् ककुभमूर्ध्वाधस्तुम्बकं संनिवेशयेत् ।
 षट्त्रिंशदङ्गुलं चक्रे परिधिस्त्वाद्यतुम्बके ॥ ३०० ॥
 किञ्चिन्मूले^२ ततस्तुम्बं परिधौ स्यादधस्तनम् ।
 ईषद^३स्पष्टसारिका सारिकास्ता निवेशयेत् ॥ ३०१ ॥
 मदनेनेष्टकावूर्णमिश्रेण श्लेषणं दृढम् ।
 सारीणामथवा वस्त्रमधीमिश्रेण^४ संमितम् ॥ ३०२ ॥
 मुक्ततन्वीभवं कृत्वा स्वरमाद्यं चतुर्दशम् ।
 स्वराः परे स्युः सारीणां चतुर्दशभिरन्तरैः ॥ ३०३ ॥
 सप्तकद्वयमेवं स्यादेकतारस्वराधिकम् ।
 यथास्वं स्वरदेशांशैः श्रुतिस्त^५स्या बि^६तन्वते ॥ ३०४ ॥
 द्विवास्ततोऽधिकाः सारीनि^७ बध्नीयात् परे त्विह ।
 लक्षयन्त्यन्तराण्यासां स्वराविर्भावतो बुधाः ॥ ३०५ ॥

^१ घेन I ed. घेनं (D), (A), (B).^२ यवेने I ed.^३ दश (D).^४ दश (D).^५ वक्ष्यस्तुम्बं (D).^६ दस्युष्ट (A), (B).^७ संमतम् (D).^८ जा (D).^९ ग. स्तज्जा fin. I ed.^{१०} विचिन्वते I ed.^{११} निवध्नन्त्यपरे (D).

श्रीशार्ङ्गवेवोपदेशात् तद्बोधः 'सुलभो नृणाम् ।

केचित् त्रयोदशैवात्र सारोर्निबधते बुधाः ॥ ३०६ ॥

बृहती किनरीत्येषा शार्ङ्गवेवेन कीर्तिता ।

इति बृहती किनरी

(मु०) अथ देशीप्रसिद्धं किनरीव्रित्तं लक्षयति—किनरीति ।

तिस्रः किनर्या देशीप्रसिद्धाः । अन्यथा पूर्वोक्तकिनरीद्वयात् विलक्षणाः, बृहती मध्यमा लघ्वी चेति । तासां लक्षणानि कथयितुं परिभाषते—
तिर्यंगिति । यवतुपविहीनैः तिर्यक् स्थितैः षड्भिर्यवोदरैः, एकमङ्गलं किनरीलक्षणप्रकरणे ज्ञातव्यम् । बृहती किनरी लक्षयति—बृहतीति । बृहत्याः किनर्याः दण्डस्य दीर्घमानं दीर्घत्वं पञ्चदशाङ्गुलानि । परिधिः वर्तुलमानं षडङ्गुलानि दण्डस्य ज्ञातव्यम् । काकुभे ककुभसंबन्धिनि दैर्घ्ये षडङ्गुलमानम् । अस्य ककुभस्य शिरः दैर्घ्ये विस्तारे वा आयामे चतुरङ्गुलं कार्यम् । उच्छ्रये उत्सेधे द्व्यङ्गुलम् । ककुभस्य दण्डं वीणादण्डोत्तरे निक्षिपेत् । दण्डांशः दण्डस्य अंशोज्वयवः, तावान् शेप्यः अवशेषणीयः, यावति शेपे अङ्गुलकः [व्यङ्गुलकः] तृतीयांशाधिकः तन्त्या भागोज्वयवः वीणादण्डस्य अन्ते ककुभस्य शिरो मध्यान्तेषु स्थिरो भवेत् । मध्य इति । मध्ये कूर्मवत् उन्नतां लोहीन् लोहघटितां पत्रिकां ककुभस्य मध्ये शिरसि शिरोमध्ये क्षिपेत् स्थापयेत् । असौ पत्रिका शिरसः परितः सर्वप्रदेशेभ्य अधाङ्गुलन्यूना युक्ता । वीणेति । वीणायाः शीर्षप्रदेशः, तस्मादधस्तात् [सार्धं] द्व्यङ्गुले प्रदेशे स्थितमूर्ध्वमधश्च दीर्घरन्ध्रं कुर्यात् । तद्विस्तारे अधाङ्गुलप्रमाणम्, तिर्यक् दैर्घ्येऽपि तावत् अधाङ्गुल आयामम्, एवं द्वितीयं रन्ध्रमुभयतोमुखं कुर्यात् । तव तिर्यग्रन्ध्रे चलं भ्रमणयोग्यं शङ्कुम् ऊर्ध्वरन्ध्रस्थितया लोहकृतया सारिकाया नलिकया युक्तं न्यसेत् क्षिपेत् ।

¹ ख. ग. सुकोरं fn. I cd.

सारिकायाः प्रान्तान्तरं पुनः काकुभे ककुभसंबन्धिनि शिरोमूले बध्नीयात् । तन्त्रीति । तन्त्रीरन्ध्रात् पुरः पूर्वप्रदेशे सपादद्वयङ्गुलप्रमाणकः मेढकः शङ्कुर्भवेत् । स च कर्तरीयुक्तो रन्ध्रयुक्तो वा कार्यः । तत्र कर्तर्या गलरन्ध्रे वा सारिकां निवेशयेत् । तद्वन्धीति । तस्य रन्ध्रस्य दण्डस्य च मध्यं यवाधिकैकाङ्गुलमितं कुर्यात् । मेढकात् पूर्वप्रदेशे स्थिरः अभ्रमणयोग्यः शङ्कुः साध्याङ्गुलान्तरे तिर्यग्रन्ध्रे चलशङ्कुवदिष्यते चलशङ्कुप्रकाशने निवेशनीयः । अस्य शङ्कुभ्रमणं तन्त्रीदाढ्यार्थम्; शैथिल्यार्थं विपरीतभ्रमणं वा स्थिरतरार्थं च कोलकवन्धनं पूर्ववत् ज्ञेयम् । गुध्रेति । गुध्रस्य वक्षःस्थितं यदस्थि तदुद्भवाः नलिकाः कर्तव्याः । यद्वा; अथवा गृध्रपादास्थिजाताः, अथवा कांस्यघटिताः, आहोस्वित् लोहमय्यः इति । ताः साध्याङ्गुलप्रमाणाः परिधौ वर्तुलप्रमाणे दण्डस्य पृष्ठे स्थापयेत् । मेढकस्य शिरोमध्यमारभ्य सारीशिरोमध्यानां यदन्तरं तत्परिजायाह—आद्यान्तरमिति । तत्रेति । तत्र तस्यां किनर्याम्, आद्यमन्तरं यवाधिकपञ्चाङ्गुलम् द्वितीयमन्तरं तु चतुरङ्गुलम्; तृतीयं चतुर्थं च द्वितीयाद्यवन्त्यूनं यवन्त्यूनचतुरङ्गुलम्; पञ्चमं तु यवाधिकं व्यङ्गुलं ज्ञेयम्; षष्ठमन्तरं यवीनव्यङ्गुलम्; सप्तममन्तरालं पुनः सयवद्वयङ्गुलम्; अष्टमं सार्धद्व्यङ्गुलम् नवमं तु अध्रयवीनं सार्धद्व्यङ्गुलमितम्; दशमं द्व्यङ्गुलम्; एकादशं तु यवहीनं द्व्यङ्गुलम्; द्वादशं तु तस्मादेकादशात् तृतीयांशन्यूनं तृतीयांशहीनं; त्रयोदशमङ्गुलतृतीयांशहीनम्; चतुर्दशमेकाङ्गुलप्रमाणकमिति । द्वितीयेति । द्वितीयान्तरस्य अधस्तात् तुम्बं अधोमुखं न्यसेत् । अन्यद् द्वितीयं तुम्बकं ककुभस्य शिरसोऽर्धस्थं स्थापयेत् । प्रथमतुम्बस्य वक्त्रे परिधिः वर्तुलप्रमाणं षट्त्रिंशदङ्गुलानि । ततोऽधस्तने तुम्बे पूर्वतुम्बात् परिधौ किञ्चिन्न्यूनं स्यात् । ईषदिति । सारिकाः किञ्चित् अस्युष्टसारिकापृष्ठे तन्त्रिका निवेशयेत् । सारीणां विशेषणं संयोजनमिष्टकाचूर्णमिश्रेण

¹ प्रकाशेन (B).

² अधस्तात् (A), अधस्तनम् (B).

³ अस्युष्ट-

सारिका अस्युष्टतन्त्रिका निवेशयेत् (B).

मर्देनेन कार्यम्। अथवा वस्त्रमपीमिश्रेण; ^१कटघोविमुक्तया तन्वया जातं प्रथमं स्वरं च कृत्वा, सारीणां चतुर्दशभिरन्तरैः मध्यप्रदेशैरत्ये चतुर्दश स्वराः स्युः। एवं पञ्चदशभिः स्वरैः मन्द्रसप्तकं, मध्यसप्तकं स्यात्। तारसप्तकस्य एकस्वरोऽधिको भवेदिति। स्वरप्रदेशानामर्थैः यथास्वं, द्विश्रुती स्वरं द्वाभ्यामंशाभ्याम्, त्रिश्रुती त्रिभिरंशैः, चतुःश्रुती चतुर्भिरंशैः श्रुतिः वितन्वते विस्तारयन्तीति। मतान्तरमाह—द्विप्रा इति। एषा बृहती किनरी शाङ्गदेवेनोक्ता ॥ २७६-३०७-॥

इति बृहती किनरी

मध्यमायां दण्डदैर्घ्यं त्रिचत्वारिंशदङ्गुलम् ॥ ३०७ ॥

परिधिर्दृश्यते तत्र द्वियवोनषडङ्गुलः।

सार्धं^१व्यङ्गुलविस्तारं प्राग्दैर्घ्यं काकुभं शिरः ॥ ३०८ ॥

क्षिपेत् ककुभदण्डस्य वीणादण्डेऽङ्गुलत्रयम्।

तावांश्च परिशेषेऽसौ यावतः परिशेषणे ॥ ३०९ ॥

दण्डान्तशीर्षमध्यान्तः^४ सारिकावयवस्थितिः^५।

तृतीयभागरहिताङ्गुलत्रयमितो भवेत् ॥ ३१० ॥

दण्डान्ते सारिकोत्सेधः स्याद् यवोनाङ्गुलद्वयः^६।

तदर्धं मेढकोपान्त्ये सारीणामन्तरं त्विह ॥ ३११ ॥

प्रथमं प्रथितं प्राज्ञैः सार्धं^७ङ्गुलचतुष्टयम्।

द्वितीयमन्तरं^८मेयं सयवैरङ्गुलैस्त्रिभिः ॥ ३१२ ॥

तृतीयं तु तृतीयांशाभ्यधिकैस्त्रिभिरङ्गुलैः।

चतुर्थं^९व्यङ्गुलं प्रोक्तं पञ्चमं सारिकान्तरम् ॥ ३१३ ॥

^१ विमुक्तया (B).

^२ प्रदेशे अन्ये (B).

^३ द्व्यङ्गुल (D).

^४ न्ते I ed.

^५ स्थितः I ed.

^६ त्रयः (D).

^७ ख. ज्ञेयं fin. I ed.

^८ द्व्यङ्गुलं (D).

यवाधिकाभ्यां सार्धाभ्यामङ्गुलाभ्यां मितं मतम्।

षष्ठं यवद्वयन्यून^१द्व्यङ्गुलं सप्तमं पुनः ॥ ३१४ ॥

सयवार्धाङ्गुलद्वन्द्वमष्टमं त्वङ्गुलद्वयम्।

अङ्गुलं सयवद्वन्द्वं नवमं दशमं पुनः ॥ ३१५ ॥

यवोनमङ्गुलद्वन्द्वमन्तरत्रितयं पुनः।

^२इतः परस्याः प्रत्येकं सपादाङ्गुलसंमितम् ॥ ३१६ ॥

विशेषोऽयमिहान्यतु लक्ष्म स्याद् बृहनीगतम्।

इति मध्यमा किनरी

(सु०) मध्यमां किनरी लक्षयति—मध्यमायामिति। मध्यमायां

किनर्यां दण्डस्य त्रिचत्वारिंशदङ्गुलप्रमाणकं दैर्घ्यं। परिधिः वर्तुलप्रमाणं तु दण्डस्य यवद्वयोनानि षडङ्गुलानि। काकुभं ककुभसंबन्धि शिरः सार्धाङ्गुलत्रयविस्तारं दैर्घ्यं स्यात्। क्षिपेदिति। वीणादण्डे ककुभदण्ड-मङ्गुलत्रयं क्षिपेत्। असौ ककुभदण्डस्तावान् परिशेषणीयः, यावतः परिशेषणे क्रियमाणे दण्डादिषु स्थितः तृतीयभागहीनाङ्गुलत्रयमितो भवति। दण्डस्य अन्ते प्रान्ते वर्तमानायाः सारिकाया उत्सेधः यवोन-मङ्गुलद्वयं, मेढकोपान्ते वर्तमानायाः सारिकाया उत्सेधः तस्मादर्थः। सारीणामन्तरप्रदेशप्रमाणमाह—सारीणामिति। प्रथममन्तरं सार्धमङ्गुल-चतुष्टयं प्राज्ञैः प्रथितं विस्तारितम्; द्वितीयमन्तरं यवाधिकाव्यङ्गुलेन मेयं मातव्यम्; तृतीयमन्तरमङ्गुलतृतीयांशाधिकैः त्रिभिरङ्गुलैर्मातव्यम्; चतुर्थमन्तरं व्यङ्गुलेन; पञ्चमं यवाधिकासार्धद्व्यङ्गुलम्; षष्ठं यवद्वयेन हीनं द्व्यङ्गुलम्; सप्तमं यवार्धसहितं अङ्गुलद्वयम्; अष्टमं द्व्यङ्गुलम्; यवद्वयाधिकाङ्गुलम् नवमं; दशमं पुनः यवोनाङ्गुलद्वयम्; दशमादनन्तर-

^१ मङ्गुलं (D).

^२ [एकदण्डान्तन्तरालं अङ्गुलेन मितं भवेत्]

इत्यधिकं (D).

मन्तर^१त्रयं सपादाङ्गुलप्रमाणम् । अयं विशेष उक्तः । इह अन्यत् लक्ष्म
लक्षणं तु बृहतीगतं मध्यमकिनर्यां ज्ञातव्यम् ॥ -३०७-३१७- ॥

इति मध्यमा किनरी

लघ्वीदण्डगतं देर्घ्यं स्यात् पञ्चत्रिंशदङ्गुलम् ॥ ३१७ ॥

परिधिस्तु तृतीयांशाधिकाङ्गुलपञ्चकः ।

अङ्गुलत्रयविस्तारं ककुभस्य शिरो भवेत् ॥ ३१८ ॥

पूर्ववत् काकुभो दण्डो वीणादण्डे ^२निधीयते ।

परिशेषस्तथा सा स्याद् यथा दण्डान्ततन्त्रिका ॥ ३१९ ॥

आ ककुभशिरोमध्याद् भवेत् व्यङ्गुलसंमिता ।

दण्डान्ते सारिकोत्सेधः स्यात् सार्धाङ्गुलसंमितः ॥ ३२० ॥

तदध^३ ^४मैढकोपान्ते तत्राद्यं सारिकान्तरम् ।

प्रोक्तं यवोनाभ्यधिकैश्चतुर्भिर्मितमङ्गुलैः ॥ ३२१ ॥

द्वितीयं द्वियवोपेताङ्गुलद्वन्द्वमितं भवेत् ।

यवोनाभ्यामङ्गुलीभ्यां तृतीयां मीयते बुधैः ॥ ३२२ ॥

पादोनव्यङ्गुलं तुर्यमथ पञ्चममन्तरम् ।

यवार्धोनाङ्गुलद्वन्द्वं षष्ठं सार्धाष्टभिर्यवैः ॥ ३२३ ॥

सप्तमं तु यवोनेनाङ्गुलद्वन्द्वेन मीयते ।

सार्धाङ्गुलं त्वष्टमं स्यान्नवमं त्वष्टभिर्यवैः ॥ ३२४ ॥

दशमैकादशे प्रोक्ते सपादाङ्गुलके पृथक् ।

यवन्यूनाङ्गुलमितं द्वादशं च त्रयोदशम् ॥ ३२५ ॥

अन्यत् लघुकिनर्या लक्ष्म पूर्ववदिष्यते ।

न बृहत्यधिकं मानं न हीनं त्रिंशदङ्गुलात् ॥ ३२६ ॥

आवर्तव्यं किनरीणां रक्तिमाधुर्यवर्जनात् ।

एतयोर्न्तराले तु यथेष्टं मानकल्पना ॥ ३२७ ॥

शक्ता विवेक्तुमन्नापि स्वरस्थानानि तद्विदः ।

इति लघ्वी किनरी

(मु०) लघ्वी किनरी लक्षयति—लघ्वीति । लघ्व्याः किनर्या
दण्डं पञ्चत्रिंशदङ्गुलं देर्घ्यं ज्ञातव्यम् । अङ्गुलत्रितयांशाधिकं पञ्चा-
ङ्गुलं परिधिः, ककुभस्य शिरः व्यङ्गुलं स्यात् । वीणादण्डे ककुभदण्डस्य
प्रवेशनं पूर्ववत् । अस्य ककुभदण्डस्य परिशेषः तथा कर्तव्यः, यथा दण्डान्त-
तन्त्रिका ककुभशिरोमध्यं व्याप्य व्यङ्गुलं स्यात् । सारिकान्तरमाह—
तत्रेति । प्रथमं सारिकान्तरं यवाधिकचतुरङ्गुलम्; द्वितीयं यवद्वयाधिकं
द्व्यङ्गुलम्; तृतीयसारिकान्तरमेकयवोनं द्व्यङ्गुलम्; तुर्यं चतुर्थांशन्यूनं
व्यङ्गुलम्; पञ्चममर्धयवन्यूनं द्व्यङ्गुलम्; षष्ठं सार्धैरष्टभिर्यवैर्व्युक्तम् ।
अयं तु लक्षणे विशेष उक्तः—सप्तमं तु यवोनेन अङ्गुलद्वयेन मीयते;
जष्टमं तु सार्धाङ्गुलेन; नवमं त्वष्टभिर्यवैः; दशमैकादशे पृथक् सपादा-
ङ्गुलके प्रोक्ते द्वादशं त्रयोदशं च यवन्यूनाङ्गुलमितं कार्यम् । अन्यत्
सर्वं लक्ष्म लघुकिनर्या पूर्ववत् ज्ञातव्यम् । न बृहत्यधिकमिति किनरीणां
बृहत्यधिकं त्रिंशदङ्गुलदीर्घमाने हीनं नादत्तव्यम् । कुतः? रक्तिमाधुर्ययोः
वर्जनात्, लोपादित्यर्थः । एतयोः मध्यमलघ्वयोः किनर्याः यथेष्टं स्वेच्छया
अन्तरालमानं^१ कल्पयित्वा स्वरस्थानानि ज्ञातुं^२ तद्विदः वैणिकाः
समर्थाः ॥ -३१७-३२८- ॥

इति लघ्वी किनरी

^१ मन्तरे (B). ^२ विधीयते (D). ^३ तदधो (D). ^४ छेदको (D).

^१ मानकल्पना (A). ^२ तद्विशेषादी (A).

प्रदर्शनार्थं केषांचिद् रागाणां वादनक्रमम् ॥ ३२६ ॥
 अस्यां किनरीवीणायां वक्ति श्रीकरणेश्वरः ।
 स्थायिनं मध्यमं मन्द्रं मध्यं^१ वा स्थायिनः परान् ॥ ३२६ ॥
 आरुह्य पनिसान् पञ्चाबरोह्य^२ क्रमतः स्वरान् ।
 षड्जतः स्थायिपर्यन्ताद्यदाह्न्यात् धैवतम् ॥ ३३० ॥
 मध्यमादेः समाख्यातं स्वस्थानं प्रथमं तथा ।
 द्वचर्धमर्धस्थितं तद्वदाह्न्या द्विगुणं^३ स्वरम् ॥ ३३१ ॥
 आद्यं स्वस्थानमातिष्ठेत् स्वस्थानत्रितये परे ।
 असंभवे पूर्वपूर्वस्वरस्य तु परं परम् ॥ ३३२ ॥
 क्रमेण स्वरमारोहेत् सर्वरागेष्विति स्थितिः ।

इति मध्यमादिः

(क०) अथ किनरीवीणायां केषांचिदधुना प्रसिद्धानां
 रागाणां वादनक्रमं दर्शयितुमाह—प्रदर्शनार्थमित्यादिना । तत्रादौ
 मध्यमादेः स्वस्थानचतुष्टये स्वरसंनिवेशमाह—स्थायिनं मध्यम-
 मित्यादि । मन्द्रं मध्यमं मध्यं मध्यमं वा स्थायिनं कृत्वा,
 स्थायिनं रागस्थितं स्थानमित्यर्थः । तथैव स्थायिलक्षणं प्रागे-
 वोक्तम्; ‘यत्रोपवेश्यते रागः स्वरे स्थायी स कथ्यते’ (श्लो.
 —१६१, तृतीये प्रकीर्णकाध्याये) इति । स्थायिमन्द्रमध्यमात्
 मध्यममध्यमाद्वा, [मध्यममध्यमाद्वा ?] परान् पनिसान्, आरुह्येति
 अनेनास्मिन् रागे धैवतस्य तत्संवादिन क्रमस्य च वर्ज्यत्वमव-

^१ वाऽऽस्वाद्य च स्वरान् (D).

^२ रोहेत् (D).

^३ द्विगुणः (D).

^४ पविश्यते I ed.

गन्तव्यम् । क्रमतः षड्जतः स्थायिपर्यन्तान् पञ्चस्वरानवरुह्य,
 सनिधपमानित्यर्थः । अनेन अवरोहे क्वचिद्वर्जस्यापि स्वरस्यो-
 च्चारणं रागहानिकरत्वाभावेनाभ्युपगतं भवति । यदाह्न्यात्
 धैवतमिति । धैवतस्वरमाहृतं गमकयुक्तं कुर्याच्चैदित्यर्थः । तदा
 मध्यमादेः प्रथमं स्वस्थानं भवति । परे स्वस्थानत्रितय इति ।
 द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु स्वस्थानेष्वित्यर्थः । द्वितीये द्वचर्धस्वरमा-
 रुह्य, द्वचर्ध इति स्थायिनश्चतुर्थस्वर उक्तः । तृतीये अर्धस्थितं
 स्वरमारुह्य द्वचर्धद्विगुणमध्यस्योर्ध्वस्थित उक्तः । चतुर्थे द्विगुणं
 स्वरमारुह्य, द्विगुणो नाम स्थायिस्वरवादष्टम् उक्तः । तत्र
 आरुह्येत्यस्यायमर्थः—द्वचर्धादिषु स्थित्वा रागं प्रदर्शयेदिति ।
 आद्यं स्वस्थानमातिष्ठेदिति प्रतिस्वस्थानं योज्यम् । सकलराग-
 साधारणं न्यायं दर्शयति—असंभव इत्यादि । पूर्वपूर्वस्वरस्या-
 संभवस्तु तस्य वर्ज्यत्वेन द्रष्टव्यः ॥ -३२८-३३३- ॥

इति मध्यमादिः

(गु०) एवं वीणास्वरूपमुक्त्वा^१ दिक्प्रदर्शनार्थं केषांचिद्रागाणां
 वादनक्रमं वक्तुं प्रतिजानीते—प्रदर्शनार्थमिति । स्थायिनमिति । मन्द्र-
 स्थानस्थं मध्यस्थानस्थं^२ वा मध्यमं स्वरं स्थायिनमास्थाय कृत्वा, तत्परान्
 पनिसान् पञ्चमनिपादषड्जान् आरुह्य आरोहेण गत्वा, षड्जतः षड्ज-
 सकाशात् स्थायिमध्यमपर्यन्तान् स्वरान् पञ्च क्रमादवरोहेत् । यदि
 धैवतमाह्न्यात् ताडयेत् तदा मध्यमादिसंज्ञकस्य रागस्य प्रथमं स्वस्थानम् ।
 द्वचर्धमर्धस्थितं च स्वरमालपितलक्षणे लक्षितं । स्वरं द्विगुणं^३मारुह्य आद्यं
 स्वस्थानमातिष्ठेत् कुर्यात् । एवं विधं स्वस्थानत्रितयमन्यद्भवेत् । पूर्वपूर्व-

^१ विहितप्रदर्शनं (A).

^२ नाम (B).

^३ द्विगुणेमारुह्य (A).

स्वराभावे परं परं स्वरं क्रमादा^१रोहेत् । अयं मध्यमादिः । राग उक्तः
एवं विधिः सर्वरागेषु बोद्धव्यः ॥ -३२८-३३३- ॥

इति मध्यमादिः (१)

किनरीवादकाः प्रायः स्थायिनं पञ्चमं स्वरम् ॥३३३॥

रागे कुर्वन्ति बङ्गाले तदज्ञानविजृम्भितम् ।

ग्रहो हि मध्यमो रागस्यास्य शास्त्रे^२ प्रकीर्तितः ॥३३४॥

यद्वा लक्ष्यप्रधानानि शास्त्राण्येतानि मन्वते ।

तस्माल्लक्ष्यविरुद्धं यत् तच्छास्त्रं नेयमन्यथा ॥ ३३५ ॥

(क०) अथ बङ्गालाख्यदेशीरागभेदस्य लक्ष्यलक्षण-
विरोधमुद्भाव्य परिहरति—किनरीवादका इत्यादि । तदज्ञान-
विजृम्भितमिति । तेषां लक्षणपरिज्ञानाभावात् तत्कृतं लक्ष्य-
मप्रमाणिकमित्यर्थः । शास्त्रोक्तं लक्षणं दर्शयति—ग्रहो हीति ।
एवं लक्षणविरोधात् लक्ष्यस्यासमीचीनतामुक्त्वा विषयव्यवस्थया
अत्र लक्ष्यस्यैव प्राधान्यं दर्शयति—यद्वा लक्ष्येति । एतानि
शास्त्राणि देशीविषयाणीत्यर्थः । लक्ष्यप्रधानानि लक्ष्यमेव प्रधानं
येषां तानि । मन्वते, आचार्या इति शेषः । तस्मात् कारणात्
लक्ष्यविरुद्धं यत्तु शास्त्रं बङ्गालरागादेः मध्यमग्रहत्वाद्यभिधायकं
तच्छास्त्रम्—अन्यथा नेयमिति । यथा लक्ष्यविरोधि न भवति
तथा व्याख्येयमित्यर्थः ॥ -३३३-३३५ ॥

(मु०) किनरीवादका इति । किनर्या वादकाः सर्वेऽपि वैणिकाः
बङ्गाले रागे पञ्चममंशस्वरं कुर्वन्ति । तदनुव्रितम् । यतोऽस्य बङ्गालस्य

^१ रोहयेत् (A). ^२ शास्त्रेषु कीर्तितः (D).

शास्त्रे^१ मध्यमो ग्रहस्वर उक्तः, ग्रह^२त्वसहचारित्वादंशत्वस्य तेनैव बांशेन
भवितव्यमिति । यद्वेति । अथवा^३ संगीतशास्त्राणि लक्ष्यप्रधानानि । ततो
लक्ष्याविरोधेन व्याख्येयानि ॥ -३३३-३३५ ॥

मध्यमादिपदं ज्ञेयं पञ्चमाद्युपलक्षणम् ।

^४प्राथम्यसाम्यतो यद्वा नियमादृष्टकल्पना ॥ ३३६ ॥

मध्यमादिग्रहे कार्या नन्वस्मिन् मध्यमे ग्रहे ।

अधस्तनः स्याद् गान्धारो मध्यमः पञ्चमे^५ ग्रहे ॥३३७॥

तुर्यादिव्यत्ययेऽप्येवं रागसाम्यं कथं भवेत् ।

(क०) तदन्यथानयनप्रकारमेव दर्शयति—मध्यमादि-
पदमिति । पञ्चमाद्युपलक्षणत्वे हेतुमाह—प्राथम्यसाम्यत इति ।
अस्थायमर्थः—मूर्च्छनास्वरूपनिरूपणावसरे, 'षड्जस्थानस्थितै-
न्याद्यै रजन्याद्याः परे 'विदुः' (श्लो. २४. प्र-४, प्रथमे स्वर-
गताध्याये) इति देशीप्रपञ्चमभिर्संधायोक्तम् । तेन देश्यां
षड्जस्थान एव निषादाद्याः समावेश्यन्ते । तदा सर्वेषामपि
प्राथम्यं समानं भवति । अतः प्राथम्यसाम्येन हेतुना मध्य-
मादिपदं पञ्चमाद्युपलक्षणं भवतीति । तस्मादस्य बङ्गालस्य
देशीरागत्वात् अत्र लक्षणे ग्रहत्वेन मध्यमस्य वचनं लक्ष्यप्रसिद्ध-
पञ्चमोपलक्षणमिति लक्ष्यस्य प्राधान्यात् तद्विरोधिलक्षणं तदनु-
सारेण नेतव्यमिति मन्तव्यम् । पक्षान्तरेण विरोधं परिहर्तुमाह
—यद्वेति । मध्यमादिग्रहे बङ्गालादीनां लक्ष्यप्रसिद्धपञ्चमादि-

^१ प्रथमो (A).

^२ त्वस्वरचारित्वादंशत्वस्य (A).

^३ संगीतादि (B).

^४ प्रथमं शास्त्रतो (D).

^५ पञ्चम I ed.

^६ जगुः I ed.

ग्रहत्वपरिहारेण शास्त्रोक्तमध्यमादि^१ग्रहत्वे कृते ग्रहे नियमा-
दृष्टकल्पना कार्या । ^२अत्र रक्तिलाभ एव दृष्टं फलम् । तत्तु यथा
तथा वा भवत्येव, स्थानस्यैकत्वादित्यनियमे प्रसक्ते शास्त्रेण
नियमो विधीयते । तेन नियमेनादृष्टं फलं कल्प्यते । तस्मात्
नियमानुष्ठानेऽभ्यधिकमदृष्टं फलं भवति; यथा प्राङ्मुखत्वेन
भोजने । तथा बङ्गालस्यास्य मध्यमग्रहेऽभ्यधिकमदृष्टं फलमिति
भावः । इमं पक्षमास्थाय चोदयति—**नन्विति । अस्मिन्**
बङ्गालरागे, **मध्यमे स्वरं ग्रहे** सति गान्धारस्तस्य मध्यमस्या-
धस्तनः स्यात् । पञ्चमे ग्रहे सति मध्यमः पञ्चमस्याधस्तनः
स्यात् । एवं पक्षद्वयेऽपि । **तुर्यादिव्यत्यय इति ।** मध्यमस्य ग्रहत्वे
निषादस्तुर्यः; पञ्चमस्य ग्रहत्वेऽपि षड्जस्तुर्यः; आदिशब्दे^३नार्ध-
स्थिताष्टमादयो गृह्यन्ते । एवं सर्वेषां स्वराणां व्यत्यये सति
रागसाम्यं कथं भवेदित्याक्षेपः ॥ ३३६, ३३८- ॥

(सु०) ^४तदेव व्याख्यानमाह—**मध्यमादीति ।** अत्र मध्यमोऽंशः ।
प्राथम्यसाध्यत इति । अत्र मध्यमादिपदं पञ्चमादेरुपलक्षणम्, प्रथम-
प्रयुक्तत्वेन समानत्वात् । ततश्च स्वेच्छया यं कमपि स्वरं स्थायिनं
कुर्यादित्यर्थः । अथवा यस्मिन् कस्मिंश्चित् स्वरं स्वेच्छया स्थायिनं कृते
राग उत्पद्यत एव । परं तु मध्यमे स्थायिनि कृते पुण्यविशेषो भवतीति
नियमादृष्टार्थं मध्यमादिग्रहोक्तिरिति । आक्षिपति—**नन्विति ।** ननु
मध्यमे ग्रहे क्रियमाणे अधस्तनो गान्धारः, पञ्चमे तु अधस्तनो मध्यमः ।

एवं मध्यमे ग्रहे **तुर्यो** निषादः, पञ्चमे ग्रहे षड्जः । एवं सर्वेषां स्वराणां
^५व्यत्यये कथं रागसाम्यम्? ॥ ३३६, ३३८- ॥

निःशङ्कोऽत्र समाधत्ते गान्धाराद्यप्रयोजकम् ॥ ३३८ ॥
किंतु स्थायिनमारभ्य ये स्युस्तुर्यादयः स्वराः ।
रागाभिव्यक्तिशक्ताः^२ स्युर्नु^३ शास्त्रेष्वनर्थिका ॥ ३३९ ॥
षड्जाद्युक्तिः प्रसज्येत सत्यं तन्नोच्यते त्विदम् ।
मध्यमादिग्रहः शास्त्रे नियतस्तदपेक्षया ॥ ३४० ॥
तुर्यादयो निषादाद्या भवन्तीत्युपपद्यते ।

(क०) तस्य समाधानं कर्तुमाह—**निःशङ्कोऽवेति ।**
गान्धाराद्यप्रयोजकमिति । मध्यमे ग्रहे गान्धारोऽधस्तनः, आदि-
शब्देन पञ्चमे ग्रहे मध्यमोऽधस्तनः^४ इति च सर्वमप्रयोजकम् ।
किंतु स्थायिनमारभ्येति । षड्जस्थानस्थितं मध्यमस्थानस्थितं
वा स्वरमारभ्य । **तुर्यादय इति ।** तत्तत्स्थानप्राधान्येन तत्तद्-
ग्रहानुसारेण च^५ नीतोऽद्यस्तात् तुर्यादयः स्वराः रागाभिव्यक्ति-
शक्ताः स्युरित्युत्तरम् । यद्येवं शास्त्रेषु षड्जाद्युक्तिरनर्थिकैवेति
प्रसज्येतेति शङ्कते—**नन्विति । षड्जाद्युक्तिरिति ।** षड्जादीनां
ग्रहत्वाद्युक्तिरित्यर्थः । अर्धाङ्गीकारेण परिहरति—**सत्यमिति ।**
अत्र रक्तिलाभरूपदृष्टफलाय स्थानस्यैव प्रयोजकत्वात् तदर्थं
षड्जाद्युक्तिरनर्थिकैवेत्यङ्गीकृतोऽंशः । तथापि नानर्थिका ।
अदृष्टफलापेक्षया शास्त्रे मध्यमादीनां नियतत्वादिति परिहारः ।

^१ ग्रहत्वोक्तत्वे निग्रहे नियमा I ed. ^२ ग. नियमादष्टादश ते कला
नाका fn. I ed. ^३ अरक्तिलाभ I ed. ^४ शब्देनार्थ I ed.

^५ तदेतद् (A),

^१ व्यक्तये (A). ^२ शक्त्या (D). ^३ स्युर्नुतु (D). ^४ (*निषा-
दाद्यास्तुर्यादयः) I ed. * धनुश्चिह्नान्तगतमधिकमिव भाति fn. I ed.
^५ स्थिता अधस्ता I ed.

तदपेक्षया शास्त्रनियतमध्यमादिग्रहापेक्षया निषादाद्यास्तुर्यादयो भवन्ति ॥ -३३८-३४१- ॥

(मु०) परिहरति—निःशङ्क इति । अत्र गान्धारनिषादादि-प्रयोजकं न भवति । किंतु स्थाय्यपेक्षया अधस्तनत्वतुल्यत्वादि-रागाभिव्यक्तौ प्रयोजकमिति । पुनराक्षिपति—नन्विति । शास्त्रे षड्जा^१दीनामुक्तिरेवं सति अनर्थिकां अनर्थकतां प्राप्नोति । ^२अर्धाङ्गी-कारेण परिहरति—सत्यमिति । मध्यमादिग्रहोक्तिः शास्त्रे नियमाद् दृष्ट्यापनार्थमित्युक्तम् । तदपेक्षया निषादादयः एवं तुर्यादयो^३ऽपीति नियमोपपत्तिः ॥ -३३८-३४१- ॥

ग्रहांशन्यासनियमो यद्वा शास्त्रस्य गोचरः ॥ ३४१ ॥

गुम्फः स्वरान्तराणां तु लक्ष्यस्थो न विरुध्यते ।

(क०) प्रकारान्तरेणाप्यनर्थकत्वं परिहर्तुमाह—ग्रहां-शेत्यादि । ग्रहांशन्यासनियमः ग्रहांशन्यासानामेव नियमः, शास्त्रस्य गोचरः विषयः । स्वरान्तराणां गुम्फ इति । स्वरान्तराणि ग्रहांशन्यासेभ्योऽतिरिक्तानि, अपन्यासादयोऽन्तरमार्गस्वरा-श्चोच्यन्ते । तेषां गुम्फस्तु लक्ष्यस्थः शास्त्रेण न विरुध्यत इति वा^४ अर्थाङ्गीकारेण परिहारः ॥ -३४१, ३४२- ॥

सर्वत्र परिहारोऽयं लक्ष्ये लक्ष्माविरोधिनि ॥ ३४२ ॥

देशीरागेषु निर्णीतः शाङ्गदेवेन सूरिणा ।

(क०) उक्तः परिहारोऽन्यत्रापि योजनीय इत्याह—सर्वत्रेति । देशीरागेष्विति । रागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गरागा देशीरागा इति प्रागुक्ताः । तेष्वयं विरोधपरिहारो निर्णीत इति । अनेन शुद्धसाधारितादिषु ग्रामरागादिषु मार्गरागेषु लक्षणस्यैव प्राधान्यात् तदनुसारेण लक्ष्यस्योन्नेयत्वत् त्वं विरोध एव न प्राप्तः, तत्र कुतस्तत्परिहार इत्यभिप्रायो वेदितव्यः । तथाहि मूर्च्छना-लक्षणावसरे;

‘मध्यस्थानस्थषड्जेन मूर्च्छनाऽऽरभ्यतेऽग्रिमा ।

अधस्तनेनिषादाद्यैः षडन्या मूर्च्छनाः क्रमात् ॥’ इति,

(श्लो. -१२, १३-, प्र-४ प्रथमे स्वरगताध्याये)

तथा,

‘मध्यमध्यममारभ्य सौवीरो मूर्च्छना भवेत् ।

षडन्यास्तदधोऽधःस्थस्वरानारभ्य तु क्रमात् ॥’

(श्लो. -१३, १४-, प्र-४, प्रथमे स्वरगताध्याये)

इति च जात्याद्यन्तरभाषान्तरमार्गविषयत्वेन यः पक्ष उक्तः तत्र षड्जादिग्रहत्वोक्तेरन्यथाभावाभावाद्बिरोधो नोदेत्येवेत्यलम् ॥ -३४२, ३४३- ॥

(मु०) प्रकारान्तरेण परिहारमाह—यद्वेति । स्वरान्तराणामपि लक्ष्यस्थो गुम्फः ग्रहादित्वेन प्रयोगः शास्त्रस्य गोचर एव अनिषिद्धत्वात् । स तस्मात्^१ न विरुध्यत इति ॥ -३४२, ३४३- ॥

मध्यमं स्थायिनं कृत्वा गान्धारात् तदधस्तनात् ॥ ३४३ ॥

^१ विभेदाना (B). ^२ अर्था (B). ^३ यः इति (A). ^४ अर्था (D).

^१ तत् (B).

पञ्चमारुह्य निषादान्तात् ^१गपर्यन्तावरोहणम् ।
कृत्वा स्थायिनिषादौ च विधायमाहृत्य धैवतम् ॥ ३४४ ॥
स्थाय्यन्तमवरोहेच्चैद् बङ्गालो जायते तदा ।

इति बङ्गालः

(क०) एवं देशीरागविषययोर्लक्ष्यलक्षणयोर्विरोधं परि-
हृत्य प्रकृतमनुसंदधानो बङ्गालरागस्य स्वरसंनिवेशं दर्शयति—
मध्यमं स्थायिनमित्यादि । तदधस्तनात् गान्धारादिति त्यब्लोपे
पञ्चमी । गान्धारमारभ्येत्यर्थः । निषादान्तात् पञ्चमारुह्येति ।
गमपधनीतित्यर्थः । गपर्यन्तावरोहणं कृत्वेति । निधपमगानवरुह्य
स्थायिनिषादौ च *मध्यमनी विधाय धैवतमाहृत्य, आहृताख्य-
गमकयुक्तं कृत्वा स्थाय्यन्तं मध्यमान्तमवरोहेद्यदि तदा बङ्गालो
जायत इति बङ्गालस्य प्रथमं स्वस्थानमित्यर्थः । परमपि
स्थानत्रयं मध्यमादिवदुन्नेयम् ॥ -३४३-३४५- ॥

इति बङ्गालः

(गु०) बङ्गलोत्पत्तिप्रकारमाह—मध्यमं इति । मध्यमं स्वरं
स्थायिनमंशे^२ कृत्वा तृतीयं चतुर्थं च स्वरमुच्चार्य मध्यमाधस्थितात्
गान्धारात् निषादपर्यन्तान् पञ्चस्वरानारुह्य तावत्पर्यन्तमवरोहणं कृत्वा
स्थायिनं निषादं च उच्चार्य धैवतमारुह्य ^३स्थाय्यवधित्वावरोहणे
बङ्गालः ॥ -३४३-३४५- ॥

इति बङ्गालः (२)

^१ सपर्यं (D). * स्थायमध्यमनी (D). * [स्थायी] मध्यमनी I ed.

* इदं पदमधिकमिव भाति fin. I ed. ^२ मंशं (A). ^३ स्थाय्यवध्यवरो (B).

धैवतं स्थायिनं कृत्वा तृतीयं च चतुर्थकम् ॥ ३४५ ॥
तस्मात् कृत्वावरोहणे स्थायिपर्यन्तमेत्य च ।
तृतीयं च ततोऽधस्थं^१ विधाय स्थायिनं व्रजेत् ॥ ३४६ ॥
यदा तदा भैरवः स्यात्लक्ष्ये ^२स्थायी निरि^३ष्यते ।

इति भैरवः

(क०) अथ भैरवमाह—धैवतं स्थायिनमित्यादि ।
लक्ष्ये स्थायी निरिष्यते इति । लक्षणे धैवत उक्तः । लक्ष्ये
निर्निषादः स्थायी ^४हृष्यत इत्यन्वयः ॥ -३४५-३४७- ॥

इति भैरवः

(गु०) भैरवं लक्षयति—धैवतमिति । धैवतमंशं कृत्वा तस्मात्
धैवतात् तृतीयपञ्चमाववरुह्य स्थायिपर्यन्तं समाहृत्य स्थायिनस्तृतीय-
मध्यममुच्चार्य स्थायिप्राप्तौ भैरवः । एतस्य लक्ष्ये निः निषादः स्थायी
लक्ष्यते ॥ -३४५-३४७- ॥

इति भैरवः (३)

स्थायिनो धैवतात् पूर्वं स्वरमागत्य तत्परान् ॥ ३४७ ॥
^५पञ्चानारुह्य तुयं च द्वितीयं द्विः प्रयुज्यते ।
स्थायिनि न्यस्यते रागो वराटी जायते तदा ॥ ३४८ ॥
लक्ष्ये तु दृश्यते स्थायी किनर्यामृषभस्वरः ।

इति वराटी

^१ स्तात् (D). ^२ ख. ग. स्थायिनिरिष्यते fin. I ed. ^३ निरीक्ष्यते

I ed. ^४ स्थायीक्ष्यत I ed. ^५ पञ्चानारुह्य तुरीयं च तृतीयं (D).

(क०) इतः परं, 'स्थायिनो धैवतात्पूर्वम्' इत्यारभ्य, 'एवं कतिपये रागाः' (श्लो. ३४७-३६६ अत्रैव) इत्यन्तेन ग्रन्थसंदर्भेण वराट्छादीनां रागाणां स्वरसंनिवेश उक्तरीत्या द्रष्टव्यः । अत्र प्रकरणे—स्थायीति ग्रहपर्यायत्वेन मन्तव्यम् । न हि क्वचिद् ग्रहाद्यतिरिक्तस्यांशस्य संभवेऽपि तत्पर्यायत्वेन; अन्यथात्र स्थायिग्रहयोर्भेदेऽङ्गीक्रियमाणे सति गुर्जरीः, 'स्थायिनं मध्यमृषभं कृत्वा' (श्लो. -३४६ अत्रैव) । इत्युक्त्वा 'ग्रहो गान्धार एवास्या दृश्यते लक्ष्यगोचरे' (श्लो. ३५१- अत्रैव) इति । तथा देशीसंज्ञके रागे, 'ऋषभं स्थायिनं कृत्वा' (श्लो. ३५६- अत्रैव) इत्युक्त्वा, 'गान्धारस्तु ग्रहो देश्यां देशीवेदिषु दृश्यते' (श्लो. ३५८- अत्रैव) इति । तथा देशाख्यसंज्ञके रागे, 'स्थायिनं मध्यगान्धारं कृत्वा' (श्लो. -३५८ अत्रैव) इत्युक्त्वा, 'लक्ष्ये दृष्टोऽस्या मध्यमो ग्रहः' (श्लो. ३६०- अत्रैव) इत्येवमादिषु लक्ष्यलक्षणयोर्विरोधोद्भावनमनुपपन्नं स्यात् । किंच बङ्गालरागे किनरीवादकाः पञ्चमं स्वरं स्थायिनं कुर्वन्तीत्यादिकाया आक्षेपपरंपरायाः, 'ग्रहो हि मध्यमो रागस्यास्य शास्त्रे^१ प्रकीर्तितः' (श्लो. -३३४ अत्रैव) इत्यादिना महता यत्नेन कृता परिहारपरंपरापि निरर्थिका स्यात् । अतोऽत्र ग्रह एव स्थायी स्थाय्येव ग्रह इति मन्तव्यम् । सुबोधमन्यत् ॥ -३४७-४०१- ॥

इति वराटी

(सु०) वराट्छ्रुत्यतिप्रकारमाह—स्थायिन इति । धैवतात् स्थायिनः पूर्वं पञ्चममुच्चार्य, ततः पञ्चस्वरानारोहेत् । अधः स्थायिनो

^१ शास्त्रेण कीर्तितः (D).

द्वितीय^१तुरीयो द्विः प्रयुज्य स्थायिनं शेषे धैवते समाप्ती वराटी । लोके तु ऋषभस्वरः स्थायी दृश्यत इति ॥ -३४७-३४६- ॥

इति वराटी (४)

स्थायिनं मध्यमृषभं कृत्वा द्वौ तदधस्तनौ ॥ ३४६ ॥
गत्वा स्थायिनमारभ्य द्वौनारुह्यावरुह्य^२ तु ।
पञ्च स्वरान् न्यस्यते चेदृषभं गुर्जरी तदा ॥ ३५० ॥
ग्रहो गान्धार एवास्या दृश्यते लक्ष्यगोचरे ।

इति गुर्जरी

(सु०) गुर्जरीमाह—स्थायिनमिति । मध्यस्थानस्थं ऋषभं स्थायिनं विधाय तदधस्तनौ षड्जनिषादो प्राप्य ऋषभात् त्रीन् स्वरानारोह्य पञ्चस्वरानवरुह्य ग्रहे^३ ऋषभे समाप्ती गुर्जरी । लक्ष्ये गान्धारो ग्रहः ॥ -३४६-३५१- ॥

इति गुर्जरी (५)

मध्यषड्जाद् ग्रहात् पूर्वं स्वरमेत्य तृतीयकम् ॥ ३५१ ॥
तुयं चोक्त्वा द्वितीयादौस्त्रीनारुह्यावरुह्य च ।
ग्रन्थासाद्वसन्तः स्यात्लक्ष्ये त्वस्वर्षभो ग्रहः ॥ ३५२ ॥

इति वसन्तः

(सु०) मध्यषड्जादिति । मध्यस्थानस्थात् षड्जात् ग्रहात् पूर्वं स्थायिनोऽवस्थितं स्वरमुच्चार्य, ततः तृतीयकं तुयं चोच्चार्य द्वितीयादीन्

^१ तृतीयो (A); तृतीये (B).

^२ च (D).

^३ षड्जे (B).

त्रीन् स्वरानारोहावरोहाभ्यां गीत्वा ग्रहे षड्जे समाप्तौ वसन्तः । लक्ष्ये
त्वस्य ऋषभो ग्रहः ॥ -३५१, ३५२ ॥

इति वसन्तः (६)

मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा तृतीयं च चतुर्थकम् ।

उक्त्वा द्वितीयतृतीयौ स्पृष्ट्वा तुयं च पञ्चमम् ॥ ३५३ ॥

^१एतत् क्रमेणारोहं^२स्यक्त्वा स्थायिद्वितीयकम् ।

स्थायिपूर्वान्तमागत्य ग्रहं तस्मात् तृतीयकम् ॥ ३५४ ॥

तुयं ततस्तृतीयं च प्रोच्यते^३स्यस्यते^४ग्रहे ।

धन्नासी स्यात् तदा दृष्टो लक्ष्ये स्यात् पञ्चमो ग्रहः ॥ ३५५ ॥

इति धन्नासी

(सु०) मध्येति । मध्यस्थं षड्जं ग्रहं कृत्वा, तृतीयचतुर्थी-
वृच्चार्यं, तृतीयद्वितीयतृतीयपञ्चमान् प्राप्य, द्वितीयवर्जं स्थाय्यधस्तना-
वधिश्चारोहेणागत्य, तस्मात् ग्रहतृतीयादीनुच्चार्यं ग्रहे समाप्तौ धनाश्रीः ।
अस्या लक्ष्ये पञ्चमो ग्रहः ॥ ३५३-३५५ ॥

इति धन्नासी (७)

ऋषभं स्थायिनं कृत्वा परं स्पृष्ट्वा ततः परम् ।

बिलम्ब्य तुयंमान्दोल्य स्पृष्ट्वा तुर्यादधस्तनौ ॥ ३५६ ॥

ग्रहान्निसरणं कृत्वा परौ प्रोच्य द्वितीयकम् ।

एस्य स्थायिनि^१चेन्म्यासो देशीरागस्तदा भवेत् ॥ ३५७ ॥

गान्धारस्तु ग्रहो देश्यां देशीवेदिषु दृश्यते ।

इति देशी

(सु०) ऋषभमिति । ऋषभं स्थायिनं कृत्वा, तस्मात् ऋषभात्
स्थायिनः परं द्वितीयं स्पृष्ट्वा शीघ्रमुच्चार्यं, तृतीयं बिलम्बितमुच्चार्यं,
चतुर्थमान्दोलितं गीत्वा, तृतीयद्वितीयौ त्वरितमुच्चार्यं, ग्रहस्वरात्
ऋषभात् निःसरणं कृत्वा, निःसृतं स्थलितमिव^२गीत्वा, परौ द्वितीय-
तृतीयावुच्चार्यं स्थायिनि न्यासे देशीरागः । अस्यास्तु लक्ष्ये गान्धारो ग्रहः
॥ ३५६-३५८-॥

इति देशी (८)

स्थायिनं मध्यगान्धारं कृत्वाधस्तुर्यमेत्य च ॥ ३५८ ॥

तस्मादाषष्ठमारुह्य स्वरांस्तानवरुह्य च ।

ग्रहाधस्तात् तृतीयं च कृत्वा चेन्न्यस्यते ग्रहे ॥ ३५९ ॥

देशाख्या सा तदा लक्ष्ये दृष्टोऽस्या मध्यमो ग्रहः ।

इति देशाख्या

इति रागाङ्गानि

(सु०) स्थायिनमिति । मध्यस्थानस्थो गान्धारः स्थायी,
ततोऽधस्थं चतुर्थं प्राप्य, तस्मात् षष्ठस्वरपर्यन्तमारुह्य, अवरुह्य च
ग्रहाधस्थं तृतीयं च स्वरमुच्चार्यं, ग्रहस्वरन्यासे देशाख्या । अस्या लक्ष्ये
मध्यमो ग्रहः ॥ -३५८-३६०-॥

इति देशाख्या (९)

इति रागाङ्गानि^४

^१ एत्य (D). ^२ हं (D). ^३ न्यसनं (D). ^४ गृहे I ed.

^१ विन्यासो (D). ^२ स्वरे ऋषभे (B). ^३ नीत्वा (A). ^४ (णि)
I ed.

ग्रहान्मध्यस्थितात् षड्जाद् द्वितीयं स्वरमेत्य च^१ ॥३६०॥
 तृतीयं तदधस्थं च विलम्ब्य स्थायिनं स्पृशेत् ।
 अधस्तृतीयतुर्यौ च तं तृतीयं पुनः स्वरम् ॥ ३६१ ॥
 कृत्वा स्थायिस्वरं न्यासो डोम्बक्री जायते तदा ।
 भूपाली सा जनैरुक्ता स्थाय्यस्या मध्यमो मतः ॥ ३६२ ॥

इति डोम्बक्री

(लोके प्रसिद्धा भूपाली)

(सु०) ग्रहानिति । मध्यस्थानस्थः षड्जो ग्रहः । ततो द्वितीयं स्वरं प्राप्य, तृतीयाधस्तनौ^३ विलम्बेन गीत्वा, स्थायिनं सकृदुच्चारयेत् । ततः स्थायिनः सकाशात् अधःस्थितौ तृतीयचतुर्यौ गीत्वा, तृतीयमप्येवं^४ घनं निविडमुच्चार्य स्थायिनि समाप्तौ डोम्बक्री । सा लोके भूपालीत्युच्यते । अस्याः स्थायी लक्ष्ये मध्यमः ॥ -३६०-३६२ ॥

इति डोम्बक्री (१)

(लोके प्रसिद्धा भूपाली)

मन्द्रस्थं पञ्चमं कृत्वा स्थायिनं सह तेन च ।
 आरुह्य षट् स्वरानेषामवरोहे तृतीयकम् ॥ ३६३ ॥
 विलम्ब्य कम्पितं कृत्वा तुर्यं स्थायिनामव्रजेत् ।
 क्रमेण यदि जायेत तदा प्रथममञ्जरी ॥ ३६४ ॥
 अस्यास्तु मन्द्रगान्धारः स्थायी लक्ष्येषु^५ दृश्यते ।

इति प्रथममञ्जरी

^१ चेत् I cd.

^२ गीयते (D).

^३ स्तने (A).

^४ मय्येनं (B).

^५ प्रदृश्यते (D).

(सु०) मन्त्रेति । मन्द्र^१पञ्चमः स्थायी, तेन सह षट् स्वरान् आरुह्य, तेषामेवावरोहे तृतीयं विलम्बितमुच्चार्य तुरीयं च कम्पितं कृत्वा स्थायिप्राप्तौ प्रथममञ्जरी । अस्यास्तु स्थायी लक्ष्ये मन्द्रगान्धारः ॥ ३६३-३६५- ॥

इति प्रथममञ्जरी (२)

धैवतं स्थायिनं कृत्वान्दोल्य तस्मादधस्तनम् ॥ ३६५ ॥
 आरुह्य चतुरस्तस्मादवरोहे^२ ग्रहं व्रजेत् ।
 यदा तदा स्यात् कामोदा मध्यमोऽस्या ग्रहो भवेत् ॥ ३६६ ॥

इति कामोदा

इति भाषाज्ञानि^३

(सु०) धैवतमिति । धैवतः स्थायी, तस्मात् पूर्वं पञ्चम आन्दोलितः, तस्मात्^४ चतुर्णामारोहणम् । तेषामेव ग्रहवर्जमवरोहे [तस्मादेव ग्रहं व्रजेदवरोहे?] कामोदा । अस्या ग्रहो लक्ष्ये मध्यमः ॥ -३६५, ३६६ ॥

इति कामोदा (३)

इति भाषाज्ञानि

षड्जं तु स्थायिनं कृत्वा तत्पूर्वस्वरमेत्य च ।
 स्वरद्वयं द्विरारुह्य तृतीयं च चतुर्यकम् ॥ ३६७ ॥
 प्रकम्प्याथ तृतीयं च विलम्ब्याहत्य पञ्चमम् ।
 स्थाय्यन्तमवरोहेच्चेत् स्वरानृषभवर्जितान् ॥ ३६८ ॥

^१ मन्द्रः (B).

^२ रुह्य ग्रहं (D).

^३ जि I cd.

^४ तुर्यमा (A).

मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा सह प्राचा परौ स्वरो ।
 प्रोच्य तुर्यं विलम्बाद्य तृतीयं सद्वितीयकम् ॥ ३६६ ॥
 स्पृष्ट्वा यदा ग्रहे न्यासस्तदा रामकृतिर्भवेत् ।

इति रामकृतिः

(सु०) मध्येति । मध्यस्थानस्थः षड्जो ग्रहः अधस्तनेन सह
 परौ द्वितीयतृतीयौ स्वरानुच्चार्य, चतुर्थं विलम्बेनोच्चार्य, तृतीयद्वितीयौ
 शीघ्रमुच्चार्य ग्रहे समाप्ती रामकृतिः ॥ ३६७-३७० ॥

इति रामकृतिः (१)

स्थायिनं मध्यमं कृत्वाधश्चतुर्थमुपेत्य च ॥ ३७० ॥
 ग्रहाधरास्त्रीनारुह्य स्वरं स्पृष्ट्वा तृतीयकम् ।
 ग्रहाधस्तुर्यपर्यन्तमागत्याप्यवरोहिणा ॥ ३७१ ॥
 ततस्तृतीयमारुह्य^३ क्रमादेत्य प्रकम्प्य च ।
 ग्रहे न्यासो यदा रागस्तदा गौडकृतिर्भवेत् ॥ ३७२ ॥
 पञ्चमो लक्ष्यते स्थायी लक्ष्ये स्याल्लक्ष्यवेदिभिः ।

इति गौडकृतिः

(सु०) स्थायिनमिति । मध्यमः स्थायी, तस्मादधश्चतुर्थमागत्य,
 तस्मात् वीनारोहेत् । ततो ग्रहात् तृतीयं स्पृष्ट्वा, अवरोहेण ग्रहादध-
 स्तनचतुर्थपर्यन्तमवरुह्य,^४ तृतीयपर्यन्तं चारुह्य मध्यमे समाप्ती गौड-
 कृतिः । लक्ष्ये स्थायी पञ्चमः स्यात् ॥ ३७०-३७३ ॥

इति गौडकृतिः^५ (२)

^१ क्रीतिः (A). ^२ रोहि (D). ^३ स्तात् तुर्यमा (B). ^४ तृतीय
 चतुर्थो अधः कृत्वा (A). ^५ क्रीतिः (A).

मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वाधश्चमेत्य पुनर्ग्रहम् ॥ ३७३ ॥
 कृत्वा तृतीयतुर्यौ च कम्पितं पञ्चमं स्वरम् ।
 वादयित्वा ग्रहात् तुर्यं तृतीयं स्थायिनं^१ तथा ॥ ३७४ ॥
 द्वितीयं कम्पयित्वा च तृतीयं स्वरमास्पृशेत् ।
 ततो यदि ग्रहे न्यासस्तदा देवकृतिर्भवेत् ॥ ३७५ ॥
 अस्यास्तु मध्यमो न्यासो लक्ष्ये श्रीशार्ङ्गणोदितः ।

इति देवकृतिः

इति क्रियाङ्गानि^२

(सु०) मध्यषड्जमिति । मध्यस्थानस्थः षड्जो ग्रहः, तमुच्चार्य
 तदधःस्थं च [ग्रहमेत्य?] तृतीयचतुर्थौ च^३ कृत्वा पञ्चमं कम्पयेत् । ततश्च
 ग्रह^४चतुर्थादीन् कम्पितान् गीत्वा तृतीयस्वरं स्पृशेत्, शीघ्रं गायेत् ।
 ततो यदि ग्रहे^५च न्यासस्तदा देवकृतिः । अस्या न्यासस्तु लक्ष्ये मध्यमः
 ॥ ३७३-३७६ ॥

इति देवकृतिः (३)

इति क्रियाङ्गानि

धैवतं स्थायिनं कृत्वा ग^६ चाधःस्थं पुनर्ग्रहम् ॥ ३७६ ॥
 तत्परं स्थायिनं तस्मात् पूर्वमागत्य च ग्रहम् ।
 आरुह्य त्रीस्तृतीयादीन् पञ्चमादवरुह्य च ॥ ३७७ ॥
 षट् स्वरान् ग्रहमुच्चार्य तृतीयं कम्पयेत् ततः ।
^८तुर्यपञ्चमतुर्याश्च स्पृष्ट्वा प्रोच्य तृतीयकम् ॥ ३७८ ॥

^१ स्वरम् (D). ^२ णि I ed. ^३ स्पृष्ट्वा (B). ^४ तुर्यादीन् (B).
^५ ईषत्क (A). ^६ सैव (B). ^७ गत्वऽधः I ed. ^८ तृतीयं पञ्चमं
 तुर्यं (D).

द्वितीयं च ग्रहे न्यासो यदा स्याद् भैरवी तदा ।

अस्य रागस्य गान्धारः स्थायी लक्ष्येषु दृश्यते ॥ ३७६ ॥

इति भैरवी

(मु०) धैवतमिति । धैवतं स्थायिनं कृत्वा, गम्; गान्धारं धैवतादधःस्थं^१ पञ्चमं पुनः [ग्रहं?] धैवतनिषादौ स्थायिनं तदधःस्थं च ग्रहं संप्राप्य तृतीयादीन् बीनारुह्य, [पञ्चमात्?] षट् चावरुह्य, तृतीयं कम्पयेत् । तुर्यादीन् स्पृष्ट्वा तृतीयद्वितीयावुच्चार्य ग्रहे समाप्तौ भैरवी । अस्या लक्ष्ये गान्धारः स्थायी ॥ ३७६-३७६ ॥

इति भैरवी (१)

मन्द्रषड्जं ग्रहं कृत्वा मध्यषड्जमुपेत्य च ।

अवरोहिष्क्रमादेत्य ग्रहमारोहिणा ततः ॥ ३८० ॥

पमागत्य विलम्ब्यामुं स्पृष्ट्वा धैवतमाव्रजेत् ।

ग्रहाच्चेदवरोहेण ञ्छायानट्टा तदा भवेत् ॥ ३८१ ॥

इति ञ्छायानट्टा

(मु०) मन्द्रषड्जमिति । मन्द्रस्थानस्थात् षड्जात् मध्यषड्जं गच्छेत् । ततोऽवरोहेण स्थायिपर्यन्तमागत्य, आरोहेण पञ्चमं गत्वा, अमुं पञ्चमं विलम्ब्य स्पृष्ट्वा च धैवतमुच्चारयेत्, तदा ञ्छायानट्टा ॥ ३८०, ३८१ ॥

इति ञ्छायानट्टा (२)

मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा तत्परौ द्वौ च पञ्चमम् ।

षष्ठं कृत्वावरुह्यौ तृतीयादवरुह्य च ॥ ३८२ ॥

^१ स्तनं (A). ^२ गुरुं (A).

आग्रहं प्राक्तुतीयाद्^१ वावरुह्य प्राक् तृतीयकम् ।

प्रकम्प्य तत्परं प्रोच्य ग्रहे चैन्यस्यते तदा ॥ ३८३ ॥

रामकी स्यादसौ प्रोक्ता बहुलीपूर्विका जनैः ।

इति बहुलीरामकी

(मु०) मध्यषड्जेति । मध्यस्थानस्थषड्जः ग्रहः; ततो द्वितीय-तृतीयपञ्चमषष्ठाः, पञ्चमषष्ठावुच्चार्य, षष्ठपञ्चमावरुह्य, तृतीयात् ग्रहपर्यन्तमवरुह्य, पूर्वं तृतीयाद्वावरुह्य, पूर्वं चतुर्थं कम्पितं गीत्वा, तत्परमुच्चार्य ग्रहस्वरे समाप्तिः क्रियते चेत्, तदा बहुलीरामकी^३ ॥ ३८२-३८४- ॥

इति बहुलीरामकी (३)

धैवतं स्थायिनं कृत्वा तत्परं तु विलम्बितम् ॥ ३८४ ॥

स्पृष्ट्वा ग्रहद्वितीयो च ग्रहात् तु प्राक् तृतीयकम् ।

ईषद् विलम्ब्य चारुह्य ग्रहादीन् वा तृतीयकम् ॥ ३८५ ॥

विलम्ब्य तदधःस्थं^२ वावरुह्य स्पर्शनात् ततः ।

ग्रहादींस्त्रीन् स्वरान् स्पृष्ट्वा ग्रहमुच्चार्य तत्परम् ॥ ३८६ ॥

ग्रहे चैन्यस्यते रागो मल्लहारो जायते तदा ।

रागेऽत्र पञ्चमः स्थायी दृश्यते लक्ष्यगोचरः ॥ ३८७ ॥

इति मल्लहारः

(मु०) धैवतमिति । धैवतमुच्चार्य, विलम्बितो निषादः, ततो ग्रहद्वितीययोः^३ स्पर्शः, ग्रहात्पूर्वं तृतीय ईषद्विलम्बितः, ग्रहादीनां त्रयाणा-

^१ द्वा (B). ^२ तृतीयं द्वितीयं चा (B). ^३ क्रीतिः (A). ^४ स्तनं

चा (D). ^५ मल्लारो I ed. च. मल्लारो fn. I ed. ^६ मल्लारः I ed.

^७ द्वितीयः असौ (A).

मारोहः, ग्रहाबधः स्थस्य विलम्बेनोच्चारणम्, ग्रहादीनां त्रयाणां शीघ्र-
मवरोहः । ततो ग्रहं स्पृष्ट्वा, तृतीयमुच्चार्य ग्रहे समाप्तो मल्हारः ।
अस्य लक्ष्ये स्थायी पञ्चमः ॥ -३८४-३८७ ॥

इति मल्हारः (४)

स्थायिनो मध्यमात् पञ्चावरुह्य यदि भावधीनः ।
मात् तृतीयं व्रजेत् तस्मादावृह्य चतुरः स्वरान् ॥ ३८८ ॥
स्पृष्ट्वा स्थायिनमेतस्मात् पूर्वं कृत्वा विलम्बितम् ।
षड्जं चेन्न्यस्यते गौडकर्णाटो जायते तदा ॥ ३८९ ॥
लक्ष्ये तु पञ्चमः^२ स्थायी गौडस्यास्य विलोक्यते ।

इति कर्णाटगौडः

(मु०) स्थायिन इति । मध्यमात्^३ स्थायि^४नस्तृतीयस्वरपर्यन्त-
मागत्य, ततश्चतुःस्वरानारोहेत् । ततः स्थायिनं स्पृष्ट्वा पूर्वं विलम्बित-
मुच्चार्य षड्जं समाप्तिश्चेत्, तदा कर्णाटगौडः । अस्य लक्ष्ये पञ्चमः
स्थायी ॥ ३८८, ३९०-॥

इति कर्णाटगौडः (५)

ग्रहान्मन्द्रनिषादाच्चेत् समुच्चार्य स्वरं परम् ॥ ३९० ॥
ततस्तृतीयतुर्यौ च, गत्वा स्थायितृतीयकम् ।
स्थायितुर्यं च कृत्वास्मात् स्वरान् पञ्चावरुह्य च ॥ ३९१ ॥
स्थायिनोऽथस्तुरीयं च स्थायिनोऽथस्तनं ततः ।
स्थायिनं तत्परं चोक्त्वा स्थायितुर्यं ग्रहात् परम् ॥ ३९२ ॥

कृत्वा न्यासे ग्रहे गौडस्तुरुष्को जायते तदा ।

स एव मालवीत्युक्तः स्थायी लक्ष्येऽस्य पञ्चमः ॥ ३९३ ॥

इति तुरुष्कगौडः

(मु०) ग्रहादिति । ग्रहं मन्द्रनिषादं, तत्परं षड्जं, तृतीयतुर्यौ
च गीत्वा, ततः स्थायिनः तृतीयं तुर्यं च विधाय, चतुर्थपञ्चमावरुह्य
स्थायिनः सकाशात्पूर्वं तृतीयमध्यममधस्तनं स्थायिनं चोक्त्वा, स्थायिन-
स्तुरीयं द्वितीयं^३ चोच्चार्य ग्रहे न्यासे^४, तुरुष्कगौडः । स एव मालवीत्युक्तः ।
लक्ष्येऽस्य स्थायी पञ्चमः ॥ -३९०-३९३ ॥

इति तुरुष्कगौडः (मालवी) (६)

ग्रहं मालविनः कृत्वा द्वितीयं प्रोच्य तत्परम् ।
लङ्घ्येल्लङ्घि^५तादूर्ध्वं^६ व्रीण्यारुह्यावरुह्य च ॥ ३९४ ॥
प्रकम्प्य लङ्घितं तस्मात् पूर्वं प्रोच्य ग्रहं व्रजेत् ।
यदा तदा द्राविडः स्याद् गौडोऽसौ सालगो^७ जनः ॥ ३९५ ॥
अस्यापि स्थायिनं प्राहुर्लक्ष्यज्ञाः पञ्चमं स्वरम् ।

इति द्राविडगौडः

(लोके प्रसिद्धः सालगः^८)

(मु०) ग्रहमिति । ग्रहं स्वरं कृत्वा, ततः द्वितीयमुच्चार्य, तत्परं
तृतीयं लङ्घयेत्, ईषत्स्पृशेत् । ततः लङ्घितात् स्वरात्, परान् व्रीन् स्वरा-
नारोहावरोहेण गीत्वा, लङ्घितं स्वरं कम्पयित्वा, तत्पूर्वमुच्चार्य ग्रहे

^१ तदा (B). ^२ पञ्चमस्थायी I ed. ^३ मध्यमस्थायि (A).
^४ नः प्रभृतिमस्वरपर्यन्त (B). ^५ गीत्वा (D). ^६ व्रीणा (D). ^७ सालको I ed.
^८ सालकः I ed.

^१ ततः (B). ^२ स्वस्थायिनः (A). ^३ चोच्चार्य (A). ^४ न्यासोऽसौ
(A). ^५ लङ्घना (D). ^६ व्रीणा (D). ^७ सालको I ed.
^८ सालकः I ed.

समाप्तौ द्राविडगौडः । असौ लोके ^१सालगगौड इत्युच्यते । अस्यापि लक्ष्यज्ञाः स्थायिनं पञ्चमं स्वरं प्राहुः ॥ ३६४-३६६- ॥

इति द्राविडगौडः^२ (७)

(लोके प्रसिद्धः सालगः)

स्थायिनो धैवतात् ^३प्राच्यादवरुह्य^४ग्रहान्तरम् ॥ ३६६ ॥
ग्रहं चोक्त्वा तृतीयं च तुर्यं कृत्वा विलम्बितम् ।
तस्मादधस्तनौ स्पृष्ट्वा तृतीयं तु विलम्बयेत् ॥ ३६७ ॥
स्पृष्ट्वा ग्रहात् परं पूर्वं पूर्वं चोक्त्वा ग्रहे यदि ।
कम्पिते^५ न्यस्यते रागस्तदा स्याल्ललिताभिधः ॥ ३६८ ॥
अत्र गान्धारमेवाहुः स्थायिनं लक्ष्यवेदिनः ।

इति ललिता

इत्युपाङ्गानि

(मु०) स्थायिन इति । धैवतं स्थायिनं कृत्वा, तस्मात् पूर्वं द्वौ स्वरौ अवरुह्य, ग्रहात् स्थायिनोऽधरं पूर्वं स्वरं ग्रहं चोक्त्वा, तृतीयचतुर्थौ विलम्बितौ कुर्यात् । ततः तस्मात् चतुर्थात् द्वौ पूर्वं स्वरौ स्पृष्ट्वा शीघ्रं ^६गौत्वा तृतीयं विलम्बितं गायेत् । ततो ग्रहस्वरं स्पृष्ट्वा ग्रहस्वरात् पूर्वात्^७ पूर्वमधस्तृतीयमुच्चार्य कम्पिते ग्रहस्वरे समाप्तौ ललिता । अत्र ललितायां लक्ष्यवेदिनः स्थायिनं गान्धारमेवाहुः ॥ -३६६-३६८- ॥

इति ललिता

इत्युपाङ्गानि

^१ सालक (A), (B). ^२ इत्युपाङ्गानि I ed. (B). ^३ प्राच्यादवरुह्य (D).

^४ ग्रहाधरम् (D). ^५ च (D). ^६ कम्पित्वा हन्यते (D). ^७ गत्वा (B).

^८ स्वरात् पूर्वात् (A).

एवं कतिपये रागाः प्रोक्ताः समुग्धबुद्धये ॥ ३६९ ॥

वस्तुतः सर्वयन्त्रेषु रागाणां वादनं समम् ।

ग्रहाविस्वरसंभूतिद्वारतोऽन्विष्यतां बुधैः ॥ ४०० ॥

किनर्या यैः स्वरैः स्वस्वस्थानजैर्यस्य संभवः ।

रागस्य तस्य तैरेव वंशादावपि दृश्यते ॥ ४०१ ॥

इति किनरीलक्षणम्

(मु०) एवमिति । अनेन प्रकारेण कतिपये केचिद् रागाः अज्ञानावबोधार्थमुक्ताः । सर्वयन्त्रेषु रागाणां वादनं वादनप्रकारः सदृश एव^१ । तर्हि किमर्थं यन्त्रान्तरनिर्माणं? तत्राह—ग्रहादीति । ग्रहादीनां स्वराणां संभूतिः द्वारविशेषेभ्यो यन्त्रेभ्यः बुधैर्विविच्यत इति । किनर्यामिति । किनर्या वीणायां यैः स्वरैः यो राग उत्पद्यते, तैरेव स्वरैर्वंशादावपीति ॥ -३६९-४०१ ॥

इति किनरीलक्षणम्

पिनाक्यां धनुषः कर्णकचत्वारिशदङ्गुला ।

दध्यं स्यान्मध्यविस्तारः स्यात् सपादाङ्गुलद्वयम् ॥ ४०२ ॥

अन्ते चाङ्गुलमानेन शिखां कुर्यादधस्तनीम् ।

सपादाङ्गुलमानत्रा^३ तु कार्मुकस्योत्तरा शिखा ॥ ४०३ ॥

कार्यावङ्गुलदैर्ध्र्यौ च पादोनाङ्गुलपिण्डकौ ।

^४खेटकौ शिखयोर्लग्नौ ताभ्यां त्व^५र्वागुपान्त्ययोः ॥ ४०४ ॥

पादोनमङ्गुलद्वन्द्वं विस्तारे मानमिष्यते ।

मध्यप्रान्तान्तराले तु विस्तारं कल्पयेत्सुधौः ॥ ४०५ ॥

^१ एकः (B).

^३ माने (D).

^२ वंशस्तन्निर्माणं? (A). यन्त्रावितिर्माणं? (B).

^४ खेटकौ I ed.

^५ त्वर्वाङ्गुलान्त्ययोः (D).

तन्त्रीमालेन बन्नीयाच्छिखयोनिपुणो गुणम् ।
 मानं वादनवापे स्यादङ्गुलान्येकविंशतिः ॥ ४०६ ॥
 दैर्घ्यं मुष्टौ तु विस्तारोऽत्राङ्गुलित्रितयो^१न्मितः ।
^२स त्वङ्गुलतृतीयांशः^३ शिखे^४ त्यक्त्वान्तयोर्भवेत् ॥ ४०७ ॥
 ऊर्ध्वाधरशिखाद्वन्द्वमानं पादोनमङ्गुलम् ।
 अश्ववालधिकेशोत्थो गुणो वादनधन्वनः ॥ ४०८ ॥
 तुम्बं धृत्वाथ पादाभ्यां भुवि न्यस्तमधोमुखम् ।
 तत्र लग्न^५शिखा^६थोर्ध्वा पिनाकीस्कन्धसंश्रिता ॥ ४०९ ॥
 आक्रम्य वामहस्तस्थ^७तुम्बमूलेन तद्गुणम् ।
 ततो दक्षिणहस्तस्थधनुषो वादयेज्ज्यया ॥ ४१० ॥
 राला^८संलिप्तयास्यां च स्वरस्थानानि^९ निर्णयेत् ।
 एकतन्त्रीवदधराधरतारतया सुधीः ॥ ४११ ॥

इति पिनाकीलक्षणम्

(क०) अथ पिनाक्या निःशङ्कवीणायाश्च लक्षणं
 स्फुटार्थम् ॥ ४०२-४१५- ॥

इति पिनाकीलक्षणम्

(मु०) पिनाकीं लक्षयति—पिनाक्यामिति । पिनाक्याम्, एक-
 चत्वारिंशदङ्गुला दैर्घ्यं, धनुषः कार्मुकस्य कम्पा तन्त्रीवादानाय कोणः
 कर्तव्यः । सा कम्पा मध्ये सपादाङ्गुलद्वयविस्तृता कार्या । अधःशिखा

कार्मुकस्याङ्गुलप्रमाणा, तृतीया कुर्यात् । धनुष उत्तरा शिखा तु सपादाङ्गु-
 लप्रमाणा कार्या । शिख्योलङ्गैः, लग्नाभ्यां ताभ्यां शिखाभ्यामर्वाक्प्रदेशे
 अङ्गुलदीर्घः^१ पादोनाङ्गुलपिण्डकायामः^२ खेटको कार्या । उपा^३न्त्ययो-
 र्मानं विस्तारे पादोनमङ्गुलद्वयम् । मध्यप्रान्तान्तराले^४ प्रान्तान्त-
 रालानां मानकल्पनायां तन्त्रीप्रमाणेन शिख्योर्गुणं बन्नीयात् । वादन-
 धनुषो दीर्घमानमेकविंशतिरङ्गुलानि । अत्र कार्मुके^५ मुष्टौ, विस्तारः
 अङ्गुलित्रितयेन^६ उन्मितः परिमितः स मुष्टिः अङ्गुलतृतीयांशं मुक्त्वा
 शिख्योरन्त्ययोः स्यात् । शिख्योर्मानं पादोनमङ्गुलं ज्ञातव्यम् । वादनस्य
 धन्वनो धनुषो गुणः अश्ववालैः केशैः कृमिकोशोद्भवैः पट्टसूत्रैर्वा कर्तव्यः ।
 वादनप्रकारमाह—तुम्बमिति । अधोमुखं पृथिव्यां न्यस्तं, तुम्बं पादाभ्यां
 धृत्वा ऊर्ध्वा शिखा पिनाकीस्कन्धं आश्रिता । तस्याः गुणं वामहस्ते
 स्थितं तुम्बस्य मूलेनाक्रम्य तज्ज्ञो वादकः दक्षिणहस्तस्थितस्य धनुषः
 ज्यया गुणेन वादयेत् ।^७ राला लोकप्रसिद्धः सालवृक्षनिर्गसविशेषः, तया
 लिप्तयेति ज्याविशेषणम् । अस्यां च, पिनाक्याम्; एकतन्त्रीवत् अधरा-
 धरतारतया स्वरस्थानानि निर्णयेत् ॥ ४०२-४११ ॥

इति पिनाकीलक्षणम्

^८बध्यप्रान्तातिरिक्तेऽंशे तन्त्री दैर्घ्यं चतुष्करा ।

उपरिस्थे^९ क्वचित् काष्ठे प्रान्तेनैकेन बध्यते ॥ ४१२ ॥

प्रान्तान्तरैरान्यकाष्ठेऽध्यसे साधंकरायते ।

स्थौल्येनालापिनी^{१०} तुल्ये त्यक्त्वाप्रादङ्गुलद्वयम् ॥ ४१३ ॥

तन्त्रीं बद्ध्वा ततोऽधस्तात् तुम्बमाबद्ध्य दारु^{११}तत् ।

^१ सपादाङ्गुल (B).

^२ खडको (A). खंडको (B).

^३ न्त्यो (B).

^४ अधस्तादन्तरालानां मानं कल्पनीयं । तत्र (A). ^५ आनीतः (A). उन्नीतः (B).

^६ शिखे अन्त्योः (B).

^७ लाक्षा (A).

^८ बद्ध (D).

^९ ख. ग. रिष्टे

fin. I ed.

^{१०} साम्ये (D).

^{११} दारुवत् (D).

^१ यान्मितः I ed.

^२ ड. सा fin. I ed.

^३ यांशा (D).

^४ द्युक्तान्त्यो (D). ड. खेलुक्त्वा fin. I ed.

^५ लग्ना (D).

^६ योर्ध्वा (D).

^७ स्थं (D).

^८ राणा (D).

^९ ख. ग. वर्णयेत् fin. I ed.

वामोरूमूलक्रान्ताग्रं जङ्घायां कुञ्चिताकृतौ ॥ ४१४ ॥

भूलग्नबाह्यपार्श्वीयां वामायां न्यस्य जङ्घया ।

आक्रम्य वामेतरया पिनाक्यामिव वादनम् ॥ ४१५ ॥

धनुषा वामहस्तस्थितुम्बकेन च सारणा ।

आर्द्रचर्मकृतां शुष्कां पेशीं कोणान्वितां खराम् ॥ ४१६ ॥

वामेनादाय तत्कोणेनाथवा सारणा भवेत् ।

यत् निःशङ्कुवीणा सा शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता ॥ ४१७ ॥

त्रिस्थानस्वररागादिव्यक्तिः संजायते तया ।

इति निःशङ्कुवीणालक्षणम्

(सु०) निःशङ्कवीणां लक्षयति—बध्यते । दैर्घ्यं चतुष्कर-परिमिता तन्वी बन्धनीया । प्रान्तातिरिक्ते अंशे क्वचिदुपरिस्थिते काष्ठे प्रान्तेन बध्नीयात् । ^२अन्येन प्रान्तेन सार्धकरायते, सार्धकरा भवेत् । तत्स्थूलत्वेन आलापिन्या आलापक्या तुल्ये अधःस्थिते काष्ठे ^३अप्रातः अङ्गुलद्वयं अङ्गुलद्वयं परित्यज्य तन्वी बन्धनीया । ततः सा तन्वी दारुणि^४ च तुम्बे बद्ध्वा, वीणाया वादनमिति संबन्धः । किं कृत्वा वादनम् ? वामोरूमूलेन आक्रान्तमग्रं यथा भवति तथेति क्रियाविशेषणम् । कुञ्चितायां वामजङ्घायां न्यस्य दक्षिणया ^५आक्रम्य ^६पिनाकीवदिति संबन्धः । धनुषेति । धनुषा कार्मुकेन वामहस्तस्थितेन तुम्बेन वा सारणा कर्तव्या । अथवा आर्द्रचर्मकृतां पेशीं विशोष्य कोणान्वितां खरां कोणेन सह वामहस्तेनादाय कोणेन सारणा कर्तव्येति । एवं लक्षणका

^१ शिराम् (D). ^२ अन्येन (A). ^३ अर्घाङ्गुलद्वयं (A).

^४ नैव (A). ^५ आशीविशेषां च आक्रम्य (B). ^६ शुणं पिनाकी (B).

निःशङ्कवीणा । तस्याः ^१प्रयोजनमाह—त्रिस्थानेति । तया निःशङ्क-वीणया । सर्वस्वराद्यभिव्यक्तिः संजायते ॥ ४१२-४१८-॥

इति निःशङ्कवीणालक्षणम्

यथा यथा स्वरे व्यक्ती रक्तेः प्रचुरता भवेत् ॥ ४१८ ॥

तथा तथा विधातव्यं ^२तत् लोकानुसारतः ।

सम्यक्स्वरोपयोगीनि तन्त्रीवाद्यानि कानिचित् ॥ ४१९ ॥

उक्तान्यन्यान्पि प्राज्ञस्तर्कयेदनया दिशा* ।

यो वीणावादनं वेत्ति तत्त्वतः श्रुतिर्जातिवित् ॥ ४२० ॥

तालपातकलाभिज्ञः सोऽप्लेशान्मोक्षमृच्छति ।

तस्माद् वीणा निषेव्येति याज्ञवल्क्यादयोऽब्रुवन् ॥ ४२१ ॥

(क०) वीणावादनपरिज्ञाने फलमाह—यो वीणा-वादनमिति ॥ -४१८-४२१ ॥

(सु०) ननु पूर्वशास्त्रेष्वनुवृत्ता वीणा शार्ङ्गदेवः किमिति स्वनाम्ना रचितेत्यत आह—यथेति । यथा यथा स्वराणां रागाभिव्यक्तौ रञ्जकत्वस्य बाहुल्यं, तथा तथा ततवाद्यैः ^३स्वेच्छया कर्तव्यम् । अस्माभिस्तु समीचीनस्वरभिव्यक्त्युपयोगीनि कानिचित् तन्त्रीवाद्यान्युक्तानि । अन्या-न्यपि, अनेन प्रकारेण अनया दिशा प्राज्ञः ^४ऊहयेत् । वीणावादनं स्तौति—य इति । वीणावादनेन मोक्षं प्राप्नोतीत्युक्तं यज्ञवल्क्येन—यदाह—

^१ समीचीनेन प्रयोजन (B). ^२ तत् (D).

* किन्नर्यामात्मवीणायां गन्धर्वः सिन्धुसंज्ञकः ।

रुद्रवीणादि यन्त्रास्य वक्ष्यन्ते भरतादयः ॥

कृत्वा श्रुत्वा वाद्यकाले वाङ्मूलेदंष्ट्रघट्टनम् ।

सो ब्रह्मघ्नोऽप्यो विशृङ्खलेयभाषन्त धनञ्जयः ॥ (?) (D).

^३ ख. ग. राग fin. I ed. ^४ वात (D). ^५ यम्पेति (D). ^६ नृपता (A).

^७ वाद्यं (A). ^८ विशोषयेत् (A).

“वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।

तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥”

(याज्ञवल्क्यस्मृतिः, प्रायश्चित्ताध्यायः ३-४-११५)

इति ॥ -४१५-४२१ ॥

नादश्रुतिस्वरग्रामजातिरागादि तत्त्ववित् ।

देहसौष्ठवसंपन्नः स्थिरासनपरिग्रहः ॥ ४२२ ॥

जितश्रमकरद्वन्द्वस्त्यक्तभीतिजितेन्द्रियः ।

प्रगल्भधीः सुशारीरो गीतवादनकोविदः ॥ ४२३ ॥

सावधानमनाश्चेति वैणिके वर्णिता गुणाः ।

इति ततवाद्यलक्षणम्

(क०) प्रसङ्गाद्वीणावादकस्य गुणानाह—नादश्रुती-
त्यादिना ॥ ४२२-४२४- ॥

इति ततवाद्यलक्षणम्

(मु०) वीणावादकगुणानाह—नादेति । त्यक्तभीतिः निर्भयः ।
प्रगल्भधीः अविकलबुद्धिः । सुशारीरः सुकुमारशारीरः । गीतवादन-
कोविदः गीतस्य वादने कुशलः सावधानमनाः निश्चलचित्त इति
॥ ४२२-४२४- ॥

इति ततवाद्यलक्षणम्

वेणवः खादिरो दान्तश्चान्दनो राक्तचन्दनः ॥ ४२४ ॥

आयसः कांस्यजो रौप्यो वंशः स्यात् काञ्चनोऽथवा ।

वर्तुलः सरलः श्लक्ष्णो ग्रन्थिभेदव्रणोज्झितः ॥ ४२५ ॥

कनिष्ठाङ्गुलिविस्तारं गर्भं च सुषिरं दधत् ।

स्वदैर्घ्यमानदैर्घ्यं^१ च समाकृति समन्ततः ॥ ४२६ ॥

तस्य द्वे त्रीणि चत्वारि चाङ्गुलानि शिरःस्थलात् ।

त्यक्त्वा फूत्कारसुषिरं कार्यमङ्गुलसंमितम् ॥ ४२७ ॥

मुखरन्ध्रात् ताररन्ध्रं भवेदेकाङ्गुलान्तरम् ।

अर्धाङ्गुलान्तराणि स्यू रन्ध्राण्यन्यानि सप्त च ॥ ४२८ ॥

तान्यष्टौ बदरीबीजसंकाशानि प्रचक्षते ।

वंशेऽधः सर्वरन्ध्रेभ्यः परिशोऽध्याङ्गुलद्वयम् ॥ ४२९ ॥

(क०) अथ सुषिरवाद्येषु प्रथमोद्दिष्टं वंशं लक्षयति—
वेणव इति । दान्तः, गजदन्तनिर्मितः । तस्य शिरःस्थलादिति ।
वंशदण्डस्य मूलस्थलात् दारुमूलभागादित्यर्थः । तच्छिरःस्थल-
मारभ्य द्वे त्रीणि चत्वारि वेति पक्षत्रयम् । तेष्वेकपक्षाश्रयणेन
अङ्गुलपरित्यागं कृत्वा अङ्गुलिसंमितं वर्तुलत्वेन परितोऽङ्गुल-
परिमाणं फूत्कारसुषिरं मुखसंयोगेन वायुपूरणार्थं रन्ध्रं कर्तव्यम् ।
तदेव मुखरन्ध्रमित्युच्यते । तस्मात् मुखरन्ध्रात् ताररन्ध्रं तार-
स्वराभिव्यक्तिनिमित्तम् । तत्र फूत्काररन्ध्रसंनिहिते रन्ध्रे तार-
स्वर एव जायते । यथा शरीरे सकलस्वरसाधारणेन तात्वोष्ठादि-
व्यापारेणाभिवादाने क्रियमाणे तत्संनिहितत्वेन मूर्ध्नि तारस्वर
एव जायते । यथा वा एकतन्व्यादिकायां वीणायां सकलस्वर-
साधारणेन दक्षिणहस्ताङ्गुलिव्यापारेण तन्त्रीवादाने क्रियमाणे
तत्संनिहितसारिकादिषु तार एव स्वरो जायते । एवमत्रापि
दृष्टव्यम् । तच्च मुखरन्ध्रादेकाङ्गुलान्तरं भवेत् । अन्यानि सप्त

रन्ध्राण्यर्धाङ्गुलान्तराणि; अङ्गुलस्यार्धमर्धाङ्गुलम्, तदन्तरं
मध्यं येषां तानि तथोक्तानि । बदरीबीजसंकाशानीति । यद्यपि
रन्ध्राणामाकाशात्मकत्वेन अमूर्तत्वात् बदरीबीजसंकाशत्वं नोप-
पद्यते, तथापि बदरीबीजप्रवेशार्हत्वेनोपाधिकं परिमाणमुक्त-
मित्यविरोधः । सर्वरन्ध्रेभ्य इति । नवभ्यो रन्ध्रेभ्योऽधः सर्वाग्रभाग
इत्यर्थः । अङ्गुलद्वयं परिशेष्येति । तत्र रन्ध्रमकृत्वेत्यर्थः ।
अनेनास्य वंशस्य आयामपरिमाणमूलभागे अङ्गुलद्वयं त्यक्तं
चेत् द्वादशाङ्गुलम्; अङ्गुलत्रयं त्यक्तं चेत् त्रयोदशाङ्गुलम्;
चतुरङ्गुलं त्यक्तं चेत् चतुर्दशाङ्गुलमित्युक्तं भवति
॥ -४२४-४२६ ॥

तेषु स्वरविभागाय सप्तरन्ध्राणि भवन्ते ।

नादहेतोर्महत्तस्य निर्गमायाष्टमं मतम् ॥ ४३० ॥

फूत्कारप्रभवो वायुः पूर्यते मुखरन्ध्रतः ।

वंशस्थेनैवभी रन्ध्रेरेकवीरो निगद्यते ॥ ४३१ ॥

(क०) एवं नवसु रन्ध्रेष्वान्तरन्ध्रे विहाय मध्यस्थि-
तेषु सप्तसु रन्ध्रेषु स्वरविभागो भवतीत्याह—तेषु स्वरविभा-
गायेति । एकवीरो निगद्यत इति । एकवीरसंज्ञया प्रसिद्ध
इत्यर्थः । मुखताररन्ध्रयोरेकाङ्गुलान्तरितत्वादनर्थता च द्रष्टव्या
॥ ४३०, ४३१ ॥

(सु०) अथ सुषिरवाद्यं लिलक्षयिषुः वंशं लक्षयति—वैणव
इति । वैणवः वेणुरचितः । गजदन्तादिरचितो दान्तः । चन्दनकृतः

¹ पूर्य च (D).

चान्वनः । लोहकृतः आयसः । लोहः संसृष्टलोहजन्यः कांस्यजः । रोप्यः
राजतः । काञ्चनः सुवर्णघटितो वा वंशः कर्तव्यः । स च बर्तुलः सुवृत्तः,
दीर्घः, मसृणः, ग्रन्थ्यादिहीनः कार्यः । कनिष्ठाङ्गुलिप्रमाणं मध्ये रन्ध्रं
दधानः स्वप्रमाणं सर्वत्र सममेवेति¹ रन्ध्रविशेषणम् । तस्येति । तस्यः
वंशस्य द्वे त्रीणि चत्वारि वा अङ्गुलानि भस्तकप्रदेशात् त्यक्त्वा
परित्यज्य, फूत्काराय मुखपवनपरिपूरणाय अङ्गुलप्रमाणं छिद्रं कार्यम् ।
तस्मात् छिद्रात् ताररन्ध्रं तारस्वरस्थानं² रन्ध्रमेकाङ्गुलान्तरं स्यात् ।
अन्यानि सप्त रन्ध्राणि अर्धाङ्गुलप्रमाणमध्यानि कार्याणि । अष्टावपि
रन्ध्राणि बदरीबीजवत् । वंश इति । सर्वरन्ध्रेभ्यः सकाशात् अधःप्रदेशे
वंशः³ अङ्गुलद्वयमात्रः परिशेषणीयः, रन्ध्रहीनः स्थापयितव्यः । तेषु
अष्टसु रन्ध्रेषु स्वरविभागाय सप्त रन्ध्राणि नादोत्पत्त्यर्थम्, अष्टमं तु
पवननिर्गमाय । फूत्कारेति । फूत्कारा⁴दुत्पन्नो वायुः मुखरन्ध्रेण पूर्यते ।
रन्ध्रेर्युक्तो वंश एकवीर इत्युच्यते ॥ -४२४-४३१ ॥

वंशस्य मुखरन्ध्रस्य ताररन्ध्रस्य चान्तरे ।

एकैकाङ्गुलवृद्ध्या स्युरन्ये वंशाश्चतुर्दश ॥ ४३२ ॥

आष्टादशाङ्गुलाद्वंशादेतदङ्गुलवर्धनम् ।

उमापतिद्विचङ्गुलः स्यात् त्रिभिस्त्रिपुरुषोऽङ्गुलैः ॥ ४३३ ॥

चतुर्मुखश्चतुर्भिः स्यात् पञ्चवक्त्रस्तु पञ्चभिः ।

षडङ्गुलः षण्मुखः स्यान्मुनिः सप्ताङ्गुलो मतः ॥ ४३४ ॥

वसुरष्टाङ्गुलः प्रोक्तो नागैन्द्रस्तु नवाङ्गुलः ।

दशाङ्गुलो महानन्दो रुद्रस्त्वेकादशाङ्गुलः ॥ ४३५ ॥

¹ सममेति इति (A).

² ताररन्ध्रान्तरं स्वस्थानात् रन्ध्रमे (A).

³ वंशे (A).

⁴ दुत्पन्नो (B).

⁵ नाथेन्द्र I cd.

द्वादशाङ्गुल आदित्यो मनुर्वंशश्चतुर्दशः ।

कलानिधिः षोडशः स्यादन्वर्थोऽष्टादशाङ्गुलः ॥ ४३६ ॥

(क०) मुखताररन्ध्रयोरन्तरालेऽङ्गुलवर्धनादन्याश्चतुर्दश वंशभेदानाह—वंशस्येत्यादि । अङ्गुलवर्धनस्य परावधिमह—
आष्टादशाङ्गुलाद्वंशादिति । अष्टादशाङ्गुलो नामान्वर्थो वंशो
वक्ष्यते, तत्पर्यन्तमित्यर्थः । एतदङ्गुलवर्धनमिति । मुखताररन्ध्रयो-
रन्तरालेऽङ्गुलवर्धनं कर्तव्यमित्यर्थः । द्व्यङ्गुलः स्यादिति ।
प्रकृतेऽन्तराले द्वे अङ्गुली यस्येति तथोक्तः, स उमापतिरित्युच्यते ।
मनुर्वंशश्चतुर्दश इति । तत्र चतुर्दशो वंशः, चतुर्दशाङ्गुल इत्यर्थः ।
न तु चतुर्दशो वंशः । षोडशः स्यादित्यपि षोडशाङ्गुलान्तर
इत्यर्थः । न तु षोडशो वंशः । अन्वर्थ इति । षोडशा[अष्टा-
दशा?]ङ्गुल इति संज्ञा लक्षणं चेत्यर्थः ॥ ४३२-४३६ ॥

(सु०) वंशभेदानाह—वंशस्येति । मुखपूरणरन्ध्रस्य ताररन्ध्रस्य
च यो मध्यभागः अष्टादशाङ्गुलपर्यन्तः, तस्मादेकैकाङ्गुलवृद्धा चतुर्दश-
वंशा भवन्ति । तेषां नामान्याह—उमापतिरिति । तत्र वर्धिताना-
मवाङ्गुलानां संख्यानिर्देशः । द्व्यङ्गुल उमापतिः; त्र्यङ्गुलः त्रिगुलः;
चतुरङ्गुलः चतुर्गुलः; पञ्चाङ्गुलः पञ्चवक्त्रः; षडङ्गुलः षष्मलः;
सप्ताङ्गुलो मुनिः; अष्टाङ्गुलो वसुः; नवाङ्गुलो नागन्द्रः; दशाङ्गुलो
महानन्दः; एकादशाङ्गुलो रुद्रः; द्वादशाङ्गुल आदित्यः; चतुर्दशाङ्गुलो
मनुः; षोडशाङ्गुलः कलानिधिः अष्टादशाङ्गुलः एव अन्वर्थः
॥ ४३२-४३६ ॥

¹ ततश्च (न तु च) तुर्दशो वंशः । षोडशः स्यादित्यपि I ed.

अविस्पष्टान्तरत्वेन नेष्टः सप्तदशाङ्गुलः ।

त्रयोदशाङ्गुलस्तद्वचः पञ्चदशाङ्गुलः ॥ ४३७ ॥

¹मुरल्याख्योऽपरैर्वंशो विशत्यङ्गुलकः ²श्रितः ।

द्वाविंशत्यङ्गुलोऽप्यन्यो वंशस्तज्ज्ञेषु दृश्यते ॥ ४३८ ॥

तं च श्रुतिनिधिं प्राहुर्वंशं वंशविदो जनाः ।

अतिमन्द्रध्वनित्वेन नेष्यतेऽसौ विचक्षणैः ॥ ४३९ ॥

(क०) 'एकैकाङ्गुलवृद्ध्या स्युः' इत्येकादिक्रमेण
प्रक्रम्य त्रयोदश पञ्चदशसप्तदशाङ्गुलानां परित्यागे हेतुमाह—
अविस्पष्टान्तरत्वेनेति । अविस्पष्टमन्तरं ³भेदो यस्येति तथोक्तः,
तस्य भावस्तत्त्वम् । अयमर्थः—पूर्वोत्तरयोः षोडशाष्टादशाङ्गु-
लयोः सारूप्येण मध्यमस्य सप्तदशाङ्गुलस्य ताभ्यां भेदे विद्य-
मानेऽप्यविस्पष्टः संस्तयोर्भ्रान्तिं जनयतीति । तद्वदिति उक्त-
हेतुना त्रयोदशाङ्गुलः पञ्चदशाङ्गुलश्च नेष्ट इति संबन्धः ।
द्वादशाङ्गुलादर्वाचीनेषु वंशेषु त्वङ्गुलानामल्पसंख्यात्वेन भेदस्य
स्फुटत्वात् भ्रान्तिर्न जायत इति भावो ज्ञेयः । एवमेकवीरादयः
पञ्चदश वंशभेदा भवन्ति ॥ ४३७-४३९ ॥

(सु०) ननु तत्र त्रयोदशाङ्गुलः, पञ्चदशाङ्गुलः, सप्तदशा-
ङ्गुलः कथं नोक्तः? अत आह—अविस्पष्टेति । मतान्तरमाह—
⁴मुरल्याख्येति । विशत्यङ्गुलो ⁵मुरली अपरैराचार्यैः श्रितोऽङ्गीकृतः ।
द्वाविंशत्येति । द्वाविंशत्यङ्गुलो वंशो दृश्यते; तं वंशं ⁶श्रुतिनिधिरिति

¹ मुरल्या (D). ² स्मृतः I ed. ³ भेदा I ed. ⁴ मुरल्या (A).
स्वरत्याख्य इति (B). ⁵ स्वरति (B). ⁶ श्रुतिविधि (A).

वांशिका आहुः । ^१सूक्ष्मध्वनित्वेन असौ ^२सुजैः ताडणीक्रियते । पञ्चा-
ङ्गुलादयो^३ वंशा अतितारत्वात् विरलाः, न सर्वैराद्रियन्त इत्यर्थः
॥ ४३७-४३८-॥

विरलाश्चातितारत्वाद्वांशा पञ्चाङ्गुलादयः ।

अष्टादशाङ्गुले वंशे स्वररन्ध्रेषु सप्तसु ॥ ४४० ॥

मुद्रितेषु भवेत् षड्जो मन्द्रसप्तकसंस्थितः ।

षट्स्वेवमन्यवंशेषु स्युः क्रमादृषभादयः ॥ ४४१ ॥

आरभ्याष्टाङ्गुलादेवमधो वंशेषु सप्तसु ।

मध्यस्थानगतः सप्तोद्यन्ति षड्जादयः क्रमात् ॥ ४४२ ॥

(क०) पञ्चाङ्गुलादय इति । चतुरङ्गुलव्यङ्गुल-
द्व्यङ्गुलैकाङ्गुलान्तरा ^४एव वंशा इत्यर्थः । अयमभिप्रायः—
वंशस्यातिदीर्घत्वेऽतिमन्द्रस्वरत्वम्, अतिह्रस्वत्वेऽतितारस्वरत्वं वा
सर्वगातृसाधारणत्वाभावाद्दोषः ^५इति । अष्टाङ्गुल इति । अस्मिन्
वंशे सप्तसु स्वररन्ध्रेषु । मुद्रितेष्विति । वायुनिर्गमनतिमित्त-
मष्टमं रन्ध्रं मुक्त्वा सप्तमादिषु सप्तसु रन्ध्रेषु यथाशास्त्रं हस्त-
द्व्यङ्गुलमुखैः पिहितेषु सप्तसु मन्द्रसप्तकस्य आदिमः षड्जो भवेत् ।
एवं षट्स्वव्यवंशेषु ऋषभादयः क्रमात् स्युरिति । कलानिधौ, सप्त-
रन्ध्रमुद्रणे कृते मन्द्रर्षभो भवेत् । मनौ, मन्द्रगान्धारः; आदित्ये,
मन्द्रमध्यमः; रुद्रे मन्द्रपञ्चमः; महानन्दे, मन्द्रधैवतः; नागेन्द्रे,
मन्द्रनिषाद इति क्रमो द्रष्टव्यः । आरभ्येत्यादि । अष्टाङ्गुलात्
वसुसंज्ञकात् [^६द्वादशाद्] आरभ्य अधः सप्तसु वंशेषु; एवमुक्त-

^१ रूक्षा (B).

^२ सुतैः (B).

^३ लाद्या (A).

^४ ख. ग.

ङ्गुलेष्वेव fn. I ed.

^५ एनैव I ed.

^६ इत्यर्थः (D).

^७ नागेन्द्रे I ed.

* 'द्वादशाद्' इत्यश्रयमधिकं fn. I ed.

प्रकारेण मध्यस्थानगताः षड्जादयः सप्त क्रमादुद्भवन्तीति । वसौ,
सप्तस्वररन्ध्रेषु मुद्रितेषु मध्यषड्जो भवेत्; मनौ, मध्यर्षभः;
षण्मुखे, मध्यगान्धारः; पञ्चवक्त्रे, मध्यमध्यमः; चतुर्मुखे,
मध्यपञ्चमः; त्रिपुरुषे, मध्यधैवतः; उमापत्तौ, मध्यनिषादश्च
क्रमेण भवेदित्यर्थः ॥ ४४०-४४२ ॥

(सु०) स्वरोत्पत्तिप्रकारमाह—अष्टादशाङ्गुल इति । सप्तसु
रन्ध्रेषु मुद्रितेषु पिहितेषु मन्द्रषड्जो जायते । अन्येषु रन्ध्रेषु पिहितेषु
क्रमात् क्रमशो ऋषभादयः षट्स्वरा जायन्ते । अथवा अन्येषु वंशेषु
ऋषभादयो जायन्त इति बोद्धव्यं, व्याख्येयं च । आरभ्येति । ^१अष्टा-
ङ्गुलवंशमारभ्य सप्तसु वंशेषु सप्त षड्जादयः स्वराः जायन्ते क्रमात्
उद्यन्ति उदयं प्राप्नुवन्ति ॥ ४४०-४४२ ॥

तारस्थानस्थितः षड्जस्त्वेकवीरस्य जायते ।

सर्वेष्वेतेषु वंशेषु मुक्ते रन्ध्रद्वयेऽन्तिमे ॥ ४४३ ॥

स्वरो द्वितीयो जायते तृतीयाद्यास्ततः ^२परम् ।

सप्तमान्ताः प्रजायन्ते व्यादिरन्ध्रविमोचनात् ॥ ४४४ ॥

मुक्ते तु ताररन्ध्रेऽन्यरन्ध्रेषु पिहितेषु च ।

अष्टमस्वरसंभूतिः पूर्वाचार्यरुदीरिता ॥ ४४५ ॥

^३व्यक्तमुक्ताङ्गुलित्वेन समग्रो जायते स्वरः ।

अङ्गुल्याः कम्पने त्वत्र श्रुतिरेकापचीयते ॥ ४४६ ॥

श्रुतिद्वयं त्वर्धमुक्ते तत्कम्पे तु श्रुतित्रयम् ।

अन्यथा वर्णयन्तीह केचित् सप्तस्वरौदयम् ॥ ४४७ ॥

^१ अष्टादशाङ्गुल (B).

^२ क्रमात् I ed.

^३ ख. ग. व्यक्ता मुक्ता

fn. I ed.

(क०) तारस्थानस्थित इति । एकवीराख्यवंशस्य तु पूर्ववद्वन्ध्रमुद्रणे क्रियमाणे तारषड्जो जायते । सर्वेष्वित्यादि । एतेषु अष्टादशाङ्गुलादिषु अन्तिमे रन्ध्रद्वये मुक्ते सति अमुद्रिते सति । द्वितीयः स्वरो जायेतेति । यस्मिन् वंशे यः स्वरः प्रथमत्वेन जायत इत्युक्तम् ; तदपेक्षया तत्र द्वितीयो जायत इत्यर्थः । तद्यथा—अष्टादशाङ्गुले द्वितीयो मन्द्रर्षभः ; कलानिधौ द्वितीयो मन्द्रगान्धारः ; एवं सर्वत्रोह्यम् । ततः व्यादिरन्ध्रविमोचनात्तृतीयाद्याः सप्तम्यन्ताः क्रमाज्जायन्त इति । पूर्ववत् तत्तदपेक्षया ते ते तृतीयादयो द्रष्टव्याः । तद्यथा—अष्टादशाङ्गुले वंशे अन्तिमरन्ध्रत्रये मुक्ते सति मन्द्रषड्जात् तृतीयो मन्द्रगान्धारः ; कलानिधौ रन्ध्रत्रये मुक्ते मन्द्रर्षभात् तृतीयो मन्द्रमध्यमः ; एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । तथा च रन्ध्रचतुष्टयविमोचनेऽपि तत्तदपेक्षया चतुर्थस्वरादयो द्रष्टव्याः । मुक्ते त्विति । अष्टमस्वरसंभूतिरिति । यस्मिन् वंशे ताररन्ध्रादिसप्तरन्ध्रमुद्रणे कृते यः स्वरो जायते अन्यरन्ध्रेषु पिहितेषु ताररन्ध्रे मुक्ते स एवाष्टमत्वेन जायत इत्यर्थः । व्यक्तमुक्ताङ्गुलित्वेन समग्र इति । शुद्धावस्थोक्तश्रुतियुक्त इत्यर्थः । अङ्गुल्याः कम्पने त्वत्र स्वर एका श्रुतिरपचीयत इति । स स्वरः स्वोपान्त्यश्रुति गच्छतीत्यर्थः । श्रुतिद्वयं त्विति । अर्धमुक्ते श्रुतिद्वयमपचीयते । तत्कम्पे त्विति । अर्धमुक्ताङ्गुलिकम्पे तु श्रुतित्रयमपचीयत इति संबन्धः ॥ ४४३-४४७ ॥

⁴ सप्तमान्ताः I ed. ² च ताररन्ध्र (रन्ध्रचतुष्टय) I ed. ग. चतुरार रन्ध्र fn. I ed.

(मु०) तारस्थानस्थित इति । तारः षड्जः एकवीरस्योत्पद्यते । सर्वेष्विति । वंशेषु अन्यरन्ध्रद्वये मुक्ते द्वितीयः स्वरो जायते । तृतीयचतुर्थाद्याः सप्तमपर्यन्ताः स्वराः द्वित्रिचतुरादिरन्ध्रमोचनात् जायन्ते । मुक्त इति । ताररन्ध्रे मुक्ते अन्यरन्ध्रेष्वान्छादितेषु अष्टमस्वरोत्पत्तिः । व्यक्तेति । व्यक्तमेवाङ्गुलिविमोचने संपूर्णः स्वरो जायते । तस्य अङ्गुलिकम्पने एकश्रुतिहीनस्वरोत्पत्तिरपचीयते, हीयत इत्यर्थः अर्धमुक्ते रन्ध्रे श्रुतिद्वयं हीयते । तस्य कम्पे त्वत्रः श्रुतयो हीयन्ते ॥ ४४३-४४७ ॥

अर्धेन्दुनागफणवद् वंशे स्थाप्यं करद्वयम् ।

वामस्यानामिकाङ्गुल्या षड्जो मध्यमया पुनः ॥ ४४८ ॥

ऋषभः स्यात् प्रदेशिन्या गान्धार इति वामतः ।

त्रयः स्वराः प्रजायन्ते चत्वारो दक्षिणात् करात् ॥ ४४९ ॥

कनिष्ठया मध्यमः स्यात् पञ्चमोऽज्ञामया स्वरः ।

धैवतः स्थान्मध्यमया प्रदेशिन्या निषादवान् ॥ ४५० ॥

स्थानत्रयस्य निष्पत्तिर्नैवास्मिन्नन्यथा जगुः ।

सुशिक्षितेन रचितान् फूकारान्मध्यसप्तके ॥ ४५१ ॥

जायन्ते वैणशाशीरस्वरसंवादिनः स्वराः ।

तारस्था मुखसंयोगसंकटे मुखरन्ध्रके ॥ ४५२ ॥

तं बावनप्रकारं च टीपामाचक्षते जनाः ।

तया⁴ यद् बाद्यते रन्ध्रे तत् स्वरो द्विगुणो भवेत् ॥ ४५३ ॥

रन्ध्रस्य मुखसंयोगविप्रकर्षात् मन्द्रगाः ।

¹ सुसंपूर्णः (B). ² निष्पत्तिः. * ते चास्मिन्नन्यथा जगुः I ed. निष्पाद्यस्ते चास्मिन्नन्यथा जगुः (मु०). ³ ख. ग. टीपमा । च. टीपिमा fn. I ed. ⁴ तथा (D).

(क०) मतान्तरेण वंशेशु स्वरोत्पत्तिं दर्शयितुमाह—
अर्धेन्दुनागफणवदिति । अर्धेन्दुः अर्धचन्द्रः, नागफणो हस्त-
विशेषः । वक्ष्यति च;

‘एकतोऽङ्गुलिसंघाते यत्ताङ्गुष्ठे स्थितेऽन्यतः ।

चन्द्ररेखाकृतिर्भाति सोऽर्धचन्द्रोऽभिधीयते ॥’

(श्लो. ११७. सप्तमे नर्तनाध्याये)

इति । नागफणः सर्पशिरा नाम हस्तविशेषः;

‘पताको निम्नमध्ये यः स तु सर्पशिराः करः’

(श्लो. १५२- सप्तमे नर्तनाध्याये)

इति वक्ष्यमाणलक्षणः, तद्वत् । ताविव अर्धेन्दुनागफणाविव । अत्र
तद्वत्करणेन तयोः सादृश्यं गम्यते, न तु तावेव । एतदुक्तं भवति,
‘करद्वयेऽङ्गुष्ठयोः पृथक् स्थित्या प्रत्येकमर्धेन्दुवदितरासामङ्गुली-
नामूर्ध्वाभिमुखीनां न तत्त्वेन प्रत्येकं नागफणवच्च प्रतीति र्थया
भवति तथा’ इति । एवं रूपं करद्वयं वंशे स्थाप्यम् । अङ्गुष्ठयो-
र्भागयोर्वंशं धृत्वा अङ्गुलीभागी संनिवेश्येत्यर्थः । वामस्यानामया
अङ्गुल्या षड्जः स्यादित्यादिना हस्तयोर्व्यत्यासेन संनिवेशः
सूचितः । स्थानद्वयस्येति । अस्मिन् पक्षे, स्थानद्वयस्य मन्द्रमध्य-
ताराख्यस्य निष्पत्तिर्नैवेति । अन्यथा प्रकारान्तरेण जगुः । अन्य
आचार्या इति शेषः । सुशिक्षितेनेति न सर्वसाधारणमित्यर्थः । तेन
रचितात्फूकारादिति । मुखरन्ध्रयोः संयोगविशेषकृतादित्यर्थः ।

¹ स्थिताः I ed.
fn. I ed.

* निष्पत्तिर्नैवास्मिन्निति टीकायां लब्धः पाठः.

मध्यसप्तके वंशशारीरस्वरसंवादिन इति । वंशस्य^१ मध्यसप्तक-
स्थिताः स्वरा वंशैः शारीरेश्च स्वरैरेकतारूपा इत्यर्थः । मुख-
संयोगसंकटे मुखरन्ध्रक इति । अतिसंनिकृष्टत्वेनेत्यर्थः । तत्स्वरो
द्विगुणो भवेदिति फूकारेण प्रयत्नविशेष उक्तः; तदा तारस्थाः
स्वरा भवन्ति । मुखसंयोगविप्रकर्षादिति प्रयत्नशैथिल्यमुक्तम्;
तदा मन्द्रगाः स्वरा भवन्ति ॥ ४४८-४५४- ॥

(मु०) मतान्तरेणान्यथा स्वरोत्पत्तिमाह—अन्यथेति । क-
द्वयमर्धचन्द्रनागफणवत् स्थापनीयम् । वामकरः अर्धचन्द्रवद् विमुखः ।
दक्षिणकरः नागफणवत् संमुखः । तत्र वामहस्तस्य मुक्तया अनामिकया
षड्ज उत्पद्यते; मध्यमया ऋषभः; तर्जन्या गान्धारः; दक्षिणहस्तस्य
कनिष्ठिकया मध्यमः; अनामिकया पञ्चमः; मध्यमया धैवतः; तर्जन्या
निषादः; ते च^२ आचार्या अस्मिन् स्वरोत्पत्तिप्रकारे स्थानतश्चस्य
उत्पत्तिमन्यथा आहः । सुशिक्षितेन वादकेन कृतात् फूकारात् मध्यसप्तके
स्वराः वीणास्वरवत् शारीरोत्पन्नस्वरवच्च^३ जायन्ते । मुखसंयोगेन संकटे
छिद्रे तारस्थानस्वरोत्पत्तिः । अयं वादनप्रकारो^४ टीपा इत्युच्यते । तथा
टीपया यद् रन्ध्रं^५ वाद्ये तत्स्वरो द्विगुणो भवेत् द्विगुणं प्राप्नोति ।
रन्ध्रस्य मुखसंयोगेन पूरणेन सविप्रकर्षं^६ दूरत्वे क्रियमाणे स्वराणां मन्द्रत्वं
भवतीति ॥ ४४८-४५४- ॥

तीव्रातीव्रतया वायोः शीमघ्रमन्थरभावतः ॥ ४५४ ॥

पूरणापूरणाभ्यां चोपचयापचयाद् ध्वनेः ।

कुर्वन्त्येकत्र रन्ध्रेऽपि तज्ज्ञा नानास्वरोदयम् ॥ ४५५ ॥

^१ वंशस्य (D).

^२ नैव (B). वाद्याचार्या (A).

^३ स्थान-

तयोत्पत्ति (B). स्वरद्वयोत्पत्ति (A).

^४ श्रूयन्ते (B).

^५ दीप्त (B).

^६ दीप्तया (B).

^७ रन्ध्रं (B).

^८ प्रकर्षं (B).

(क०) एवं फूत्कारप्रयत्नभेदेन स्थानत्रयस्य निष्पत्ति-
मुक्त्वा ततोऽपि कुशलेरकस्मिन्नेव रन्ध्रे नानास्वरोदयः क्रियत
इत्याह—तीव्रातीव्रतयेत्यादिना ॥ -४५४, ४५५ ॥

(सु०) तीव्रेति । वायोः तीव्रातीव्रत्वेन शीघ्रत्वेन स्थिरत्वेन
पूरणत्वेन, अपूरणत्वेन च ध्वनेः पुष्टापुष्टत्वेन निर्गमाय^१ एकस्मिन्नेव छिद्रे
तज्ज्ञाः वादने प्रवीणाः अनेकस्वरानुत्पादयन्ति ॥ -४५४, ४५५ ॥

कम्पिता^२ वलिता मुक्ता^३धमुक्ता च निपीडिता ।
इति वंशे गतिः प्रोक्ता शाङ्गदेवेन पञ्चधा ॥ ४५६ ॥
अधरस्थस्य वंशस्य कम्पनात् कम्पिता मता ।
वर्णालंकारनिष्पत्तिः प्रयोगेऽस्याः प्रयोजनम् ॥ ४५७ ॥

इति कम्पिता
भवेत्संचारिनिष्पत्तौ^४ वलिताङ्गुलिचालनम् ।
इति^५ वलिता
रन्ध्रेऽखिलेऽङ्गुलीमुक्ते मुक्ता स्यान्मुक्तशब्दकृत् ॥ ४५८
इति मुक्ता
अर्धमुक्ता^६धमुक्तेः स्याद् धृतशब्दविधायिनी ।

इत्यर्धमुक्ता
समन्तात् सर्वरन्ध्राणि पिधायान्गुलिभिर्बद्धा ॥ ४५९ ॥
वंशं पूरयते^७ तज्ज्ञैस्तदा ज्ञेया निपीडिता ।
इति निपीडिता

(क०) अथ वंशे पञ्च गतीर्दृश्यन्ति—कम्पितेत्यादि ।
अर्धमुक्तेरिति । अङ्गुल्यग्राधेन रन्ध्राग्रमुक्तेः हेतोरित्यर्थः ।
धृतशब्दविधायिनीति । उत्पन्नं शब्दं धारयन्तीत्यर्थः ॥ ४५६—
४६० ॥

(सु०) वंशगतिं विभजते—कम्पितेति । कम्पितादिभेदेन वंश-
वादनप्रकारः पञ्चविधः । एतेषां क्रमाल्लक्षणमाह—अधरस्थस्येति ।
अधरस्थितस्य वंशस्य कम्पने क्रियमाणे कम्पिता^१ गतिः; अङ्गुलि-
चालनात्^२ वलिता, तस्याः संचारिवर्णनिष्पत्तिः प्रयोजनम् । रन्ध्रात्
सर्वाङ्गुलिमोचने मुक्ता अर्धमोचने अर्धमुक्ता सर्वरन्ध्राणि सर्वतो-
ऽङ्गुलिभिः आच्छाद्य वंशपूरणे निपीडिता ॥ ४५६—४६० ॥

अत्र कीर्तिधरस्त्वन्यां व्यवस्थामभ्युपागमत् ॥ ४६० ॥
षट्सप्ताष्टाङ्गुला वंशास्तार^३स्वरविधायकाः ।
मध्यस्वरा नवदशैकादशाङ्गुलकास्त्रयः ॥ ४६१ ॥
अङ्गुलैर्यौ द्वादशभिः स्यात्स्वरोदशभिश्च यः ।
हेतू मन्द्रस्वराणां तौ सर्ववंशमयः पुनः ॥ ४६२ ॥
चतुर्दशाङ्गुलो वंशस्त्रिस्थानस्वरसाधकः ।
वर्णालंकारधात्वादि^४वाद्यसंवादनक्षमः ॥ ४६३ ॥
एवं वंशा नवैवेति युक्तायुक्तविदो विदुः ।

(क०) मतान्तरेण वंशव्यवस्थामाह—अत्र कीर्तिधर
इत्यादि । अत्र वंशविषये, अन्यां व्यवस्थां वक्ष्यमाणस्थान-
त्रयव्यवस्थाम्, अभ्युपागमत् अभ्युपगतवान् । तामेव दर्शयति—

^१ निर्गमि (A). ^२ चलिता (D). ^३ चलिता (D). ^४ चलिता (D).
^५ ख. ग. वृत्तशब्द fin. I ed. द्रुतशब्द (D). ^६ तज्ज्ञैस्तदा I ed.

^१ गीतिः (B). ^२ चलिता (A). ^३ ख. ध्वनिविधा fin. I ed.
^४ वादिसंवादि (D).

षट्सप्तोत्पादिना । सर्ववंशमय इति । उक्ताष्टविधवंशरूप
इत्यर्थः । अत्र त्रिस्थानस्वरसाधक इति हेतुर्गमितं विशेषणम्
॥ -४६०-६६४- ॥

(सु०) मतान्तरेण स्वरोत्पत्तौ वंशव्यवस्थामाह—अत्रेति ।
कीर्तिधरनामा आचार्यः, अन्यां व्यवस्थामङ्गीकृतवान् । षडङ्गुलाः
सप्ताङ्गुलाः अष्टाङ्गुलाश्च वंशाः तारस्वरान् कुर्वन्ति । नवाङ्गुला
दशाङ्गुलाः एकादशाङ्गुलाश्च मध्यस्वरान्; द्वादशाङ्गुलत्रयोदशाङ्गुलौ
द्वौ वंशौ मन्द्रस्वरोत्पादकौ । यस्तु पुनः सर्वेषां वंशानामन्तर्भावात्
सर्ववंशमयः^१ चतुर्दशाङ्गुलो वंशः समन्द्रमध्यतारानपि स्वरान् उत्पा-
दयति । वर्णालंका^२रादीनां विस्तारादिधातूनां^३ ततादिवाद्यानां च प्रकाशने
समर्थः, एवं नवैव वंशा इति ॥ -४६०-४६४- ॥

केचिद् देशीविदो वंशानेकवीरादिकानमून ॥ ४६४ ॥

^४मानान्तरेणाभिदधुत्तेषां मतमिदं^५ भवे ।

प्राक् चतुर्दशवंशात्^६ तेऽङ्गुलं पञ्चयवं जगुः ॥ ४६५ ॥

चतुर्दशादिवंशेषु सार्धपञ्चयवं त्विदम् ।

चतुर्दशाङ्गुलं दण्डमेकवीरे प्रचक्षते ॥ ४६६ ॥

सार्धाङ्गुली शिरःप्रान्तौ पृथग्जातिमुखेऽङ्गुलम् ।

^७मानं तारादिरन्ध्राणि प्रत्येकं त्रियवानि तु ॥ ४६७ ॥

त्रियवान्यन्तरालानि पृथक्^८ स्थानेषु मूलतः ।

पञ्चमांशोनिर्तमानं कनिष्ठापर्वमध्यतः^{१०} ॥ ४६८ ॥

^१ सर्ववंशवरः (B). ^२ काराणां (A). ^३ तत्त्वादि (B). ^४ ख. ग.

नामान्तं fin. I ed. नानान्तं (D). ^५ भवेत् (D). ^६ व्यङ्गुलं (D).

^७ नामान्तराणि (D). ^८ ख. ग. पृथग्जातेषु । घ. पृथग्जातेस्तु fin. I ed.

^९ स्थानेस्तु (D). ^{१०} मध्यमम् (D).

(क०) अथ केषांचिद्देशीविदां मतेनैतानेवैकवीरादि-
कान् वंशान् मानान्तरेण भिन्नलक्षणान् दर्शयितुमाह—केचिद्
देशीविद इत्यादि । ते देशीविदः । चतुर्दशात् मनुसंज्ञकात् वंशात्
प्राक् प्राक्तनेषु आदित्याद्येकवीरान्तेषु, अङ्गुलं पञ्चयवं
जगुरिति पञ्चयवमितमङ्गुलप्रमाणमाहुरित्यर्थः । अत्र चतु-
र्दशवंशादिति त्यज्यलोपे पञ्चमी । अत एव चतुर्दशादिवंशेष्वि-
त्युच्यते । चतुर्दशादिवंशेषु मनुकलानिध्यष्टादशाङ्गुलेषु त्रिषु
वंशेषु, इदम् अङ्गुलम्; सार्धपञ्चयवमिति पूर्ववंशेभ्यो मान-
भेदकथनम् । शिरःप्रान्तौ मूलाग्रभागादित्यर्थः । जातिमुखं नाम
फूत्काररन्ध्रम् ॥ -४६४-४६८ ॥

(सु०) मतान्तरमाह—केचिदिति । देशीविदः, देशीज्ञाः केचित्
एकवीर^१मुखान् अमून वंशान् अन्येन^२ प्रमाणेन आहुरिति । चतुर्दशवंशात्
पूर्वेषु वंशेषु पञ्चयवमङ्गुलम् । चतुर्दशवंशमारम्य अन्येषु वंशेषु सार्धपञ्च-
यवमङ्गुलमिति । एकवीरे नवच्छिद्रे वंशे दण्डश्चतुर्दशाङ्गुलः, मस्तक-
प्रदेशः प्रान्तश्च सार्धाङ्गुलः । जातिमुखे फूत्काररन्ध्रे अङ्गुलप्रमाणम्;
तारादिच्छिद्राणि यवत्रयप्रमाणानि; रन्ध्रान्तरालानि पृथक् स्थानेषु मूलतः
पञ्चमांशन्यूनं कनिष्ठाया मध्यपर्वमानम् ॥ -४६४-४६८ ॥

उमापतेस्तु वंशस्य दण्डः पञ्चदशाङ्गुलः ।

पादोनेन यवद्वन्द्वेनाधिकोऽस्यान्तरेषु तु ॥ ४६९ ॥

सपादत्रियवं मानं पृथगन्यस्तु पूर्ववत् ।

अङ्गुलैः सप्तदशभिर्वययुग्माधिकैर्मतः ॥ ४७० ॥

^१ मुखान् (A).

^२ प्रमाणत्वेन (A).

दण्डस्त्रिपुल्ले वंशे पृथगन्तरसप्तके ।

यवोनमङ्गुलं मानमपरं लक्ष्म पूर्ववत् ॥ ४७१ ॥

यवद्वयाधिकं सार्धैरष्टादशभिरङ्गुलैः ॥

मितश्चतुर्मुखे दण्डे शिरोन्तो तु मितौ पृथक् ॥ ४७२ ॥

पादोनाभ्यामङ्गुलाभ्यां लक्षणं पूर्ववत् परम् ।

यवस्य सार्धपादेन न्यूना द्वाविंशतिर्मता ॥ ४७३ ॥

अङ्गुलानां दण्डमानं पञ्चवक्त्रे शिरोन्त्योः ।

सार्धाङ्गुलद्वयं मानं पृथगन्तरसप्तके ॥ ४७४ ॥

चतुर्यवौ सार्धपादाभ्याधिकान्यत् पूर्ववत् ।

षण्मुखे यवपादाभ्यां सपादाभ्यां सहाङ्गुलैः ॥ ४७५ ॥

चतुर्विंशतिसंख्यैः स्याद् दण्डः परिमितस्ततः ।

ताराछण्टसु रन्ध्रेषु सपादत्रियवा मितिः ॥ ४७६ ॥

प्रत्येकमन्तरालेषु षोडशांशोनिता यवाः ।

पञ्चमानमिताः शेषं लक्ष्म^३ स्यात् पञ्चवक्त्रवत् ॥ ४७७ ॥

(सु०) उमापत्तेरिति । उमापत्तिस्त्रिकस्य वंशस्य पञ्चदशाङ्गुलो

दण्डः पादोनयवद्वयेनाधिकः, अस्य वंशस्य अन्तरालेषु सपादयवत्रयं पृथक्

प्रमाणम् । अन्यत् पूर्ववत् । त्रिपुल्ले वंशे, यवद्वयाधिकं सप्तदशाङ्गुलो

दण्डः, अन्तरालं तु पृथग्यवोनाङ्गुलसंमितमिति अपरं लक्ष्म पूर्ववत् ।

चतुर्मुखे वंशे, यवद्वयाधिकासार्धाष्टादशाङ्गुलो दण्डः, मस्तकः प्रान्तश्च

पृथक्पादोनाङ्गुलद्वयपरिमितः, पूर्ववत् परम् । पञ्चवक्त्रे वंशे, यवस्य

सार्धपादन्यूनाद्वाविंशत्यङ्गुलो दण्डः, मस्तकप्रान्तौ सार्धाङ्गुलद्वय-

प्रमाणी; अन्तरालानि सार्धपादाधिकचतुर्यवमितानि; अन्यत् पूर्ववत् ।

^१ त्रितया (D).

^२ लक्षणं पञ्च (D).

^३ द्वयं विरचितः (A).

षण्मुखे वंशे, स्वचतुर्थांशयुक्तयवचतुर्थांशद्वयसहितः चतुर्विंशत्यङ्गुलो
दण्डः; ताराछण्टरन्ध्राणि^१ सपादत्रियवप्रमाणानि; पृथग् रन्ध्रान्तरस-
प्तानि षोडशांशान्यूनपञ्चवक्त्रप्रमाणानीति । शेषं लक्ष्म पञ्चवक्त्रवत्
स्यात् ॥ ४६६-४७७ ॥

^२ इतः परेषु वंशेषु सप्तस्वभ्यधिको यवः ।

^३ स्वमानाद् दृश्यते ताररन्ध्रे जातिमुखान्तरे ॥ ४७८ ॥

युक्ता यवेन सार्धोनाङ्गुलषड्विंशतिर्भवेत् ।

प्रमाणं मुनिदण्डस्य मानं रन्ध्राष्टके पुनः ॥ ४७९ ॥

यवत्रयं सार्धपादाधिकं प्रत्येकमीरितम् ।

पृथक् पञ्चयवौ सार्धान्तरैष्वन्यत् पूर्ववत् ॥ ४८० ॥

वसुवंशे तु दण्डस्याङ्गुलाष्टाविंशतिर्मितिः ।

यवाधिका जातिमुखं यवेनाधिकमङ्गुलम् ॥ ४८१ ॥

यवाधिकाङ्गुला ज्ञेयान्तरालेषु मितिः^४ पृथक् ।

शेषं तु पूर्ववद्वंशे नाग्रेन्द्रे दण्डसंमितिः ॥ ४८२ ॥

यवपादाधिका त्रिंशदङ्गुलानां शिरोन्त्योः ।

पादोनव्यङ्गुलं मानं पृथगन्तरसप्तके ॥ ४८३ ॥

सपादमङ्गुलं मानं खानिमानं तु मूलतः ।

षष्ठभागविहीनं स्यात् कनिष्ठापर्वमध्यमम् ॥ ४८४ ॥

(सु०) ^१ इत इति । इतः परेषु अन्येषु सप्तसु वंशेषु ताररन्ध्रे
जातिमुखे फूलाररन्ध्रे^२ अपरा च एक्यवाधिको ज्ञातव्यः । युक्तेति ।

^१ चतुर्थांशधिकयवत्रयमितिः (B).

^२ अतः I. ed.

^३ सा

मानाद् (D).

^४ मितं (D).

^५ नाग्रेन्द्रे I. ed.

^६ अतः (B).

^७ अपरं अन्तराले च (B).

मुनिवंशे सार्धयवाधिकषड्विंशत्यङ्गुलः; अष्टौ रन्ध्राणि सार्धचतुर्थांशा-
धिक्यवलयमितानि; पृथगन्तरालानि सार्धपञ्चवयमितानि । वसुवंश
इति । वसुवंशे यवाधिकाष्टाविंशत्यङ्गुलो दण्डः; जातिमुखं यवाधि-
काङ्गुलप्रमाणम्; तावदेव प्रमाणमन्तरालेष्विति । वंश इति । नागेन्द्र
वंशे यवचतुर्थांशिकात्रिंशदङ्गुलो दण्डः; मस्तकप्रान्तौ ^१चतुर्थांशोन-
व्यङ्गुलौ; सप्तान्तरालानि सपादाङ्गुलसंमितानि; खानि ^२रन्ध्राणि
मानं तु मूलतः ^३अष्टांशेन हीनं कनिष्ठाङ्गुल्या मध्यमपर्वमितम् ।
अन्यत्तु पूर्ववत् ॥ ४७८-४८४ ॥

^४अन्यत्तु पूर्ववद् दण्डे महानन्दस्य संमितिः ।

पादन्यूनेन पादेन यवस्याभ्यधिका भवेत् ॥ ४८५ ॥

द्वात्रिंशदङ्गुलानां तच्छिरोन्तौ व्यङ्गुलौ पृथक् ।

सपादाङ्गुलकं जातिमुखमन्तरसप्तके ॥ ४८६ ॥

पृथक्सपादपादेनाभ्यधिकं मानमङ्गुलम् ।

मूलतः सप्तमांशोनकनिष्ठांमध्यपर्वणा ॥ ४८७ ॥

मिता खानिः परं लक्ष्म पूर्वोक्तं तैरुदीरितम् ।

सपादानि चतुस्त्रिंशदङ्गुलानि मितिर्भवेत् ॥ ४८८ ॥

यवार्धसहिता रुद्रदण्डस्यान्तरसप्तके ।

सार्धाङ्गुलं पृथङ्मानं कनिष्ठांमध्यपर्वणा ॥ ४८९ ॥

खानिः परिमिता शेषं पूर्ववंशवद्विष्यते ।

(क०) खानिमानं तु मूलत इति । खानिर्नाम याव-
दण्डमायातं गर्भं सुषिरम्; तस्य मानं पष्ठभागविहीनं मध्यमं

कनिष्ठापर्वं स्यादिति । तेन मितमित्यर्थः । मूलतः; दण्डस्य
शिरोभागात् । अस्मिन् मते च वंशलक्षणानि ग्रन्थत एव सुबो-
धानि ॥ ४८४-४९०- ॥

(सु०) दण्ड इति । महानन्दे वंशे, महानन्दवंशस्य दण्डः
स्वचतुर्थांशानूयवचतुर्थांशिकाधिकाष्टाविंशदङ्गुलः; मस्तकप्रदेशः प्रान्तश्च
पृथक् व्यङ्गुलः; सपादाङ्गुलप्रमाणं जातिमुखं फूलाररन्ध्रम्; सप्तान्त-
रालानि ^१चतुर्थांशिकाङ्गुलप्रमाणानि; ^२खानिरन्ध्रं ^३सचतुर्थांशोन-
कनिष्ठांमध्यपर्वमितिः । अथवा ^४खानिरन्ध्राणि मितौ माने इति व्याख्येयम् ।
सपादानिति । रुद्रवंशस्य दण्डः अर्धयवाधिकासपादचतुस्त्रिंशदङ्गुलः;
अन्तरालानि सार्धाङ्गुलप्रमाणानि; खानि^५रन्ध्राणि कनिष्ठांमध्यपर्व-
मितिः ॥ ४८५-४९०- ॥

सप्तत्रिंशद्यवार्धेनाभ्यधिकाव्यङ्गुलानि तु ॥ ४९० ॥

आदित्ये दण्डमानं स्यात् पादोनं त्वङ्गुलद्वयम् ।

अन्तरेषु पृथङ्मानमपरं रुद्रवंशवत् ॥ ४९१ ॥

मनोर्वण्डं सपादेकोनचत्वारिंशदङ्गुलम् ।

यवाधिकं सपादेनाष्टमांशेन यवस्य च ॥ ४९२ ॥

सहितं मानमाख्यातं पादव्यूनाङ्गुल^६त्रयैः ।

शिरःप्रान्तौ पृथग्जातिमुखे स्यान्मानमङ्गुलम् ॥ ४९३ ॥

षोडशां^७शोनपादेनाधिकं रन्ध्राष्टकं पुनः ।

यवत्रयं पृथक्सार्धमन्तरेषु च सप्तसु ॥ ४९४ ॥

^१ चतुर्थांशेन (A).

^२ ताररन्ध्राणां माने (B).

^३ अष्टांशेन (B).

^४ अपरं I ed.

^५ स चतुर्थांशिकाधिकाङ्गुल (B).

^६ खानितरन्ध्रं (B).

^७ सार्धचतुर्थां-

शोन (B).

^८ खानितरन्ध्राणि (B).

^९ रन्ध्रं चतुर्थांशोनकनिष्ठा (B).

^{१०} त्रयं (D).

^{११} षोडशांशेन (A).

प्रत्येकं यवपादेन न्यूनं स्यादङ्गुल^१द्वयम् ।

मानं लक्षणमन्यतु ^२भेदादादित्यवंशवत् ॥ ४६५ ॥

(सु०) सप्तैति । आदित्यवंशस्य दण्डः अर्धयवाधिकसप्तत्रिंशदङ्गुलः; पादोनाङ्गुलद्वयपरिमितानि अन्तरालानीति । मनोरिति । मनुवंशस्य दण्डः सपादाष्टमांशसहितयवाधिकः सचतुर्थांशैकोनचत्वारिंशदङ्गुलः; मस्तकप्रान्ता प्रत्येकं पादोनाङ्गुलत्रयपरिमितौ; जातिमुखे फुत्काररन्ध्रे सषोडशांशचतुर्थांशधिकमङ्गुलं मानम् । अन्यान्यष्टरन्ध्राणि सार्धयवत्रयमितानि, सप्तान्तरालानि यवचतुर्थांशोनाङ्गुलद्वयमितानीति ॥ -४६०-४६५ ॥

यवस्य सार्धपादाभ्यां द्वात्रिंशांशो नवाधिकः ।

चतुश्चत्वारिंशता स्यात् पादोर्नरङ्गुलैर्मितः ॥ ४६६ ॥

दण्डः कलानिधौ वंशे शिरोन्तो व्यङ्गुलौ पृथक् ।

अन्तरेष्वङ्गुलद्वन्द्वं सपादयवसंयुतम् ॥ ४६७ ॥

प्रत्येकं मानमाख्यातं ^३लक्षमान्यन्मनुवन्मतम् ।

यवस्याष्टमभागेन सपादेन समन्वितैः ॥ ४६८ ॥

अष्टाचत्वारिंशता स्यात् पादोर्नरः संमितोऽङ्गुलैः ।

अष्टादशाङ्गुले दण्डः सार्धं त्वङ्गुलयोर्द्वयम् ॥ ४६९ ॥

अन्तरेषु पृथङ्मानं वेद्यमन्यत् कलानिधेः ।

नात्र त्रयोदशो वंशो न ^४वा पञ्चदशाङ्गुलः ॥ ५०० ॥

इष्यतेऽल्पान्तरत्वेन न च सप्तदशाङ्गुलः ।

एवं पञ्चदशैवैते वंशास्तेषामिमे मताः ॥ ५०१ ॥

माधुर्यरक्तिसंयुक्ता रागाभिव्यक्तिहेतवः ।

(सु०) यवस्येति । सार्धयवपादाभ्यां ^१द्वात्रिंशांशविभागे नवाधिकपादोनचतुश्चत्वारिंशदङ्गुलः कलानिधेर्दण्डः; मस्तकप्रान्तावङ्गुलत्रयमितौ; सचतुर्थांशयवाधिकद्वचङ्गुलप्रमाणान्यन्तरालानीति । यवस्येति । अष्टादशाङ्गुलवंशस्य दण्डः सपादयवाष्टमभागाधिकपादोनाष्टाचत्वारिंशदङ्गुलः; सार्धद्वचङ्गुलान्यन्तरालानि । त्रयोदशाङ्गुलादयस्त्रयो वंशाः अन्येभ्यः स्वल्पान्तरत्वात् नेष्यते नाभीष्टा इत्यर्थः । तेषामाचार्याणामेवमुक्ताः । पञ्चदश वंशाः माधुर्यादियुक्ता रागाभिव्यक्तेः कारणमिति ॥ ४६६-५०२-॥

यदिदं लक्ष्म शास्त्रोक्तं यच्च देशीगतं मतम् ॥ ५०२ ॥

ते द्वे रञ्जयितुं शक्ते न मनांसि कलाविदाम्^२ ।

वक्त्रे फुत्काररन्ध्रे^३स्ये कस्य वा वि^४तताकृतेः ॥ ५०३ ॥

स्वररन्ध्राण्याप्नुयातामपि दीर्घतरौ करौ ।

अन्तरं स्वररन्ध्राणामुक्तमर्धाङ्गुलं च यत् ॥ ५०४ ॥

शास्त्रेण तेन कस्यापि स्वरस्य व्यक्तिर^५रिता ।

ये पूर्वोक्तक्रमाः सप्त स्वराः सरिगमादयः ॥ ५०५ ॥

माने^६ऽत्र दृश्यते तेषां नासौ क्रमपरिक्रमः ।

मूर्च्छनारागभाषादेः सुदूरोत्सारिता कथा ॥ ५०६ ॥

^१ द्वात्रिंशद्विभागेन च अधिकं (B). ^२ श्लोकोऽयं मूले, "ते द्वे" इत्यस्यानन्तरं व्याख्याद्वयानुसारेण योजनीयः ।

अङ्गुष्ठपर्वदैर्ध्वं यदङ्गुलं तत्समीरितम् ।

तेन मानेन वंशेषु कृतेष्वष्टादशाविषु ॥ (D).

^३ स्या (D). ^४ विवता क्वचित्[?] (D). ^५ रिञ्जिता (D). ^६ मानवं (D).

^१ त्रयम् (D). ^२ भवेदादित्य I ed. ^३ लक्षमानि मनुवंशवत् (D).
^४ च (D).

किञ्चिच्छास्त्रकृतां प्राचामाचार्याणां महात्मनाम् ।

उपालम्भोऽपि दोषाय किं तथा कथयामि^१ नः ॥ ५०७ ॥

(क०) 'यदिदं लक्ष्म' इत्यादिना पूर्वोक्तं लक्षणद्वय-
मरञ्जकमित्युक्त्वा अङ्गुष्ठपर्वदैर्ध्याङ्गुलमानेन यत्लक्षणं तत्प्रशं-
सति—वक्त्रे फूत्काररन्ध्रस्थ इत्यादि । वितताकृतेः कस्य वा
वांशिकस्य दीर्घतरावपि करौ स्वररन्ध्राप्याप्नुयातामिति काक्वा
नैवाप्नुयातामिति गम्यते । फूत्कारध्वनिनैव तस्यापि पारवश्यं
भवतीति भावः । पुनरपि शास्त्रोक्तमुपालभते—अन्तरं स्वर-
रन्ध्राणामित्यादिना तदास्तामित्यन्तेन । मूर्च्छनारागभाषादेरिति ।
अत्र रागशब्देन ग्रामरागोपराराग उच्यन्ते; भाषाशब्देन भाषा-
विभाषान्तरभाषा उच्यन्ते; आदिग्रहणेन रागाङ्गभाषाङ्ग-
क्रियाङ्गोपाङ्गानि गृह्यन्ते, तेषाम्, कथा सुदुरोत्सारितेति ।
मूर्च्छनादयो न भवन्त्येवेत्यर्थः ॥ ५०२-५०७ ॥

(सु०) यदिवमिति । यदिदं शास्त्रोक्तं, यच्च देशीप्रसिद्धं, ते
द्वे अपि लक्ष्मणी कलाभिज्ञानां मनांसि रञ्जयितुं न समर्थौ । अङ्गुष्ठेति^२ ।
अङ्गुलस्य अङ्गुष्ठपर्वदीर्घेण मानेन अष्टादशसु वंशेषु^३ कृतेषु मुखे फूत्कार-
रन्ध्रस्थिते सति कस्य वादकस्य करौ स्वररन्ध्रान् प्राप्नुतः, वितताकृतेरपि
अतिदीर्घस्यापीत्यर्थः । अन्तरमिति । स्वरच्छिद्राणामर्धाङ्गुलप्रमाणं

^१ पुनः (D). ^२ श्लोकोऽयं मूले, "ते द्वे" इत्यस्यानन्तरं व्याख्याद्वयानु-
सारेण योजनीयः ।

अङ्गुष्ठपर्वदैर्ध्यायदङ्गुलं तत्समीरितम् ।

तेन मानेन वंशेषु कृतेष्वष्टादशादिषु ॥ (D).

^३ उच्यतेषु (A).

यदन्तरालमुक्तं शास्त्रे तेन स्वराभिव्यक्तिर्न दृश्यते । य इति । ये षड्जर्व-
भादयः स्वराः पूर्वमुक्ताः । अनेन मानेन वंशे क्रियमाणे क्रमेणोत्पत्तिः
तेषां न दृश्यते । तेषां मूर्च्छनारागादीनामुत्पत्तिस्तु सुदूरं निरस्त इति^१;
पूर्वाचार्यान् प्रति उपालम्भो न युक्तः ॥ ५०२-५०७ ॥

तदास्तामुच्यते किंतु केचिद् देशोविदः प्रति ।

माने पञ्चयवे कस्माद् दृश्यतेऽत्र त्रयोऽधिकः ॥ ५०८ ॥

सप्ताङ्गुलादिवंशेषु कथं चोर्ध्वं चतुर्दशात् ।

पूर्वमानाधिकाः सन्ति ते सप्ताष्ट^२ नवा यवाः ॥ ५०९ ॥

सार्धपञ्चयवे माने लक्ष्म स्यादव्यवस्थितम् ।

त्रयोदशादयो ये^३ च त्रयो वंशा निराकृताः ॥ ५१० ॥

न तत्र युक्तिलेशोऽस्ति येन तुष्यन्ति सूरयः ।

अल्पान्तरत्वमुक्तं यत् तदसारतरं^४ पुनः ॥ ५११ ॥

वंशान्तरान्तरंस्तुल्यमन्तरं तेषु दृश्यते ।

द्वाद^५ सार्धस्वरन्यूनो यथैकादशवंशतः ॥ ५१२ ॥

मुद्रितः स्वररन्ध्रः स्यात् तथा तस्मात् त्रयोदश ।

एवं चतुर्दशात् पञ्चदशो वंशान्तु षोडशात् ॥ ५१३ ॥

वंशः सप्तदशो लक्ष्माप्रसिद्धमिति चेन्न तत् ।

वक्तुं तदुक्तरीत्या हि शक्यं तेष्वपि लक्षणम् ॥ ५१४ ॥

(क०) शास्त्रोक्तानि कानिचिद् वंशलक्षणान्यनुभाष्य,
तेषु लक्ष्यविरोधं दर्शयित्वा, तथा शास्त्रे निराकृतानामपि त्रयो-
दशाङ्गुलादीनां वंशानां लक्ष्ये व्यवहारं दर्शयित्वा पुरातनानां मतं

^१ निरस्तेवेति (A).

^२ न वा यवाः (?) I ed.

^३ यत्र (D).

^४ यतः (D).

^५ ग. घ. ड. दशोऽयं fn. I ed.

दूषयति—तदास्तामुच्यते किं त्वित्यादिना सूरिः श्रीकरणा-
प्रणीरित्यन्तेन ॥ ५०८-५१४ ॥

(सु०) ^१देश्यभिज्ञानं प्रति किञ्चिद्वदाम इत्याह—मान इति ।
पञ्चयवाङ्गुलमाने सप्ताङ्गुलादिवंशेषु ^२थवाधिकमानं कस्मात् दूषयते?
चतुर्दशाङ्गुलादिवंशेषु पूर्वोक्तमानात् क्रमेण सप्ताष्ट नव च यवाधिका
दृश्यन्ते । सार्धपञ्चयवाङ्गुले कल्प्यमाने लक्षणमव्यवस्थं स्यात् । त्रयो-
दशाङ्गुलादिवंशत्रयनिराकरणे च न कारणं पश्यामः । यत्तु स्वल्पान्तरत्वं
कारणमुक्तम्, तत्तु अन्येष्वपि तुल्यम् । द्वादश इति । एकादशाङ्गुलाद्
वंशात् द्वादशाङ्गुलो वंशः यथा अर्घस्वरेण हीनः तथा द्वादशाङ्गुलाः,
त्रयोदशाङ्गुलापि भविष्यति । एवं पञ्चदशसप्तदशाङ्गुलावपि संभवतः
लक्षणं शास्त्रेष्वनुक्तत्वादप्रसिद्धमिदमिति चेत्, तन्न; हि यस्मात्
कारणात् पूर्वोक्तरीत्या लक्षणं कल्पयितुं शक्यते ॥ ५०८-५१४ ॥

त्रयोदशाङ्गुलो वंशो विश्वमूर्तिरुदाहृतः ।

अधिकं यवपादेन स्याच्चत्वारिंशदङ्गुलम् ॥ ५१५ ॥

विश्वमूर्तौ दण्डमानं तारादौ सुषिराष्टके ।

प्रत्येकं त्रियवी सार्धा मानमन्तरसप्तके ॥ ५१६ ॥

अङ्गुलद्वितयं मानं पृथगादित्येव परम् ।

युक्तैर्यवेन पादेन द्वाचत्वारिंशदङ्गुलैः ॥ ५१७ ॥

यवस्य चाष्टमांशेन सपादेनाधिकं^३ मितः ।

दण्डः श्रीशार्ङ्गदेवोक्तो वंशे पञ्चदशाङ्गुले ॥ ५१८ ॥

अङ्गुलत्रितयं मानं शिरःप्रान्ते^४ प्रदेशयोः ।

^१ वंशाभिज्ञानप्रति (B).

^२ त्रियवाधिकं मानं (A).

^३ मानक्रमेण (A).

^४ दश यवाधिक्यं दूषयते (B).

^५ वंशवत् (D).

^६ मितः (D).

^७ प्रान्त (D).

प्रत्येकमन्तरालेषु सप्तस्वर्घयवाधिकम् ॥ ५१९ ॥

अङ्गुलद्वितयं मानं मनुवल्लक्षणं परम् ।

यवस्य सार्धपादेन द्वात्रिंशंशयवाधिकः ॥ ५२० ॥

षट्चत्वारिंशता पादनूनैः स्यादङ्गुलैर्मितः ।

दण्डः सप्तदशे वंशेऽन्तरेषु त्वङ्गुलद्वयम् ॥ ५२१ ॥

पृथक्सद्विषयं मानं स्यात् कलानिधिवत् परम् ।

एवं प्रसिद्धलक्षमाणो रागादिव्यक्तिहेतवः ॥ ५२२ ॥

त्रयोदशादयो वंशा निषिध्यन्ते मुधा परैः ।

अपि पञ्चयवं मानं वंशेष्वष्टादशस्वपि ॥ ५२३ ॥

व्यक्तं प्रगल्भते वक्तुं सूरिः श्रीकरणाप्रणीः ।

तस्माद् देश्यनुसारेण लक्ष्यलक्षणतत्त्ववित् ॥ ५२४ ॥

शार्ङ्गदेवोऽप्यथा वंशस्वरूपं प्रत्यपादयत् ।

(क०) अथ देश्यनुसारेण स्वाभिमतं वंशलक्षणं
वक्तुमाह—“तस्माद् देश्यनुसारेण” इत्यादिना “त्रयः प्राग्वन्न
संमता” इत्यन्तेन । मूलशब्दोऽन्वयं याति मध्यमेनात्र
पर्वणा इति । कनिष्ठमध्यमपर्वमूलमित्यर्थः । व्याख्यातप्रायमन्यत्
॥ ५१५-५२५-॥

(सु०) तदेव कल्पितं लक्षणमाह—त्रयोदशेति । त्रयोदशाङ्गुलो
विश्वमूर्तिः, तस्य यवपादाधिकचत्वारिंशदङ्गुलो दण्डः; तारादीन्यष्टौ
च्छिद्राणि सार्धत्रियवमितानि, त्रयाणां यवानां समाहारस्त्रियवीति ।
अन्तरालानि द्वियवमितानि । युक्तैरिति । पञ्चदशाङ्गुले वंशे सपाद-
याष्टमांशसहितयवपादाधिक^१द्वाचत्वारिंशदङ्गुलो दण्डः शिरः प्रान्तौ

^१ द्वाचत्वा (B).

व्यङ्गुली; अन्तरालानि सप्त अर्धयवाधिकाङ्गुलद्वयमितानि । अन्यल्लक्षणं मनुवत् चतुर्दशाङ्गुलवंशवत् । सप्तदशाङ्गुले वंशे दण्डः द्वाविंशांश-युक्तयवसार्धपादाधिकपादोनषट्चत्वारिंशदङ्गुलः; अङ्गुलद्वयमितान्यन्तरालानि [पृथक्सद्वयवं मानं स्यात्]; अन्यत् षोडशाङ्गुलकलानिधिवत् । अपीति । अष्टादशसु वंशेषु शाङ्गदेवः पञ्चयवं मानमपि वक्तुं प्रगल्भते । अपिशब्दो गह्वियाम्; “अपिः पदार्थसंभावनान्वयसर्ग-गह्विसमुच्चयेषु” (पाणिनिसूत्रम् १-४-६६) इत्युक्तत्वात् । तस्मात् प्रगल्भत इत्यर्थः । ततो लक्षणमन्यथा प्रत्यपादयत् प्रतिपादयति स्म ॥ ५१५-५२५ ॥

अङ्गुलं निबबन्धासौ सिद्धं गणितशास्त्रतः ॥ ५२५ ॥
न ह्यङ्गुलं पञ्चयवं दृश्यते शास्त्रलोकयोः ।
अङ्गुलं निस्तुषेः षड्भिस्तिर्यग्भिः स्याद्यवोदरैः ॥ ५२६ ॥
दक्षिणस्य करस्य स्यात् खानिमाने^१ कनिष्ठिका ।
न स्थूला न कृशात्यन्तं गृह्यते किंतु मध्यमा ॥ ५२७ ॥
मूलशब्दोऽन्वयं याति मध्यमेनात्र पर्वणा ।
समा सर्वत्र खानिः स्याद् विषमः^२ स्वरभङ्गकृत् ॥ ५२८ ॥
चतुर्दशाङ्गुलो दण्डः^३ एकवीरस्य दृश्यते ।
तच्छिरः प्रान्तयोमानिमङ्गुलद्वितयं पृथक् ॥ ५२९ ॥
मानं जातिमुखाख्ये स्यात् फूत्कारसुषिरेऽङ्गुलम् ।
ताररन्ध्रं ततोऽधस्तादङ्गुलान्तरितं मतम् ॥ ५३० ॥
षोडशांशाधिकं तस्य मानमर्धाङ्गुलं विदुः ।
तदधोऽधश्च तावन्ति सप्त रन्ध्राणि कल्पयेत् ॥ ५३१ ॥

तेष्वष्टासूध्वरन्ध्राणि सप्त स्युः स्वरसिद्धये ।

अन्तिमं वायुरन्ध्रं स्यादन्तरालानि सप्त च ॥ ५३२ ॥

पृथगर्धाङ्गुलान्येषां गर्भरन्ध्रं तु^४ संमितम् ।

मूलतः पञ्च^५ मांशोनकनिष्ठासध्यपर्वणा ॥ ५३३ ॥

खानिस्तदुच्यते देश्यां पूर्वो^६क्तास्त्रिस्वरादयः ।

त्रयोदशापरे ताररन्ध्रजातिमुखान्तरैः ॥ ५३४ ॥

एकैकाङ्गुल^७वृद्ध्या स्युरा चतुर्दशवंशतः ।

(सु०) अङ्गुलमिति । अङ्गुलं गणितप्रसिद्धमेव । नहि पञ्च-यवमङ्गुलं क्वचिद् दृश्यते । गणितप्रसिद्धमेवाङ्गुलमुच्यते । अङ्गुलमिति । निस्तुषेः^१ त्वक् शून्यैः तिर्यक्सिध्यतेः पङ्क्तिभिर्यवोदरैरङ्गुलम् । खानिमाने खानिप्रमाणे अस्थूला अकुशा च, दक्षिणहस्तस्य कनिष्ठिका मूलशब्दो मध्यमपर्वणा अन्वयं च याति संबन्धं याति । खानिः सर्वत्र समैव कर्तव्या । विषमा चेत् स्वरभङ्गं स्वरविकारं करोति । चतुर्वंशेति । एकवीरे वंशे चतुर्वंशाङ्गुलो दण्डः; शिरःप्रान्तौ द्व्यङ्गुली; जातिमुखसंज्ञकं फूत्कार-रन्ध्रमङ्गुलप्रमाणम् । ततो जातिमुखादधस्ताद्वर्तमानं रन्ध्रं ताररन्ध्रज-मित्युच्यते । तत्र अङ्गुलान्तरितं षोडशा^२शाधिकार्धाङ्गुलमितं कार्यम् । अन्यापि सप्त रन्ध्राणि तावन्ति कल्पयेदिति । तेष्विति । तेषु तार-रन्ध्रसहितेषु अष्टसु रन्ध्रेषु सप्तस्वरस्थितये अन्तिमं वायुरन्ध्रमेव । अर्धाङ्गुलप्रमाणानि अन्तरालानि अखिलानि । गर्भरन्ध्रं तु पञ्चमांशोन-कनिष्ठासध्यपर्वणमूलमितम् । तद्गर्भरन्ध्रं तु लोके खानित्युच्यते । त्रिस्वरा-दयः पूर्वमुक्ताः । अपरे त्रयोदशः ताररन्ध्रजातिमुखान्तरैः फूत्कार-

^१ मानं (D).

^२ विषमा (D).

^३ ग. एकविंशस्य fn. I ed.

^४ च. शस्यते fn. I ed.

^५ संमतम् (D).

^६ मांशेन I ed.

^७ वींक्तास्त्रिस्वरोदयः I ed.

वींक्तास्त्रिस्वरोदयः (D).

^८ ग. वृद्धाः स्युः fn. I ed.

^९ तुषु शून्यैः (B).

^{१०} षोडशार्धाङ्गुल (B). षोडशाधिकार्धाङ्गुल (A).

रन्ध्रमध्ये एकैकाङ्गुलबुद्ध्या आ चतुर्वंशवंशतः चतुर्दशाङ्गुल^१वंशपर्यन्तं
ज्ञातव्याः ॥ -५२५-५३५- ॥

उमापतौ दण्डमानं भवेत् पञ्चदशाङ्गुलम् ॥ ५३५ ॥
एकवीरवदन्यत् लक्ष्म त्रिपुखे पुनः ।
दण्डः सार्धैः षोडशभिः ^२सयवार्धैर्मितोऽङ्गुलैः ॥ ५३६ ॥
सप्तान्तराण्यधस्तात् पृथक्सार्धैस्त्रिभिर्वयैः ।
मितानि लक्षणं शेषं पूर्ववंशवदिष्यते ॥ ५३७ ॥
दण्डश्चतुर्मुखे सार्धषोडशाङ्गुलसंमितिः ।
पृथक्सप्तान्तरालानि चतुर्भिः साङ्गप्रिभिर्यवैः ॥ ५३८ ॥
मितानि पूर्ववच्छेषं पञ्चवक्त्रे तु संमितिः ।
दण्डश्च यवयुग्मेनाभ्यधिकाङ्गुलविशतिः ॥ ५३९ ॥
सप्तानामन्तरालानां पृथक् पञ्चयवा मितिः ।
अन्यत् पूर्ववल्लक्ष्म दण्डमानं तु षण्मुखे ॥ ५४० ॥
अङ्गुलानां यवार्धानां द्वाविंशतिरुदीरिता^३ ।
सार्धपञ्चयवमानं पृथगन्तरसप्तके ॥ ५४१ ॥
शेषं तु पूर्ववद्वंशे मुनौ दण्डमितिः पुनः ।
त्रयोविंशत्याङ्गुलानां सार्धयान्तरसप्तके ॥ ५४२ ॥
प्रत्येकमङ्गुलं मानं शेषं पूर्ववदिष्यते ।
वंशे वसौ दण्डमानं चतुर्भिरधिका यवैः ॥ ५४३ ॥
पञ्चविंशतिराख्याताङ्गुलानामन्तराणि तु ।
पृथक्सप्त यवानि स्युः शेषं ^४पूर्वोक्तमिष्यते ॥ ५४४ ॥

^१नागेन्द्रदण्डमानं स्यात् सपादा सप्तविंशतिः ।

अङ्गुलानामन्तराणि स्युः सपादाङ्गुलानि तु ॥ ५४५ ॥
प्रत्येकं मूलतः षष्ठांशोनमध्यमपर्वणा ।
कनिष्ठाया मिता खानिरन्यलक्ष्म तु पूर्ववत् ॥ ५४६ ॥
मानं महानन्ददण्डे त्रिंशदङ्गुलकं ^५मितम् ।
पृथक्सार्धैः सप्तान्तरालानि स्युरन्तरालानि सप्त च ॥ ५४७ ॥
^६नागेन्द्रवत् परं लक्ष्म रुद्धे दण्डमितिः पुनः ।
सपादानि त्रयोविंशदङ्गुलान्यन्तरेषु तु ॥ ५४८ ॥
प्रत्येकं मानमाख्यातं पादन्यानाङ्गुलद्वयम् ।
रन्ध्रेष्वष्टसु तारादिष्वष्टमांशसमन्वितम् ॥ ५४९ ॥
अङ्गुलार्धं पृथङ्मानं खानेमानं तु मूलतः ।
सप्तमांशविहीनं स्यात् कनिष्ठापर्वं मध्यमम् ॥ ५५० ॥
पूर्वोक्तमन्यदादित्ये वंशे दण्डस्तु कथ्यते ।
अष्टमांशाधिकः पञ्चविंशता संमितोऽङ्गुलैः ॥ ५५१ ॥
अन्तरेष्वष्टमांशोनमङ्गुलद्वितयं पृथक् ।
मानं खानौ त्वष्टमांशन्यूनमामूलदेशतः ॥ ५५२ ॥
कनिष्ठामध्यमपूर्वोक्तमपरं रुद्रवंशकम् ।
षोडशांशोन्नितं सार्धैः सप्तत्रिंशन्मिताङ्गुलैः ॥ ५५३ ॥
मितो दण्डो विश्वमूर्तवित्तरेष्वङ्गुलद्वयम् ।
षोडशांशाधिकं माने प्रत्येकं मध्यपर्वणा ॥ ५५४ ॥
कनिष्ठा^७या मिता खानिः शेषमादित्यवंशवत् ।

^१ गुलं यावत् वंशपर्यन्तं (B). ^२ सपादैर्मिश्रिताङ्गुलिः (D).
^३ ग्रोना (D). ^४ ताः (D). ^५ पूर्ववदिष्यते (D).

^१ नागेन्द्र I ed. ^२ मतम् (D). ^३ नागेन्द्रवत् I ed.
^४ नामिता (D).

मनो^१ दण्डस्तु पादोनैकचत्वारिंशताङ्गुलैः ॥ ५५५ ॥
 मितः शिरः पृथक्प्राग्भवेः साध्याङ्गुलद्वयौ ।
 प्रत्येकमन्तरालेषु सपादद्वयङ्गुला मितिः ॥ ५५६ ॥
 विश्वमूर्तिवदन्यत् लक्ष्म श्रीशार्ङ्गोदितम् ।
 वंशाश्चतुर्दशैवैवं प्रोक्ताः सोढलसूनुना ॥ ५५७ ॥
 नातः परं तु वंशानामीदृशमस्ति संभवः ।
 तेषु रन्ध्राङ्गुलीप्राप्तिर्न कस्यापि हि दृश्यते ॥ ५५८ ॥

(सु०) उमापताविति । उमापती वंशे पञ्चदशाङ्गुलं दण्डमानं
 भवेत् । अन्यत् लक्ष्म एकवीरवत् । त्रिपुरुषे वंशे पुनः यवार्धसहितः
 सार्धषोडशाङ्गुलो दण्डः । ताराधःस्थितसप्तरन्ध्राणि सार्धयववय-
 मितानि । शेषं लक्षणं पूर्ववंशवत् । दण्ड इति । चतुर्मुखे वंशे सार्धाष्टा-
 दशाङ्गुलमितो दण्डः । अन्तरालानि सपादयवचतुष्टयमितानि । शेषं
 पूर्ववत् । पञ्चवक्त्रे इति । पञ्चवक्त्रे वंशे यवद्वयाधिकविंशत्यङ्गुलो
 दण्डः । पञ्चयवमितान्यन्तरालानि । दण्डमानमिति । षण्मुखे अध्र्यवा-
 धिकद्वाविंशत्यङ्गुलो दण्डः । सार्धपञ्चयवानि सप्तान्तरालानि । मनी
 सार्धयवत्रयोविंशत्यङ्गुलो दण्डः । पृथगङ्गुलमितान्यन्तरालानि । वसौ
 वंशे चतुर्यवाधिकपञ्चविंशत्यङ्गुलो दण्डः । अन्तरालानि सप्त यवानि ।
 नागेन्द्र^२ वंशे सचतुर्थांशसप्तविंशत्यङ्गुलो दण्डः । सपादाङ्गुलमितान्यन्त-
 रालानि । षष्ठांशोनकनिष्ठामध्यपर्वमूलमिता खानिः गर्भरन्ध्रम् ।
 महानन्दे वंशे त्रिंशदङ्गुलो दण्डः । अन्तरालानि पृथक् सार्धाङ्गुलानि ।
^३परं लक्ष्म नागेन्द्रवत् । रुद्रवंशे दण्डः सपादत्रयस्त्रिंशदङ्गुलः^४ ।
 अष्टमांशोनाङ्गुलद्वयपरिमितान्यन्तरालानि । आदित्यवंशे अष्टमांशा-
 धिकपञ्चविंशदङ्गुलो दण्डः । अष्टमांशोनाङ्गुलद्वयपरिमितान्यन्तरा-

^१ मनोदण्ड (D).

^२ नागेन्द्रे I ed.

^३ षोडशांशोनिर्तेरिति (B).

^४ अन्यत्सुगमम् (A).

लानि । षोडशांशोनिर्तेरिति । विश्वमूर्ते^१ त्रयोदशाङ्गुले विश्वमूर्ते^१
 त्रयोदशाङ्गुले वंशे षोडशांशोनसप्तत्रिंशदङ्गुलो दण्डः । मनाविति ।
 मनी पादोनैकचत्वारिंशदङ्गुलो दण्डः । शिरःप्राप्तौ पृथक् सार्धाङ्गुल-
 द्वयौ । अन्तरालेषु चतुर्थांशद्वयङ्गुला मितिर्मानम् । अन्यत् लक्ष्म
 विश्वमूर्तिवत् । एवं चतुर्दशैव वंशाः । अतः परं मुखेषु अङ्गुलीप्राप्त्य-
 भावात् अतिमन्द्रनादत्वाच्च वंशा न कार्याः ॥ ५५५-५५८ ॥

अतिमन्द्रध्वनित्वाच्च न ते तत्त्वविदां मताः ।

गतानुगतिकत्वेन त्वेकवीरादयस्त्रयः ॥ ५५९ ॥

कथिता न तु तेष्वस्ति रक्तिमाधुर्यधुर्यता ।

^१चतुर्मुखादयस्तस्मादेकादश मनोहराः ॥ ५६० ॥

स्वमतेऽभ्युपगम्यन्ते वंशाः सोढलसूनुना ।

शार्ङ्गदेवोऽज्यमानेन वंशरूपं न्यरूपयत् ॥ ५६१ ॥

तिर्यग्यवोदरैः सार्धैश्चतुर्भिर्नस्तुषैरिह ।

अङ्गुलं तेन पूर्वोक्तीत्यारभ्यैकवीरतः ॥ ५६२ ॥

सन्ति द्वाविंशतिर्वंशविशेषास्तेषु चक्षमहे ।

वंशश्रेणीमिमामाह निःशङ्कोऽनुपमाभिधाम् ॥ ५६३ ॥

एकवीरे दण्डमानं स्यात् षोडशभिरङ्गुलैः ।

सार्धेन यवपादेनाभ्यधिकैस्तच्छिरोन्तयोः ॥ ५६४ ॥

सार्धाङ्गुलद्वयं मानं प्रत्येकं परिकीर्तितम् ।

सपादमङ्गुलं जातिमुखे रन्ध्राष्टके पुनः ॥ ५६५ ॥

पृथक्तृतीयभागोनमङ्गुलं मानमिष्यते ।

अर्धाङ्गुलानि प्रत्येकमन्तरालानि सप्त च ॥ ५६६ ॥

^१ चतुर्दशा (D).

मूलतः पञ्चमांशोनकनिष्ठामध्यपर्वणा ।
 मिता खानिर्भवेत् ताररन्ध्रजातिमुखान्तरम् ॥ ५६७ ॥
 एकवीरादिसंज्ञाभिः सर्ववंशेषु वेदितम् ।
 अष्टमांशविहीनेन यवार्धेनाधिकैर्भवेत् ॥ ५६८ ॥
 अङ्गुलैः सप्तदशभिर्दण्डमानमुपापतौ ।
 एकाङ्गुलाधिकस्तस्माद् दण्डस्त्रिपुरुषे मतः ॥ ५६९ ॥
 अनयोर्वंशयोः शेषं लक्ष्म स्यादेकवीरवत् ।
 मानं स्याद् यवपादोनविहीनाङ्गुलविंशतिः ॥ ५७० ॥
 चतुर्मुखस्य दण्डस्यान्तरालेष्वर्धमङ्गुलम् ।
 अष्टमांशाधिकं मानं पृथगन्यत्तु पूर्ववत् ॥ ५७१ ॥
 सद्वात्रिंशांशपादोनद्विवाधिकया मितः ।
 दण्डोऽङ्गुलैर्कांशस्तथा पञ्चवक्त्रस्य कीर्तितः ॥ ५७२ ॥
 अङ्गुलस्य त्रिभिः पादैः पादोनैरन्तराणि तु ।
 मितानि सप्त प्रत्येकं पूर्ववत्लक्षणं परम् ॥ ५७३ ॥
 सार्धत्रयोविंशतिः स्यादङ्गुलानां यवाधिका ।
 मानं षण्मुखदण्डस्य पादोनं त्वङ्गुलत्रयम् ॥ ५७४ ॥
 पृथक्शिरोन्तयोर्मनमन्तरेषु तु सप्तसु ।
 यवपादाधिकं मानं पृथक्पादोनमङ्गुलम् ॥ ५७५ ॥
 शेषं तु पूर्ववद्दंशे मनौ स्याद् दण्डसंमितिः ।
 यवपादोनपादोनाङ्गुलर्षादुशतिमता ॥ ५७६ ॥
 अङ्गुलं यवपादेन न्यूनमन्तरसप्तके ।
 प्रत्येकं मानमाख्यातं शेषं षण्मुखवंशवत् ॥ ५७७ ॥

¹ मानं मुनेर्भूतौ (D). ² पादेन (D).

वसौ वंशे यवाधेन द्वात्रिंशांशयुजाधिका ।
 स्यात् सप्तविंशतिः सार्धाङ्गुलानां दण्डसंमितिः ॥ ५७८ ॥
 सपादेन तु पादेन द्वात्रिंशांशयुतेन च ।
 यवस्याभ्यधिकं मानमन्तरेण्डङ्गुलं पृथक् ॥ ५७९ ॥
 शेषं तु ¹मुनिवद् दण्डे नागेन्द्रस्य तु संमितिः ।
 यवाष्टमांशसहितैरेकोनत्रिंशदङ्गुलैः ॥ ५८० ॥
 सार्धपादाधिकैरुक्ता पृथक् तु सुषिराष्टके ।
 तारादौ यवयुक्तेनार्धाङ्गुलेन मितिर्भवेत् ॥ ५८१ ॥
 अन्तरेषु पृथङ्मानमष्टमांशाधिकाङ्गुलम् ।
 शेषं तु पूर्ववद् दण्डे महानन्दस्य संमितिः ॥ ५८२ ॥
 उक्ता यवाष्टमांशोनाङ्गुलैर्कांशविंशतिः ।
 सपादावन्तरालेषु प्रत्येकं मानमुच्यते ॥ ५८३ ॥
 सपादमङ्गुलं शेषं पूर्वोक्तं शार्ङ्गोदितम् ।
 अङ्गुलानि त्रयस्त्रिंशदष्टमांशयुतानि तु ॥ ५८४ ॥
 यवाष्टमांशयुक्तानि रद्रे दण्डमितिर्भवेत् ।
 युक्तं सार्धेन पादेनाङ्गुलमन्तरसप्तके ॥ ५८५ ॥
 प्रत्येकं मानमाख्यातं खानेर्मानं तु मूलतः ।
⁵षष्ठांशोनं मध्यपर्वं कनिष्ठयाः ⁶प्रकीर्तितम् ॥ ५८६ ॥
 शेषं प्राग्वदथादित्ये स्यात् पञ्चत्रिंशताङ्गुले ।
 यवाष्टमांशसहितैर्दण्डमानमथान्तरम् ॥ ५८७ ॥
 सार्धाङ्गुलकमेकैकं खानिमानं तु कीर्तितम् ।

¹ पूर्व (D). ² ताङ्गुलैः (D). ³ मांशेन (सु०). ⁴ मिष्यते (D).
⁵ अष्टांशोनं (D). ⁶ कनिष्ठयां (D).

मूलतः सप्तमांशोनं कनिष्ठापूर्वं मध्यमम् ॥ ५८८ ॥
 प्राग्वत् परं विश्वमतौ वंशे दण्डस्य संमितिः ।
 यवाष्टमांशसहितैः स्यात् सप्तविंशताङ्गुलैः ॥ ५८९ ॥
 सार्धपादाधिकैः शीर्षप्रान्तौ व्यङ्गुलकौ^१ पृथक् ।
 अन्तरेष्वष्टमांशोनाधिकं सार्धाङ्गुलं पृथक् ॥ ५९० ॥
 मानं खानेस्त्वष्टमांशान्यूनमामूलतो मतम् ।
 मध्यपूर्वं कनिष्ठायाः पूर्वोक्तं शेषमिष्यते ॥ ५९१ ॥
 दण्डमानं मनोरेकोनचत्वारिंशताङ्गुलैः ।
 सपादैरष्टमांशेन यवस्य सहितैरपि ॥ ५९२ ॥
 पादोनमङ्गुलद्वन्द्वं पृथगन्तरसप्तके ।
 मानं खानिस्तु मातव्या कनिष्ठामध्यपर्वणा ॥ ५९३ ॥
 पूर्वोक्तमपरं सार्धैकचत्वारिंशताङ्गुलैः ।
 युक्तैर्यवस्य पादोनपादद्वन्द्वेन संमितिः ॥ ५९४ ॥
 दण्डे पञ्चदशस्य स्यात् ततः सार्धयवत्रया ।
 प्रत्येकमष्टरन्ध्री स्यादन्तरेष्वङ्गुलद्वयम् ॥ ५९५ ॥
 अष्टमांशोनिनं मानं प्रत्येकं मनुवत् परम् ।
 कलानिधौ सपादैः स्यात् त्रिचत्वारिंशताङ्गुलैः ॥ ५९६ ॥
 यवाधिकैर्दण्डमानमन्तरालेषु सप्तसु ।
^२प्रत्येकमङ्गुलद्वन्द्वं सपादं पूर्ववत् परम् ॥ ५९७ ॥

^१ को भवेत् । (D).

^२ प्रत्येकमङ्गुलद्वन्द्वमानं शेषं तु पूर्ववत् ॥
 दण्डे सप्तादश स्यात् तु षट्चत्वारिंशदङ्गुलम् ।
 यवेनाभ्यधिकं मानमन्तरालेषु सप्तसु ॥ (D).

दण्डोऽष्टादशवंशस्याष्टाचत्वारिंशताङ्गुलैः ।
 यवान्वितैः सपादेन सपादेनाधिकैर्मितः ॥ ५९८ ॥
 प्रत्येकं षोडशांशोनसार्धाङ्गुलं^१युगं मतम् ।
 प्रमाणमन्तरालेषु परं पूर्ववदिष्यते ॥ ५९९ ॥
 दण्डे त्वेकोनविंशस्य सार्धाष्टपञ्चाशदङ्गुलम् ।
 यवेनाभ्यधिकं मानमन्तरेषु तु सप्तसु ॥ ६०० ॥
 प्रत्येकं षोडशांशोनाधिकं सार्धाङ्गुलद्वयम् ।
 प्राग्वत् परं मुरल्यां तु दण्डमानं यवाधिकम् ॥ ६०१ ॥
 द्वापञ्चाशद् भवेत् सार्धाङ्गुलानामन्तराणि तु ।
 पादोनव्यङ्गुलानि स्युः प्रत्येकं पूर्ववत् परम् ॥ ६०२ ॥
 एकाविंशे दण्डमानं पञ्चपञ्चाशदङ्गुलम् ।
 सपादं षोडशांशेनाभ्यधिकं यवसंयुतम् ॥ ६०३ ॥
 व्यङ्गुलान्यन्तराणि स्युः प्रत्येकं पूर्ववत् परम् ।
 दण्डमानं श्रुतिनिधावष्टापञ्चाशदङ्गुलम् ॥ ६०४ ॥
 सार्धं यवाधिकं तस्य त्वन्तरेष्वङ्गुलद्वयम् ।
 सपादषोडशांशोनाधिकं मानं पृथङ्मतम् ॥ ६०५ ॥
 पूर्वोक्तमपरं लक्ष्म शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम् ।
 सर्वेषामपि वंशानां पिण्डः सार्धयवो भवेत् ॥ ६०६ ॥

(सु०) ननु माधुर्याद्यभावे यदि वंशो न कर्तव्यः तर्ह्याद्यास्त्रयो
 विमोक्तव्य इत्यत्राह—गतानुगतिकत्वेनेति । पूर्वप्रसिद्धिमाश्रित्यैव त्रय
 एकवीरादय उक्ताः । वस्तुतस्तु चतुर्मुखादय एवैकादशोचिताः । शार्ङ्गदेव

^१ सपादोन (D). ^२ स्व (D). ^३ युतं (D). ^४ पञ्चदशा (D).
^५ शेनाधिकं (D). ^६ मुकल्यास्तु (D). मुरल्यास्तु I ed. ^७ अङ्गु I ed.

इति । अन्येन प्रमाणेन द्वाविंशतिसंख्याकं वंशानां रूपं निरूपितवान् । तत्र परिभाषामाह—**तिर्यगिति** । अन्यस्मिन् वंशलक्षणे तिर्यक् स्थितैः सार्धैश्चतुर्भिर्य^१वोदरैरङ्गुलम् । तेनाङ्गुलेन पूर्वोक्तरीत्या द्वाविंशतिर्वंशा एकवीरमारभ्य वक्ष्यमाणा^२ विशेषेण ज्ञातव्याः । इयं वंशश्रेणी अनुपमेल्युच्यते । **एकवीर इति** । एकवीरे वंशे सार्धै^३यवचतुर्थीशाधिकषोडशाङ्गुलो **दण्डः** । शिरःप्राप्तौ प्रत्येकं सार्धद्व्यङ्गुली । चतुर्थीशाङ्गुलमितं फूलाररन्ध्रम् । अष्टौ^४ रन्ध्राणि तृतीयांशोनाङ्गुलमितानि । अन्तरालानि सप्त च प्रत्येकं अर्धाङ्गुलमितानि । ताररन्ध्रजातिमुखयोरन्तरमेकवीरादिसंज्ञाभिरेव पूर्वोक्तप्रकारेण सर्ववंशेषु ज्ञापितम् । वंशस्थैर्नवभौ रन्ध्रैरित्यादिना अष्टमांशेति अष्टमांशहीनयवार्धाधिकसप्तदशाङ्गुलो **दण्डः उमापते**ज्ञातव्यः । **त्रिपुरुषस्य** एकाङ्गुलेनाधिको **दण्डः**; अनयोर्वंशयोः शेषं लक्ष्म एकवीरवत् स्यात् इति । **मानमिति** । **चतुर्मुखस्य** यवचतुर्थीशहीनविंशत्यङ्गुलो **दण्डः** । अष्टमांशाधिकाङ्गुलाधेपरिमितान्यन्तरालानि । अन्यत्तु पूर्ववत् । द्वाविंशत्तमांशसहितश्चतुर्थीशोनयवद्वयार्धाधिकैकविंशत्यङ्गुलो **दण्डः पञ्चवक्त्रस्य**; ^५पादोनव्यंशाङ्गुलमितान्यन्तरालानि सप्त प्रत्येकम् । परं लक्षणं पूर्ववत् । यवाधिकसार्धत्रयोविंशत्यङ्गुलो **दण्डः षण्मुखस्य** । शिरःप्राप्तौ पादोनव्यङ्गुली । यवचतुर्थीशाधिकपादोनाङ्गुलमितान्यन्तरालानि शेषं तु पूर्ववत् । **मुनिवंशे** यवचतुर्थीशोनपादोनषड्विंशत्यङ्गुलो **दण्डः** । यवचतुर्थीशान्यूनाङ्गुलपरिमितानि प्रत्येकं सप्तान्तरालानि । शेषं षण्मुखवंशवत् । **वसाविति** । द्वाविंशत्तमांशसहितयवार्धाधिक[सार्ध]सप्तविंशत्यङ्गुलो **दण्डः** । द्वाविंशत्तमांशसहितसपादचतुर्थीशाधिकयवाधिकाङ्गुलपरिमितान्यन्तरालानि । शेषं तु मुनिवत् । ^६**नागेन्द्रस्य** यवाष्टमांशसहितचतुर्थीशाधिकैकोनविंशदङ्गुलो **दण्डः** । यवाधिकाध्या-

ङ्गुलमितानि ताररन्ध्रादीन्यष्टौ रन्ध्राणि अष्टमांशाधिकाङ्गुलं अन्तरेषु पृथङ्मानम् । शेषं तु पूर्ववत् । **महानन्दस्य दण्डः** यवाष्टमांशोनां^१शाधिक एकविंशदङ्गुलः । सपादाङ्गुलमितान्यन्तरालानीति । शेषं पूर्वोक्तं शार्ङ्गणोदितम् । **रुद्रे** यवाष्ट^२मांशयुक्त अष्टमांशाधिकत्रयस्त्रिंशदङ्गुलो **दण्डः** । सार्धपादाधिकाङ्गुलपरिमितान्यन्तरालानि । षण्मांशान्यूनकनिष्ठा-मध्यपर्वमूलमिता खानि । शेषं प्राग्वत् । **अथेति** । **आदित्यवंशस्य दण्डः** यवाष्टमांशाधिकपञ्चविंशदङ्गुलः । एकैकं सार्धाङ्गुलान्यन्तरालानि । सप्तमांशान्यूनकनिष्ठामध्यमपर्वमूलमितं खानिमानं परं प्राग्वत् । **विश्वमूर्ताविति** । यवाष्टमांशाधिकसार्धचतुर्थीशाधिकसप्तत्रिंशदङ्गुलो **दण्डः** । शीर्षप्राप्तौ पृथक् द्व्यङ्गुली । पृथक् अष्टमांशोनाधिकसार्धाङ्गुलान्यन्तरालानि । खानेस्तु मानं अष्टमांशान्यूनं आ मूलतः कनिष्ठया मध्यपर्वं । शेषं पूर्वोक्तवत् । **दण्डमानं मनोरिति** । सपादयवाष्टमांशाधिकैकोनचत्वारिंशदङ्गुलो **दण्डो मनुवंशस्य** । पृथक् चतुर्थीशोनद्व्यङ्गुलान्यन्तरालानि । खानिः कनिष्ठया मध्यपर्वणा मातव्या । **अपरमिति** । तन्मितं गर्भरन्ध्रं कर्तव्यमित्यर्थः । पूर्वोक्तमपरम् । पादोनयवचतुर्थीशद्वयार्धाधिकसार्धचत्वारिंशदङ्गुलो **दण्डः पञ्चवक्त्रस्य** वंशस्य । अष्टौ रन्ध्राणि सार्धयवत्रयमितानि । प्रत्येकं अष्टमांशान्यूनद्व्यङ्गुलान्यन्तरालानि । मनुवत् परम् । **कलानिधाविति** । यवाधिकसतुर्थीश^३त्रिचत्वारिंशदङ्गुलो **दण्ड इति** । अन्तरालेषु प्रत्येकमङ्गुलद्वन्द्वम् । शेषं तु पूर्ववत् । सप्तदशस्य वंशस्य **दण्डो** यवाधिकषट्चत्वारिंशदङ्गुलः । अन्तरालेषु सप्तसु प्रत्येकं सपादमङ्गुलद्वन्द्वम् । पूर्ववत् परम् । **अष्टादशवंशस्य** सचतुर्थीशपादाधिकयवसहिताष्टाचत्वारिंशदङ्गुलो **दण्डः** । प्रत्येकं षोडशांशोनसार्धाङ्गुलद्वयान्यन्तरालानि । परं पूर्ववदित्यते । **दण्डे त्विति** । **एकोनविंशस्य** वंशस्य **दण्डः** यवाधिकसार्ध^४पञ्चदशाङ्गुलः अन्तरेषु सप्तसु प्रत्येकं षोडशांशाधिक

^१ यवैरङ्गुलम् (B).

^२ माणविशेषेण (A).

^३ द्वय (A).

^४ रन्ध्रान्तराणि (A).

^५ यांशाङ्गुल (A), (B).

^६ गुलपरि (A), (B).

^७ पादोनव्यङ्गुल (A), (B).

^८ धिकाङ्गुल (A).

^९ नाषेन्द्रस्य (A).

^१ यवाष्टमांशाधिक (सु०).

^२ मांशाधिकत्रयस्त्रिंश (A).

^३ द्वि (A).

^४ सार्धयवाधिक (A), सार्धयवाधिकपञ्चाशदङ्गुलः (B).

सार्धाङ्गुलद्वयम् । प्राग्वत् परम् । ^१मुरल्यामिति । मुरलीसंज्ञकं वंशं यवाधिसार्धद्वापञ्चाशदङ्गुलो दण्डः । प्रत्येकं चतुर्थाशोनव्यङ्गुलान्यन्तरालानि । परं पूर्ववत् । एकैति । एकविंशस्य वंशस्य यवाधिकसपाद-षोडशांशाधिकपञ्चपञ्चाशदङ्गुलो दण्डः । प्रत्येकं व्यङ्गुलान्यन्तरालानि । परं पूर्ववत् । दण्डमानमिति । श्रुतिनिधौ वंशे यवाधिसार्धाष्टापञ्चाशदङ्गुलो दण्डः । षोडशांशाधिकसपादव्यङ्गुलान्यन्तरालानि पृथङ्मतम् । अपरं लक्ष्म पूर्वोक्तं शाङ्गदेवेन कीर्तितम् ॥ -५५६-६०६ ॥

रक्तिमाधुर्यविरहात् पञ्चवक्त्रादधस्तनाः^२ ।

चतुर्मुखादयो वंशा नेष्टाः श्रीशार्ङ्गसूरिणा ॥ ६०७ ॥

देशीवंशेषु सर्वेषु मुद्रितात् पूर्ववंशतः ।

उत्तरो मुद्रितो वंशः स्वरार्धेनाधिको भवेत् ॥ ६०८ ॥

वंशानामल्पमानानां सर्वत्रोत्तरता मता ।

स्वरार्धं^३ स्याद्ध्वतया(?) दक्षिणस्य कनिष्ठया ॥ ६०९ ॥

^४अतस्तस्या मुद्रितायां(?) पूर्ववंशस्य जायते ।

उत्तरो मुद्रितो वंशः पूर्वतुल्यस्वरोदयः ॥ ६१० ॥

^५उद्धृताङ्गुलिवृद्धौ तु तस्मादप्युत्तरोत्तरे ।

मिलन्ति मुद्रिता वंशा यथासंख्यं पुरातनैः ॥ ६११ ॥

स्वरोदये^६ ऽप्यङ्गुलयः शास्त्रीये लौकिके^७ तथा ।

वंशे^८ तुल्यः प्रकाराः स्युरिति श्रीशार्ङ्गोक्तमितम् ॥ ६१२ ॥

एकस्वराणि रन्ध्राणि संनिधौ व्यवधावपि ।

मिलन्ति सर्ववंशानामिति ब्रूते हरप्रियः ॥ ६१३ ॥

^१ मुरल्या (A), (B). ^२ नात् (D). ^३ राधे (D). ^४ व. ड.

स्यादुद्धृतं fn. I ed. स्यादुद्धृतं (D). ^५ व. ड. अतस्तस्यामुद्धृतायां fn. I ed.

^६ उत्तरा (D). ^७ त्वङ्गुलिः (D). ^८ ऽवया (D). ^९ साम्यं (D).

तुल्यं I ed.

मानहीनं तु यद् रन्ध्रं खानिर्वा यत्र तादृशी ।

न तद् रन्ध्रेः स्वजतीर्येमिलन्ति स्वरभङ्गतः ॥ ६१४ ॥

चतुर्दशादिबंशानामांशदेकवीरतः ।

यथैकैकस्वराधिक्यं वंशे स्यादुत्तरोत्तरे ॥ ६१५ ॥

मुद्रिते पूर्वपूर्वस्माद् वंशान्मुद्रितरन्ध्रकात् ।

इदानीं तादृशीं वंशस्वरूपरचनमिमाम् ॥ ६१६ ॥

शाङ्गदेवः समाचष्टे शिवानुग्रहशुद्धयोः ।

वंशपद्धतिरेषा^१ च शाङ्गविद्या^२ भिधीयते ॥ ६१७ ॥

अङ्गुलं षडचवं चात्र रन्ध्रादमितये मतम् ।

(मु०) रक्तीति । पञ्चवक्त्रात् पञ्चमुखात् अधस्तनाः चतुर्मुखादयोः एकवीरान्ताश्चत्वारो वंशा रज्जकत्वमाधुर्याभावज्ञ संमताः । देशीवंशेष्विति । सर्वेष्वपि पूर्वोक्तेषु देशीवंशेषु आद्याद्यवंशतः सकाशात् द्वितीयद्वितीयो वंशो मुद्रितः पिहितः सन् अर्धस्वराधिको भवति । अल्पप्रमाणानां वंशानामुत्तरत्वं द्वितीयत्वं मतम् । दक्षिणहस्तस्य कनिष्ठयां मुक्तायां स्वरार्धं जायते । अतः पूर्ववंशस्य कनिष्ठयां^३ मुक्तायां यथा ध्वनिस्तथोत्तरे वंशे कनिष्ठयां मुद्रितायां पूर्वतुल्यस्वरोदयः ध्वनिर्जायते । उद्धृतेति । उद्धृतानामङ्गुलीनां वृद्धौ तस्मादपि उत्तरोत्तरे वंशे पुरातना वंशा मुद्रिता मिलन्ति, समाननादा भवन्ति । यथासंख्यमिति । अङ्गुलिद्वयोद्धृतौ द्वितीयः पुरातनो मिलति । अङ्गुलित्रयोद्धृतौ तृतीय इति । स्वरोदय इति । शास्त्रोक्ते लौकिके च वंशे स्वरोदये अङ्गुलिप्रकारास्तुल्य एव इति शार्ङ्गोक्तमितम् । एकस्वरोत्पादकं^४ रन्ध्राणि संनिधौ संनिकर्षे व्यवधौ विप्रकर्षे वा समाननादानि भवन्तीति शाङ्गदेव आह । मानहीन-

^१ रेपां (D). ^२ देवो (D). ^३ मुद्रितायां (A). ^४ स्वरोत्पादकानि (A).

मिति । यद्वन्ध्रमुक्तं प्रमाणहीनं गर्भरन्ध्रं वा, यत्रोक्तप्रमाणहीनैः रन्ध्रैः सजातीयैः समानस्वरोत्पादकैरपि स्वरभङ्गतः^१ तत्र मिलन्ति, समाननादा न भवन्तीत्यर्थः । मिलनं समाननादत्वं प्रसिद्धमेव लोके । इदानीमन्यथा वंशान् लक्षयितुमाह—चतुर्दशेति । चतुर्दशादीनां वंशानामेकवीरपर्यन्तं मुद्रिते उत्तरोत्तरे वंशे पूर्वपूर्वस्मात् मुद्रितरन्ध्रात् वंशात् यथा एकैकस्वराधिक्यं जायते । तथा तादृशीं इमां वंशस्वरपरचनं शिवानुग्रहशुद्धधीः शाङ्गदेवः समाचष्टे । एषा वंशपद्धतिः शाङ्गविद्येत्यभिधीयते । अङ्गुलमिति । अत्र प्रकरणे षड्यवप्रमाणमङ्गुलं ज्ञातव्यम् ॥ ६०७-६१८ ॥

एकवीरे दण्डमानं सपादद्वादशाङ्गुलम् ॥ ६१८ ॥
यवार्धेनाधिकं तस्य शिरोन्तौ द्व्यङ्गुलौ पृथक् ।
मुखरन्ध्रेऽङ्गुलं मानं तारादौ सुषिराष्टके ॥ ६१९ ॥
प्रत्येकमङ्गुलदलं तेषां त्वन्तरसप्तके ।
यवद्वयं पृथङ्मानमुक्तं श्रीशाङ्गसूरिणा ॥ ६२० ॥
सर्वैर्वंशेषु तारस्य मुखरन्ध्रस्य चान्तरे ।
एकवीरादिसंज्ञाभिर्विज्ञेयाङ्गुलसंमितिः ॥ ६२१ ॥
उमापती त्रिपुरुषे चैकैकाङ्गुलवर्धितम् ।
दण्डमानं परं लक्ष्म त्वेकवीरवदिष्यते ॥ ६२२ ॥
चतुर्मुखे दण्डमानं पादन्यूनयवाधिकैः ।
अङ्गुलैः पञ्चदशभिः सार्धैरस्यान्तरेषु तु ॥ ६२३ ॥
सपादद्वित्रयी मानं पृथगन्यत्तु पूर्ववत् ।
सपादैः सप्तदशभिः पादन्यूनयवाधिकैः ॥ ६२४ ॥
अङ्गुलैर्दण्डमानं स्यात् पञ्चवक्त्रेऽन्तरेषु तु ।

षोडशांशाधिका मानं पादोन^१त्रियवी पृथक् ॥ ६२५ ॥
शेषं तु पूर्ववद् दण्डे षण्मुखस्य तु संमितिः ।
युक्ता यवेन सार्धेनाष्टमांश^२सहितेन च ॥ ६२६ ॥
एकोनावशतिः प्रोक्ताङ्गुलानामन्तरेषु तु ।
यवस्य सार्ध^३पादाभ्यां युक्तमर्धाङ्गुलं पृथक् ॥ ६२७ ॥
पूर्वा^४क्तमपरं लक्ष्म दण्डे तु स्यान्मितिर्मुनेः ।
अङ्गुलैरेकविंशत्या सार्धपाद^५द्वयाधिकैः ॥ ६२८ ॥
यवस्य चाष्टमांशेन सपादेन समन्वितैः ।
सपादयवपादेन द्वात्रिंशांशयुतेन च ॥ ६२९ ॥
युक्तमन्तरमानं स्यात् पृथक्पादोनमङ्गुलम् ।
शेषं तु पूर्ववल्लक्ष्म ज्ञेयं वंशे^६ वसौ पुनः ॥ ६३० ॥
अष्टमांशविहीनेन यवेनाधिकया भवेत् ।
चतुर्विंशत्यङ्गुलानां चरणन्यूनया मितिः ॥ ६३१ ॥
पृथगष्ट सु रन्ध्रेषु सपादत्रियवी मितिः ।
प्रत्येकमन्तरालेषु साष्टमांशयवाधिकम् ॥ ६३२ ॥
पादोनमङ्गुलं मानमपरं लक्ष्म पूर्ववत् ।
सपादयवसंयुक्ताङ्गुलर्षाड्दशतिर्भवेत् ॥ ६३३ ॥
मानं^७ नागेन्द्रदण्डस्यान्तरालेषु तु सप्तसु ।
अष्टमांशाधिकं मानमङ्गुलं पूर्ववत् परम् ॥ ६३४ ॥
यवाष्टमांशसहिता सार्धाष्टाविंशतिर्मता ।
अङ्गुलानां दण्डमानं महानन्देऽन्तरेषु तु ॥ ६३५ ॥

^१ भङ्गं यान्ति तत्र (B). ^२ रन्ध्रेषु (D). ^३ पादा (D).

^४ त्रियवी (D). ^५ रहितेन I ed. ^६ भावाभ्यां (D). ^७ पूर्वोक्ते तु (D). ^८ पादै द्वयाधिकैः (D). ^९ त्वसौ (D). ^{१०} नाथेन्द्र I ed.

सपादमङ्गुलं सार्धयवपादाधिकं पृथक् ।
 प्राग्वत् परं रुद्रदण्डं त्वङ्गुलानां यवाधिका ॥ ६३६ ॥
 एकत्रिंशन्मिता मानस्य सार्धयवत्रया ।
 प्रत्येकमष्टरन्ध्री स्यादन्तरालेषु सप्तसु ॥ ६३७ ॥
 सार्धाङ्गुलं पृथङ्मानं पूर्वोक्तं शेषमिष्यते ।
 दण्डस्य मानमादित्ये स्याच्च त्रिंशदङ्गुलम् ॥ ६३८ ॥
 यवेन च सपादेन द्वात्रिंशंशयुजाधिकम् ।
 द्वात्रिंशंशेनपादाभ्यां यवस्य सहितं पृथक् ॥ ६३९ ॥
 पादोनमङ्गुलद्वन्द्वं मानमन्तरसप्तके ।
 प्राग्वत् परं विश्वमूर्तौ स्यात् सप्तत्रिंशदङ्गुलम् ॥ ६४० ॥
 दण्डमानं युतं सार्धयवपादद्वयेन च ।
 प्रत्येकमन्तरालेषु त्वङ्गुलद्वितयं मतम् ॥ ६४१ ॥
 यवस्य सार्धपादेनाभ्यधिकं पूर्ववत् परम् ।
 दण्डो यवाष्टमांशेन सपादेन समन्वितैः ॥ ६४२ ॥
 चतुश्चत्वारिंशता स्यादङ्गुलैः संमितो मनोः ।
 सार्धाङ्गुलद्वयमितौ शिरःप्राप्तौ मतौ पृथक् ॥ ६४३ ॥
 सार्धेन षोडशांशेन यवस्याभ्यधिकंस्त्रिभिः ।
 पादोनैरङ्गुलैर्मानमन्तरालेषु सप्तसु ॥ ६४४ ॥
 पूर्वोक्तं लक्षणं शेषमवोक्तं करणाप्रणीः ।
 खानिः सर्वेषु वंशेषु कनिष्ठामध्यपर्वणा ॥ ६४५ ॥
 मूलेन संमिता कार्येत्युक्तं सोढलसूनुना ।

सर्वमन्यत्तु वंशानां देशीशास्त्रभुवां समम् ॥ ६४६ ॥
 एकवीरादयोऽत्रापि त्रयः प्राग्वन्न संमताः ।

(सु०) एकवीर इति । एकवीरवंशस्य दण्डः यवा[ध्री?]धिक-
 सपादद्वादशाङ्गुलः । शिरःप्राप्तौ पृथक् द्व्यङ्गुली । मुखरन्ध्रमङ्गुल-
 प्रमाणम् । तारादीन्यष्टरन्ध्राणि अर्धाङ्गुलानि । रन्ध्रान्तरालानि
 यवद्वयमितानि इति सर्ववंशेषु मुखरन्ध्रस्य ताररन्ध्रस्य च अन्तरे अङ्गुल-
 परिमाणं एकवीरादिसंज्ञाभिरेव विज्ञेयम् । उमापतिप्रिपुषयोः एकैका-
 ङ्गुलवधितो दण्डः । अपरं तु एकवीरवत् । चतुर्मुख इति । चतुर्थांश-
 न्यूनयवाधिकसार्धपञ्चदशाङ्गुलो दण्डः । रन्ध्राणि सपादयवद्वयमितानि ।
 सपादैरिति । पादन्यूनयवाधिकसपादसप्तदशाङ्गुलो दण्डः पञ्चवक्त्रस्य ।
 षोडशांशाधिकपादोनयववयमितान्यन्तरालानि । शेषं तु पूर्ववत् । दण्ड
 इति । सार्धयवाधिकाष्टमांशसहितैकोनविंशत्यङ्गुलो दण्डः षण्मुखस्य ।
 यवस्य सार्धपादद्वयाधिकाधर्धाङ्गुलमितान्यन्तरालानि । अपरं लक्ष्म
 पूर्वोक्तम् । दण्डे त्विति । सपादयवाष्टमांशसहितसार्धपादद्वयाधिकैकवि-
 शत्यङ्गुलो दण्डो मुनिवंशस्य ज्ञान्यः । सचतुर्थांशयवपादसहितद्वात्रि-
 शत्तमांशाधिकपादोनाङ्गुलप्रमाणान्यन्तरालानि । शेषं तु पूर्ववल्लक्ष्म ।
 वंशे इति । वसौ वंशे वसु नामनि वंशे अष्टमांशन्यूनयवाधिकपादोन-
 चतुर्विंशत्यङ्गुलो दण्डः । रन्ध्राण्यष्टौ पृथक् सपादयवत्रयमितानि ।
 अन्तरालानि प्रत्येकं अष्टमांशयुक्तयवाधिकपादोनाङ्गुलप्रमाणानि । अपरं
 लक्ष्म पूर्ववत् । सपादेति । सचतुर्थांशयवाधिकषड्विंशत्यङ्गुलो दण्डो
 नागेन्द्रस्य ; अन्तरालेषु सप्तसु अष्टमांशधिकमङ्गुलं मानं । परमन्यत्पूर्व-
 वत् । यवाष्टमांशेति । यवस्याष्टमांशाधिकसार्धाष्टाविंशत्यङ्गुलो दण्डो
 महानन्दस्य । सार्धयवपादाधिकसपादाङ्गुलमितान्यन्तरालानि । परं
 प्रग्वत् । रुद्रदण्ड इति । यवाधिकान्येकत्रिंशदङ्गुलानि प्रमाणम् । अष्ट-

¹ ग. दन्तरेषु तु fin. I ed. ² च. तुविंश fin. I ed. ³ द्वाविंशां (D).

⁴ मितौ (D).

¹ नागेन्द्र I ed.

रन्धाणां मानं साधस्त्रियो यवाः । पृथक् साधाङ्गुलप्रमाणमन्तरालम् ।
पूर्वोक्तं शेषमिष्यते । दण्डस्येति । सपादयवाधिकद्वात्रिंशत्तमांशसहित-
चतुस्त्रिंशदङ्गुलो दण्डः आदित्यवंशस्य । द्वात्रिंशान्यूनयवपादद्वया-
धिकं पादोनाङ्गुलद्वयप्रमाणान्यन्तरालानि । प्राग्वत् परम् । विश्व-
मूर्ताविति । साधयवपादद्वयाधिकसप्तत्रिंशदङ्गुलो दण्डः । साधयव-
पादाधिकाङ्गुलद्वयप्रमाणान्यन्तरालानि । पूर्ववत् परं ज्ञातव्यः । दण्ड
इति । सपादयवाष्टमांशाधिकचतुश्चत्वारिंशदङ्गुलो दण्डो मनुवंशस्य ।
शिरःप्रान्तौ साधाङ्गुलद्वयप्रमाणौ मितौ पृथक् । मनौ यवस्य साधषोडशा-
धिकपादोनव्यङ्गुलानि सप्तान्तरालाति । खानिः गर्भरन्ध्रं सर्ववंशेषु
कनिष्ठमध्यपर्वमूलमितमिति । अन्यत् सर्वं लक्षणं देशीशास्त्रसंभतानां
वंशानां समानम् । एकवीरादय इति । एकवीरादयस्त्रयो वंशा अत्रापि
वंशपद्धतौ प्राग्वद् २रत्यादिहीनत्वेन नाभिमताः ॥ -६१८-६४७- ॥

धातून् वृत्तित्रयं तत्त्वानुगतौघांश्च यान् पुरा ॥ ६४७ ॥

वाद्यान्याश्रावणादीनि वीणायां यान्यवादिषम् ।

गेयं श्रुतिस्वरग्राममूर्च्छनादि च यन्मतम् ॥ ६४८ ॥

तत्सर्वं वंशवाद्येऽत्र विशेषेणोपदर्शयेत् ।

वंशवीणाशरीराणि त्रयोऽमी स्वरहेतवः ॥ ६४९ ॥

ललितो मधुरः स्निग्धस्तेषु वंशः प्रशस्यते ।

(क०) वीणायामिव वंशेऽपि धात्वादयः कर्तव्या
इत्याह—धातून्त्यादि ॥ -६४७-६५०- ॥

(सु०) धातूनि । धातून्, ३विस्तारादीन्; वृत्तित्रयम्, चित्रादि-
वृत्तित्रयम्, तत्त्वादीनि वाद्यानि, आश्रावणादीनि शुष्कवाद्यानि च मया

^१ द्वात्रिंश [?] (B).

^२ वृत्त्यादि (A).

^३ विस्तरादीन् (A).

यानि वीणायामवादिषम् उक्तवानस्मि, यच्च गेयं श्रुतिस्वरग्राममूर्च्छनादि
स्वराध्याये श्रुतं, तत्सर्वं वंशवाद्ये विशेषेण दर्शयेत् । वंशेति । वंशः, वीणा,
शरीरं च अमी त्रयः स्वरानुपादयन्ति । ललितः, मधुरः, स्निग्ध इति ।
तेषु लालित्यमाधुर्येस्नेहस्वभावाद्द्वंशः श्रेष्ठः ॥ -६४७-६५०- ॥

वंशवीणाशरीराणामेकीभावेन यो ध्वनिः ॥ ६५० ॥

तत्र रक्तिविशेषस्य प्रमाणं विबुधा विदुः ।

अध्वन्यानां प्रवासेषु कामिनो^१ निर्जितेषु च ॥ ६५१ ॥

शोकार्तेषु प्रयुञ्जीत मृदुमध्यलयध्वनिम् ।

वंशं प्रयुञ्जीत शृङ्गारे हुतादिललितध्वनिम् ॥ ६५२ ॥

कम्पितस्फुरितध्वानं वंशं द्रुतलयाश्रयम् ।

क्रोधाभिमानयोः कुर्यान्मतङ्गेनेति कीर्तितम् ॥ ६५३ ॥

(क०) वंशवीणाशरीरमेलनोत्पन्नस्य ध्वने रक्ति स्तौति
—प्रमाणं विबुधा विदुरिति । वंशस्य विनियोगं दर्शयति—
अध्वन्यानामित्यादिना ॥ -६५०-६५३ ॥

(सु०) ननु कथं माधुर्यादिविशेषो ज्ञातुं शक्यते? तत्राह—
वंशेति । वंशादीनामेकीभावेन समुदायेन यो ध्वनिः जायते तत्र २रञ्जक-
विशेषेण परिमाणं मुञ्जा जानन्ति । अध्वन्यानामिति । पान्यानां प्रवासे,
स्त्रीनिर्जितेषु पुरुषेषु, दुःखितेषु च मन्द्रमध्यलयनादं वंशं प्रयुञ्जीत
वाद्येत् । द्रुतललितध्वनिं शृङ्गारे, कम्पितस्फुरितनादं द्रुतलयाश्रयं च
वंशं क्रोधाभिमानयोः प्रयुञ्जीतित्युक्तं मतङ्गाचार्येण ॥ -६५०-६५३ ॥

^१ ख. च. नीगजितेषु fn. I ed.

^२ रक्तिविशेषपरिमाणं (A).

^३ मध्यनादं प्रयुञ्जीत (B).

स्निग्धता घनता रक्तिर्व्यक्तिः प्रचुरता ध्वनेः ।
लालित्यं कोमलत्वं च नादानुरणनं तथा ॥ ६५४ ॥
त्रिस्थानत्वं श्रावकत्वं माधुर्यं सावधानता ।
द्वादशेति गुणाः प्रोक्ता फूत्कारे सूरिशार्ङ्गिणा ॥ ६५५ ॥
तत्र शब्दगुणेष्वेवैकादश प्रोक्तलक्षणाः ।
*फूत्कारैः सावधानत्वं न्यूनताधिक्यवर्जनम् ॥ ६५६ ॥

(क०) अथ फूत्कारस्य गुणानाह—स्निग्धतेत्यादि ।
तत्र शब्दगुणेष्वेवैकादश प्रोक्तलक्षणा इति । तत्र द्वादशगुणेषु मध्ये,
एकादश सावधानताव्यतिरिक्ताः स्निग्धतादय एकादश गुणाः ।
शब्दगुणेष्वेवेति प्रकीर्णकाध्याये मृष्टादयः पञ्चदशगुणा उक्ताः
(श्लो. ६८, ६९ तृतीये प्रकीर्णकाध्याये) । तत्रैव प्रोक्तलक्षणा
द्रष्टव्याः । प्रोक्तलक्षणं च शरीरस्य वंशस्य च शब्दस्यैकरूपता-
संपादनादिति भावः । सावधानतां लक्षयति—^१फूत्कारैरिति ।
अत्र फूत्कारशब्देन मुखरन्ध्रजनितः शब्द उच्यते ॥ ६५४-६५६ ॥

इति द्वादश फूत्कारगुणाः

(गु०) फूत्कारगुणानाह—स्निग्धतेति । स्निग्धता स्नेहः,
घनता, अन्तःसारत्वम्; रक्तिः, रञ्जकत्वम्; व्यक्तिः, प्राकट्यम्;
प्रचुरता, बाहुल्यम्; लालित्यम्, लावण्यमिवाङ्गनामु, वैदग्ध्यं प्रसिद्धम्;
कोमलत्वम्, सौकुमार्यम्; अनुरणनम्, प्रतिशब्दः; त्रिस्थानत्वम्,
स्थानत्रय^२व्याप्तिः; श्रावकत्वम्, श्रोतॄणां सुखकरत्वम्; माधुर्यम्,
मधुरता; सावधानत्वम्, अवहितत्वम्; एते द्वादश फूत्कारगुणाः । ^३तत्र

^१ करणं (D). * फूत्कार इति पाठोऽत्र टीकानुरोधेन युक्तः fin. I ed.
फूत्कृतेः I ed. फूत्कारः (D). ^२ फूत्कृतेरिति I ed. ^३ प्राप्तिः (B).
^४ तथा (A), (B).

एकादश शब्दगुणेषु लक्षिताः । सावधानत्वं लक्षयति—फूत्कारैरिति
॥ ६५४-६५६ ॥

इति द्वादश फूत्कारगुणाः

फूत्कारो यमलः स्तोकः कुशः स्थलित इत्यामी ।
फूत्कारदोषा^१ यमलं ब्रुवते प्रतिफूत्कृतिम् ॥ ६५७ ॥
एवमन्वर्थेनामत्वाग्नोच्यते लक्षणं पृथक् ।
^२कम्पितस्तुम्बकी काकी संदंष्टश्चाव्यवस्थितः ॥ ६५८ ॥
पञ्चेति फूत्कृतेर्दोषानपराणूचिरे परे ।
यः^३ कफोपहृताद् वक्त्राद् विस्वरः स्फुरितो भवेत् ॥ ६५९ ॥
^४कम्पितोऽसौ तुम्बध्वानप्रायः प्रोक्तस्तु तुम्बकी ।
तारन्यूनतया काकस्वरः काकीति कथ्यते ॥ ६६० ॥
अल्पः संदंष्टवद्भाति योऽसौ संदंष्ट उच्यते ।
ऊनोऽधिको वा यो रुक्षः कथ्यते सोऽव्यवस्थितः ॥ ६६१ ॥
कण्ठस्य गुणदोषा ये पुरोक्तास्तेषु केचन ।
फूत्कारेऽपि यथायोगं योजनीया मनीषिभिः ॥ ६६२ ॥

इति दश फूत्कारदोषाः

(क०) अथ फूत्कारदोषानाह—फूत्कार इत्यादि ।
मतान्तरेणान्यानिपि दोषानाह—^५कम्पित इत्यादि । ^{१०}कफोपहृतात्
श्लेष्मणा निबद्धात् । ^{११}तुम्बध्वानप्रायः; ^{१२}तुम्ब इत्यनुकरण-

^१ दोषो (D). ^२ कपिलस्तु I ed. ^३ संदंष्टोऽव्यव्यव (D).
^४ कम्पित (D). ^५ स्फुरितो I ed. ^६ कपिलो I ed. ^७ तुमु (D).
^८ न. वायुरु । घ. वा यो भूयः क fin. I ed. ^९ कपिल I ed. ^{१०} कम्पित (D).
^{११} ऊनध्वान (C). ^{१२} उद्धु इव (C).

शब्दः, 'तुम्बध्वानः', तेन प्रचुर इत्यर्थः । 'तुमु' इत्यपि पाठो दृश्यते, सोऽप्यनुकरणशब्दः । तारन्यूनतयेति । तारस्थाने श्रुतिहीनत्वेनेत्यर्थः । संदष्टवदल्प इति । यथा लोके संदष्ट 'मुपदेशादिकं कतिपयावयवशून्यमल्पं दृश्यते, तथा फूत्कारोऽप्यल्पतया संदष्टवत् संदष्ट उच्यते । कण्ठस्येति । शरीरस्य ध्वनेः गुणाः मृष्टादयः, दोषा रूपादयः ॥ ६५७-६६२ ॥

इति वक्ष फूत्कारदोषाः

(मु०) फूत्कारदोषानाह—फूत्कार इति । फूत्कारे चत्वारो दोषाः—यमलः, स्तोकः, कृशः, स्खलित इति । तत्र फूत्कारान्तरेण फूत्कृति-पूरणं प्रतिफूत्कृतिः यमल इत्युच्यते । अन्ये त्रयः साधार्यकनामधेयाः । स्तोकः, स्थूलोऽपि स्थानप्राप्त्यसमर्थः । कृशः, स्थानप्राप्तिसमर्थोऽपि तनीयान् । स्खलितः, मध्ये मध्ये स्थगित इति । मतान्तरमाह—कम्पित इति । कम्पितादीन् पञ्च दोषान् केचिदाहुः । तेषां लक्षणमाह—य इति । यः कफोपहृतात् श्लेष्मोपहृताद् वक्त्रात् विकृतः स्फुरितः यो ध्वनिर्जायते स कम्पितः (१) ; तुम्बनादसदृशः तुम्बकी (२) ; तारप्राप्तिरहितः काक-सदृशः स्वरः काकी (३) ; स्वल्पः संदष्ट इव प्रतीयते स संदष्टः (४) ; यस्तु कदाचिदूनः कदाचिदधिको रूक्षः स्वरः प्रतीयते सोऽव्यवस्थितः (५) ; कण्ठस्येति । ये गुणदोषाः प्रकीर्णकाध्याये कण्ठस्योक्ताः ; तेऽपि यथासंभवं योजनीयाः (श्लो. ६८-८१, ८३-८५ तृतीये प्रकीर्णकाध्याये) ॥ ६५७-६६२ ॥

इति वक्ष फूत्कारदोषाः

अङ्गुलीसारणाभ्यासः सुस्थानत्वं सुरागता ।

सुराग^१व्यक्तिर्माधुर्यान्वितः वेगाद् गतागते ॥ ६६३ ॥

गीतवादनदक्षत्वं गातृणां तानदायिता^२ ।

तद्दोषाच्छादनं मार्गदेशीरागेषु कौशलम् ॥ ६६४ ॥

स्वस्थानवदपस्थाने रागोद्भूतिप्रगल्भता ।

वांशिकस्य गुणानेतान् वक्ति श्रीकरणाग्रणीः ॥ ६६५ ॥

इति वांशिकगुणाः

(क०) अथ वांशिकगुणानाह—अङ्गुलीसारणाभ्यास इत्यादि । वेगाद् गतागते^३ सुरागव्यक्तिर्माधुर्यान्वितेति । गत-मारोहः, आगतमवरोहः, आरोहावरोहयोः वेगकृतयोरपि सुराग-व्यक्तिर्माधुर्यान्वितत्वं गुण इत्यर्थः । गातृणां तानदायितेति । गातृभिः गातुमिष्यमाणस्य तानस्य तत्तद्वागानुगुण्येन प्रथमं प्रदर्शनम् । स्थानदायितेति पाठे तु स्थानानि मन्द्रमध्यताराणि, तेषां प्रदर्शनम् । तद्दोषाच्छादनमिति । तेषां गातृणां दोषाः संदष्टत्वादयः पूर्वोक्ताः पञ्चविंशतिः, (श्लो. २५-३८ तृतीये प्रकीर्णकाध्याये) तेषामाच्छादनम् । यथा श्रोतॄणां रागभङ्गो न भवति, तथा तद्दोषतिरोधानं वांशिकः कुर्यादित्यर्थः । स्वस्थानव-दपस्थाने रागोत्पत्तिप्रगल्भतेति । स्वस्थानानि पूर्वोक्तानि मुख-चालनादीनि चत्वारि (श्लो. १६०-१६६ तृतीये प्रकीर्णकाध्याये)

^१ व्यक्ति (मां?) I ed.

^२ ग. वेगायता गतेः fin. I ed. वेगाध्या

गतेः (D). * स्थानदायिता I ed. (मु).

* तानदायितेति टीकानुरोधी

पाठोऽत्र युक्तः, स च नोपलभ्यते fin. I ed.

^३ गतान् रागव्यक्ति (C).

^४ व्यक्तिर्मा I ed.

^१ उच्छृङ्खला (C).

^२ उमु (C).

^३ मुपदेशादिकं I ed.

^४ व्याप्ति

(A). ^५ काकीयः (A).

ततोऽतिरिक्तानि स्वरस्थानान्यपस्थानान्युच्यन्ते । अत्र यद्यपि स्वस्थान एव रागाभिव्यक्तिर्भवति, नापस्थाने; तथापि वांशिकः स्वप्रगल्भतया अपस्थानेऽपि स्वस्थानवद्रागमुत्पादयति चेत्, स तस्य गुणः ॥ ६६३-६६५ ॥

इति वांशिकगुणाः

(सु०) वांशिकगुणानाह—अङ्गुलीति । अङ्गुली^१सारणे पिधानमोचनादौ अभ्यासः, मुख्यान्वयम्, सम्यक्स्थानप्राप्तिः; सुरागता, यथोक्तरागाभिव्यक्तिमाधुर्यान्विता, तद्वेगात् गतागतिः वेगाज्जनिः, प्रबन्धवादाने शक्तिः, गायकानां स्थानप्रदायित्वं, गायकदोषाच्छादनं, सर्वरागपरिज्ञानं स्वस्थानवदपस्थानेऽपि रागोद्भवशक्तत्वमेते वांशिकस्य गुणाः ॥ ६६३-६६५ ॥

इति वांशिकगुणाः

मिथ्याप्रयोगबाहुल्यमेतद्गुणविपर्ययः ।

इष्टस्थानानवाप्तिश्च शिरसः कम्पनं तथा ॥ ६६६ ॥

वांशिकस्येति दोषाः स्युर्वर्जनीयाः प्रयत्नतः ।

इति वांशिकदोषाः

(क०) अथ वांशिकदोषानाह—मिथ्याप्रयोगेत्यादि ।

मिथ्याप्रयोगेऽस्थाने गमकालापः । यथोक्तं प्राक्—

‘आलापो गमकालप्तिरक्षरैर्वर्जिता मता ।

सैव प्रयोगशब्देन शाङ्गदेवेन शब्दिता ॥’ इति ।

(श्लो. -३६०, ३६१- चतुर्थे प्रबन्धाध्याये)

^१ निःसारणे (A).

^२ गायिका (A).

तस्य बाहुल्यं प्रचरता । एतद्गुणविपर्यय इति ।
एतेषामङ्गुली^१सारणाभ्यासादीनां गुणानां विपर्ययोऽन्यथाभावः
॥ ६६६, ६६७- ॥

इति वांशिकदोषाः

(सु०) वांशिकदोषानाह—मिथ्येति । मिथ्यारञ्जका ये प्रयोगाः पूर्वोक्तगुणव्यत्यासाः ॥ ६६६, ६६७- ॥

इति वांशिकदोषाः

एकः स्याद् वांशिको मुख्यश्चत्वारोऽस्यानुयायिनः ॥ ६६७
वांशिकानामिति प्रायस्तज्जैर्बृन्दं निगद्यते ।

इति वांशिकबृन्दम्

(क०) अथ वांशिकानां बृन्दमाह—एकः स्यादित्यादि
॥ -६६७, ६६८- ॥

इति वांशिकबृन्दम्

(सु०) अथ वांशिकानां बृन्दमाह—एक इति । एको मुख्यो वांशिकः, चत्वारः तदनुगताः; एतद्वांशिकं बृन्दम् ॥ ६६७, ६६८- ॥

इति वांशिकबृन्दम्

अधुना मुग्धबोधार्थमुदाहरणमात्रतः ॥ ६६८ ॥

वंशे देशोत्थरागाणां केषांचिद् वादनं ब्रूये ।

(क०) किनर्यामिव वंशेऽपि केषांचिद्देशीरागाणां वादनक्रमं दर्शयितुमाह—अधुनेत्यादि ॥ ६६८, ६६९- ॥

^१ सरणाभ्यासा I cd.

(सु०) अशुनेति । अज्ञपरिज्ञानार्थं देशीरागाणां केषांचित्
दृष्टान्तत्वेन वादनं कथयामि ॥ -६६८, ६६९- ॥

मध्यमं स्थायिनं कृत्वा तृतीये कम्पिते स्वरं ॥ ६६९ ॥
विलम्बिते द्वितीयेऽथ स्थायिनि न्यस्त्यते यदा ।
स्वस्थानं प्रथमं प्रोक्तं मध्यमादेस्तदा बुधेः ॥ ६७० ॥
तृतीयकम्पनादूर्ध्वं चतुर्थं पञ्चमं ततः ।
तुर्यस्वरं द्वितीयं च कृत्वा न्यासो ग्रहे यदा ॥ ६७१ ॥
तदा द्वितीयं स्वस्थानं शाङ्गदेवेन कीर्तितम् ।
चतुर्थस्वरमाहृत्य स्थायिनं तत्परं ततः ॥ ६७२ ॥
समुच्चार्य स्वरं तुर्यं पञ्चमं तु विलम्ब्य च ।
षष्ठं च पञ्चमं कृत्वा द्वितीयं च ग्रहे यदा ॥ ६७३ ॥
न्यासस्तदा तृतीयं स्यात् स्वस्थानमिति तद्विदः ।
ग्रहद्वितीयतुर्याश्च पञ्चमं सप्तमं ततः ॥ ६७४ ॥
कृत्वाषष्ठं विलम्ब्याथ द्वितीयं तत्परं ततः ।
द्वितीयं सप्तमं कृत्वा पञ्चमं च चतुर्थकम् ॥ ६७५ ॥
द्वितीयं च ग्रहे न्यासः स्वस्थानं तुर्यमिष्यते ।
दृश्यते मध्यमादेस्तु ग्रहो वंशेषु मुद्रितः ॥ ६७६ ॥

इति मध्यमादिः

(क०) तत्र तावन्मध्यमादेर्वीरानक्रमं दर्शयति—मध्यम-
मित्यादि । स्थायिनं कृत्वा ग्रहं कृत्वा । तृतीय इति अत्र
मध्यमोदाहरणक्रमेण तृतीयो धैवतः, तस्यात्र विवादित्वात् वादनं

क्रियमाणे रागहानिर्भवत्येव । अतः तं विहाय तदुत्तरो निषादोऽत्र
तृतीयत्वेन ग्राह्य इति मन्तव्यम् । यथैवं तथा पूर्वोक्तम्—

“असंभवे पूर्वपूर्वस्वरस्य तु परं परम् ॥

क्रमेण स्वरमारोहेत् सर्वरागेष्विति स्थितिः ।”

(श्लो. -३३३, ३३४- अत्रैव)

इति । वर्ज्यत्वेनासंभव इति पूर्वमेवोक्तं, व्याख्यातं च । तस्मात्
तृतीये स्वरे निषादे कम्पिते सति, द्वितीये पञ्चमे विलम्बिते सति
स्थायिनि मध्यमे यदा न्यस्त्यते, तदा मध्यमादेः प्रथमं स्वस्थानं
प्रोक्तम् । तृतीयकम्पनादिति । तृतीयस्य निषादस्य कम्पनं कृत्वा,
ऊर्ध्वमनन्तरं चतुर्थं तं निषादमेव । ननु एकस्यैव निषादस्य
तृतीयत्वं च, चतुर्थत्वं च कथमिति चेत्, उच्यते—तस्य तृतीयत्वं
लक्षणया आश्रितम् । चतुर्थत्वं तु मुख्यमेव । नहि गौणमुख्य-
व्यवहारयोरेकत्र विरोधो दृष्टः । यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र
गङ्गाशब्देन तटो लक्ष्यत इति तस्य तटशब्दवाच्यत्वं न हीयते ।
तद्वदन्नापीति न दोषः । ^१लक्षणवाक्येऽपि लक्षणावृत्त्याश्रयणे संनि-
हितस्वर इवासंनिहितस्वरेण संसृज्य प्रयोगः प्रयोजनं द्रष्टव्यम् ।
एवं लक्ष्यानुसारेण देश्यां सर्वत्र लक्ष्यविरोधि शास्त्रमन्यथा नेयम् ।
पञ्चममिति । षड्जमित्यर्थः । ततः षड्जानन्तरं तुर्यस्वरं निषा-
दम् । द्वितीयं पञ्चमस्वरं च कृत्वा वादयित्वा, यदा ग्रहे मध्यमे
न्यासः क्रियते, तदा द्वितीयं स्वस्थानं कीर्तितम् । ^२चतुर्थस्वर-
माहृत्येति । निषादमाहृत्य गमकयुक्तं कृत्वा, ततः स्थायिनं

^१ ग. माहृत्य च । च. मागत्य fin. I ed.

^२ ग. ग्रहं तृतीय fin. I ed.

^३ विदुः (D).

^१ ख. लक्षणावाक्ये fin. I ed.

^२ ग. प्रयोजनं I ed.

^३ चतुर्थ

स्वरमाह (C).

^४ स्वरमाह तस्य गमक (C). स्वरमाहृत्य (D).

मध्यमं तत्परं पञ्चमं च समुच्चार्य, तुर्यं निषादम् । पञ्चमं तु षड्जं विलम्ब्य च । पञ्चमं षष्ठमिति । ऋषभस्यात्र विवादित्वात् परं गान्धारमित्यर्थः । पञ्चमं षड्जम्, द्वितीयं पञ्चमस्वरं च कृत्वा ग्रहे मध्यमे न्यासः तदा तृतीयं स्वस्थानं भवति । ग्रहद्वितीय-तुर्याश्चेति । मध्यमपञ्चमनिषादानित्यर्थः । ततः पञ्चमं षड्जमित्यर्थः । सप्तमं गान्धारमित्यर्थः । एतान् कृत्वा, अथ अष्टमं तारस्थितं मध्यममित्यर्थः । पञ्चमं चतुर्थं द्वितीयं चेति । सन्निपानित्यर्थः । ग्रहे मध्यमे न्यास इत्यनेनात्रापि वंशप्रकरणे^१ स्थायिग्रहशब्दयोरेकार्थत्वं द्रष्टव्यम् । एवं स्थायिनि मध्यमे न्यासः कृतश्चेत्, चतुर्थं स्वस्थानमिष्यते । दृश्यते मध्यमादेस्तु ग्रहो वंशेषु मुद्रित इति । वंशेष्विति बहुवचनेन अष्टादशाङ्गुलादिषु तत्तन्मतोक्तलक्षणेषु यस्मिन् वंशे यो मुद्रितः स्वरो भवति, यथाष्टादशाङ्गुले वंशे सप्तसु स्वररन्ध्रेषु मुद्रितेषु षड्जो जायते स तत्र मुद्रित उच्यते; कलानिधौ वंशे मन्द्रपञ्चमो मुद्रितः स्वरो; तथा मनौ वंशे मन्द्रगान्धारो मुद्रित इति । यस्मिन् वंशे मध्यमादि-रागः क्रियते तस्मिन् वंशे यो मुद्रितः स्वरो; स एव मध्यमादेर्ग्रहो दृश्यत इत्यनेन लक्ष्यत इति गम्यते । उत्तरत्रापि मुद्रितो ग्रह इति यत्र वक्ष्यते तत्रैवं द्रष्टव्यम् ॥ -६६६-६७६ ॥

इति मध्यमादिः

(मु०) तत्र मध्यमादेर्वादनं कथयति—मध्यममिति । मध्यम-स्वरं स्थायिनं मुख्यं गीत्वा ततस्तृतीयस्वरं ध्रुवते कम्पिते सति, द्वितीये पञ्चमे

एवमेव विलम्ब्य गीते स्थायिनि मध्यमे समाप्तिः, इदं मध्यमादिरागस्य प्रथमं स्वस्थानम् । तृतीयं [धं] कम्पयित्वा, चतुर्थपञ्चमचतुर्थद्वितीयान् [निसन्निपान्] गीत्वा ग्रहे [मे] समाप्तिः द्वितीयं स्वस्थानम् । चतुर्थस्वरमा-हृत्य [निमाहृत्य गमकयुक्तं कृत्वा] ताडितं गीत्वा स्थायिनं तत्परं द्वितीय-मुच्चार्य, [पमुच्चार्य] तुर्यपञ्चमौ [निसौ] विलम्ब्य षष्ठपञ्चमद्वितीयान् [रिसपान्] गीत्वा ग्रहे [मे] समाप्तिः तृतीयं स्वस्थानम् । ग्रहद्वितीयचतुर्थ-पञ्चमसप्तमान् [मपनिसगान्] गीत्वा, अष्टमं [मं] च विलम्ब्य, द्वितीय-तृतीयद्वितीयसप्तमपञ्चमचतुर्थद्वितीयगानानन्तरं [पधपग सन्निपान्] गीत्वा ग्रहे [मे] समाप्तिः चतुर्थं स्वस्थानम् । लोके मध्यमादेः ग्रहस्वरो मुद्रितो दृश्यते ॥ -६६६-६७६ ॥

इति मध्यमादिः

षड्जे^१ ग्रहे ममाहृत्य षड्जं कृत्वा हतौ रिमौ ।
पमान्दोत्य प्रकम्प्यापि पमगान् द्विः प्रयुज्य च ॥६७७॥
आन्दोत्य मं प्रकम्प्यापि लघुषड्जं विधाय च ।
कम्पयित्वा रिमौ द्वित्रान्^२ वारानावर्त्य षड्जगौ ॥६७८॥
स्थायिन्यासाद् भवेदाद्यं स्वस्थानं मालवश्रियः ।
आद्यस्वस्थानविधिना विधाय स्वरपञ्चकम् ॥ ६७९ ॥
नि विलम्बावरोही चेत् पूर्वः स्वस्थानगः कृतः ।
तदा द्वितीयं स्वस्थानमास्थितं रागवेदिभिः ॥ ६८० ॥
कृत्वा द्वितीयं स्वस्थानं धान्तमान्दोत्य सप्तमम् ।
आहृत्य च द्वितीयस्य स्वस्थानस्यावरोहणम् ॥ ६८१ ॥
कृतं यत्र तृतीयं तत् स्वस्थानमुदितं बुधैः ।
आहृत्य मं द्विगुणसं कृत्वा रिं तत्परं ततः ॥ ६८२ ॥

^१ ख. प्रकरणस्यापि ग्र fi. I ed.

^१ षड्जग्रहंशमागल्य (D).

^२ स्वरा (D).

तं सं प्रोच्य निमाहृत्य विलम्ब्य पुनरप्यमुम् ।
 कृत्वा तृतीयं स्वस्थानावरोही क्रियते यदा ॥ ६८३ ॥
 तदा चतुर्थं स्वस्थानमाख्यातं मालवश्रियः ।
 षड्जोऽन्यो वा स्वरो वंशे ग्रहोऽस्या मुद्रितः स्वरः ॥ ६८४ ॥
 प्रकल्प्य तस्य षड्जत्वं परेषामृषभादिताम् ।
 लक्ष्मेदं योजयेत् सर्वमित्युक्तं सूरिशार्ङ्गणा ॥ ६८५ ॥
 इति मालवश्रीः

(क०) अथ मालवश्रियः स्वस्थानानि कथयति—
 षड्जे ग्रह इत्यादि । षड्जे ग्रहे सतीति । अनेन स्वरान्तरस्यापि
 लक्ष्यानुसारेण ग्रहत्वमभ्युपगन्तव्यमिति गम्यते । अतो यदा षड्जो
 ग्रहो भवति स्थायी भवति । तदा षड्जापेक्षया यो मो मध्यमः
 तमाहृत्य । एवमन्येऽपि स्वराः षड्जापेक्षयोन्नेयाः । इममेवार्थं
 ग्रन्थकारः स्वयमेवाह—षड्जोऽन्यो वेत्यादिना । अत्रापि मध्य-
 मादिवत् मुद्रितस्वर एव स्थायी भवति ॥ ६७७-६८५ ॥

इति मालवश्रीः

(मु०) अथ मालवश्रियः उत्पत्तिप्रकारमाह—षड्ज इति । षड्जे
 ग्रहस्वरे कृते सति इमं ग्रहस्वरमाहृत्य मं मध्यमस्वरमाहृत्य, ताडितं गीत्वा
 ततः षड्जमुच्चार्य, रिमौ, ऋषभमध्यमौ आहतौ ताडितौ, पम्, पञ्चम-
 मान्दोल्य, पमगान् पञ्चममध्यमगान्धारान् प्रकम्प्य प्रकटं द्विवारं गीत्वा,
 मं मध्यममान्दोल्य कम्पयित्वा, षड्जं लघु विधाय शीघ्रं गीत्वा, रिमौ,
 ऋषभमध्यमौ कम्पितौ गीत्वा, षड्जगौ, षड्जगान्धारौ द्विविवारानावर्त्य,
 स्थायिनि समाप्तौ प्रथमं स्वस्थानं भवति । प्रथमस्वस्थानप्रकारेण पञ्च

¹ मृषभादिता (D).

² दर्शयति I ed.

स्वरान् गीत्वा, निषादं विलम्ब्य अवरोहेण पूर्वं स्वस्थानं क्रियते चेत्,
 तदा द्वितीयं स्वस्थानं भवति । पुनश्च धैवतपर्यन्तं कृत्वा, सप्तमं [नि]
 स्वरमान्दोल्य ताडयित्वा च द्वितीयस्य स्वस्थानस्य अवरोहेण कृते सति
 तृतीयं स्वस्थानम् । आहृत्य मं मध्यमेनाहृत्य [द्विगुणसं कृत्वा सं द्विगुण
 मुच्चार्य] तत्परमृषभं कृत्वा, तमेव सं प्रोच्य समुच्चार्य नि निषादमाहृत्य
 पुनरमुं निषादं विलम्ब्य, विलम्बितं गीत्वा तृतीयं स्वस्थानमवरोहेण क्रियते
 चेत् । तदा चतुर्थं स्वस्थानम् षड्ज इति । षड्जो वा अन्यो वा मुद्रितः
 स्वरः वंशे ग्रहे स्यात्, तस्य वंश इव षड्जं प्रकल्प्य अन्येषामृषभादिवत्
 कल्पयित्वा पूर्वोक्तं लक्षणं योजयेत् ॥ ६७७-६८५ ॥

इति मालवश्रीः

स्थायिनं मध्यमं कृत्वा कम्पयित्वा परं स्वरम् ।
 तुर्यं विलम्ब्य कृत्वा च तृतीयं तं द्रुताहतम् ॥ ६८६ ॥
 विधाय तं पुनः प्रोच्य ग्रहन्यासेन जायते ।
 स्वस्थानं प्रथमं तोड्याः प्रोक्तं मुनिवरैरिति ॥ ६८७ ॥
 प्राक्स्वस्थानवदारुह्य पञ्चमादवरुह्याते ।
 स्थायिस्वरान्तं यत्रादः³ स्वस्थानं स्यात् तृतीयकम् ॥ ६८८ ॥
 प्राग्वदाषष्ठमारोहावरोही च ग्रहावधिः ।
 अस्यास्तृतीयं स्वस्थाने चतुर्थं त्वष्टमावधौ ॥ ६८९ ॥
 आरोहिण्यवरोही स्यात् पूर्ववत् तद्विदां मतः ।
 मुद्रितस्तु ग्रहः प्रोक्तो लक्ष्ये स्याल्लक्ष्मेर्वेदिभिः ॥ ६९० ॥

इति तोडो

¹ धैवतं (A).

² द्विगुणमुच्चारितं कृत्वा (A).

³ यत्रादि (D).

⁴ लक्ष्यकोविदेः (D).

(क०) इतः परं तोडद्यादीनां स्वस्थानानि ग्रन्थत एव सुबोधानि ॥ ६८६-६९० ॥

इति तोडी

(मु०) अथ तोडीमाह—स्थायिनमिति । स्थायिनं मध्यमं गीत्वा तत्परं पञ्चमं स्वरं कम्पयित्वा, चतुर्थं [नि] विलम्बितं गीत्वा, तृतीय-मुच्चार्य [धं] तृतीयं त्वाहत् ^१वेगेन ताडितं कृत्वा तमेव [धं] पुनरुच्चार्य ग्रहे [मे] समाप्ती तोडीरागस्य प्रथमं स्वस्थानम् । पूर्वस्य स्थानप्रकारेण आ पञ्चमात्तु पञ्चमपर्यन्तमारोह्य स्थायिस्वरपर्यन्तमारोहणं यत् अदः इदं द्वितीयं स्वस्थानम् । पूर्ववत् आपष्टस्वरपर्यन्तमारोहः, ग्रहस्वरपर्यन्तमारोहश्च तृतीयं स्वस्थानम् । अष्टमस्वरपर्यन्तमारोहः, पूर्ववद् ग्रहस्वरपर्यन्तमारोहश्च चतुर्थं स्वस्थानम् । अन्यस्तु लक्ष्यवेदिभिः लक्ष्ये मुद्रितस्वरः ग्रहः प्रोक्तः ॥ ६८६-६९० ॥

इति तोडी

मध्यमं ग्रहमास्थाय प्राञ्चं प्रोच्य ततो ग्रहम् ।
^२सद्वितीयं कम्पयित्वा तृतीयं सचतुर्थकम् ॥ ६९१ ॥
 लघुकृत्य तृतीयं चोच्चार्याहित्य च तं ततः ।
 प्राचीनं स्वरमुच्चार्य स्थायिनि न्यस्यते यदा ॥ ६९२ ॥
 भवेद् बङ्गालरागस्य स्वस्थानं प्रथमं तदा ।
 आरोही पञ्चमान्तः स्यात् स्वस्थानेऽस्य द्वितीयके ॥ ६९३ ॥
 सप्तमान्तस्तृतीयं स्यात् तुर्यं स्यादष्टमावधि ।
 प्राक्प्राग्वदवरोही स्यात् स्वस्थानं तूत्तरोत्तरम् ॥ ६९४ ॥

लक्ष्ये ^१तु सर्ववंशस्थो द्वितीयोऽस्य ग्रहो मतः ।

इति बङ्गालः

(क०) तत्र बङ्गालरागे—लक्ष्ये ^२तु सर्ववंशस्थो द्वितीयोऽस्य ग्रह इति । षड्जादिषु ^३मध्यमो मुद्रितस्वरो भवति । तदपेक्षया द्वितीयऋषभादिरत्र स्थायी भवति । सोऽपि द्वितीयो-ऽन्तिमरन्ध्रद्वये मुक्ते सति जायत इति पूर्वमेवोक्तम् । उत्तरत्रापि भैरवादौ द्वितीयोऽस्य स्वरः स्थायीत्येवमादिषु मुक्तान्त्यरन्ध्र-द्वयस्वरः स्थायी कर्तव्य इति वेदितव्यम् ॥ ६९१-६९५ ॥

इति बङ्गालः

(मु०) अथ बङ्गालमाह—मध्यममिति । मध्यमं ग्रहस्वरं विधाय प्राच्यं पूर्वस्वरमुच्चार्य, ततो ग्रहं सद्वितीयस्वरं कम्पितं गीत्वा, तृतीयचतुर्थौ लघुकृत्य शीघ्रमुच्चार्य तमेव तृतीयं चोच्चार्य ताडयित्वा च तं पूर्वस्वर-मुच्चार्य, स्थायिनि [मे] समाप्ती बङ्गालरागस्य प्रथमं स्वस्थानं भवति । पञ्चमपर्यन्तमारोहणं द्वितीयं स्वस्थानम् । सप्तमपर्यन्तमारोहणं तृतीयं स्वस्थानम् । ^४अष्टमस्वरपर्यन्तमारोहणं चतुर्थं स्वस्थानमिति । अवरो-हस्तु उत्तरोत्तरं स्वस्थाने पूर्वपूर्वस्वस्थानवत् । लक्ष्ये द्वितीयस्वरोऽस्य ^५ग्रहः ॥ ६९१-६९५ ॥

इति बङ्गालः

धैवतं स्थायिनं कृत्वा प्राञ्चं तं च तृतीयकम् ॥ ६९५ ॥
 पुनः प्राञ्चं विधाय कम्पयित्वा तृतीयकम् ।
 विलम्ब्य चाहत् कृत्वा द्वित्रिवारं द्वितीयकम् ॥ ६९६ ॥

^१ संकोचं (A).

^२ तृतीयं कम्पयित्वा (D).

^३ तरे (D).

^४ लक्ष्येषु (D).

^५ लक्ष्येषु (C).

^६ मध्ययोर्मुद्रि I ed.

^७ अष्टम-

पर्यन्तं (B).

^८ अपरो ग्रहः (A).

ग्रहे न्यासाद् भैरवस्य स्वस्थानं प्रथमं भवेत् ।

द्वितीये पञ्चमान्तः स्यादारोहोऽथ तृतीयके ॥ ६६७ ॥

षष्ठान्तः सप्तमान्तो वा चतुर्थे त्वष्टमावधिः ।

परं परेऽवरोही स्यात् स्वस्थाने पूर्वपूर्ववत् ॥ ६६८ ॥

द्वितीयोऽत्र स्वरः स्थायी सर्ववंशेषु दृश्यते ।

इति भैरवः

(मु०) अथ भैरवं लक्षयति—**धैवतमिति** । धैवतं स्थायिनं ।^१ कृत्वा पर्वस्थायी तृतीयपूर्ववृत्त्याय तृतीयं कम्पितं विलम्बितं च गीत्वा, द्वितीयस्वरं द्विस्त्रिस्वर्याच ग्रहे स्वरं समाप्तौ भैरवरागायत्य प्रथमं स्वस्थानम् । पञ्चमपर्यन्तमारोहो द्वितीयं स्वस्थानम् । षष्ठपर्यन्तं सप्तमपर्यन्तं वा आरोहो तृतीयं स्वस्थानम् । अष्टमपर्यन्तमारोहणं चतुर्थं स्वस्थानम् । उत्तरोत्तरं स्वस्थाने ५ पूर्वपूर्वद्वयोर्हणम् ॥ -६६५-६६६- ॥

हुति भैरवः

स्थायिनं द्विगुणं षड्जं कृत्वार्धं वादयेत् ^२ततः ॥ ६६६ ॥

^३पूर्वं ग्रहं द्वितीयं च तृतीयमथ वादयेत् ।

अथ द्वितीयमागत्य न्यस्यते स्थायिनि स्वरे ॥ ७०० ॥

यदा वराट्याः स्वस्थानं प्रथमं जायते तदा ।

इह भैरववत् कार्यं स्वस्था^५नत्रितयं परम् ॥ ७०१ ॥

स्वस्थानप्रक्रियैवैष ज्ञेया रागान्तरेष्वपि ।

द्वितीयोऽस्याः स्वारो लक्ष्ये ग्रहत्वेनोप^६लक्ष्यते ॥ ७०२ ॥

इति वराटो

¹ गीत्वा (B). ² च्च तम् (D). ³ पूर्वग्रहे (D). ⁴ हृत्य (D).

⁵ नं प्रथमं (D). ⁶ ग. लभ्यते fn. I ed.

(क०) वराटद्याम्-स्थायिनं द्विगुणं षड्जमिति मध्यमं
षड्जं तारषड्जं वेत्यर्थः । तयोः पूर्वपूर्वापेक्षया द्विगुणत्वसंभवात् ।
अर्थं द्वयर्थं, स्थायिनश्चतुर्थस्वरमित्यर्थः ॥ -६६६-७०२ ॥

इति वराटी

(मु०) अथ वराटीमाह—स्थायिनमिति । वराटीरागस्य द्विगुण-
मुच्चारितं **षड्जं** स्थायिनं विधाय, तमपेक्षंवरं कृत्वा ततः विस्तृतं
वादेयेत् । ततः पूर्वं **ग्रहं** स्थायिद्वितीयतृतीया वादनीयाः । ततः द्वितीयं
प्राप्य स्थायिनि न्यासे वराटचाः प्रथमं स्वस्थानम् । अन्यत् स्वस्थानवित्तयं
रेवमवलक्ष्यम् । स्वस्थानप्रक्रिया रागान्तरंरपि एषैव ज्ञेया । अस्याः
द्वितीयस्वरो लक्ष्ये ग्रहत्वे नोपलक्ष्यते । —६६६-७०२- ।

इति वराटी

ऋषभे स्थायिनि प्राञ्चं कम्पयित्वार्धमस्य च ।

कृत्वा ग्रहं द्वितीयं च तृतीयं तदधः स्वरम् ॥ ७०३ ॥

ग्रहमेत्य ततः पाञ्चं प्रकम्प्योक्तवार्धमस्य च ।

ग्रहे न्यासेन गुर्जर्याः स्वस्थानं प्रथमं भवेत् ॥ ७०४ ॥

तृतीयो दृश्यते प्रायो ग्रहोऽस्यां लक्ष्यगोचरे ।

इति गर्जरी

(क०) गुर्जर्याम्—तृतीयो दृश्यते प्रायो ग्रहोऽस्यां लक्ष्य-
गोचर इति । अत्रापि मुद्रितस्वरात् तृतीयो ग्राह्यः । सोऽप्य-
न्तिमरन्ध्रवर्त्यमोचनात् जायत इति पूर्वमुक्तम् । उत्तरत्र वसन्ता-
दिष्वप्येवं द्रष्टव्यम् ॥ ७०३-७०५- ॥

इति गुजैरी

¹ ततो विस्तारजं (B).

(मु०) अथ गुर्जरीमाह—ऋषभ इति । ऋषभे स्थायिनि कृते सति, प्राञ्चं पूर्वस्वरं कम्पितं गीत्वा, अन्ये अस्यैवार्धमुच्चार्य ग्रहेद्वितीयः तृतीयः ग्रहश्च गेयः^१ । ततः पूर्वं कम्पितमर्धमुच्चार्य ग्रहे समाप्तौ गुर्जर्याः प्रथमं स्वस्थानम् । अन्यत् स्वस्थानत्वं पूर्ववत्, वारटीवत् लक्ष्यगोचरे प्रायः तृतीयः दृश्यते ॥ ७०३-७०५- ॥

इति गुर्जरी

षड्जे ग्रहे द्वितीयं च तृतीयं सकृदाहतम् ॥ ७०५ ॥
वेगात् कृत्वा^२च तुर्यं च तृतीयं तदधस्तनम् ।
उक्त्वा तृतीयतुर्यौ च तृतीयं तदधस्तनम् ॥ ७०६ ॥
ग्रहे न्यासो वसन्तस्य स्वस्थाने प्रथमे भवेत् ।
तृतीयस्त्वस्य वंशेषु^३ स्थायित्वेनोपलभ्यते ॥ ७०७ ॥

इति वसन्तः

(मु०) अथ वसन्तमाह—षड्ज इति । षड्जे स्थायिनि कृते सित, द्वितीयतृतीयौ ताडितौ सकृदा शीघ्रमुच्चार्य तावेवं गीत्वा, चतुर्थतृतीयद्वितीयानन्तरं [तृतीयतुर्यौ तृतीयं तदधस्तनं द्वितीयं च उक्त्वा] ग्रहस्वरे समाप्तौ वसन्तस्य प्रथमं स्वस्थानम् । अन्ये तु पूर्ववत् । वंशेषु अस्य रागस्य तृतीयः स्थायित्वेन ग्रहत्वेन उपलभ्यते ॥ ७०५-७०७ ॥

इति वसन्तः

स्थायिनि^४ द्विगुणे षड्जे तदर्थं लघु वादयेत् ।
ततस्तत्सकृदाहत्य ग्रहे तस्मात् तृतीयकम् ॥ ७०८ ॥
तुर्यं चोक्त्वा तृतीयं च सकृदाहत्य तत्परम् ।
द्रुतं कृत्वा पञ्चमं तु विलम्ब्यास्मादधस्तनौ ॥ ७०९ ॥

^१ ग्रहाः गेयाः (B). ^२ तुरीयं (D). ^३ वंशस्य (D). ^४ नं
द्विगुणं षड्जं (D).

लघूकृत्य ग्रहे न्यासः स्वस्थाने प्रथमे^१ भवेत् ।

धन्नास्या दृश्यते वंशे स्याद् द्वितीयस्वरो ग्रहः ॥ ७१० ॥

इति धन्नासी

(मु०) अथ धन्नासीमाह—स्थायिनीति । स्थायिनि द्विगुणं षड्जस्थायिनि कृत्वा तस्यार्धं शीघ्रं वादयेत् । ततस्तदर्थं सकृदाहत्य, ग्रहे^२तृतीयतुर्यानुच्चार्य ग्रहं [तृतीयं?] सकृत्ताडयित्वा, द्वितीयमाशूच्चार्य पञ्चमं विलम्ब्य तृतीयतुर्यौ शीघ्रं गीत्वा ग्रहे समाप्तौ धन्नास्याः प्रथमं स्वस्थानम् । वंशे धन्नास्याः द्वितीयस्वरो ग्रहो दृश्यते ॥ ७०८-७१० ॥

इति धन्नासी

तमेव स्थायिनि कृत्वा द्वितीयं वादयेद् द्रुतम् ।

लघू ग्रहद्वितीयो च कृत्वा ताभ्यां परं स्वरम् ॥ ७११ ॥

विलम्ब्य स्फुरितं तु द्विविदध्यात् पञ्चमं ततः ।

अधरांस्त्रौन् क्रमादुक्त्वा स्थायिनि न्यस्यते यदा ॥ ७१२ ॥

देश्यास्तदाद्यं स्वस्थानं द्वितीयोऽस्या ग्रहो जने ।

इति देशी

(मु०) अथ देशीमाह—तमेवेति । षड्जं स्थायिनि विधाय द्वितीयं शीघ्रं वादयेत् । तत आरोहः । ग्रहद्वितीयो लाघवेनोच्चार्य तत्परं तृतीयं स्वरं विलम्बितं गीत्वा, पञ्चमं द्विःस्फुरितं कुर्यात् । अधरान् अधःस्थितान् त्रौन् क्रमादुच्चार्य, स्थायिनि यदा समाप्यते तदा देशीरागस्य प्रथमं स्वस्थानम् । अस्याः जने लक्ष्ये द्वितीयो ग्रहः ॥ ७११-७१३- ॥

इति देशी

^१ मो (D). ^२ षड्जं (A). ^३ द्वितीयतुर्यानुच्चार्य (A). ^४ धना-
श्रीरागस्य (B). ^५ धनाश्री (B).

गान्धारे स्थायिनि प्रोच्य द्वितीयं च तृतीयकम् ॥ ७१३ ॥
 तुर्पं विलम्ब्य तत्प्राञ्चं कृत्वा स्पृष्ट्वा द्वितीयकम् ।
 दीर्घाकृत्य तृतीयं चोक्त्वा द्वितीयं ग्रहस्वरे ॥ ७१४ ॥
 न्यासो यदा स्यात् स्वस्थानं देशाख्यायास्तदादिमम् ।
 मुद्रितोऽस्या ग्रहो वंशे लक्ष्यते लक्ष्यवेदिभिः ॥ ७१५ ॥

इति देशाख्या

इति रागाङ्गानि^१

(सु०) अथ देशाख्यामाह—गान्धार इति । गान्धारस्वरे स्थायिनि सति द्वितीयमुक्त्वा, तृतीयं तुर्पं च विलम्ब्य तृतीयं गीत्वा द्वितीयं सकृदुच्चार्य तृतीयं दीर्घं विधाय, द्वितीयानन्तरं ग्रहे समाप्तौ देशाख्यायाः प्रथमं स्वस्थानम् । लक्ष्यवेदिभिः । वंशे अस्याः मुद्रितः ग्रहः लक्ष्य-वेदिभिः लक्ष्यते ॥ ७१३-७१५ ॥

इति देशाख्या

इति रागाङ्गानि

ग्रहं द्विगुणसं कृत्वा पूर्वं स्पृष्ट्वा तृतीयकम् ।
 कृत्वा स्पृष्ट्वा ग्रहं प्रोच्य तत्परं स्फुरितौ^२ भवेत् ॥ ७१६ ॥
 द्विस्त्रिर्वा ग्रहतत्पूर्वो न्यस्यते कम्पिते ग्रहे ।
 यदा डोम्ब^३क्रियः प्रोक्तं स्वस्थानं प्रथमं तदा ॥ ७१७ ॥
 सा भूपाली श्रुता लोके द्वितीयं ग्रहमाश्रिता ।

इति डोम्बक्रीः^४

(लोके प्रसिद्धा भूपाली)

^१ रागाङ्गानि (णि) I ed.

^२ वदेत् I ed.

^३ कृतेः (D).

^४ कृतिः (D).

(सु०) अथ डोम्बक्रीमाह—ग्रहमिति । द्विगुणसं द्विगुणं षड्जग्रहं विधाय पूर्वं तृतीयकं सकृद्गीत्वा, तृतीयानन्तरं ग्रहं स्पृष्ट्वा^१ ईषदुच्चार्य, ततोऽनन्तरं, ग्रहं उदीर्य च तत्परं तद् द्वि-स्फुरितं विधाय ग्रहं तत्पूर्वं द्विस्त्रिर्वा विधाय कम्पिते ग्रहे समाप्तौ डोम्बक्रियायाः प्रथमं स्वस्थानम् । इयमेव लोके भूपालीत्युच्यते । द्वितीयश्च ग्रहः ॥ ७१६-७१८ ॥

इति डोम्बक्रीः

(लोके प्रसिद्धा भूपाली)

धैवते स्थायितां नीते द्विरुच्चार्य परं लघुम् ॥ ७१८ ॥
 तं चाथ^२ प्राञ्चमस्यार्धं पूर्वं पूर्वं विधाय तम् ।
 विलम्ब्य कम्पयित्वा^३ तस्याहत्य^४ च तन्मुहुः ॥ ७१९ ॥
 पूर्वं प्रकम्प्य तस्यार्धं दीर्घाकृत्य ग्रहं^५ व्रजेत् ।
 अथो^६ऽर्धंप्रतिरौ पूर्वग्रहौ कृत्वा द्वितीयकम् ॥ ७२० ॥
 प्रोच्य स्पृष्ट्वा ग्रहं तस्मात् परं प्रोच्य प्रकम्प्य तु ।
 तृतीयं ग्रहपाश्चात्यग्रहौ तूच्चारयेन्मुहुः ॥ ७२१ ॥
 ततस्तृतीयमाकम्प्य विलम्ब्य तदधस्तनम् ।
 ईषद्वि^७रम्य स्पृष्ट्वा च द्वितीयं न्यस्यते ग्रहे ॥ ७२२ ॥
 यदा तदाद्यं स्वस्थानं वेलावल्याः प्रकीर्तितम् ।
 तृतीयग्रहता त्वस्या दृश्यते^८ वंशगोचरे ॥ ७२३ ॥

इति वेलावली

(सु०) अथ वेलावलीमाह—धैवत इति । धैवतं स्थायिनं कृत्वा^९ परं द्वितीयं स्वरं लाघवेन द्विरुच्चार्य, तं च स्थायिनमुच्चार्य तस्य प्राञ्चं

^१ अर्धषड्जमुच्चार्य (A).

^२ पञ्च (D).

^३ चतुर्मुहुः (D).

^४ भवेत् (D).

^५ ऽर्धं प्रतिरौ म् (D).

^६ रुच्य (D).

^७ लक्ष्य (D).

^८ अपरं (A).

प्राच्यं पूर्वपूर्वमर्धं कृत्वा, ^१तम् स्थायिनं विलम्बितं गीत्वा, तस्यैव स्थायि-
नोऽर्धं [गं] कम्पयित्वा, तत्पुनरारोहेण गीत्वा पूर्वस्वरं कम्पयित्वा, तस्यार्धं
दीर्घं विधाय ^२ग्रहमागच्छेत् । ततोऽ^३र्धोच्चारितो ग्रहाधस्तनस्वरो विधाय,
^४द्वितीयमुक्त्वा ग्रहमल्पं ^५[गं] गीत्वा ईषदुक्त्वा तृतीयकम्पनान्तरं
ग्रहं तदधस्तनं वा सकृदुच्चारयेत् । ततस्तृतीयस्वरं कम्पयित्वा तदधस्तनं
द्वितीयं विलम्बं च गीत्वा ^६ईषद्विरम्य द्वितीयस्पर्शान्तरं ग्रहे समाप्तौ
बेलावल्याः प्रथमं स्वस्थानम् । वंशगोचरे त्वस्याः तृतीयग्रहता दृश्यते
॥ -७१८-७२३ ॥

इति बेलावली

पञ्चमं ग्रहमास्थायारोहिणा पञ्चमं ततः ।
गत्वा विलम्ब्य तं तस्मादधरं द्रुततां नयेत् ॥ ७२४ ॥
ततोऽधःस्थं द्राघयित्वा स्पृष्ट्वा च द्राघितात् परम् ।
तत्परं दीर्घतां नीत्वा पुनः प्रोच्यावरोहिणा^७ ॥ ७२५ ॥
तस्मादेत्य ग्रहण्यासे स्वस्थानं प्रथमं भवेत् ।
रागे प्रथममञ्जरी द्वितीयोऽस्या^८ ग्रहो जने ॥ ७२६ ॥

इति प्रथममञ्जरी

(मु०) अथ प्रथममञ्जरीमाह—पञ्चममिति । पञ्चमं ग्रहस्वरं
कृत्वा, आरोहेण पञ्चमपर्यन्तं प्राप्य तं पञ्चमं विलम्ब्य तस्मादधःस्थित-
स्वरं शीघ्रं गीत्वा ततोऽधःस्थितं च दीर्घं गीत्वा द्राघितात् परमोषत्संस्पृश्य,

^१ अन्ते (A). ^२ ग्रह परामगमेत् (B). ^३ र्धोच्चारितो ग्रहोऽधस्तन-
ग्रहस्वरं विधाय (A). ^४ द्वितीयं मुक्त्वा (B). ^५ गान्धाराद्विग्रह-
मुक्त्वा (A). ^६ ऋषभाद्विश्रम्य (A). ^७ रोहिणि (D). ^८ ग्रहे (D).

ततः परं द्राघयित्वा पुनरुच्चार्य अवरोहिणा वर्णनं ग्रहपर्यन्तप्राप्तौ प्रथम-
मञ्जर्याः प्रथमं स्वस्थानम् । अस्या जने द्वितीयः ग्रहः ॥ ७२४-७२६ ॥

इति प्रथममञ्जरी

स्थायि^१नोऽर्धात् समारुह्य तृतीयादि^२चतुःस्वरीम् ।
कम्पयित्वा विलम्ब्यापि ^३षष्ठतुर्यं विधाय च ॥ ७२७ ॥
एत्य पञ्चममेतस्माद् ग्रहान्तमवरुह्य च ।
ग्रहाग्रं ग्रहपूर्वं च गत्वा स्पृष्ट्वा ग्रहं ततः ॥ ७२८ ॥
द्वितीयं कम्पितं कृत्वा तृतीयं स्फुरितं ततः ।
स्थायिनि न्यस्यते यत्र स्वस्थानं स्यात् तदादिमम् ॥ ७२९ ॥
^४आदिकामोदि^५कायाः^६ स्याद् द्वितीयग्रहता^७ जने ।

इत्यादि^८कामोदी

(मु०) अथादिकामोदिकामाह—^९स्थायिन इति । ध्रुवं स्थायिनं
कृत्वा, ततस्तृतीयमारभ्य स्वरचतुष्टयमारोहेण गीत्वा, षष्ठं स्वरं कम्पितं
विलम्बितं च विधाय, चतुर्थं गीत्वा, पञ्चममेत्य एतस्माद् ग्रहपर्यन्त-
मवरुह्य, ग्रहस्वरस्य पूर्वार्धं तत्पूर्वं च स्वरं प्राप्य, ग्रहस्वरं स्पृष्ट्वा द्वितीयं
कम्पितं कृत्वा तृतीयस्फुरणानन्तरं स्थायिनि समाप्तौ आद्यं स्वस्थानम् ।
अस्या द्वितीयग्रहता जने ॥ ७२७-७३०-॥

इत्यादिकामोदिका^{१०}

स्थायिनि द्विगुणे षड्जे द्विराहत्य तृतीयकम् ॥ ७३० ॥

^१ ध. नोऽधः समा fn. I ed. ^२ स्तु सुस्वरम् (D). ^३ षष्ठं (D).
^४ आडीका I ed. ^५ काया सा (D). ^६ ख. सा द्विती fn. I ed.
^७ भागजने (D). ^८ इत्यादीकामो I ed. ^९ स्थायिनो धात्वमारुह्य (मु०).
^{१०} इत्यादिकामोदा (A).

त्रिश्चतुर्वा ततः स्पृष्ट्वा ग्रहं पूर्वमुदीर्य च ।
कम्पिते स्थायिनि न्यासात् स्वस्थानं प्रथमं भवेत् ॥ ७३१ ॥
रागे शुद्धवराट्या^१ सा द्वितीयस्थायिका जने ।

इति शुद्धवराटी

(मु०) अथ शुद्धवराटीमाह—स्थायिनीति । द्विगुणे षड्जे
द्विरुच्चारिते विधाय तृतीयमारुह्य, त्रिवारं चतुर्वारं वा गीत्वा ग्रहस्पर्श-
नन्तरं पूर्वमुच्चार्य, कम्पिते स्थायिनि समाप्तौ शुद्धवराट्याः प्रथमं
स्वस्थानम् । अस्या जने द्वितीयस्थायिका ॥ -७३०-७३२- ॥

इति शुद्धवराटी

तमेव स्थायिनं कृत्वा तं तदर्थं^२ द्विराहतम् ॥ ७३२ ॥
द्विस्त्रिर्वाक्त्वाथ द्वितीयं कम्पयित्वा विलम्ब्य च ।
आहत्य द्विश्चतुर्वास्मात् परं कृत्वा लघुं ग्रहम् ॥ ७३३ ॥
उक्त्वा ग्रहाद्यं^३ पूर्वं तु दीर्घोक्त्य ग्रहे यदा ।
न्यस्यते शुद्धनट्टायाः^४ स्वस्थानं प्रथमं तदा^५ ॥ ७३४ ॥
वंशेष्वस्यामपि प्रायो द्वितीयो दृश्यते ग्रहः ।

इति शुद्धनट्टा

इति भाषाङ्गानि^७

(मु०) अथ शुद्धनट्टामाह—तमेवेति । तमेव षड्जं स्थायिनं
विधाय तस्यार्धं^८ द्विस्त्रिर्वा आद्यात् अर्धस्वरमुच्चार्य, ग्रहात्^९ द्वितीयं

^१ वराट्यांशा (D).

^२ तदर्थं स्थिताहतं (D).

^३ ख. ग. घ. ङ.

स्थिराहतम् fn. I ed.

^४ ग्रहाद्यं पूर्वं (D).

^५ यां (D).

^६ तथा (D).

^७ गि I ed.

^८ स्थिराद्यात् (A). द्विस्त्रिरुच्चार्यं (B).

^९ तृतीयं (B).

कम्पयित्वा विलम्बयेत् । अथ^१ अस्मात् परं द्विश्चतुर्वा ताडयित्वा ग्रहं
लाघवेनोच्चार्य ग्रहपूर्वार्धोच्चारणानन्तरं दीर्घोक्ते, ग्रहे समाप्तौ शुद्ध-
नट्टायाः प्रथमं स्वस्थानम् । वंशेषु अस्यामपि प्रायः द्वितीयो ग्रहो दृश्यते
॥ -७३२-७३५- ॥

इति शुद्धनट्टा

इति भाषाङ्गानि

^२ ग्रहं द्विगुणसं प्रोच्य तदर्थं च द्वितीयकम् ॥ ७३५ ॥

विलम्बिते तृतीयेऽथ^३ द्वितीयं द्रुततां नयेत् ।

ग्रहाद्यं च स्थिरीभूय कम्पयित्वा ग्रहं ततः ॥ ७३६ ॥

परौ स्वरौ द्रुतीकृत्य लघूकृत्य परं ग्रहे ।

न्यासे कृते रामकृतेः स्वस्थानं प्रथमं भवेत् ॥ ७३७ ॥

द्वितीयस्वरमेवास्या वंशे वीक्षामहे ग्रहम् ।

इति रामक्रीः^४

(मु०) अथ रामक्रियमाह—ग्रह इति । द्विगुणं षड्जं ग्रहं गीत्वा,
तस्यार्धं^५ द्वितीयं च स्वरमुच्चार्य तृतीयं विलम्ब्य द्वितीयं शीघ्रं गायेत् ।
ततः स्थिरे ग्रहाद्यंगानानन्तरं ग्रहं प्रकम्प्य परौ ग्रहात्, द्वितीयतृतीयौ
स्वरावाशूच्चार्य, परं च तुर्यं लाघवेन गीत्वा ग्रहे समाप्तौ रामक्रियाया
आद्यं स्वस्थानं भवति । वंशे अस्या द्वितीयस्वरमेव ग्रहं वीक्षामहे
॥ -७३५-७३८- ॥

इति रामक्रीः

तस्मिन्नेव ग्रहे कृत्वा^६ द्वितीयं च तृतीयकम् ॥ ७३८ ॥

^१ अस्याद्यं अन्त्यात्परं द्वि (B).

^२ ग्रहे (D).

^३ च (D).

^४ कृतिः (D).

^५ तृतीयं च द्विती I ed.

ग्रहार्धं द्रुतमुच्चार्य स्पृष्ट्वा पूर्वं ग्रहस्य च ।
 अर्धं प्रोच्य विरम्याथ पूर्वं स्पृष्ट्वा तृतीयकम् ॥ ७३६ ॥
 लघूकृत्य लघोः पूर्वौ स्पृष्ट्वाथ स्थायिनः परौ ।
 लघूकृत्य द्रुतं कृत्वा द्वितीयं न्यस्यते ग्रहे ॥ ७४० ॥
 यदा तदा गौडकृतेर्भवेत् स्वस्थानमादिभम् ।
 द्वितीयोऽस्यामपि प्रायो ग्रहो लक्ष्येषु दृश्यते ॥ ७४१ ॥
 इति गौडक्रीः^३

(सु०) अथ गौडक्रियामाह—तस्मिन्निति । द्विगुणे षड्जे ग्रहे कृते सति, द्वितीयतृतीयौ गीत्वा ग्रहस्यार्धं श्रोत्रं गीत्वा, पूर्वस्पर्शात् अनन्तरं ^१ग्रहार्धोच्चारणे विश्रम्य पूर्वं किञ्चिद् गीत्वा, तृतीयं लाघवेनोच्चार्य तत्पूर्व-स्वरद्वयं स्पृष्ट्वा, स्थायिनः परौ द्वौ स्वरो लघूकृत्य, द्रुतद्वितीयानन्तरं ग्रहे समाप्तौ गौडक्रियाया आद्यं स्वस्थानं भवति । अस्यामपि प्रायः लक्ष्येषु द्वितीयो ग्रहो दृश्यते ॥ -७३६-७४१ ॥

इति गौडक्रीः

धैवते^१ स्थायिनि^२ प्राञ्चं ग्रहं ग्रहतृतीयकम् ।
 तुर्यं कृत्वा तमाहृत्य द्वितीयं कम्पयेत् ततः ॥ ७४२ ॥
 अवरुह्य तृतीयादिक्रमेण चतुरः स्वरान् ।
 ग्रहन्यासाद् देवकृतेराद्यं स्वस्थानमादिशेत् ॥ ७४३ ॥
 तृतीयग्रहतां^३ त्वस्याः पश्यामो^४ वंशगोचरे ।

इति देवक्रीः^५

इति क्रियाङ्गानि^{१०}

^१ लभ्याय (D). ^२ स्वरो (D). ^३ कृतिः (D). ^४ ग्रहार्धस्वरे
 विश्रम्य (B). ^५ धैवतं (D). ^६ स्थायिनः (D). ^७ ग्रहता (D).
^८ लक्ष्यगो (D). ^९ कृतिः (D). ^{१०} णि I ed.

(सु०) अथ देवक्रियामाह—धैवतं इति । धैवते ग्रहे कृते सति प्राञ्चं ग्रहं ^१पूर्वग्रहे तृतीयचतुर्थानुच्चार्य, आरोहेण द्वितीयं ^२कम्पयित्वा, अवरोहेण तृतीयादीन् चतुःस्वरान् क्रमेण गीत्वा, ग्रहे समाप्तौ देव^३क्रियाया आद्यं स्वस्थानं भवति । वंशगोचरे [लक्ष्ये] त्वस्याः तृतीयः ग्रहः इति पश्यामः ॥ ७४२-७४४- ॥

इति देवक्रीः

इति क्रियाङ्गानि

धैवतं ग्रहमास्थाय तृतीयादवरुह्य च ॥ ७४४ ॥
 स्वरत्रयं विरम्याथ ग्रहं परमथ ग्रहम् ।
 पूर्वं कृत्वा तमाहृत्य ग्रहन्यासेन जायते ॥ ७४५ ॥
 स्वस्थानमाद्यं भैरव्यास्तृतीयोऽस्या ग्रहो जने ।

इति भैरवी

(सु०) अथ भैरवीमाह—धैवतमिति । धैवते ग्रहे कृते सति, पूर्वं तृतीयादवरुह्य त्रीन् स्वरान् क्षणमात्रं विरम्य, ग्रहद्वितीयग्रहतत्पूर्वानुच्चार्य, तं पूर्वं पुनः ताडयित्वा ग्रहे समाप्तौ भैरव्या आद्यं स्वस्थानं भवति । अस्या तृतीयो ग्रहो जने ॥ -७४४-७४६- ॥

इति भैरवी

स्थायिनि द्विगुणे षड्जेऽधस्तृतीयं विधाय च ॥ ७४६ ॥
 अधस्तनं प्रकम्प्याथ विलम्ब्य स्थायिनं ततः ।
 प्राचीनं लघुतां नीत्वा द्विस्त्रिर्वाहृत्य तं ग्रहम् ॥ ७४७ ॥

^१ पूर्वं ग्रहतृतीयचतुर्थानुच्चार्य (A). ^२ ग्रहं हृत्वा, तृतीयादिक्रमेण
 चतुःस्वरानवरुह्य ग्रहे समाप्तौ (B). ^३ देवकृतेः प्रथमं (A).

लघूक्त्याधरस्यार्धमास्पृश्य ग्रहपञ्चमम् ।
 विलम्ब्य तं द्रुतीकृत्य 'तृतीयस्पर्श'माचरेत् ॥ ७४८ ॥
 अथोक्त्वा पञ्चमं तं च दीर्घीकृत्याधरं मनाक् ।
 कम्पयित्वा ग्रहन्यासाद् भवेत् स्वस्थानमादिमम् ॥ ७४९ ॥
 छायानट्टाख्यरागस्य ग्रहो वंशे तृतीयकः ।
 एतां सालगनट्टां तु भाषन्ते लक्ष्यवेदिनः ॥ ७५० ॥
 अन्ये तु पञ्चमं कृत्वा स्थायिनं रिं विधाय च ।
 मं प्रकम्प्य स्थिरीभूय पञ्चमे द्विः प्रमध्यमौ ॥ ७५१ ॥
 कृत्वा 'गमूषभार्धं' च संस्पृश्यार्धं पुनर्ब्रजेत् ।
 ततो दीर्घौ रिमौ कृत्वा ग्रहे चेन्न्यस्यते तदा ॥ ७५२ ॥
 आद्यं सालगनट्टायाः स्वस्थानं तद्विद्वो विदुः ।

इति छायानट्टा

(क०) छायानट्टायाम्—अधरस्यार्धमिति । अधरोऽध-
 स्तनः । अत्र ग्रहीभूतषड्जापेक्षयाधरो निषादः । तस्यार्ध-
 मीषत्स्पर्शनं भवति, तमीषत्स्पृष्ट्वेत्यर्थः । एतां सालगनट्टां तु
 भाषन्ते लक्ष्यवेदिन इति । अत्र तु शब्दोऽवधारणे, भिन्नक्रमश्च ।
 एतां त्विति, छायानट्टामेवेत्यर्थः । गमूषभार्धं चेति । गं गान्धारं
 स्पृष्ट्वा । ऋषभमीषत्स्पृष्ट्वेत्यर्थः । अर्धं पुनर्ब्रजेदिति । पुनः-
 शब्देन तदेवर्षभार्धमिति गम्यते । ऋषभार्धं द्विः कुर्यादित्यर्थः
 ॥ -७४६-७५३- ॥

इति छायानट्टा

^१ च. तृतीयं स्प. in. I ed. ^२ च. मास्पृशेत्. in. I ed. ^३ सम (D).
^४ च. ड. च. स्पृष्ट्वार्धं. in. I ed.

(सु०) अथ छायानट्टामाह—स्थायिनीति । द्विगुणे षड्जे
 स्थायिनि कृते सति, तृतीयानन्तरं स्थायिनोऽधःस्थं प्रकम्प्य, स्थायिनं
 विलम्बेन गीत्वा, ततः पूर्वं^१ लघुतां नीत्वा, द्विस्त्रिस्ताडयित्वा च लाघवेन
 तं ग्रहं गीत्वा, अधःस्थितस्यार्धं स्पृष्ट्वा, विलम्बितं पञ्चमानन्तरं तमेवाशू
 गीत्वा, तृतीयस्पर्शानन्तरं पञ्चमं स्पृष्ट्वा तमेव दीर्घीकृत्य अधःस्थितं
 किञ्चित्कम्पयित्वा ग्रहे समाप्तौ छायानट्टायाः प्रथमं स्वस्थानं भवति ।
 वंशे अस्य रागस्य ग्रहः तृतीयकः । एतामिति । अत्र तु शब्दोऽवधारणे,
 भिन्नक्रमश्च । एतां तु लक्ष्यवेदिनः सालगनट्टा इत्याहुः ।

मतान्तरमाह—अन्ये त्विति । स्थायिपञ्चमानन्तरं ऋषभः, ततो
 मध्यमं कम्पयित्वा विश्रम्य च, पञ्चमस्वरं^२ पञ्चममध्यमौ द्विगीयेत् ।
 ततो गान्धारमूषभस्यार्धं च स्पृष्ट्वा पुनः ऋषभार्धं ब्रजेत् । ततः रिमौ
 ऋषभमध्यमौ दीर्घौ कृत्वा ग्रहे न्यस्यते समाप्यते तदा, आद्यं स्वस्थानमिति
 ॥ -७४६-७५३- ॥

इति छायानट्टा

मं विधाय ग्रहं तं च द्रुतीकृत्य परं ततः ॥ ७५३ ॥
 उक्त्वा तुर्यं विलम्ब्याथ परमास्पृश्य पञ्चमम् ।
 विलम्ब्यातोऽबरोहेण ग्रहमेति यदा तदा ॥ ७५४ ॥
 स्वस्थानमादिमं रामकृतेर्वंशे द्वितीयकः ।
 ग्रहश्चिन्धं^३मरामक्रीः सा सिद्धा लोकवर्त्मनि ॥ ७५५ ॥

इति चिन्धमरामक्रीः

(सु०) अथ चिन्धमरामक्रियमाह—ममिति । मध्यमं स्थायिनं
 कृत्वा तमेवाशूच्चयं, ततः परं द्वितीयमुक्त्वा चतुर्थं विलम्बेन गीत्वा,

^१ लक्षयित्वा (B). ^२ स्वरं (B). ^३ चिन्तनरामक्री (D).
^४ चिन्तारामक्री (D).

परस्पर्शान्तरं पञ्चमं विलम्ब्यातोऽन्ते अवरोहेण ग्रहागती आद्यं
स्वस्थानम् ॥ -७५३-७५५ ॥

इति 'चिन्धमरामक्रीः

रिमेव ग्रहमाश्रित्य द्विस्त्रिर्वाहृत्य ^१मं ततः ।

^२तं विलम्बिततां नीत्वा ^३द्वितीकृत्य तु मध्यमम् ॥ ७५६ ॥

रिगौ रिदलमेतानि ^४द्वितीकृत्य विलम्ब्य ^५निम् ।

पुनरुच्चार्य तं कृत्वा धैवंतं सकृदाहतम् ॥ ७५७ ॥

वादयित्वा निषादं च ग्रहन्यासेन जायते ।

^६नाट्यरामकृतेराद्यं स्वस्थानमिति तद्विदः ॥ ७५८ ॥

(सु०) अथ नाट्यरामक्रियमाह—रिमेवेति । ऋषभे ग्रहे सति,
गान्धारं द्विस्त्रिस्ताडयित्वा, तं विलम्ब्य च, मध्यमं द्राघयित्वा, ऋषभ-
गान्धारौ रिदलमेतानि शीघ्रं गीत्वा, निषादं विलम्ब्य, पुनरुच्चार्य,
धैवंतं, सकृदाहतं गीत्वा, निषादानन्तरं ग्रहे समाप्तौ नाट्यरामक्रियायाः
प्रथमं स्वस्थानम् ॥ ७५६-७५८ ॥

अथवा मध्यमं कृत्वा ग्रहमाहृत्य पञ्चमम् ।

द्विस्त्रिर्वाप्यवरोहेण ^७धात्कमादृषभं द्वुतम् ॥ ७५९ ॥

एत्यार्धं तस्य षड्जं च रेख्यं वादयेत् पुनः ।

अथोच्चार्य रिमौ पं तु विलम्ब्य न्यस्यते ग्रहे ॥ ७६० ॥

^१ सिद्धरामकृतिः (B). छन्धमरामक्रीतिः (A). ^२ मं (D). ^३ त्रि (D).
^४ दीर्घा I ed. दीर्घं कृत्वा (D). ^५ ग. दीर्घीकृ. fn. I ed. ^६ विलम्बि-
नीम् (D). ^७ नादरा (D). ^८ क्रमादृषभधैवंतम् (D).

यत्र स्वस्थानमाद्यं तन्नाट्यरामकृतेर्मतम् ।

इति नाट्यरामक्रीः^१

(सु०) मतान्तरमाह—अथवेति । मध्यमग्रहानन्तरं पञ्चमं
द्विस्त्रिस्ताडयित्वा अवरोहेण धैवंतादृषभपर्यन्तमाश्रयागत्य, तस्य ऋषभ-
स्यार्धं षड्जं च निषादार्धं [ऋषभार्धं ?] च [पुनः] वादयेत् । ततः रिमौ
ऋषभमध्यमौ [उच्चार्य], विलम्बितं तु पञ्चमम् अन्ते ग्रहे समाप्तिरिति ।
यत्र तदाद्यं स्वस्थानं नाट्यरामकृतेः ॥ ७५९-७६१- ॥

इति नाट्यरामक्रीः^२

ग्रहं कृत्वा धमाहृत्य सकृद् ^३ग्रहपरं स्वरम् ॥ ७६१ ॥

कृत्वा ग्रहात् परौ द्विस्तु ग्रहमाहृत्य पूर्वकम् ।

द्वितीयं च क्रमादुक्त्वा ग्रहं चेन्न्यस्यते तदा ॥ ७६२ ॥

स्वस्थानमाद्यं मल्लारं^४ ग्रहो वंशे द्वितीयकः ।

इति मल्लारः

(सु०) अथ मल्लारमाह—ग्रहमिति । धैवंतं ग्रहं कृत्वा ग्रहात् परं
द्वितीयं स्वरं सकृदाहृत्य ग्रहं गीयते, ततो ग्रहात् परौ द्विस्ताडयित्वा
ग्रहात् पूर्वं द्वितीयं मध्यमं चोच्चार्य ग्रहे समाप्तौ मल्लारस्याद्यं स्वस्थानम्
॥ -७६१-७६३- ॥

इति मल्लारः^५

ग्रहं द्विगुणसं कृत्वा ^६द्वितीकृत्य ततोऽधरम् ॥ ७६३ ॥

^१ नादरामकृतेर्मतम् (D). ^२ नादरामकृतिः (D). ^३ रामकृति (B).
रामक्रिया (A). ^४ ग्राहस्वरं परं (D). ^५ २ ग्रहो (D). ^६ मल्लारिः (D).
^७ द्विरी (D).

तमान्दोस्य द्वितीयं तु विधायाथ तृतीयकम् ।

स्फुरितं ग्रहतत्पूर्वं वादयित्वा ग्रहे यदा ॥ ७६४ ॥

न्यासः कर्णाटगौडस्य स्वस्थानं प्रथमं तदा ।

वंशे ग्रहस्तृतीयोऽस्य गृह्यते लक्ष्यवेदिभिः ॥ ७६५ ॥

इति कर्णाटगौडः

(सु०) अथ कर्णाटगौडमाह—ग्रहमिति । ग्रहद्विगुणे षड्जं ग्रहे सति तत्पूर्वमाशु गीत्वा, तमेवाधरं आन्दोल्य द्वितीयं द्विगीत्वा, स्फुरिततृतीयानन्तरं ग्रहं तत्पूर्वं च वादयित्वा, ग्रहे न्यासे कर्णाटगौडस्य प्रथमं स्वस्थानम् । वंशे अस्य रागस्य तृतीयो ग्रहः लक्ष्यवेदिभिः गृह्यते ॥ -७६३-७६५ ॥

इति कर्णाटगौडः

ग्रहं तमेव सं कृत्वा प्रोच्य तुयंतृतीयकौ ।

स्थायिनं तद्दलं चोक्त्वा पूर्वस्थापिदलं ततः ॥ ७६६ ॥

स्थायिन्यासाद् देशवालगौडस्वस्थानमादिमम् ।

जायतेऽस्यापि वंशे तु द्वितीयो दृश्यते ग्रहः ॥ ७६७ ॥

इति देशवालगौडः

(क०) देशवालगौडे—ग्रहं तमेव समिति । पूर्वरागग्रह-परामर्शेन द्विगुणं षड्जमित्यर्थः । तद्दलमिति । स्थायिनः प्रकृतत्वात् तच्छब्देन स्थायीभूतः परामृश्यते । तस्य दलं पूर्वस्थापि-दलमिति । द्विगुणशब्देन मध्यषड्जो गृहीतश्चेत् तदा पूर्वस्थाप्यो

¹ ये स्यात् दृश्यते (D).
पूर्वपूर्वस्थापिदल (C).

² पूर्ववत् (A), पूर्वरुद्धी (B).

³ अवं

मन्द्रषड्जः । तारषड्जो गृहीतश्चेत् तदा स्थायी मध्यषड्जः । तस्य दलमर्थम् । देशवालगौड एव केदारगौड इति जनैरुच्यते ॥ ७६६, ७६७ ॥

इति देशवालगौडः (केदारगौडः)

(सु०) अथ देशवालगौडमाह—ग्रहमिति । सं षड्जं ग्रहं विधाय चतुर्थं तृतीयं स्थाप्य तदधनि गीत्वा, स्थायिनः पूर्वधनिन्तरं स्थायिनि समाप्ती देशवालगौडस्य प्रथमं स्वस्थानम् । वंशे अस्यापि द्वितीयो ग्रहः दृश्यते ॥ ७६६, ७६७ ॥

इति देशवालगौडः

निषादे स्थायिनि प्रोच्य पूर्वं ग्रहमथोत्तरम् ।

तुयं द्वितीयतस्तु त्रीनवरुह्य ग्रहे यदा ॥ ७६८ ॥

न्यासस्तुरुष्कगौडस्य तदा स्वस्थानमादिमम् ।

लोके मालवगौडोऽसौ तृतीयोऽस्य ग्रहो गतः ॥ ७६९ ॥

(क०) मालवगौडे—निषादे स्थायिनीति । स्थायिनि सतीत्यर्थः । पूर्वमादौ ग्रहं निषादं प्रोच्य अथोत्तरमिति । द्वितीय-मित्यर्थः ॥ ७६८, ७६९ ॥

इति तुरुष्कगौडः

(मालवगौड इति लोके)

(सु०) अथ तुरुष्कगौडमाह—निषाद इति । निषादे स्थायिनि सति तत्पूर्वग्रहद्वितीयतुयान् गीत्वा, द्वितीयतस्त्रीन् स्वरानवरुह्य ग्रहे

¹ देशवालगौडः (A), देशवालगौडः (B).

² मतः (D).

न्यासो तौरुक्कगौडस्य प्रथमं स्वस्थानम् ।^१ लोके असौ मालवगौडः । वंशे
अस्य तृतीयः ग्रहः मतः ॥ ७६८, ७६९ ॥

इति ^१तुरुक्कगौडः
(मालवगौड इति लोके)

निषा^२दाद् ग्रहतां नीतादारोहेदाच्चतुर्थकम् ।
तं विलम्ब्य ततो गच्छेद् ^३ग्रहे चेदवरोहिणा ॥ ७७० ॥
तदा द्राविडगौडस्य स्वस्थानं प्रथमं भवेत् ।
लोके सालगगौडोऽयं द्वितीयोऽस्य ग्रहो मतः ॥ ७७१ ॥

(क०) द्राविडगौडे—लोके सालगगौड इत्युक्तम् ।
इदानीं तु लोके सालग इत्येतावतैव व्यवहारो दृश्यते, स कथ-
मुपपद्यत इति चेत्; सोऽपि भीमसेने भीम इति व्यवहारवदुपपन्न
एव ॥ ७७०, ७७१ ॥

इति द्राविडगौडः
(लोके सालगगौडः)
इत्युपाङ्गानि

(मु०) द्राविडगौडमाह—निषादादिति । ग्रहान्निषादात् स्वतुर्य-
स्वरपर्यन्तमारुह्य तं चतुर्थस्वरं विलम्बितं गीत्वा, अवरोहेण ग्रहे समाप्तौ
द्राविडगौडस्य आद्यं स्वस्थानम् । लोके अयं सालगगौडः । वंशे अस्य
द्वितीयो ग्रहः मतः ॥ ७७०, ७७१ ॥

इति द्राविडगौडः
(लोके सालगगौडः)
इत्युपाङ्गानि

^२ तौरुक्कगौडः (A). ^१ दाद् ग्राहतां I ed. दग्रहतां (D). ^३ ग्रहं (D).

पञ्चमं ग्रहमास्थाय तृतीयं च द्वितीयकम् ।

^४मुक्त्वा तृतीयं स्पृष्ट्वा च ^५प्रान्तमुक्त्वा तृतीयकम् ॥ ७७२
स्पृष्ट्वा विलम्ब्य ^६द्वितीये न्यस्यते कम्पिते ग्रहे ।
यदा भवति कैशिक्याः^७ स्वस्थानं प्रथमं तदा ॥ ७७३ ॥
तृतीयो^८स्याः स्वरो वंशे ग्रहो लक्ष्येषु दृश्यते ।

इति कैशिकी

(मु०) अथ कैशिकीमाह—पञ्चममिति । ग्रहपञ्चमानन्तरं
^९तृतीयद्वितीयो गेयो, ततस्तृतीयमीषद् गीत्वा पूर्व^{१०}मुक्त्वा, तृतीयस्य स्पर्श-
नन्तरं द्वितीयं विलम्ब्य कम्पिते ग्रहे समाप्तौ कैशिक्याः प्रथमं स्वस्थानम् ।
वंशे अस्याः तृतीयः स्वरः ग्रहः लक्ष्येषु दृश्यते ॥ ७७२-७७४- ॥

इति कैशिकी

स्थायिनं द्विगुणं षड्जं द्रुतीकृत्य ^{११}द्वितीयकम् ॥ ७७४ ॥

उक्त्वा ^{१२}द्वितीयतृतीयौ द्रुतीकृत्याधराधरम्^{१०} ।

उदीर्य तं द्रुतीकृत्य द्वितीयं वादयेत् ततः ॥ ७७५ ॥

तृतीयं द्विस्रिराहत्य स्थायिनि न्यस्यते यदा ।

ललितायास्तदा प्रोक्तं स्वस्थानं प्रथमं बृधेः ॥ ७७६ ॥

^{११}अस्यामपि ^{१२}स्वरो लक्ष्ये तृतीयो दृश्यते ग्रहः ।

इति ललिता

इति भाषाद्वयम्

^१ उक्त्वा (D). ^२ व. ड. प्राञ्चमु fn. I ed. ^३ च. द्वितीयं
fn. I ed. ^४ कैशिक्यां (D). ^५ यः स्यात् (D). ^६ द्वितीयतृतीयौ
(A), (B). ^७ पूर्वस्वरम् (B). ^८ तृतीयकम् (D). ^९ तृतीयद्वितीयो (D).
^{१०} धरो (D). ^{११} तस्या (D). ^{१२} स्वरे (D).

(सु०) अथ मल्लितामाह—^१स्वार्थमिति । द्विगुणं षड्जं स्थायिनं षोडशमूर्च्छात्, द्वितीयानन्तरं ^२तृतीयद्वितीयावाशूच्चार्य, द्वितीयादधराधरं^३ स्थायिपूर्वमुदीर्य तमेवाशु गीत्वा ^४द्वितीयं वादयेत्, अनन्तरं तृतीयं द्वित्रिवारं ताडयित्वा स्थायिनि समाप्तौ ललितायाः प्रथमं स्वस्थानम् । वंशे अस्यामपि लक्ष्ये तृतीयः स्वरः ग्रहो दृश्यते ॥ -७७४-७७७- ॥

इति ललिता

इति भाषाद्वयम्

ग्रहं द्विगुणसं कृत्वाधस्तनं स्थायिनं तथा ॥ ७७७ ॥
कृत्वा द्वितीयतुर्यौ च द्वितीयस्था^५यिनौ स्पृशेत् ।
विलम्बिते द्वितीये ऽथ स्थायिनि न्यस्यते यदा ॥ ७७८ ॥
श्रीरागस्य बुधेः प्रोक्तं तदा स्वस्थानमाविभम् ।
स्वरो वंशे द्वितीये ऽस्य ग्रहत्वेनोपलक्षितः ॥ ७७९ ॥

इति श्रीरागः

(सु०) अथ श्रीरागमाह—ग्रहमिति । द्विगुणं षड्जं ग्रहं विधाया तदधस्तनं^६ सं च गीत्वा, द्वितीयतुर्यौ ^७चोच्चार्य द्वितीयस्थायिनौ स्पृष्ट्वा विलम्बितद्वितीयानन्तरं स्थायिनि न्यासे श्रीरागस्य प्रथमं स्वस्थानम् वंशे द्वितीयस्वरः ग्रहत्वेनोपलक्षितः ॥ -७७७-७७९ ॥

इति श्रीरागः

यो ग्रहः क्रियते वंशे तमपेक्षया योजयेत् ।
लक्षणस्थं द्वितीयादि^८ यदा किं तु ग्रहादयः ॥ ७८० ॥

^१ तृतीयं द्वितीयं वा आशु (A). ^२ धरस्वरं (B). ^३ द्वितीयानन्तरं (A). ^४ यिनं (D). ^५ धस्तनवत् गीत्वा (A). ^६ द्विरुच्चार्य (A).
^७ पदं किंचित् (D).

यावन्तो यत्र रागे स्युः स्वरा लक्ष्मणि तावताम् ।
संभवः स्थायिना येन स्थायिनं तत्र तं श्रयेत् ॥ ७८१ ॥

अनुग्रहाय मुग्धानामित्येते कतिचिन्मया ।

रागाः प्रोक्ताः पथानेन संपश्यध्वं बुधाः परान् ॥ ७८२ ॥

इति वंशप्रकरणम्

(क०) अथ सकलरागसाधारणन्यायं दर्शयति—यो ग्रह इति । तत्र विशेषमाह—किञ्चित् । यत्र यस्मिन् रागे ग्रहादयः स्वरा यावन्तः स्युः । लक्ष्मणि तद्भागलक्षणे येन स्थायिना तावतां स्वराणां संभवः, तत्र रागे तं स्थायिनं श्रयेदिति । अयमर्थः—यस्य देशीरागस्य मन्द्रतारावधित्वेन यौ स्वरौ भवतः, तन्मध्यस्थाः स्वराः ताभ्यां सह यावत् संख्या ये भवन्ति, तेषां न्यूनता यथा न भवति तथा स्थायिस्वरो ग्रहः कर्तव्य इति प्रयोजनवत्त्वेनोक्तमन्यत्राप्यतिदिशन् प्रकरणमुपसंहरति—अनुग्रहायेति ॥ ७८०-७८२ ॥

इति वंशप्रकरणम्

(सु०) यो ग्रह इति । वंशे यः ग्रहत्वेन परिकल्प्यते, तदपेक्षया द्वितीयादिपदं योजनीयम् । अयं तु विशेषः—ग्रहादधःस्थितस्वरा यावन्तः यत्र रागे स्युः उच्चारणीयत्वेनोक्ताः, यस्मिन् स्थायिनि कृते सति, यत्र तावतां संभवः ते तं स्थायिनामाश्रयेत् । अनुग्रहायेति । अज्ञानामनुकम्पया केचिद्वागा मया प्रोक्ताः । अनेन पथा मार्गेण हे बुधाः परान्^३ रागान् प्रति

^१ प्रधानेन (D). ^२ तीव्रता (A). यावतां (B). ^३ उपरागान् (B).

संपश्यध्वं विचारयन्तु । यतो अत्रावश्यं ^१प्रतिरध्याहृतव्यः । अन्यथा सकर्मके ऽस्य संपूर्वकस्य दृशोरात्मनेपदत्वं न सिध्यति ॥ ७८०-७८२ ॥

इति वंशप्रकरणम्

पावो वेणुसमुत्पन्नः स्यान्नवाङ्गुलवंशवत् ।

कृतावेष्टो ^२वंशपत्रैर्लोकरीत्येष वाद्यते ॥ ७८३ ॥

इति पावलक्षणम्

(कु०) पावादीनां लक्षणानि ग्रन्थत एव सुबोधानि ॥ ७८३-८०५- ॥

इति पावलक्षणम्

(मु०) पावं लक्षयति—पाव इति । ^३वेणुकृतो नवाङ्गुलपरिमितः वंशपत्रिकाभिः^४रावेष्टितः पावः । एष लोकानां रीत्या वादनीयः ॥ ७८३ ॥

इति पावलक्षणम्

पाविका वैणवी कार्या द्वादशाङ्गुलदैर्ध्यभाक् ।

स्थौल्येऽङ्गुलमिता गर्भे स्वदैर्ध्ये सुषिरं श्रिता ॥ ७८४ ॥

कनिष्ठा^५प्रमितस्थौल्य^६मस्या लोकानुसारतः ।

फूत्काररन्ध्रमेकं स्यात् पञ्च स्युः स्वरसिद्धये ॥ ७८५ ॥

वादनं ^७विविधं नागयक्षावेशविधायकम् ।

इति पाविकालक्षणम्

^१ स त्वध्याहृतव्यः । अन्यथा सकलारात् रागात् संपश्यध्वं विचारयन्तु (B).

^२ बङ्गपत्रे I ed. ^३ वेणुद्वयः (B). ^४ मिरावृतः (B). ^५ ष्ठायामित (D).

^६ ल्यं स्यात् (D). ^७ द्विविधं (D).

(मु०) पाविकाया लक्षणमाह—पाविकेति । वेणुमयी द्वादशाङ्गुलदीर्घा अङ्गु^१ष्टस्थूला गर्भे ^२स्वदैर्ध्ये^३ कनिष्ठाग्रप्रमाणं रन्ध्रमाश्रिता पाविका कार्या । ^४अस्या ^५कनिष्ठाङ्गुलिमिति स्थौल्यं ^६लोकरीत्या एकं फूत्काररन्ध्रं कार्यम् । पञ्च स्वरलोपादकानि रन्ध्राणि, अनेकप्रकारं वादनं ^७रागयुक्तवेगकारि ॥ ७८४-७८६- ॥

इति पाविकालक्षणम्

हस्तद्वयाधिका माने मुखरन्ध्रसमन्विता ॥ ७८६ ॥

चतुःस्वर^८च्छिद्रयुता^९ ^{१०}मुरली चारुनादिनी ।

इति ^{११}मुरली

(मु०) मुरलीं लक्षयति—हस्तेति । हस्तकद्वयाधिकविस्तारा मुखरन्ध्रेण समन्विता चतुर्भिश्च स्वररन्ध्रैः प्रयुक्ता ^{१२}मुरली ॥ ७८६, ७८७- ॥

इति मुरली

शृङ्गजा दारवी वा स्यात् काहलाकृतिधारिणी ॥ ७८७ ॥

अष्टाविंशत्यङ्गुला च दैर्ध्ये मधुकरी शुभा ।

मुखरन्ध्रं च तस्याः स्यात् तुवरीबीजसंनिभम् ॥ ७८८ ॥

मुखरन्ध्रादङ्गुलानि त्यक्त्वा चत्वारि वंशवत् ।

विधाय सप्त रन्ध्राणि कुर्वीत विवरान्तरम् ॥ ७८९ ॥

तेषां च मुखरन्ध्रस्य मध्येऽधोभागसंस्थितम् ।

^१ अङ्गुलस्थूला (B).

^२ स्ववद् दीर्घं (A).

^३ स्व अत्यर्धेन दीर्घं

सुषिरवती (B).

^४ आद्या (A).

^५ कनिष्ठिकायां अप्रमितं (B).

^६ अस्या

लोक (A).

^७ रागेषु उक्ता वेग (A).

^८ स्वर (D).

^९ युक्ता (D).

^{१०} मुरली (D).

^{११} मुरली (D).

^{१२} मुरली (B).

मधुर^१ध्वानसिद्धये तन्मुखरन्ध्रे तु ताम्रजा ॥ ७६० ॥
 निधातव्या यवस्थूला नलिका चतुरङ्गुला ।
 तदूर्ध्वं चक्रिका^२ स्थाप्या दन्तजा शुक्तिजाथवा ॥ ७६१ ॥
 रन्ध्रमध्ये काशमयीं यद्वा देवं नलोद्भवाम् ।
 शुक्तिकां किञ्चिदुन्निद्रमालतीकलिकाकृतिम् ॥ ७६२ ॥
 मृदुलां क्षीर^३पाकेन क्षिप्त्वा मधुरीं ततः ।
 वंशवद्वाद्येन्द्रन्ध्रं^४ पिदधोताप्यधस्तनम् ॥ ७६३ ॥
 वामाङ्गुष्ठाग्रभागे^५ नेत्युक्तं निःशङ्कसूरिणा ।

इति मधुकरीलक्षणम्

(सु०) मधुकरीं लक्षयति—शृङ्गजेति । शृङ्गजा शृङ्गकृता,
 वारवी वा काण्डकृता काह्लावत्^६ अष्टाविंशत्यङ्गुलदीर्घा मधुकरी । तस्याः
 मुखरन्ध्रं च, तुवरीबीजसंनिभम् तुवरी आढकी, तस्या बीजवत् मुखरन्ध्रं
 कार्यम् । ततः मुखरन्ध्रात् चतुरङ्गुलानि त्यक्त्वा सप्त रन्ध्राणि कार्याणि ।
 तेषामन्तः अन्तरालानि मुखरन्ध्रस्य^७ मध्ये अधोभागमितानि, मधुरनाद-
 सिद्धये यववत् स्थूला, ताम्रजा ताम्रमयी^८ नलिका चतुरङ्गुला मुखरन्ध्रे
 स्थापयितव्या । ततो^९ ध्वंमुखरन्ध्रे गजदन्तजाता शुक्तिकृता वा चक्रिका
 स्थाप्या । वंशाग्रे^{१०} काशमयीं देवनलोद्भवां देवनलकृतां वा^{११} शुक्तिकाम्,
 ईषद्विकसितमालतीकोरकसंनिभां पयः पाकात् मृदुलां निक्षिप्य मधुकरीं
 वंशवद्वाद्येदिति संवन्धः ॥ -७६७-७६४-

इति मधुकरीलक्षणम्

ताम्रजा राजसी यद्वा काञ्चनी सुषिरान्तरा ॥ ७६४ ॥
 धत्तूरकुसुमाकारवदनेन विराजिता ।
 हस्त^१त्रयमिता दैर्घ्ये काह्ला वाद्यते जनैः ॥ ७६५ ॥
 हाह्वर्णवती वीरबिस्दोच्चारकारिणी ।

इति काहलालक्षणम्

(सु०) काहलां लक्षयति—ताम्रजेति । ताम्रेण रजतेन सुवर्णेन
 वा मध्ये छिद्रसंयुक्ता धत्तूरपुष्पाकार^२ मुखी बिहस्तदीर्घा च काह्ला
 हाह्वर्णयुक्ता वीरबिस्दोच्चारकारिणी^३ जनैर्वाद्यते ॥ -७६४-७६६- ॥

इति काहलालक्षणम्

हस्तद्वयकृता या सा सैव^४ तुण्डकिनी मता ॥ ७६६ ॥
 तुस्तुर्यपि सा लोके तित्तिरी च निगद्यते ।
 यमलं^५ तुण्डकिन्योश्च वाद्यं वाद्यविदो विदुः ॥ ७६७ ॥

इति तुण्डकिनीलक्षणम्

(सु०) तुण्डकिनीं लक्षयति—हस्तेति । द्विहस्तदीर्घा काहलेव
 तुण्डकिनी । सा लोके तुस्तुरी, तित्तिरीति च उच्यते । तुण्डकिन्योश्च यमलं
 वाद्यमिति कथ्यते ॥ -७६६, ७६७ ॥

इति तुण्डकिनीलक्षणम्

तुण्ड^६किन्येव चुक्का स्याद् दैर्घ्ये हस्तचतुष्टया ।

इति चुक्कालक्षणम्

^१ स्वर (D). ^२ या (D). ^३ कांश्य (D). ^४ देवानतोद्-
 भवाम् (D). ^५ च. क्षीरयोगेण fn. I ed. ^६ न्ध्रे (D). ^७ गेल्यु I ed.
^८ सप्त (A). ^९ मध्यमभागमितानि (A), (B). ^{१०} नलिका (A)
^{११} अर्धमुख (A). ^{१२} काण्डमयीं (B). ^{१३} शुक्तिरजतां चक्रिकां (A).

^१ द्वय (D). ^२ कारश्च मुखीः (B). ^३ गेयैर्वाद्यते (A).
^४ स. तुण्डकि fn. I ed. तुम्बिकि (D). ^५ तुरीतुर्यपि (D). ^६ तुम्बु-
 किन्याश्च (D). ^७ तुम्बुकि (D). ^८ तुरीतुरीति (B). ^९ तुम्बु (D).

(सु०) ^१चुक्कां लक्षयति—तुण्डकिन्येवेति । हस्तचतुष्टयदीर्घा
तुण्डकिनी चुक्केत्युच्यते ॥ ७६८-॥

इति ^२चुक्कालक्षणम्

करेणुवदनाकारवदनं दोषवर्जितम् ॥ ७६८ ॥

शृङ्गं यन्माहिषं श्लक्ष्णं स्निग्धं सुघटितं कृतम् ।

शृङ्गस्यानडुह^३स्याथ धतूरकुसुमाकृति ॥ ७६९ ॥

खण्डमष्टाङ्गुलं न्यस्य मूलेऽस्य ध्वनिवृद्धये ।

अग्रं द्वित्राङ्गुलं तस्य च्छित्त्वा फूत्काररन्ध्रकम् ॥ ८०० ॥

विधाय ^४तुथुकारेण वादयेद् विविधध्वनिम् ।

एतद्वै ध्वानगम्भीरं वाद्यं गोपालकेलिषु ॥ ८०१ ॥

इति शृङ्गलक्षणम्

(सु०) शृङ्गं लक्षयति—करेणिवति । हस्तिशृङ्गावत् निर्दोषं
मसृणं स्नेहवत् सुघटितं महिषशृङ्गं यत्, तस्य मूले आनडुहस्य वृषभ-
संबन्धिनः शृङ्गस्य ^५धतूरकुसुमवत् अष्टाङ्गुलं खण्डं न्यसेत् । अग्रं तस्य
द्वयङ्गुलपरिमितं छित्त्वा फूत्काररन्ध्रं कृत्वा, तुथु^६ इतिशब्देन गोपाल-
केलिषु वादयेदिति एतद्वै ध्वानगम्भीरमित्युच्यते ॥ ७६८-८०१ ॥

इति शृङ्गलक्षणम्

निर्दोषस्योत्खातनाभेः शङ्खस्यैकादशाङ्गुलम् ।

शिखरं निर्मितं धातु^७सिक्थकाभ्यां मनोहरम् ॥ ८०२ ॥

^१तुष्कां (B). ^२तुष्कालक्षणम् (B). ^३हृत्वाथ I ed. ^४धतूर

(D). ^५ग. ड. तुवुका fn. I ed. तुतु (D). ^६कुन्धकुसुम (A).

^७तुम्बुशब्दो (A). ^८ग. सिक्थका fn. I ed.

मूलतश्चाप्रपर्यन्तं ^१ह्रस्वमानाकृति क्रमात् ।

रन्ध्रमर्धाङ्गुलमितं शिखरस्य मुखे भवेत् ॥ ८०३ ॥

अन्तस्तु माषमात्रं स्याच्छङ्खमेवंविधं सुधीः ।

धृत्वा कर्कटहस्तेन भूरिश्वासभृतोदरम् ॥ ८०४ ॥

हृंधुथो^२ दिगिदित्येतद्वर्णोद्घोषेन वादयेत् ।

इति शङ्खलक्षणम्

इति सुषिरवाद्यलक्षणम्

(सु०) शङ्खं लक्षयति—निर्दोषस्येति । ^३उत्खाता नाभिर्यस्य,
तथाविधस्य शङ्खस्य द्वादशाङ्गुलम्, [एकादशाङ्गुलम्?] शिखरं धातुना
मधुच्छिष्टेन कार्यम् । मूलादारभ्य अग्रपर्यन्तं भासमानाकृतिरन्यून-
प्रमाणम् । शिखरस्य मुखे रन्ध्रमर्धाङ्गुलप्रमाणम् । अन्तः मध्ये मध्यं
माषप्रमाणं भवेत् । एवंविधं शङ्खं कर्कटकाभ्येन हस्तेन धृत्वा श्वास-
पूर्णोदरं ^४हृंधुथुमादिवर्णोच्चारणेन वादयेत् । कर्कटकस्य लक्षणं नृत्ताध्याये
बध्यते, (श्लो. १८८, १८९-सप्तमे तर्तनाध्याये) “अन्योन्यान्तरानिष्कान्ता
स्युरङ्गुल्यस्तु कर्कटः”

[“अन्योन्यस्यान्तरैर्यैवाङ्गुल्यो निःसृत्य हस्तयोः ।

अन्तर्वैशिष्ट्यं दृश्यन्ते कर्कटः सोऽभिधीयते ॥” इति]

इति ॥ ८०२-८०५-॥

इति सुषिरवाद्यलक्षणम्

मार्ग^५देशीगतत्वेन पटहो द्विविधो भवेत् ॥ ८०५ ॥

मार्गस्थपटहस्यात्र लक्षणं तावदुच्यते ।

^१द्रुतमानाकृतिर्भवेत् (D). ^२हृंधुथो I ed. हृंधुथो (D). ^३उत्खलो

(A). ^४धृषुसादि (A). ^५च. देशीमार्गगतत्वेन fn. I ed.

(क०) अथावनद्वाद्येषु प्रथमोद्दिष्टं पटहं लक्षयति—
मार्गदेशीगतत्वेनेत्यादिना ॥ ८०५, ८०६ ॥

सार्धहस्तद्वयं तस्य दैर्घ्यं स्यात् परिधिः पुनः ॥ ८०६ ॥
षष्ठ्यङ्गुलो मध्यदेशः पृथुलो दक्षिणं मुखम् ।
कर्तव्यं संमितं सार्धैरेकादशभिरङ्गुलैः ॥ ८०७ ॥
वामं तु दशभिः सार्धैः संमितं दक्षिणे मुखे ।
आयसं वलयं कार्यं वामे वल्लीसमुद्भवम् ॥ ८०८ ॥
षाण्मासिको मृतो वत्सो यस्तस्यादाय पारिकाम् ।
तयावगूण्य वलयं वल्लीजं वामवक्त्रगम् ॥ ८०९ ॥ ॥
सप्तरन्ध्रान्वितं कृत्वा सुदृढैः सूक्ष्मदोरकैः ।
निक्षिप्तैस्तेषु रन्ध्रेषु बन्धव्याः कलशाः श्लथम् ॥ ८१० ॥
ते हेमादिमयाः सप्त दैर्घ्येण चतुरङ्गुलाः ।
त्यक्त्वाङ्गुलानि चत्वारि वामे स्याल्लोहपत्रिकाम् ॥ ८११ ॥
अङ्गुलत्रयविस्तारां पटहे वेष्टयेद् दृढम् ।
बाह्याकास्य यच्चर्मं पशोस्तेन धनेन च ॥ ८१२ ॥
कम्बलाख्येन बध्नीयात् पिहितं वदनद्वयम् ।
दक्षिणास्यस्य कवलं परितः कुतरन्ध्रकम् ॥ ८१३ ॥
रन्ध्रक्षिप्तैर्गुणैर्गडिमाकृष्येतरवक्त्रगैः ।
वलयं तान् गुणान् सम्यग् बध्नीयाद् दाढ्यसिद्धये ॥ ८१४ ॥
वामास्यकवलान्तःस्थसप्तरन्ध्रनिवेशितैः ।
गुणैरावेष्ट्य कलशनायसं वलयैर्दृढैः ॥ ८१५ ॥

अन्तःक्षिप्त्वा समाकृष्टैर्बलयै गाढतां नयेत् ।
कलशेभ्यो बहिर्वामवलयान्ते च बध्यते ॥ ८१६ ॥
वेष्टनाय कटैः कच्छेत्पुस्तोऽयं स्कन्ददैवतः ।
श्रीयज्ञपुरवर्षेण पटहो मार्गसंभवः ॥ ८१७ ॥

इति मार्गपटहः

(मु०) अथावनद्वाख्यं वाद्यं विवक्षुः प्रथमं पटहं लक्षयितुं विभजते—
मार्गेति । पटहो द्विविधः—मार्गपटहः, देशीपटहश्चेति । तत्र मार्गपटहस्य
लक्षणं कथ्यते—सार्धेति । सार्धौ द्वौ हस्तौ दीर्घता, परिधिः पुनः
षष्ठ्यङ्गुलपरिमितः, मध्यदेशः स्थूलः, दक्षिणं मुखं सार्धैरेकादशङ्गुलं
कर्तव्यम् । वाममुखं तु सार्धदशङ्गुलम् । दक्षिणे मुखे लोहमयं वलयं
कर्तव्यम् । वाममुखे वल्लीसमुद्भवम् । षाण्मासिकेति । यस्य वर्णकस्य
जातस्य षाण्मासजातस्य पारिकामादाय गृहीत्वा, तया वल्लीजं वामवक्त्रगं
वलयमवकुण्ठ्य, उभयविधं सप्तरन्ध्रयुतं कृत्वा रन्ध्रेषु क्षिप्तैः सूक्ष्मदोरकैः
कलशान् श्लथं बन्धनीयाः । त इति । ते कलशाः सुवर्णादिधातुमयाः
चतुरङ्गुलदीर्घाः सप्त कार्याः । वाममुखात् अङ्गुलचतुष्टयं परित्यज्य
लोहकृतां पत्रिकामङ्गुलत्रयविस्तारां दृढतया पटहे आवेष्टयेत् ।
बाह्यमिति । पशोः तर्णकस्य छागस्य वा शरीरबाह्यां यच्चर्मं तेन निविडेन
कम्बलनामधेयेन पिहितं मुखद्वयं बध्नीयात् । दक्षिणेति । दक्षिणमुखस्य
कवलं सर्वतः छिद्रयुतं कार्यम् । रन्ध्रेषु क्षिप्तैर्दोरकैः कलशानाकृष्य
इतरमुखगतैः वलयै तान् दोरकाम् बध्नीयात् । वामेति । वाममुखस्य
कवलं तु अन्तःस्थेषु सप्तरन्ध्रेषु निवेशितैः दोरकैः कलशानावेष्ट्य
आयसैः लोहमयैः वलयैः अन्तर्निक्षिप्य आकृष्टैः स्वैर्दोरकैः वलयं दृढं
कुर्यात् । कलशेभ्य इति कलशसकाशात् बहिः प्रदेशे वामवलयप्राप्ते च

¹ दारिकाम् (D).

² बध्नीयात् कलशं (D).

³ याद् वेष्टितं (D).

⁴ स्थं (D).

⁵ नायसं वलयैर्दृढैः (D).

¹ लयं (D).

² कटैः (D).

³ कलशास्त्रयं शनैर्बन्ध (A).

⁴ कम्ब-

लवतः छिद्र (A).

⁵ आयसं लोहमयै वलयै (A).

⁶ तैर्दो (A).

कलशे बध्यते । अयं पटहः कच्छेत्युच्यते । स्कन्दो गुहो दैवतं यस्य ॥ ८०५-८१७ ॥

इति मार्गपटहः

देशीस्थोऽप्येवमेव स्याद् देश्येऽसौ सार्धहस्तकः ।
सप्ताङ्गुलं दक्षिणास्थमन्यत् सार्धषडङ्गुलम् ॥ ८१८ ॥
आन्तरं जाठरं वाङ्क्षणं पशोर्गदितमुहूली ।
तथा तु 'स्वेच्छया' वक्त्रं वाममस्य निबध्यते ॥ ८१९ ॥
विशेषोऽयं भवेदस्मिन्नुभौ खादिरदारुजौ ।
त्रिधोक्तोऽयं द्वयोरन्यैरुत्तमो मध्यमोऽधमः ॥ ८२० ॥
उत्तमः प्रोक्तमानः स्याद् द्वादशांशोनितः पुनः ।
मध्यमः षष्ठभागेन विहीनस्त्वधमो भवेत् ॥ ८२१ ॥

इति देशीपटहः

(सु०) एव मार्गपटहं लक्षयित्वा, देशीपटहं लक्षयति—देशीस्थ इति । मार्गपटहवद् देशीपटहः कार्यः । परं तु दीर्घत्वे सार्धहस्तः कर्तव्यः । दक्षिणं मुखं सप्ताङ्गुलम् । वाममुखं सार्ध षडङ्गुलम् । आन्तरमिति । पशोरन्तर्जठरे यत् स्थितं चर्म, वङ्क्षणात् जातं वाङ्क्षणं तत् उद्गीत्युच्यते । तथा [स्वेच्छया] निर्मलया उद्गत्या वाममुखं बन्धनीयम् । एतावान् विशेषः—उभावपि पटहौ खदिरकाष्ठेन कार्यौ । त्रिधेति । मार्गदेशीगतत्वेन द्विधा पटहः, प्रत्येकमुत्तमादिभेदेन त्रिप्रकारः, पूर्वोक्तप्रमाणमुत्तमः, ततो द्वादशांशेन न्यूनप्रमाणः मध्यमः, षष्ठ्यांशेन न्यूनोऽधम इति ॥ ८१८-८२१ ॥

इति देशीपटहः

अथाद्यवर्णाः—

डर्वाजितः कवर्गश्च टतवर्गौ रहावपि ।
इति षोडश वर्णाः स्युरुभयोः पाटसंज्ञकाः ॥ ८२२ ॥
संयोगविप्रयोगाभ्यां क्रमव्युत्क्रमयोगतः ।
सस्वरत्वास्वरत्वाभ्यां पाटास्ते स्युरनेकधा ॥ ८२३ ॥
उद्गत्या^१मेव झेकारो देकारः 'कबलेऽधिकः ।
देशीपटहमेवाहुः रिममहुवावजं जनाः ॥ ८२४ ॥
अष्टादशाङ्गुलः किञ्चिन्नताप्रो मध्यतः पृथुः^३ ।
कोणः कार्यो मूलदेशे मदनाम्बरवेष्टितः ॥ ८२५ ॥
पद्मासनोपबिष्टेन गोष्ठचामूरुद्वयोपरि ।
संस्थाप्य मार्गपटहो वाद्यो वर्णोद्भवे पटुः ॥ ८२६ ॥
नाटके 'त्वर्धवक्त्रोऽयं वाद्यते 'घटवाद्यवत् ।
कोणेन पाणिना वास्य वादनं सूरयो विदुः ॥ ८२७ ॥

इति पटहलक्षणम्

(क०) डर्वाजित इत्यादि । कखगघ, टठडढण, तथदधन, र ह इति षोडश वर्णाः । उभयोः मार्गदेशीपटहयोः । पाटसंज्ञका इति । पटहपाटा इत्युच्यन्त इत्यर्थः । संयोगविप्रयोगाभ्यामिति । संयोगः “हूलोऽनन्तराः संयोगः” (पाणिनिसूत्रम् १-१-७) इत्युक्तलक्षणः, विप्रयोगः तद्विपर्ययः । क्रमव्युत्क्रमयोगत इति । वर्णानुपूर्व्यां समुच्चारणं क्रमः, तद्विपर्ययेणोच्चारणं व्युत्क्रमः । सस्वरत्वास्वरत्वाभ्यामिति । अत्र स्वराः षड्जादय एव

^१ चर्म I ed.

^२ स्वेच्छया (सु.)

^३ त्रासौ खादिरदारुजः (D).

^१ घ. च. उद्गत्यामत्र सें fin. I ed.

^२ कबले (D).

^३ पृथक् (D).

^४ तूष्णं (D).

^५ चन (D).

विवक्षिताः, न त्वकारादयः । तेषां विप्रयोगशब्देनैव गृहीतत्वात् । षड्जादिग्रहणेऽपि सस्वरमिति रागसाहित्यमेव विवक्षितम् । अन्यथा अस्वरत्वस्यापि व्यवच्छेद्याभावादनर्थकत्व-मापद्येत । 'स्वरस्थायिशब्दस्य षड्जाद्यन्तमस्वर'राहित्याभावात् । अतोऽत्र स्वरशब्दो रागोपलक्षणत्वेन द्रष्टव्यः । एवमुक्तैर्विशेषणैः ते पाटाः अनेकधा स्युरिति, बहुभेदभिन्ना भवन्तीत्यर्थः । उद्गल्यामेव झंकार इति । उद्गली नाम देशीपटहस्य वामवक्त्र-पिधायकः चर्मविशेषः तत्र उच्यते; तत्र वादनेन झंकार एवाधिक इति । पूर्वोक्तेभ्यः षोडशवर्णभ्योऽधिक उत्पद्यत इत्यर्थः । दंकारः कवलेऽधिक इति । कवलं नाम मार्गपटहस्य दक्षिण-वक्त्रपिधायकः चर्मविशेषः; तत्र वादनेन दंकारः पूर्ववदधिक उत्पद्यते । पद्यासनोपविष्टेनेति । पद्यासन^१बन्धं कृत्वोपविष्टेन पटहवादकेन ॥ ८२२-८२७ ॥

इति पटहलक्षणम्

(मु०) अस्य वर्णानाह—**डवर्जित इति** । डकारेण वर्जितो हीनः; तेन कवर्गः (क ख ग घ) टवर्गः (ट ठ ड ढ ण) तवर्गः (त थ द ध न) रेफह्कारो च (र ह) एवं षोडशाः षोडशवर्गाः पाटाः । उभयोः मार्ग-देशीपटहादयोर्भवेयुः । ते पाटाः संयोगादिविशेषेण अनेकप्रकारा भवन्ति । पूर्वोक्तयामुद्गल्यां झंकार एवोत्पद्यते । कवले ^२दंकारः पूर्वोक्तवर्णभ्यो-^३ऽधिको जायते । देशीपटहो लोको ^४अद्वावज इत्युच्यते । अष्टादशेति । अस्य पटहस्य कोणः वादनकाष्ठमष्टादशाङ्गुलप्रमाणम् । अग्रे किञ्चिन्नम्रं, मध्ये

स्थूलं, मूलदेशे मदनाम्बरेण सिक्क^५कच्छेन च विवेष्टितं कार्यम् । वादनप्रकारमाह—**पथेति** । पद्यासने लोकप्रसिद्धे उपविष्टेन वादकेन ऊर्वोनिधाय मार्गपटहो वाद्यो वादनीयः । नाटके तु अयं पटहः, ^६अर्धमुखः पटवाद्यवद्वाद्यत इत्यर्थः । अथवा अस्य वादनं कोणेन पाणिना वा कार्यम् ॥ ८२२-८२७ ॥

इति पटहलक्षणम्

ये पाटाः पटहे प्रोक्तास्तेषां विविधगुम्फनात् ।

हस्तोद्भवाः पाटभेदा हस्तपाटाः प्रकीर्तिताः ॥ ८२८ ॥

ते चानन्ता न शक्यन्ते प्रत्येकं वेदितुं जनैः ।

प्रदर्शनार्थमेतेषु कतिचित् प्रतिपादये ॥ ८२९ ॥

(क०) अथ पटहोद्भवान् हस्तपाटान् लक्षयति—**ये पाटा इति । तेषामिति** । यथायोगं झंकारदंकारसहितानां कादीनां षोडशवर्णानाम् । **विविधगुम्फनात्** संयोगादिभिर्बहुधा विविध-कारणात् । **हस्तोद्भवा इति** हेतुगमितं विशेषणम् । हस्तोद्भव-त्वादिति हेतुद्रष्टव्यः । कोणस्यापि हस्तव्यापाराधीनव्यापार-त्वात् तदुद्भवेऽपि हस्तोद्भवत्वमेव द्रष्टव्यम् । ^१तत्रवाद्ये हस्तव्या-पारसद्भावेऽपि तत्राङ्गुलिव्यापारस्य प्राधान्यान्न हस्तोद्भवत्व-व्यपदेशः ॥ ८२८, ८२९ ॥

(मु०) अधुना पटहपाटान् निरूपयति—**य इति** । ये पाटाः षोडशवर्गाः कवर्गादयः पूर्वमुक्ताः, तेषां विविधगुम्फनात् क्रमात् ^२क्रम-वद्योगात् हस्तेनोत्पन्नाः पाटभेदाः हस्तपाटा इत्युच्यन्ते ॥ ८२८, ८२९ ॥

^१ सिक्ककनिदानेन वस्त्र वेष्टितं (A). सिक्ककनिष्टेन वस्त्रवेष्टितं (B).

^२ ऊर्ध्वमुखः (B).

^३ ख. यद्यपि ततः fin. I ed.

^४ क्रमोद्भवात् (B).

^५ इत्थं कृते संयोगो जायते (A).

^१ सर्वस्यापि (D). ^२ ज. साहि fin. I ed. ^३ ख. नसंज fin. I ed.

^४ दंकारः (B).

^५ आवडज (B).

सद्योजाताभ्रागबन्धः स्वस्तिको वामदेवतः ।
 अलग्नोऽभ्रदधोरात् शुद्धिस्तत्पुरुषाभिधात् ॥ ८३० ॥
 आसीदीशानवक्त्रात् समस्खलितसंज्ञकः ।
 जाताः पञ्चेति पञ्चभ्यो मुखेभ्यः पार्वतीपतेः ॥ ८३१ ॥
 अतस्ते सर्वपाटानां पाटा मुख्यतमा मताः ।
 क्रमात् तद्देवता ब्रह्मविष्णुशर्वरवीन्द्रवः ॥ ८३२ ॥
 नागबन्धश्च ^१पवनस्तथैकैकसराभिधौ ।
 ततो ^२दुःसरसंचार^३विक्षेपा नागबन्धजाः ॥ ८३३ ॥
 सप्तैत्यथ स्वस्तिकजाः स्वस्तिको बलिकोहलः ।
 फुल्लपूर्वश्च ^४विक्षेपः कुण्डलोपूर्व^५कश्च सः ॥ ८३४ ॥
 संचार^६विक्षेपो खण्डनागबन्धश्च पूरकः ।
 भेदाः सप्तैत्यलग्नस्य त्वेते सप्त प्रकीर्तिताः ॥ ८३५ ॥
 अलग्नोत्सारविश्रामा विषमाद्या खली सरी ।
 स्फुरी स्फुरणकश्चेति शुद्धेः स्याच्छुद्धिरादिमः ॥ ८३६ ॥
 स्वरस्फुरण^७कोत्फुल्लवलितावघटास्ततः ।
 तकारो माणिक्यवल्लो भेदाः सप्तैति संमताः ॥ ८३७ ॥
 समस्खलितकस्याद्यः समस्खलितसंज्ञकः ।
 विकटः सदृशः ^८पाटखली चाडुखली ततः ॥ ८३८ ॥
^{१०}अनुच्छलस्तथा खुतो भेदाः सप्तैति सन्त्यमी ।
 पञ्चत्रिंशद्विस्तपाटास्तलपाटाश्च कीर्तिताः ॥ ८३९ ॥

(क०) तेषु मुखपाटानां नागबन्धादीनामुत्पत्तिं दर्शयति
 —सद्योजातादिति ॥ नागबन्धानां पञ्चानां नामसाम्येन
 नागबन्धादयोऽवान्तरभेदाः क्रमेण द्रष्टव्याः । एकैकसराभिधा-
 विति । एकश्चैकसराभिधश्च । तलपाटाश्चेति हस्तपाटानामेव
 संज्ञान्तरम् ॥ ८३०-८३९ ॥

(सु०) सद्योजात इति । ईश्वरस्य सद्योजातमुखात् नागबन्धाख्यः
 पाटो जातः, वामदेवमुखात् स्वस्तिकाख्यः पाटः, अधोरमुखादलग्नः
 पाटः, तत्पुरुषमुखात् शुद्धः पाटः, ईशानमुखात् समस्खलित इति । एते पञ्च
 पाटाः ईश्वरमुखेभ्यो जाताः । तस्मान्मुख्याः । एतेषां क्रमेण देवता आह—
 क्रमादिति । ब्रह्मविष्णुशर्वरवीन्द्रवः क्रमाद् देवताः । एतेषां भेदानाह—
 नागबन्धश्चेति । नागबन्धपाटस्य, नागबन्धपवनादयो विक्षेपाः सप्त
 भेदाः । स्वस्तिकपाटस्य, स्वस्तिकादयः ^१पूरकान्ताः सप्त भेदाः ।
 अलग्नस्य, अलग्नदयः ^२स्फुरणकान्ताः सप्त भेदाः । शुद्धेः, शुद्ध्यादयो
 माणिक्यवल्ल्यन्ताः सप्त भेदाः । समस्खलितस्य, समस्खलितादयः
^३खुत्तान्ताः सप्त भेदाः । सर्वे एवं मिलिताः पञ्चत्रिंशद्विस्तपाटाः । त
 एव तलपाटा इत्युच्यते* ॥ ८३०-८३९ ॥

^१महेश्वर (A). ^२मधुपान्ता (B). ^३पूरकान्ताः (B). ^४परि-
 खृतान्ताः (B). * नागबन्धादयः विक्षेपाः नागबन्ध पाटस्य सप्त भेदाः—

ते यथा— । टनगिन गिननगि । इति नागबन्धः ॥ नन गिड गिड दगि ।
 इति पवनः ॥ गिड गिड दंखा । इति एका ॥ किट त त । इति एकस्वरः [एक
 सरः?] ॥ न थु । इति द्विसरः [दुःसरः?] ॥ खिरतकटि । इति संचरः ॥ । खो
 कि । इति विक्षेपः । स्वस्तिकादयः पूरकान्ताः स्वस्तिक पाटस्य सप्त भेदाः—

ते यथा— । तत कि तकि । इति स्वस्तिकः ॥ खादं खा ॥ इति कोहलः
 [बलि कोहलः?] ॥ थो गिन । इति (पुल्ल पूर्वः विक्षेपः), पुल्ल विक्षेपः ॥ थो थो
 गो - - । इति कुण्डलिनीविक्षेपः ॥ थो गि तत्ता [ता?] । इति संचारविक्षेपः

^१ शक्र (D). ^२ पणवस्त (D). ^३ द्विस्व (D). ^४ विज्ञेया (D).
^५ विज्ञेयः (D). ^६ संज्ञकः (D). ^७ विलिखी I ed. ^८ कोच्छल्लवलिता
 I ed. ^९ पाटस्खलिताडुखलीनकः (D). ^{१०} पटस्फुल्ल (D).

[संगार विखली?] ॥ किट थों थों गिन खे खे । इति खण्डनागबन्धः ॥ दकु दवं । इति पूरकः ॥ अलम्नादयः स्फुरणकान्ताः अलम्नापाटस्य सप्त भेदाः—

ते यथा— । त या गडा गणदा गडा । इति अलम्नः ॥ । इति उदारः [इति उत्सारः?] ॥ तकि धिकि । इति विश्रामः ॥ । टकु नख् । इति विषम-स्थलितः [विषम खली?] ॥ खि गि । इति । तरकि खिरकि । इति स्फुरणः ॥ शुद्धादयो माणिक्यबल्यन्ता सप्त शुद्धिपाटभेदाः—

ते यथा— । दर गिर गिद दगि दा । इति शुद्धिः ॥ टट कुट कुटा । इति स्फुरणाः [स्वर स्फुरणा?] ॥ नन गिन खनि खनि । इति उतशंकु । [उत्फुल्लः?] ॥ दखे दखे खे । इति वलितः ॥ थों गिन गि । इति अवषटः ॥ । त ता [ता?] । इति तकारः ॥ वि धि । इति माणिक्यबली ॥ समस्थलितादयः खुत्तान्ताः सप्त समस्थलितपाटस्य भेदाः—

ते यथा— । नक्नु । नक्नु नक्नु । इति समस्थलितः ॥ गिरि गिर गिर कट । इति सद्गः [किटः?] । खि खि किटकि । इति खरी सद्ग [पाटखली?] ॥ गिदि नगि । इत्युन्त्री? [पाटखली?] [चाडुखली?] । थर कट । इत्यनुल्बणः आहुखली? [अनुच्छलः?] ॥ दोनकट । इति खण्डः [अनुच्छलः?] [खुत्तः?] ॥ किण किण कि । इति स्तुत [खुत्तः?] [सद्गः?] ॥ इति ईश्वर पञ्च वक्त्रोद्भवाः पञ्चत्रितत् पाटाः ॥ (B).

कोणाहृतश्च संध्रान्तो विषमार्धसमाविति ।

चत्वारो हस्तपाटाः स्युर्नन्दिकेश्वरभाषिताः ॥ ८४० ॥

उत्फुल्लः खलकस्तद्वत् पाण्यन्तरनिकुट्टकः ।

दण्डहस्तः पिण्डहस्तो युगहस्तोर्ध्वहस्तकौ ॥ ८४१ ॥

स्थूलहस्तोऽर्धार्धपाणिः पार्वपाण्यर्धपाण्यपि ।

कर्तरीसमकर्तरी ततो विषमकर्तरी ॥ ८४२ ॥

समपाणिश्च विषमपाणिः स्यात् पाणिहस्तकः ।

नागबन्धोऽप्यवघटः स्वस्तिकश्च समग्रहः ॥ ८४३ ॥

इत्येकविंशतिहस्तपाटाः स्युः पटहादिषु ।

¹ युग (D).

¹ उल्लोलः पाण्यन्तरश्च निर्घोषः खण्डकर्तरी ॥ ८४४ ॥

दण्डहस्तः समनखो बिन्दुर्धमलहस्तकः ।

रेचितो ²भ्रमरो विद्युद् विलासोऽप्यर्धकर्तरी ॥ ८४५ ॥

अलम्नाख्यस्ततो रेफः समपाणिरतः परम् ।

परिवृत्तः षोडशेति बाधेषु पटहादिषु ॥ ८४६ ॥

एतान् ³प्रायो हुडुककायां कुर्वते बाधवेदिनः ।

अष्टौ विषमपाटाः स्युरपाटाख्यान् भुवेऽधुना ॥ ८४७ ॥

तलप्रहारः प्रहरो वलितो गुरुगुञ्जितः ।

अर्धसञ्चस्त्रिसञ्चश्च विषमोऽभ्यस्त इत्यमी ॥ ८४८ ॥

स्यात् ⁴मलगपाटौ द्वौ सञ्चविच्छुरिताभिधौ ।

भ्रमरः कुञ्चितश्चेति चित्रपाटावुभौ मतौ ॥ ८४९ ॥

अष्टाशीतिरिमे हस्तपाटा निःशङ्ककीर्तिताः ।

(क०) मतान्तरेण पटहे चतुरः पाटानुद्दिशति—

कोणाहृतश्चेत्यादि । पटहादिसाधारणानेकविंशतिहस्तपाटानुद्दिशति—उत्फुल्ल इत्यादि । पटहादिसाधारणत्वेऽपि प्रायेण ⁵हुडुककागतान् षोडश पाटानुद्दिशति—उत्फुल्ल इत्यादि । अपाटापरसंज्ञकानष्टौ विषमपाटानुद्दिशति—तलप्रहार इति । अथापरांश्चतुरः पाटानुद्दिशति—सञ्चेत्यादि । मिलितां हस्तपाटसंख्यामाह—अष्टाशीतिरिति ॥ ८४०—८५० ॥

(सु०) मतान्तरेण पटहे पाटभेदानाह—कोणाहृत इति । कोणाहृतादयश्चत्वारः पाटाः नन्दिकेश्वरप्रोक्ता हस्तपाटाः । उत्फुल्लादयः

¹ च. उल्लोप्यः fin. I ed.

² भ्रमिती (D).

³ एतत्ता (D).

⁴ च तान् (D).

⁵ मलगपाटौ (D).

⁶ हुडुकगतान् I ed.

सम^१ग्रहान्ता एकविंशतिः पटहादिषु हस्तपाटाः । उल्लोलादयः
परिवृत्तान्ताश्च षोडश । एतान् प्रायो हुडुकायां बाद्यवेदिनः कुर्वन्ते ।
तलप्रहारादयोऽष्टौ विषमपाटाः, त एव अपाटा इत्युच्यन्ते । ^२सञ्च-
विच्छुरितौ चालगपाटौ स्याताम् । भ्रमरकुञ्चितौ च चित्रपाटौ । एव-
मष्टाशीतिहस्तपाटाः ॥ ८४०-८५०-॥

शिववक्त्रोत्थपाटानां स्वरूपं प्रतिपादये ॥ ८५० ॥
तेषामुत्पादकान् पाणील्लोकतो लक्षयेत् सुधोः ।

(क०) अथ नागबन्धादीनां पञ्चत्रिंशद्वस्तपाटानां
स्वरूपाणि लोकप्रसिद्ध्या दर्शयति—शिववक्त्रोत्थेत्यादि ।
तत्रैकसराख्ये हस्तपाटे किटतते [टे?]ति वर्णान् लिखित्वा
अनन्तरं द्व्यङ्को लोखितः । तेन तेषां द्विरुच्चारणमवगन्तव्यम् ।
किटतट, किटतटेति । एवं सर्वत्र पाटसंख्याङ्कान् विहाय मध्ये
विन्यस्तैः द्व्यादिसंख्याङ्कैः तत्पूर्वस्य वर्णसमुदायस्य द्विरुच्चारणा-
दिकं द्रष्टव्यम् ॥ ८५०, ८५१-॥

तद्यथा—(१) टनगिन गिननगि-इति नागबन्धः, (२) ननगिड
गिडदगि-इति पवनः, (३) गिड गिड^३दत्था-इत्येकः, (४) ^४किटतट २-
इत्येकसरः, (५) नखु नखु-इति दुःसरः, (६) खिरतकिट-इति ^५संचारः,
(७) थोगि ^६थोगि-इति विक्षेपः ।

इति सद्योजातोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः^१

(सु०) तत्र ईश्वरमुखोद्भवानां पञ्चत्रिंशद्वस्तपाटानां स्वरूपं
प्रतिज्ञाय कथयति—शिववक्त्रोत्थेत्यादिना । क्रमेण, तेषां लक्षणान्याह—
तद्यथेति । तत्र नागबन्धादयो विक्षेपात्ताः सप्त हस्तपाटा यथा—टनगिन
गिननगि इति नागबन्धः (१); ननगिड गिडदगि इति पवनः (२);
गिडगिड ^३गिडदत्था इत्येकः (३); किटतट २, इत्येकसरः (४); न ^५खु
नखु इति दुःसरः (५); खिरत^६किट इति संचारः (६); ^७थोगि थोगि
इति विक्षेपः (७) इति सद्योजातोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः ॥ १ ॥

(क०) (१) ततकिट^६किट-इति स्वस्तिकः, (२) थो
हंता-इति बलिकोहलः, (३) थोगिन थोगिन^९ थोगिन-इति
फुल्लविक्षेपः, (४) थोगिं गोगिं-इति कुण्डलीविक्षेपः, (५)
थोगिण^{१०}तता-इति ^८संचारविलिखीः, (६) किट^७थोगिं गिन^{१०}खे-
इति खण्डनागबन्धः, (७) टकु अँअँ-इति पूरकः ।

इति वामदेवोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः

(सु०) स्वस्तिकादयः पूरकान्ताः सप्त पाटभेदा यथा—
^१ततकिटकिट-इति स्वस्तिकः (१); ^२थो हंता-इति बलिकोहलः (२);
थोगिन^३ थोगिन थोगिन-इति फुल्लविक्षेपः (३); थोगिं ^४गोगिं-इति
कुण्डलीविक्षेपः (४); थोगिणतता-इति संचारविलिखी (५); किटथो
थोगिन ^६खे-इति खण्डनागबन्धः (६); ^७टकु अँअँ-इति पूरकः (७)
वामदेवोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः ॥ २ ॥

^१ गान्ता (A), (B). ^२ वृत्तान्ता (B). ^३ संवरीस्फुरितौ (A).
संचारी स्फुरितौ बद्धावगपाटौ (B). ^४ पाद्यते (D). ^५ दत्ता (D).
^६ किट तत टट इत्येकसरः (D). ^७ पञ्चसरा (D). ^८ थोगि (D).
^९ पाटहस्ताः (D).

^१ दंखा (B). ^२ थु इति द्विसरः (B). ^३ कटि इति संचरः (B).
^४ खो कि इति (B). ^५ किट (D). ^६ थोगि (D). ^७ तता (D).
^८ सविलिखी (D). ^९ तौ थो (D). ^{१०} खे न खे (D). ^{११} ततकि
तकि (B). ^{१२} खा दंखा इति कोहलः (B). ^{१३} थोगिन-इति (B). ^{१४} गां
गां (B). ^{१५} खे खे (B). ^{१६} टकु दंदं (B).

(क०) (१) ^१नग गिडगिड दगिदा-इत्यलनः, (२) ^२दत्थरिक दत्थरिक-इत्युत्सारः, (३) तकि ^३धिकि^३ तकि धिकि-इति विश्रामः, (४) ^४टगुनगु टगुनगु-इति विषमस्खलितो वा, (५) खिरितु ^५खिरितु-इति सरी, (६) खिरि खिरि-इति स्फुरी, (७) ^६नरकि त्थरिकि-इति स्फुरणः ।

इत्यधोरोद्भवाः सप्त हस्तपाठाः

(मु०) अलग्नादयः स्फुरणान्ताः सप्त पाठभेदा यथा—^१ततकिट दगिडदा-इत्यलनः (१); दत्थरिकि दत्थरिकि-इत्युत्सारः (२); तकि धिकि तकि धिकि-इति विश्रामः (३); ^४टगुनगु टगुनगु-इति विषमस्खलितः (४); खिरितु खिरितु-इति सरी (५); खिरि खिरि-इति स्फुरी (६) ^५नरकित्थरिकि-इति स्फुरणः (७) इत्यधोरोद्भवाः सप्त हस्तपाठाः ॥ ३ ॥

(क०) (१) दरि^{१०}गिड गिडदगिदा-इति शुद्धिः, (२) टटकुटट-इति स्वरस्फुरणः, (३) ^{११}ननगिन खरिखरि-इत्युत्कुलः, (४) ^{१२}दखे दखे दखे-इति वलतः, (५) थो गिनगि थो गिनगि-इत्यवघटः, (६) तत्ता-इति तकारः, (७) धिधि-इति ^{१३}माणिक्यवल्ली ।

इति तत्पुष्पोद्भवाः सप्त हस्तपाठाः

^१ ततकिट गिड दगिदा (D). ^२ दत्थरिकि-इति सुत्सारः (D). ^३ धिनि तकि धिनि (D). ^४ टकुनगु टकुनगु (D). ^५ खिरितु (D). ^६ खरिनरकि-इति (D). ^७ तगा गडा गणदा गडा (B). ^८ टकु नखु-इति (B). ^९ तरकि खरकि-इति (B). ^{१०} किट गिडदगदा (D). ^{११} ननगिनन खननगिन नखु ननगि तंखिरि-इति उत्कुलः (D). ^{१२} दखे दखे खे-इति वलितः (D). ^{१३} माणिक्यावली (D).

(मु०) शुद्धादयो माणिक्यवल्लीन्ताः सप्त पाठभेदा यथा—^१दरिगिड गिड दगिदा-इति शुद्धिः, (१); ^२टटकु टट-इति स्वरस्फुरणः (२); ननगिन ^३खरिखरि-इत्युत्कुलः (३); ^४दखे दखे खे-इति वलितः (४); थो गिनगि थो गिनगि-इत्यवघटः (५); तत्ता-इति तकारः (६); ^५धिधि-इति माणिक्यवल्ली (७) इति तत्पुष्पोद्भवाः सप्त हस्तपाठाः ॥ ४ ॥

(क०) (१) ^६तज्ञे तज्ञे ज्ञे-इति समस्खलितः, समस्खली वा, (२) ^७गिरिगड गिरिगड-इति विकटः, (३) ^८कण कणकि-इति सद्दशः, (४) धिधिकटकि-इति खली, स्खलितो वा, (५) ^९दिगिनगि दिगिनगि-^{१०}इत्यडुखली, अडुस्खलितो वा, (६) धरकट^{११} धरकट-इत्यनुच्छलः, (७) ^{१२}दोनकट दोनकट-इति खुत्तः ।

इतीशानोद्भवाः सप्त हस्तपाठाः

इति सदाशिवपञ्चवक्त्रोद्भवाः पञ्चत्रिंशद्वस्तपाठाः

(मु०) समस्खलितादयः खुत्तान्ताः सप्त पाठभेदा यथा—^{१३}तज्ञे तज्ञे ज्ञे-इति समस्खलितः, समस्खली वा (१); गिरिगड गिरिगड-इति विकटः (२); ^{१४}कणकणकि-इति सद्दशः (३); ^{१५}धिधिकटकि-इति पाटखली, पाटस्खलितो वा (४); ^{१६}दिगिनगि दिगिनगि-इत्यडुखली,

^१ दरगिरि गिडदगि दा—(B). ^३ टट कुट कुटा-इति स्वरस्फुरणा (B).

^२ खनि खनि—(B). ^४ उतणकु [उत्कुलः?] दखे दखे खे—(B). ^५ विधि—(B).

^६ नज्ञे नज्ञे ज्ञे—(D). ^७ गिरिगिड गिरिगिड—(D). ^८ कण कण कि—(D).

^९ दिगिकिनगि—(D). ^{१०} इत्यडुखली, अडुखलितो वा (D).

^{११} धरकटता—इत्यनुत्कुलः (D). ^{१२} दोनक-इति खण्डः (D). ^{१३} नवतु नवतु नवतु—(B).

^{१४} गिरि गिरि गिरिकट—सद्दशः (B). ^{१५} धि धि किटकि—इति खरी (B).

^{१६} निदि नगि—(B).

अङ्गस्थलितो वा (५); ^१धरकट धरघट-इत्यनुच्छलः (६);
 श्दोनकट दौनकट-इति खलः (७) इतीशानोद्भवाः सप्त हस्तपादाः ।
 एषं सर्वे मिलित्वा पञ्चत्रिंशद्वस्तपादा भवन्ति ॥ ५ ॥ -८५०, ८५१-॥

कनिष्ठाङ्गुल^१संयोगाच्छेषाङ्गुलिर्विवर्तनात् ॥ ८५१ ॥

कोणाहतो हस्तपादः शार्ङ्गदेवोदितो यथा ।

^२खुंघुंघरि खुंघुंघरि करगिड करगिड ।

इति कोणाहतः (१)

सर्वाङ्गुल्यप्रधातश्च सर्वाङ्गुलिविवर्तनम् ॥ ८५२ ॥

यस्य निष्पादकं सोऽत्र संभ्रान्तः कथितो यथा ।

दरगिड^३ दरगिड गिरिगिडद दार्णकिट मटटकु ।

इति संभ्रान्तः (२)

चलनं मणिबन्धस्य पताकस्या^४थ कम्पनम् ॥ ८५३ ॥

पादकम्पोऽथ जनको यस्यासौ विषमो यथा ।

^५दहें दहें खुंखुं दहें खुंखुं दहें ततकि ततकि ।

इति विषमः (३)

पूर्वलक्षमविपर्यासाद् भवेदर्धसमो यथा ॥ ८५४ ॥

ददगिद^६ गिरिगिरिकिटदगि थों थों गिदथोंगिद ।

इत्यर्धसमः (४)

इति नन्दिकेश्वरोक्ताश्चत्वारो हस्तपादाः ।

^१ धरकट-इत्यनुच्छलः (B). ^२ दौनकट-इति खण्डः (B). ^३ संश्लेषा (D).
^४ वर्धनात् I ed. वरितात् (D). ^५ कुकु धरि धरि किट (D).
^६ व्याघ्रसंघातः (D). ^७ दरकिट गिरि गिडद दार्णकिट गिटदकु (D).
^८ दधनघनम् (D). ^९ दहें खुं खुं वत तरि किट—(D). ^{१०} गिगिद गिरि
 गिदगि गिथों गिथों थों गिदि (D).

(क०) नन्दिकेश्वरोक्तानां पाटानां स्वरूपं वादनप्रकार-
 पूर्वकं दर्शयति—कनिष्ठाङ्गुल्युत्थादि ॥ -८५१-८५४ ॥

(सु०) तत्र नन्दिकेश्वरप्रोक्तं 'कोणाहतादिपाटचतुष्टयं लक्षयति
 —कनिष्ठेति । कनिष्ठाङ्गुल्युत्थादयोः संयोगात् अपरासामङ्गुलीनां विवर्त-
 नात् कोणाहतास्यो हस्तपादो जायते । सर्वासामङ्गुलीनामर्धधातः, विवर्तनं
 च यन्निष्पादयति स संभ्रान्तः । मणिबन्धरूपस्य करतलपूर्वप्रदेशस्य चलनं
 पताकहस्तावकम्पनं^३ च ईदृक् यश्च यस्य जनको निष्पादकः स जनकः ।
 स विषमः । एतल्लक्षणविपर्ययेण अर्धसमः । एते यथा—खुं खुं दरि
 करकिट—इति कोणाहतः (१); दरि गिड गिरिगिड दण किट मटटकु-
 इति संभ्रान्तः (२) दखु खुं खुदकु ततकि-इति विषमः (३); दडगिदगि
 गिरि गिड दगि थोंगिद—इति अर्धसमः (४) ॥ -८५१-८५४ ॥

इति नन्दिकेश्वरोक्ताश्चत्वारो हस्तपादाः

उत्फुल्लो नखराधातादलपद्मस्य जायते ।

^४कहें कहें ।

इत्युत्फुल्लः (१)

यदा प्रसारिताङ्गुलः शुकतुण्डस्य हन्यते ॥ ८५५ ॥

विरलाङ्गुलिभिर्वाद्यं क्रमेण खलकस्तदा ।

^५दागिड गिडदगिदा ।

इति खलकः (२)

यस्तु दक्षिणहस्तस्य^६ तर्जन्यङ्गुल्युत्था^७घाततः ॥ ८५६ ॥

^१ कोणाहता (B). ^२ गुलेः (A), गुले (B). ^३ कम्पने वाद्यकं यश्च (B).
^४ दहें—(D). ^५ दिगिड गिडदि गिता—(D). ^६ ख. ग. च. तर्जन्याङ्गु
 fn. I ed. ^७ ङ्गुल्युत्थाततः fn. I ed.

क्रमव्युत्क्रमधातात्तु वामहस्तेन रेफवत् ।

जायते शार्ङ्गणोक्तोऽसौ पाण्यन्तरनिकुट्टकः ॥ ८५७ ॥

दगिडदां खरिक्कदां खरिक्क खरिक्कदांदां खरिखरिदां गिडदां ।

इति पाण्यन्तरनिकुट्टकः (३)

ऊर्ध्वधातं पताकेन कृत्वैकमथ रेफतः ।

कृतौ यत्रोर्ध्वधातौ द्वौ दण्डहस्तो भवेदसौ ॥ ८५८ ॥

दातरिकिट दां खरिखरिदां ।

इति दण्डहस्तः (४)

क्रमाद्रेफोर्ध्वहस्ताभ्यां पिण्डहस्तः प्रजायते ।

^१थरिकटञ्जे थरिकटञ्जे ।

इति पिण्डहस्तः (५)

रेफात्मभ्यां कराभ्यां चेदूर्ध्वधातद्वयं पृथक् ॥ ८५९ ॥

क्रियते पाटनिष्पत्त्यै युगहस्तस्तदा भवेत् ।

द्वे द्वे दांदां

इति युगहस्तः (६)

ऊर्ध्वहस्तो दक्षिणेन तलेनोद्गाढघातकः ॥ ८६० ॥

^२दरगिड दांदां ।

इत्यूर्ध्वहस्तः (७)

^१ दरि कट ञ्जे — (D).

^२ दरि गिड दां दां दां — (D).

(क०) अथैकाविंशतिहस्तपाटान् दर्शयति—उत्फुल्ल
इत्यादि । अलपद्मस्य नखराघातादिति ।

“व्यावर्तिताख्यकरणं कृत्वैव समवस्थिताः ।

यस्याङ्गुल्यः करतले पाश्वर्गाः सोऽलपल्लवः ॥

अलपद्मः स एव स्यादङ्गुलीनां तु केचन ।

अस्य व्यावर्तितस्थाने परिवर्तितमूचिरे ॥”

(श्लो. १४४, १४५ सप्तमे नर्तनाध्याये)

इत्यलपद्महस्तस्य लक्षणं वक्ष्यति । तस्य नखराघातादिव्यावृत्ति-
करणेन कृतादित्यर्थः । उत्तरत्रापि वादनोपयोगित्वेनोक्तानां
हस्तानां लक्षणानि नृताध्यायत एवावगन्तव्यानि ॥ ८५१-८६० ॥

^१ऊर्ध्वधातद्वयं कृत्वा तलहस्तेन हन्यते ।

यदा वाद्यपुटद्वन्द्वं स्थूलहस्तस्तदोदितः ॥ ८६१ ॥

^२खुंखुदं खुंखुदं ।

इति स्थूलहस्तः (८)

अर्धार्धपाणिर्धर्धाभ्यां करयोस्ताडनाद् भवेत् ।

खुदां खुदां ।

इत्यर्धार्धपाणिः (९)

^३वादनं नखराग्रेण पाश्वर्धपाणिर्वाहृतः ॥ ८६२ ॥

थरगिड दागिड दगिड दगिड ।

इति पाद्वर्धपाणिः (१०)

^१ व. ऊर्ध्वहस्तद्व द्व. I ed.

^२ खुंखुद इति (D).

^३ वादनात् (D).

अर्धपाणिर्भवेदेककराप्रकृतताडनात् ।

दगिड दगिड दरगिड दरगिड ।

इत्यर्धपाणिः (११)

प्रचालनाद्वामहस्ताङ्गुलीनां कर्तरी मता ॥ ८६३ ॥

^१टिरि टिरि टिरि किटथो दिगिदां तिरि टिरि किटझेंझें तकिकिट ।

इति कर्तरी (१२)

कर्तरीभ्यां समं घातः कराभ्यां समकर्तरी ।

झिनकिट कनकिट किटझेंथो दिगिद तिरिटि तिरिटिकि ।

इति समकर्तरी (१३)

क्रमेण ताडनाद् द्वाभ्यां भवेद् विषमकर्तरी ॥ ८६४ ॥

टिरि टिरि थो दिगिद टिरि टिरि किद ।

इति विषमकर्तरी (१४)

अङ्गुष्ठाङ्गुलिसंघातौ हस्तयोर्युगपद् यदा ।

पीडयेतां पुटद्वन्द्वं समपाणिस्तदा भवेत् ॥ ८६५ ॥

दां गिड गिड दांदां ।

इति समपाणिः (१५)

व्यत्ययाद् व्यापृतौ हस्तौ साङ्गुष्ठाङ्गुलिभिः क्रमात् ।

यस्मिन् विषमपाणिं तं ब्रूते शंकरबल्लभः ॥ ८६६ ॥

दांदां गिड गिड दांदां ।

इति विषमपाणिः (१६)

^१किरि किरि टिकि रिटथो थिगि गिट रिटि किरि किरि टथो दि गिट रिथिरिकि झें नगितु (D).

समपाणेस्तु विरलाङ्गुलित्वे पाणिहस्तकः ।

तरगिड दरगिड ।

इति पाणिहस्तकः (१७)

नागबन्धो विपर्यासात् पुटयोः करघाततः ॥ ८६७ ॥

प्रत्येकं वा पुटद्वन्द्वे कराभ्यां ताडनादयम् ।

इति नागबन्धः (१८)

तलेन हत्वा प्रहरेत् साङ्गुष्ठाङ्गुलिभिः क्रमात् ॥ ८६८ ॥

पुटमेकैकपाणिश्चेद् भवेदवघटस्तदा ।

ततगिड गिड दगितन गिनगिननगि ।

इत्यवघटः (१९)

पुटमेकं निहन्त्यातां स्वस्तिके स्वस्तिकौ करौ ॥ ८६९ ॥

तकिट तकिटतकि ।

इति स्वस्तिकः (२०)

समं करतलाभ्यां तु पुटघातात् समग्रहः ।

तले केचिदिह प्राहुरङ्गुष्ठाङ्गुलिर्वजिते ॥ ८७० ॥

तकिट किटतक ।

इति समग्रहः (२१)

इत्येकविंशतिर्हस्तपाटाः ।

(क०) वाद्यपुटद्वन्द्वमिति । वाद्यस्य पटहादेः पुटद्वन्द्वं वामदक्षिणमुखद्वयम् ॥ ८६९-८७० ॥

(सु०) उत्फुल्लादीनामेकविंशतिहस्तपाटान् लक्षयति—उत्फुल्ल इति । अलपद्यसंज्ञिकस्य हस्तस्य नृत्याध्याये वक्ष्यमाणस्य नखाधातात् उत्फुल्लः (१) प्रसारितोऽङ्गुष्ठो यस्मिन्, तथाविधस्य वक्ष्यमाणशूक-तुण्डाख्यहस्तस्य (श्लो. १२२, १२३; १३७, १३८- नर्तनाध्याये) विरलाभिरङ्गुलीभिः क्रमेण ^१यदा वाद्यते तदा खलकः (२) दक्षिण-हस्तस्य तर्जन्यङ्गुष्ठयोः^३ ताडितवामहस्तस्य च पूर्वोक्तरेफवत् ^४क्रमा-धातेन व्युत्क्रमा^५धातेन च यत्र जायते स पाण्यन्तरनिकुट्टकः^६ (३) पता-काख्येन वक्ष्यमाणहस्तेन (श्लो. १०२ सप्तमे नर्तनाध्याये) ऊर्ध्वप्रदेशे एकं धातं कृत्वा सर्वाङ्गुलीकृतरेफहस्तेन द्वौ धातौ यत्र क्रियेते असौ दण्डहस्तः (४) क्रमेण रेफस्योर्ध्वहस्ताभ्यां च करणे पिण्डहस्तः (५) रेफाभ्यां हस्ताभ्यामूर्ध्वधातद्वयं पृथक् पाटनिष्पत्यर्थं क्रियेते चेत् तदा युगहस्तः (६) दक्षिणेन हस्तेन तीव्र^७धातात् ऊर्ध्वहस्तः (७) ऊर्ध्वं धातद्वयं विधाय तल-हस्तेन यदा वाद्यस्य पुटद्वयं हन्यते तदा स्थूलहस्तः (८) करयोरर्धाभ्यां ताडने कृते सति अर्धार्धपाणिः (९) नखाग्रेण वादने पाद्वर्धपाणिः (१०) एकस्य करस्याग्रेण ^८ताडनेन अर्धपाणिः (११) वामहस्तस्य अङ्गुलि-चालनात् कर्तरी (१२) कर्तरीद्वयेन समकालं धातात् समकर्तरी (१३) द्वाभ्यां कराभ्यां क्रमेण ताडने विषमकर्तरी (१४) पुटद्वयं ^९पीडयित्वा हस्तयोरङ्गुलङ्गुलिधाते सम्पाणिः (१५) द्वौ हस्तौ अङ्गुष्ठो^{१०}सहि-ताभिरङ्गुलीभिः व्यत्ययात् व्यापृतौ, दक्षिणहस्तौ वामतः, वामो दक्षिणतः तदा विषमपाणिः (१६) सम्पाणिर्विरलाङ्गुलित्वे^{११} पाणिहस्तकः (१७) ^{१२}करयोर्विषयसात् कराधातात्पुटयोः प्रत्येकं वा पुटद्वये करद्वयताडनादयं नागबन्धः (१८) एकैकेन हस्ततलेन धातं कृत्वा अङ्गुष्ठसंहिताङ्गुलीभिः क्रमात् यदा प्रहारं करोति तदा अवधटः^{१३} (१९) स्वस्तिकसंज्ञको द्वौ

^१ वा ये जयन्ते तदा (A). ^२ हस्ते (B). ^३ गुल्या (A). ^४ क्रमेण धातेन (A). ^५ क्रम धातेन च जायते (A). ^६ स यथा—दोमिड मिहद-मिडा (B). ^७ पात्रात् (A). ^८ वादनेन (B). ^९ पिण्ड (A), (B). ^{१०} रहि (A), (B). ^{११} द्वे (B). ^{१२} हस्तयो (B). ^{१३} अवधातः (A).

करौ एकं पुटं हत्वा नृत्याध्याये (श्लो. -१६२-१६३ सप्तमे नर्तनाध्याये) वक्ष्यमाणस्वस्तिकावन्ते भवेताम्, इति स्वस्तिकः (२०) करतलाभ्यां समकालं पुटे हन्यमाने ^१समग्रहः (२१) इह केचित् अङ्गुलङ्गुलिर्वाजितं तलमाहुः ॥ ८५५-८७० ॥

इत्येकविंशतिहस्तपाटाः

लोले व्यवहिताङ्गुष्ठो दक्षिणो यस्य साधकः ।

वामश्चोच्छलितो हस्तमुल्लोलं तं प्रचक्षते ॥ ८७१ ॥

अङ्गुष्ठमध्यमन्येऽत्र ब्रुवते दक्षिणं करम् ।

पुटमध्ये दक्षिणेन साङ्गुष्ठेन हतिं परे ॥ ८७२ ॥

^१शैथो शैथो थांथां शै ।

इति लोलः (१)

(उल्लोल इति लोके)

^२व्यङ्गुष्ठो दक्षिणो हस्तः पुटे चेन्मुहुरुल्लसत् ।

स्वपुटं पीडयेद् वामस्तदा पाण्यन्तरो भवेत् ॥ ८७३ ॥

विशिलष्टाङ्गुलिसंचारमङ्गुष्ठार्धाधिताडनम् ॥

पाण्यन्तरस्य जनकं केचिदाचक्षते बुधाः ॥ ८७४ ॥

अन्ये पाण्यन्तरं प्राहुर्व्यङ्गुल्युक्तलक्षणम् ।

हस्तान्तरं ततो भिन्नं विशिलष्टादिकलक्षणम् ॥ ८७५ ॥

^३नखे नखे नखे खेखे नखे नखे नखे खेखेखेखे दखुं खुंद खुंद ।

इति पाण्यन्तरः (२)

^१ क हस्तो (B). ^२ समयः (A), (B). ^३ श्वेच्छुवसितो I ed. श्वाच्छासितो (D). ^४ स्तमुल्लोलं प्रचक्षते (D). ख. ग. च. लोप्यं तं fn. I ed. ^५ शैथो थां शै-इति (D). ^६ अङ्गुष्ठो (D). ^७ विशिलष्टाधिक (D). ^८ नखो नखो नखो खे खे खे खुं खुं, खुंद खुंद (D).

कोणघातेन निर्धोषं निःशङ्कः समभाषत ।

^१नखि शोथो दिगिदा ।

इति निर्धोषः (३)

^२घाताद् दक्षिणहस्तेन विरलाङ्गुलिना ततः ॥ ८७६ ॥

अङ्गुष्ठघातैर्वामेन पीडनात् ^३खण्डकर्तरी ।

दां खुखुदां२ खुखुग थोटं३ दें झेंदों गिथोटै ।

इति खण्डकर्तरी (४)

अङ्गुल्यग्रैः पीडयित्वाङ्गुष्ठेन परिघट्टनात् ॥ ८७७ ॥

वामेन पीडनाद् बाह्ये दण्डहस्तोऽभिजायते ।

खुखुणं खुखुणं झेंद्रं३ टिरिटिरि ।

इति दण्डहस्तः (५)

समत्वं पाटवर्णानामङ्गुलीनखराहते^४ ॥ ८७८ ॥

दृश्यते यत्र तं प्राहुः पाटं समनखाभिधम् ।

रह रह तरकिट धिकिट तकिधकि टेहेटहेनः ।

इति समनखः (६)

अवष्टभ्य पुटं वामपाणिना तर्जनीहते^५ ॥ ८७९ ॥

बिन्दुस्त्वद्यतं प्रोक्तमिति सोढलसूनुना ।

दैदिगि दैदिगि गिरिगिगि २ ।

इति बिन्दुः (७)

^१नख शो थोगि दिगिदा (D). ^२च. घातो दक्षि fin. I ed. घाता दक्षि (D). ^३खण्ड (D). ^४हतेः (D). ^५हतेः (D).

समवष्टभ्य वामेन पुटं दक्षिणपाणिना ॥ ८८० ॥

संपीडनं वादयेच्चेत् तदा यमलहस्तकः ।

कुंद कुंद झेंद्र झेंद्र झेंहें झेंहें ।

इति यमलहस्तः (८)

उत्तुङ्गीकरणं बाह्ये स्कन्धस्य स्फुरणं तथा ॥ ८८१ ॥

अङ्गुष्ठतर्जनीघातः पाटं कुर्वन्ति रेचितम् ।

दैदें थाथों दैदें नखझें३ नहनझें ।

इति रेचितः (९)

भ्रमरो हस्तपाटः स्यात् समस्ताङ्गुलिताडनात् ॥ ८८२ ॥

खेखेणं खुखुणं खु३ णं झेंद्र२ णह करें झें ।

इति भ्रमरः (१०)

अङ्गुष्ठतर्जनीघाताद् बलिताधार्धहस्तकः^१ ।

विद्युद्विलासो भणितो विद्युद्विलसितोऽथवा ॥ ८८३ ॥

तणे३ तिरि झोंझों द्रि३ बां ।

इति विद्युद्विलासः (११)

तर्जनीमध्यमा^२नामा विरलाः प्रहरन्ति चेत् ।

श्रीश्रीकरणनाथेन तदा प्रोक्ताधर्ककर्तरी ॥ ८८४ ॥

दोखुखुं३ ग्रेह घेट३ झेंहें धिगिगि थोटें ।

इत्यधर्ककर्तरी (१२)

^१हस्तकः (D). ^२घाता (D).

हस्तौ न कुण्डलीलग्नौ यत्रालग्नं तमूचिरे ।

खुंखुं नखे श्रेहेगिर् थोटें ।

इत्यलग्नः (१३)

स्याद् रेफः स्कन्धसञ्ज्ञेन समस्ताङ्गुलिघाततः ॥ ८८५ ॥

हनथों श्रेक्षे द्रंरं श्रेक्षे श्रेक्षे ।

इति रेफः (१४)

समपाणिरविश्रान्तविरलाङ्गुलिघाततः ।

ननगिर् देगि थों गिनहर् श्रे ।

इति समपाणिः (१५)

परिवृत्तो हस्तपाटः स्यात् पुटं द्वन्द्वताडनात् ॥ ८८६ ॥

श्रे थों४ गिगना३ ।

इति परिवृत्तः (१६)

इति षोडश प्रायिकहौडुकहस्तपाटाः

(क०) अथ प्रायिकहौडुककान् षोडश हस्तपाटान् दर्शयति—लोलो व्यवहिताङ्गुष्ठ इत्यादि ॥ ८७१-८८६ ॥

(मु०) षोडश प्रायिकहौडुककपाटान् लक्षयति—लोल इति । दक्षिणो हस्तो व्यवहिताङ्गुष्ठः, वामहस्तश्चोच्छलितः, यस्य साधकः यं साधयति स लोलः । अन्ये त्वाचार्याः अङ्गुष्ठो मध्यस्थो यस्य तथाविधं

१ यत्र लग्नं (D). २ द्वय (D). ३ प्रायेण I ed. ४ मणिस्कन्ध-चलावहिता (A). चलव्यवहिताङ्गुलिः (B). ५ चोलसितः (मु०). ६ उल्लोलः (मु०).

दक्षिणहस्तामाहुः । केचिदङ्गुष्ठसहितेन दक्षिणहस्तेन हतिमाधातमाहुः (१) अङ्गुष्ठेन विना दक्षिणो हस्तः पुटमध्ये पुनरुल्लासं प्राप्नोति, वामहस्तश्च वामपुटं पीडयति चेत्, तदा पाण्यन्तरः । केचिद् विरलाङ्गुलिसंचारो यस्मिन्, तथाविधमङ्गुष्ठेन अर्धार्धताडनं पाण्यन्तरं जनयतीत्याहुः । अपरे तु अङ्गुष्ठायुक्तलक्षणहीनमन्ते हस्ते मध्ये लग्नं पूर्वोक्तलक्षणमेवमाहुः (२) कौणेन धाते कृते सति निर्धारः (३) विरलाङ्गुलिना दक्षिणहस्तेन घातात् वामेनाङ्गुष्ठघातः पीडनात् खण्डकर्तरी (४) दक्षिणहस्तेन अङ्गुल्यग्रैः पीडनान्तरमङ्गुष्ठेन घट्टनं, ततः वामहस्तेन पीडनं चेत्, तदा दण्डहस्तः (५) अङ्गुलीभिर्नखैश्च संघातात् पाटवर्णानां समत्वं यत्र, स समनखः (६) वामेन पाणिना वामपुटं अवष्टभ्य धृत्वा दक्षिणपुटे तर्जन्या आहते सति घातात् बिन्दुः (७) वामहस्तेन वामपुटं अवष्टभ्य धृत्वा दक्षिणहस्तेन संपीडनात् वादयेत् चेत् स, यमलहस्तः (८) वामस्योर्ध्वोत्करणं, स्कन्धस्य स्फूर्तिः, अङ्गुष्ठेन तर्जन्या च धातः, एतै रेचिताख्यं पाटं यत्र जनयन्ति, स रेचितः (९) समस्ताङ्गुलीनां भ्रमररूपताडनात् भ्रमरः (१०) अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां घातात् वलि-तार्धार्धहस्तकेन वादने विद्युद्विलासः, विद्युद्विलसितो वा (११) तर्जनी-मध्यमातामिकाङ्गुलयो विरलाः प्रहारे कुर्वन्ति चेत्, तदा अर्धकर्तरी (१२) हस्तौ कुण्डली सर्पाकारत्वेन यत्र लग्नौ स अवलग्नः (१३) स्कन्धेनत्या समहस्ताङ्गुलिपाटात् रेफः (१४) अनवरतं विरलाङ्गुलिघातात् समपाणिः (१५) हस्ताभ्यां पुटद्वयताडनात् परिवृत्तः । एते यथा—दे थां देथां थां थां थां-इति उल्लोलः (१) नखे नखे नखे खे

१ विभक्ताङ्गुलि (B). २ पाश्वर्धार्ध (B). ३ हस्तमध्ये (B).

४ पाटनात् (A). ५ वाद्यस्योत्प्लवकरणे सति (B). ६ भ्रमररूपकचालनात् (B). ७ परिवृत्ताधार्ध (A). ८ हस्तेन कुण्डली सर्पाकारत्वं यत्र लग्नं (A). यत्र हस्तः कुण्डलीलग्नो न भवति सः (B). ९ संस्थे वाद्ये (B). १० बालनात् (B). ११ अविश्रान्त (B).

खं खं नखं नखं नखं खं खं इति ^१पाण्यन्तरः (२) नख खि खों खों
दिगि दन-इति निर्घोषः (३) , इति ^४खण्डकर्तरी (४)
खुखुनं खुखुनं केद्र मेंद्र चिरि चिरि चिरि इति ^५वण्डहस्तः (५) नह हेतर
विकटतर विकटतकि कि कि धकि विकि टें हैं डेंतः-इति समनलः (६)
दें दं गिदें गि गिरिगिट-इति बिन्दुः (७) खुदु खुदु झें ल-इति यमल-
हस्तः (८) दें दें डायं देदें नहझें नहझें-इति रेंचितः (९) खोग खु खुन
खोग झेंद्र शेंद्रा-इति भ्रमरः (१०) तण तण चिर झेंडे-इति विद्युद् बिलास,
(११) दंड खंड ग्रह झें झें झें गंडे-इति अर्धकर्तरी (१२) खु खुदु
खुखुद नखे खें फिस्त्य-इति अलग्नः (१३) नख थों झें थान हथों-इतिः
रेफः (१४) न न गिन तगि देगि थंगि नह करझें-इति समपाणिः (१५)
झेंथा झेंथा-इति परिवृत्तः (१६) ॥ ८७१-८८६ ॥

इति षोडश प्रायिकहोडुक्कहस्तपाठाः

तलप्रहारहेतुः स्याद् वामस्कन्धप्रचालनम् ।

मध्येवामपुटं वामपाणिना च निपोडनम् ॥ ८८७ ॥

दें थो व्रें धिकिट किट झेंधितिरिर् त्वा ।

इति तलप्रहारः (१)

तलाङ्गुष्ठप्रहारेण ^२प्रहरोऽभिहितो बुधैः ।

झेंदां थो गिदिगिदर किट धो धो ।

इति ^३प्रहारः (२)

ऊर्ध्वग्रे पट^४हादौ तु तर्ज्यङ्गुष्ठधारिते ॥ ८८८ ॥

वादनेन समुद्भूतमपाटं बलितं विदुः ।

खुंखुदरिर् दां थोगि थोगि ।

इति बलितः (३)

^१ पार्श्वन्तरः (B).

^२ प्रहारो (D).

^३ प्रहारः (D).

अङ्गुष्ठानामिका^१भ्यस्तबलनाद् दक्षिणे पुटे ॥ ८८९ ॥

उच्छ्रासाद् वामपाणेश्च जायते गुरुगुञ्जितः ।

थुकर^४ थोरगिडिदा^२ धिकि थोटें ।

इति गुरुगुञ्जितः (४)

कम्पनं वामपादस्य नितम्बचलनं तथा ॥ ८९० ॥

उच्छ्रासनं करतलस्यार्धसञ्चप्रपञ्चकम् ।

खें खें दरि^२ खें खेंटः^२ ।

इत्यर्धसञ्चः (५)

त्रिकस्य चलनाद् वामाङ्गुष्ठस्य ^३परिघट्टनात् ॥ ८९१ ॥

स्कन्धसञ्चाञ्च^३ संजातं त्रिसञ्चं परिचक्षते ।

खेंदं खें खें दखेंद ।

इति त्रिसञ्चः (६)

हस्तवैषम्यसंजातो विषमः संमतः सताम् ॥ ८९२ ॥

खेंदं धरि^२ र् थों दिगि धरिखें^४ खरकट^२ ।

इति विषमः (७)

अपाटोऽभ्यस्तसंज्ञस्तु भवेत् करविवर्तनात् ।

खणगिणखिङ्ग^२ तकिधिकित ।

इत्यभ्यस्तः (८)

इत्यष्टावपाटाख्या हस्तपाटाः

(क०) अथापाटाख्यानष्टौ पाटान् दर्शयति—तलप्रहार-
हेतुरित्यादि ॥ ८८७-८९३- ॥

^१ म्यां तु (D).

^२ च विघट्टनाम् (D).

^३ ञ्चार (D).

(सु०) अथाष्टौ ^१अपाटाख्यहस्तपाटान् लक्षयति—तत्रेति ।
वामस्कन्धेन चालनम् अनन्तरं वामपुटस्य मध्ये मध्येवामपुटम्, “पारे मध्ये
षष्ठ्या वा” (पाणिनिसूत्रम् २-१-१८) इति समासः । तत्र वामपाणिना
वामपुटपीडनं च तलप्रहाराख्यस्य हेतुः कारणम्, इति तलप्रहारः (१)
तलेनाङ्गुष्ठेन च प्रहारेण प्रहाराख्यः पाटः, इति ^२प्रहारः (२) ऊर्ध्वप्रे
पटहावौ पटहे हुङ्कुकायां वा तर्जयङ्गुष्ठाभ्यां धारिते सति यद्वादनं तस्मात्
वलितारख्योऽपाटो जायते, इति वलितः (३) दक्षिणे पुटे अङ्गुष्ठा-
नामिकाभ्यामभ्यस्तात् पुनः कृतात् वलनात् वामपाणेरुच्छ्वासञ्च गुरु-
^३गुञ्जित उत्पद्यते, इति गुरुगुञ्जितः (४) वामपादस्य कम्पः, ^४तथा
नितम्बस्य चलनम्, करतलस्योच्छ्वासः, एते अर्धसञ्चाख्यमपाटं प्रपञ्चयति,
उत्पादयति ^५इत्यर्धसञ्चः (५) ^६त्रिकस्य चलनम्, वामाङ्गुष्ठस्य परि-
षट्पदनम्, स्कन्धस्येषन्नमनम् एते ^७भ्यस्त्रिसञ्चो जायते, इति त्रिसञ्चः (६)
हस्तवैषभ्येणोत्पन्ने विषमः, इति विषमः (७) करविवर्तनात् अभ्यस्तः,
इत्यभ्यस्तः (८) एते यथा-द्वे थां हें दिकि धकि किट्थें कितरि, इति तल-
प्रहारः (१) झें प्रं थो दिग थो थि दिग किट्थें थों, इति प्रहारः (२) खुं
खुं दरि दां थोगि दा थो गि, इति वलितः (३) गुं रं रटन गिदन गिद वि कि
थोडें, इति गुरुगुञ्जितः (४) खें खें दरि खें खें क, इति ^५अर्धसंज्ञः (५)
खेंद खेंद खे खे द खेद इति त्रिसञ्चः (६) ॥ ८८७-८९३-॥

इत्यष्टौ ^{१०}अपाटाख्या हस्तपाटाः

^१ विषमपाटान् (B) ^२ प्रहारः (A), (B). ^३ गुञ्जित (A).

^४ अनन्तरं अभ्यस्तात् पुनः पुनः कृताद्वलनात् करतलयोः तु उच्छ्वासनं
अर्धसंज्ञः (B). ^५ इत्यर्धसंज्ञा (A). ^६ त्रिकचलनं वामस्य वामाङ्गुष्ठस्य
च परिषट्पदानात् (B). ^७ भ्यः संचरता त्रिसंज्ञं (B). ^८ न्येण सङ्गोत्पन्नो (B).

^९ अर्धसंज्ञा (A). ^{१०} विषमपाटा (B).

अर्धाङ्गुल्यप्रघातोत्वं सञ्चवमाचक्षते यथा ॥ ८९३ ॥

थुकर २ गिणणं २ ।

इति सञ्चः (१)

करसञ्चनेन शुद्धेनाङ्गुष्ठघातेन च क्रमात् ।

उत्पन्नोऽल^१गपाटः स्थान्नाम्ना विच्युरितो यथा ॥ ८९४ ॥

शेंद्र २ शेंगिरि गिडिडा नगिरि गिडनम् ।

इति विच्युरितः (२)

इत्यल^१गपाटद्वयम्

(क०) अथालगपाटस्य भेदद्वयं दर्शयति—अर्धाङ्गुल्य-
प्रेत्यादि ॥ -८९३, ८९४ ॥

इत्यल^१गपाटद्वयम्

(सु०) ^१अलगपाटद्वयं लक्षयति—अर्धेति । अर्धेनाङ्गुल्यप्रेण
घातात् उत्पितः सञ्चाख्यः पाटः, इति सञ्चः (१) कर^२सञ्चनेनाङ्गुष्ठ-
^३घातेन चोत्पन्नो विच्युरितः, इति विच्युरितः (२) एतौ यथा- ढेकर
ढेकर गिणना णि, इति सञ्चः (१) शेंव शेंव झिगि रिडि झिगि रिडि न
गिन गिमगा, इति तलप्रहारगणपाटः (?) (२) इति अलग्नप्रहारगण
पाटद्वयम् ॥ -८९३, ८९४ ॥

इत्यल^१गपाटद्वयम्

^१ म्न (D). ^२ गुपाटद्वयम् (D). ^३ गुपाटद्वयम् (D). ^४ अलग्न (A).
^५ संकोचनाङ्गुष्ठ (A). ^६ घातमात्रा कमेणोत्पन्नो (B). ^७ नपाटद्वयम् (A).

तलप्रहारो बलितभेदितो^१ भ्रमरो यथा ।

दं थं द्रं शेंद्र४ खुंखुं धरि दथोंगि ।

इति भ्रमरः (१)

संकरात् करपाटानां कुञ्चितः कथितो यथा ॥ ८६५ ॥

खुंखुं धरि२ धरिगिगिडर दहें२ खुंखुं दहें२ गिरिगिडिदर

दथोंगि थोंगि२ ।

इति कुञ्चितः (२)

इति चित्रपाटद्वयम्

इत्यष्टाशीतिहस्तपाटलक्षणम्

(क०) अथ चित्रपाटस्य भेदद्वयं दर्शयति—तलप्रहार इत्यादि ॥ ८६५ ॥

(गु०) चित्रपाटयोर्लक्षणमाह—तलेति । पूर्वोक्ततलप्रहारेण पूर्वोक्तवलितेन च भेदितः मिश्रितो भ्रमरः, इति भ्रमरः (१) अन्येषां करपाटानां संकरात् इति कुञ्चितः, (२) एतौ यथा—दं खं णं तं शेंद्रं खुंखुं खुंदरि दथोंगि, इति भ्रमरः (१) खुंखुंदरि र धरि गिडर ध्रं३ं । खुंखुं द शेंद्र गिरि गिडि पद थोंगि थोंगिदं इति कुञ्चितः (२) ॥ ८६५ ॥

इति चित्रपाटद्वयम्

इत्यष्टाशीतिहस्तपाटलक्षणम्

पटहस्य हुडुक्कायाः पञ्चसञ्चान् ब्रुवेऽधुना ।

स्कन्धकूर्परयोस्तद्वदङ्गुष्ठमणिबन्धयोः ॥ ८६६ ॥

^१ भेदिनो (D).

^२ योः किञ्चिद् (D).

वामस्य चरणस्यापि कम्पः सञ्चोऽभिधीयते ।

श्रेष्ठः पाटहिकः सञ्चादङ्गुष्ठमणिबन्धयोः ॥ ८६७ ॥

स्कन्धकूर्परसञ्चात् नोचः पटहवादकः ।

वरो हौडुक्किकोऽङ्गुष्ठकूर्परस्कन्धसञ्चतः ॥ ८६८ ॥

सञ्चाभ्यां मणिबन्धोत्थ^१कूर्पराभ्यां तु मध्यमः ।

असौ वामाङ्गिप्रिसञ्चेन वादनादधमो भवेत् ॥ ८६९ ॥

इति पञ्चसञ्चलक्षणम्

(क०) अथ पञ्च सञ्चान् लक्षयति—पटहस्येत्यादि ॥ ८६६-८६९ ॥

(गु०) पञ्च सञ्चान् प्रतिज्ञाय कथयति—पटहस्येति । यस्तु पटहस्य हुडुक्कायाश्च पाटान् जानाति, तत्संबन्धिनः पञ्च सञ्चान् अधुना ब्रुवे कथयामि । सञ्चस्य लक्षणमाह—स्कन्धेति । स्कन्धकूर्पराङ्गुष्ठमणिबन्धवामचरणानां कम्पः सञ्च इत्युच्यते । पाटहिकः पटहवादकः, अङ्गुष्ठमणिबन्धयोः सञ्चात् श्रेष्ठः । स एव स्कन्धकूर्पराभ्यां नोचः । हौडुक्किकः हुडुक्कावादकः अङ्गुष्ठकूर्परस्कन्धानां सञ्चात् वरो श्रेष्ठः । स एव मणिबन्धोत्थकूर्पराभ्यां मध्यमः । वामाङ्गिप्रिसञ्चेनासौ अधम इति ॥ ८६६-८६९ ॥

इति पञ्चसञ्चलक्षणम्

पाटविन्यासभेदाः स्युर्वाद्यानि पटहादिषु ।

^२वोलावणी च चल्लावण्युडुवश्च कुचुम्बिणी ॥ ८७० ॥

^१ न्यौ तु कु (D). ^२ कोर्प I cd. ^३ संचारान् (A). ^४ संचल-
नाद् (A). ^५ संचारलक्षणम् (A). ^६ लोल्ला (D).

चारुश्रवणिकालम्नः परिश्रवणिका ततः ।

समग्रहारः कुडु^१वचारणा कर^२चारणा ॥ ६०१ ॥

दण्डहस्तो घनरवस्तानीति द्वादशावदन् ।

(क०) अथ पञ्चविंशतिपटहादितिसाधारणानि वाद्यान्युद्दिश्य लक्षयितुं तेषां सामान्यलक्षणं तावदाह—पाट-
विन्यासभेदाः स्युरिति । पाटाः पूर्वोक्ता अष्टाशीतिसंख्याः; तेषां
विन्यासभेदाः । पाटानां यथायोगं योजनावशाद् वाद्यानि
भवन्तीत्यर्थः । तत्र पटहादिसाधारणानि द्वादश वाद्यान्युद्दिशति—
वोल्लावणीत्यादि ॥ ६००-६०२- ॥

^३बल्लिशच ^४बल्लिपाटः स्याद् घत्ताभेदौ ^५झडप्पणी ॥ ६०२ ॥

अनुश्रवणिका हस्तो जो^६डणी त्रिगुणा ^७ततः ।

पञ्चहस्तः पञ्चपाणिर्वाद्यं स्यात् पञ्चकर्तरी ॥ ६०३ ॥

ततश्चन्द्र^८कला प्राहुर्वाद्यानीति त्रयोदश ।

प्रायेणैतानि दृश्यन्ते हुडुक्कावाद्यगोचरे ॥ ६०४ ॥

वाद्यानामु^९भयेषां स्यात् पञ्चविंशतिरित्यसौ ।

(क०) अथ त्रयोदश प्रायिकहुडुक्कवाद्यान्युद्दिशति—
बल्लिशचेत्यादि । ^{१०}घत्ताभेदाविति । ^{११}घत्ता च भेदश्चेति द्वन्द्वः ।

^१ पवारणा I ed. च. पवार fin. I ed. ^२ वारणा I ed. च. चारणा
fin. I ed. ^३ छल्लि (D). च. बल्लि fin. I ed. ^४ रल्लि (D).
^५ कडप्पणी (D). ^६ टणी (D). ^७ हतः (D). ^८ कलं (D).
^९ पभेदाः (D). ^{१०} लत्ता (G). ^{११} लत्ता (G).

झडप्पणीत्येकोऽन्ये च वोल्लावण्यादयो रुढितः संज्ञाशब्दा
द्रष्टव्याः ॥ -६०२-६०५- ॥

(मु०) वाद्यानि लक्षयितुमाह—पाटेति । पूर्वोक्तपाटविन्यास-
विशेषाः पटहादिषु वाद्येषु विधीयमाना वाद्यानीत्युच्यन्ते । तानि च
वोल्लावण्यादीनि घनरवान्तानि द्वादश; वल्ल्यादीनि चन्द्रकलान्तानि च
त्रयोदश । तानि प्रायेण हुडुक्कावाद्यविशेषा एव भवन्ति ; एते मिलिताः
पञ्चविंशतिः ॥ ६००-६०५- ॥

आदिमध्यावसानेषु ^१दैकारबहुलं भवेत् ॥ ६०५ ॥

आद्यखण्डं द्वितीयं च तादृशं वाद्यते पृथक् ।

यत्र वोल्लावणी सोक्ता पटहे वाद्यवेदिभिः ॥ ६०६ ॥

यथा—दै३ थो३ दै३ ।

अस्याः खण्डद्वयं वाद्यान्तरे स्याद् योजनान्वितम् ।

झंकृतिदैकृतिस्थाने हुडुक्कायां भवेदिह ॥ ६०७ ॥

डक्कायां मर्दले चैव थो त्रिवल्लचां तु दौ भवेत् ।

करटायां तु टेमेव^२ प्रधानाक्षरयोजना ॥ ६०८ ॥

वाद्यान्तरेष्वपि प्राज्ञैः प्रोह्यतामनया दिशा ।

इति वोल्लावणी (१)

(क०) तत्र वोल्लावणीं लक्षयति—आदिमध्यावसा-
नेष्विति । दैकारबहुलमिति । यदा पटहे वाद्यत्वेन वोल्लावणी
वाद्यते, तदा दैकारेण बहुलं प्रचुरं भवेत् । द्वितीयं च सादृशमिति ।

^१ दैकारबहुला (D). ^२ टेमेव (D).

द्वितीयमपि खण्डं देकारबहुलं कर्तव्यमित्यर्थः । अस्याः खण्डद्वयं वाद्यान्तरे स्थाद्योजनान्वितमिति । अस्या वोल्लावण्याः खण्ड-
द्वयमुक्तरूपं योजनान्वितं तत्तद्वाद्योक्तप्रधानाक्षरैः योजितेतर-
साधारणाक्षरान्वितं चेदित्यर्थः । वाद्यान्तरे हुडुक्कादौ वोल्लावणी
स्यादित्यर्थः । तदेव केषुचिद्वाद्येषु दर्शयति—**झेंकृतिरित्यादि** ।
इह, खण्डद्वये; **देकृतिस्थाने**, पटहापेक्षया आदिमध्यावसानेषु
प्रयुक्तस्य देकारस्य प्रसङ्गे, **झेंकृतिः**, झेंकारः प्रयुक्तश्चेत्; तदा
हुडुक्कायां वोल्लावणी भवेत् । हुडुक्कायां झेंकारो भवति ।
थोमित्यादिमध्यावसानेषु प्रयुज्यते चेत्; तदा डक्कायां भवति ।
'थोमिति तु प्रयुज्यते चेत्; तदा मर्दले भवति । दोमिति
त्रिवल्लयां भवेत् । टेमित्येव तु करतायां भवेत् । एवं प्रधानाक्षर-
योजनाद् वाद्यान्तरेष्वपि डक्कादिष्वपि । अनया दिशा प्रोह्यता-
मिति । तत्तद्वाद्योक्तप्रधानाक्षराणां यथायोगं कादिभिः षोडशवर्णैः
सह योजनात् तत्तद्द्वोल्लावणी कार्येत्यर्थः । ननु प्रधानाक्षरस्यैकत्वा-
दितरेषां बहुत्वात् कथं वाद्यान्तरप्रतीतिरिति चेदुच्यते । यथा,
षड्जादिष्वेकतमस्यांशत्वेनेतरेषां बहुत्वेऽप्यंशस्यैव तत्र प्रधानत्वेन
प्रयोगबाहुल्यादितरेषां तद्गमरूपितत्वे सति रागान्तरप्रतीतिः,
तद्वदत्रापि देकारादिभिः प्रधानाक्षरैरितरेषां तत्र तत्र योगात् तेषां
तत्तद्ध्वनिरूपितत्वे सति तत्तद्वाद्यप्रतीतिरिति न किञ्चिदेतत्
॥ -६०५-६०६- ॥

इति वोल्लावणी

¹ थोमिति (D).

² भूषि I ed.

³ भूषि I ed.

(सु०) तत्र वोल्लावण्या लक्षणमाह—आदिमध्येति । आद्यं
खण्डम्, आदौ, मध्ये, अवसाने च देमिति शब्दप्रचुरं भवति । द्वितीयमपि
तादृशमेव यत्र पृथग्वाद्ये सा ¹वोल्लावणी । अस्याः वोल्लावण्याः पटहा-
दन्यस्मिन् वाद्ये योजनाया ²संबन्धः स्यात् । तामेव योजनामाह—**झेंकृति-**
रिति । हुडुक्कायां इह वोल्लावण्यां झेंकारदेकारः पाटः । डक्कायां मर्दले
च थोमिति । त्रिवल्लयां दोमिति भवति । करतायां तु टेमिति । इयं प्रधा-
नाक्षरयोजना ज्ञातव्या । अनेन च प्रकारेण अन्येष्वपि वाद्येषूहनीयम्
॥ -६०५-६०६- ॥

इति वोल्लावणी (१)

³मण्डले चाल्यते यत्र प्रोचु ⁴श्चल्लावणीममूम् ॥ ६०६ ॥

इति ⁵चल्लावणी (२)

वामेन तलहस्तेन दक्षिणेन तु पाणिना ।

⁶लुलितेन सकोणेन ⁷ताडनादुडुवो ⁸भवेत् ॥ ६१० ॥

इत्युडुवः ⁹(३)

उडुलीपिहिते वक्त्रे हस्तस्वस्तिकताडनात् ।

¹⁰खुंकारबहुलं वाद्यं कीर्तयन्ति ¹¹कुचुम्बिणीम् ॥ ६११ ॥

इति कुचुम्बिणी ¹²(४)

वोल्लावण्येव पाणिभ्यां क्रमाद्वा युगपत् कुतैः ॥

भूरिभिः संभृता पाटैश्चास्त्रवर्णिका भवेत् ॥ ६१२ ॥

¹ बोल्हावणी (A).

² यां वन्धः स्यात् (A).

³ कुण्डली (D).

⁴ श्चोल्लोवणीममूम् (D).

⁵ चोल्ला (D).

⁶ ललितेन (D).

⁷ वादना

I ed.

⁸ यो (D).

⁹ इत्युडुवः (D).

¹⁰ खुंकार I ed.

¹¹ घ.

कुचुम्बिणी fn. I ed.

¹² नी (D).

शुद्धेश्चित्रैः क्रमात् पाटैः शुद्धा चित्रेति सा द्विधा ।

इति चारुश्रवणिका (५)

अलग्नः कुण्डलीस्पर्शं विना कोणप्रहारतः ॥ ६१३ ॥

इत्यलग्नः (६)

कर्तरी समपाणि'श्चावघटो यत्र तु क्रमात् ।

सोक्ता परिश्रवणिका श्रीयज्ञपुरसूरिणा ॥ ६१४ ॥

इति परिश्रवणिका (७)

समप्रहारो युगपत् करद्वन्द्वेन घाततः ।

इति समप्रहारः (८)

'कुडुवोद्भवपाठाभ्यां' वाद्यं 'कुडुवचारणा ॥ ६१५ ॥

उच्यते वादनो' दण्डः कोणः कुडुव' इत्यपि ।

इति 'कुडुवचारणा (९)

जाता हस्तज'पाटैस्तु केवलैः कर'चारणा ॥ ६१६ ॥

इति कर^{१०}चारणा (१०)

एकैको यः कर'^{११}द्वन्द्वान्मृदुदक्षिणपाणि'^{१२}कात् ।

जायते तादृशैः पाटैर्दण्डहस्तोऽभिधीयते ॥ ६१७ ॥

इति दण्डहस्तः (११)

^१ श्व चपुटो (D). ^२ कुडुपो I ed. ^३ श्वं I ed. दधं (D).

^४ पवारणा I ed. च. पचारिणा fn. I ed. ^५ ने (D). ^६ कुडुप I ed.

^७ च. कुडुपवारणा I ed. कुडुपचारिणी (D). ^८ पाटास्तु (D). ^९ वारणा

I ed. च. वारणा fn. I ed. ^{१०} वारणा I ed. ^{११} द्वन्द्वं (D).

^{१२} भाक् (D).

यः करेण कराभ्यां वा कृतैः पाटैर्निरन्तरैः ।

निरन्तरघनध्वनाः स स्याद् घनरवाभिधः ॥ ६१८ ॥

इति घनरवः (१२)

इति द्वादश पटहादिजातानि वाद्यानि

(क०) चल्लावण्यादीनां लक्षणानि ग्रन्थत एवावगन्त-
व्यानि ॥ -६०६-६१८ ॥

(सु०) चल्लावण्यादीनां लक्षणमाह—मण्डल इति । यत्र मण्डले प्रदेशे चालनं क्रियते अमूर्तानि चल्लावणीत्यवादिषुः; इति चल्लावणी (२) वामेनेति । तलहस्तरूपेण वामहस्तेन कोणसहितेन पूर्वोक्तलुलित-
रूपेण दक्षिणपाणिना कृतताडनादुद्भवः^१; इत्युद्भवः^२ (३) मुखे पूर्वोक्तया उदल्या पिहिते सति नृत्याध्याये वक्ष्यमाणहस्तस्वस्तिकेन (श्लो. -१६२, १६३ सप्तमे नर्तनाध्याये) ताडने कृते सति खुंकारप्रचुरं वाद्यं कुचुम्बिणी; इति कुचुम्बिणी^३ (४) बोल्लोवणीति । पूर्वोक्तबोल्लावण्येव क्रमेण समकालहस्तद्वयकृतैः बहुभिर्वाद्ययुग्मैश्चारुश्रवणिका; सा द्विप्रकारा— शुद्धा, चित्रेति । शुद्धैः पाटैर्विरचिता शुद्धा, चित्रैः पाटैर्विरचिता चित्रेति; इति चारुश्रवणिका (५) कुण्डलीमस्पृश्य कोणप्रहारे कृते अलग्नः; इत्यलग्नः; (६) पूर्वोक्तकर्तरीसमपाण्यवघटाः यत्र क्रमेण क्रियन्ते सा परिश्रवणिका; इति परिश्रवणिका (७) समकालं करद्वयेन घाते कृते सति समप्रहारः; इति समप्रहारः (८) कुडुवा^४जाताभ्यां पाठाभ्यां^५कुडुवचारणा ।^६कुडुवश्च वादनदण्डः, कोण इति चोच्यते । इति 'कुडुवचारणा (९) हस्तोद्भवैः केवलैः पाटैः करचारणा; इति करचारणा (१०) मृदुः शिथिलः दक्षिणपाणिः यस्मिन्, एवंविधात् करद्वयात्

^१ पः (A).

^२ पः (A).

^३ कुचुम्बिणी (A).

^४ उडुपा (A).

^५ उडुपचारिणी (A).

^६ उडुपश्च (A).

^७ उडुपचारिणी (A).

य एकैकः पाट उत्पद्यते, तथाविधैः बहुभिः पाटैर्दण्डहस्तः; इति दण्डहस्तः (११) य इति । एकं हस्तेन, हस्तद्वयेन वा कृतेनिरन्तरै-
मिलितैः पाटैरनवरतनिबिडध्वनिः घनरवः; इति घनरवः (१२)
॥ -६०६-६१८ ॥

इति द्वादश पटहादिजातानि वाद्यानि

स्कन्धेन मणिबन्धेन कुडुवेन^१ च चालनात् ।
सोल्लासा^२ज्जायते^३ वल्लिस्त्रिविधा पटहादिषु ॥ ६१९ ॥

इति 'वल्लिः' (१)

अर्धं वार्धद्वयं^४ वल्ल्यां^५ स्वैः स्वैः पाटैर्योजनम् ।
कृतं संयोजनं वा चेद्^६ वल्लिपाटस्तदा भवेत् ॥ ६२० ॥

इति 'वल्लिपाटः' (२)

निबद्धं वादये^७ दाद्यं^८ श्लोकं^९ राधं^{१०} पुरा^{११} तनम् ।
अनिबद्धं स्वबुद्धचार्यं^{१२} कराभ्यां वादयेदथ ॥ ६२१ ॥
वाद्येनाद्यं निबद्धं चेत् पुनर्यत्ता^{१३} तदोच्यते ।

इति^{१४} घत्ता (३)

^{१५}योगेनैकं निष्पन्नस्तदुपाङ्गभवोऽपरः ॥ ६२२ ॥
पाटोऽन्योन्याङ्ग^{१६} जातैर्यः समिश्रैः पाटपूरणैः ।
नानावाद्योद्भूतैः पाटैर्भेदस्त्रेधा लयत्रयात् ॥ ६२३ ॥

इति भेदः (४)

^१ पेन (D).

^२ सोल्लजा जायते (D).

^३ चल्ली त्रिवि (D).

^४ चल्ली (D).

^५ चल्ल्यां (D).

^६ छल्लि (D).

^७ छल्लि (D).

^८ दधं I ed.

^९ राधं I ed.

^{१०} ततः (D).

^{११} वत्ता I ed.

^{१२} वत्ता I ed.

^{१३} घां (D).

^{१४} योगस्तैः I ed. जो यस्तैः (D).

यस्यामुपक्रमे मध्येऽन्तेऽथ वाद्यैरनेकधा ।
सर्ववाद्यानि वाद्यन्ते जगदुस्तां झडप्पणीम् ॥ ६२४ ॥

इति झडप्पणी (५)

पाटः पाटाक्षरं यद्वा श्रूयते चेत् पुनः पुनः ।
अनुश्रवणिकां प्राह शंकरानुचरस्तदा ॥ ६२५ ॥

इत्यनुश्रवणिका (६)

द्वे चत्वारि भवन्त्यष्टौ यद्वा खण्डानि षोडश ।
देकारादीनि यत्रासौ हस्तः स तु चतुर्विधः ॥ ६२६ ॥
चतुरश्रव्यश्रमिश्रखण्डतालप्रयोगतः ।

इति हस्तः (७)

तदर्धाध्यादिभेदेन क्रमेण व्युत्क्रमेण वा ॥ ६२७ ॥
अखण्डतालाः पाटाश्चेद् युज्यन्ते जोडणी तदा ।

इति जोडणी (८)

खण्डानि त्रीणि यत्र स्युरेकं त्रिगुणं तथा ॥ ६२८ ॥
वाद्यते यत्र सा प्रोक्ता त्रिगुणा त्रिविधा च सा ।
आदिमध्यान्तखण्डानां त्रैगुण्यात् सा पुनर्द्विधा ॥ ६२९ ॥
क्रमव्युत्क्रमतोऽथास्यास्तत् त्रैगुण्यमुदाहरेत् ।
प्रयुज्य त्रीणि खण्डानि प्रयुज्जी^१ तादिमद्वयम् ॥ ६३० ॥
ततश्चाद्यमिति प्रोक्तं खण्डे त्रैगुण्यमादिमे ।
इत्यादित्रिगुणा मध्ये त्रिगुणा तु^२ द्विधा भवेत् ॥ ६३१ ॥

^१ तान्तिम (D).

^२ त्रिधा (D).

त्रैगुण्यान्मध्यखण्डस्य द्विःप्रकारात् तदुच्यते ।

खण्डत्रयं ततः खण्डद्वयमाद्यं प्रयुज्यते ॥ ६३२ ॥

ततो मध्यममित्येवं यद्वा खण्डद्वयात् परम् ।

अन्त्यद्वयं वादयित्वा प्रयोज्यं मध्यमं दलम् ॥ ६३३ ॥

अथान्तस्त्रिगुणायां प्राक् खण्डत्रितयवादनम् ।

ततोऽन्तिमद्वयं खण्डमन्तिमं^१ वादयेत् तथा ॥ ६३४ ॥

एवमष्टविधामाह त्रिगुणां भववल्लभः ।

(सु०) वल्ल्याद्यानि त्रयोदश प्रायिकहोड्कवाद्यानि लक्षयति—
स्कन्धेनेति । स्कन्धेनांसेन मणिवन्धेन करपूर्वभागेन^२ कुडुवेन कोणेन च
कृतात् सोल्लासात् चालनात् त्रिविधवल्लिजायते; इति वल्लिः (१)
अर्थं वेति । वल्ल्या अर्धमर्धद्वयं वा स्वंः स्वंः पाटे रहितं सहितं वा यदि
स्यात्, तदा^३ वल्लिपाटः; इति^४ वल्लिपाटः (२) निबद्धमिति । अकार-
स्याधर्माद्यं निबद्धं वादयेत् । अथ पुनराद्यं निबद्धं वादयति चेत्, तदा^५ धत्ता; इति
धत्ता (३) योगेनेति । एकेन योगेन निष्पन्नः, यश्च योग उपाङ्गाज्जायते
^६पाटः, यश्चान्योन्याङ्गेजातेः पाटपूरणेः मिश्रितः पाटेः युक्तो भेदः, स
च लयस्य त्रैविध्यात् त्रिविधो भेदः; इति भेदः (४) यस्यामिति ।
आदिमध्यावसानेषु वादनैरनेकविधानि वाद्यानि यस्यां वाद्यन्ते सा
^७स्रडप्पणी; इति^८ स्रडप्पणी (५) पाट इति । पाटो वा, ^९पाटावयवो
वा यत् पुनः पुनः श्रूयते सा अनुश्रवणिका; इत्यनुश्रवणिका (६) द्वे

^१ ग. घ. वाद्यते ततः fn. I ed.

^२ उडुपेन (A).

^३ भूतात् (A).

^४ घावहृतिजायते (A).

^५ चलि (A).

^६ ततः अनिवद्धं

स्वबुद्ध्या निबद्धं अर्थं करद्वयेन (A).

^७ घृता (A).

^८ घृता (A).

^९ मेयश्चान्यैरङ्गेजातपाटः तैः (A).

^{१०} द्रणपणी (A).

^{११} द्रणपणी (A).

^{१२} अपाटो वा गेया वाद्या यत् (A).

इति । प्रथमं दैकारयुक्तानि द्वे खण्डे, चत्वारि वा खण्डानि, अष्टौ, षोडश
वा यत्र भवन्ति, तदा असौ हस्तः; स चतुर्विधः—चतुरश्रः, त्र्यश्रः, मिश्रः;
खण्डः इति । चतस्र अश्रयो यस्य स चतुरश्रः; एकः चतुरश्रतालेन, अप-
रस्त्यश्रेण, कश्चिन्मिश्रेण अन्यः खण्डेनेति; इति हस्तः (७) तवर्धेति ।
खण्डतालं विहाय अन्यैः तालैरुपनिबद्धाः 'पाटा अधरूपाः, अधर्धरूपा वा
क्रमव्युत्क्रमाभ्यां यत्र संयोगमाप्नुवन्ति, तदा^१ जोडणी; इति^२ जोडणी
(८) खण्डानीति । यत्र त्रीणि खण्डानि भवन्ति । एकैकं खण्डं त्रिगुणं
वा यस्यां सा त्रिगुणा । सा च त्रिप्रकारा—आदिखण्डस्य त्रैगुण्यादेका;
मध्यखण्डस्य त्रैगुण्यात् द्वितीया; अन्त्यखण्डस्य त्रैगुण्यात् तृतीया इति ।
त्रिविधात् पाटक्रमात् व्युत्क्रमाच्च सा त्रिगुणा पुनर्द्विविधा । तथेति ।
पूर्वोक्तं त्रैगुण्यं विशेषणोदाहरामीति प्रतिजानीते । एवं प्रतिज्ञाय तदेव
त्रैगुण्यं निरूपयति—प्रयुज्येति । खण्डत्रयं पूर्वं गीत्वा, आद्यं खण्डद्वयं गायेत् ।
ततः पुनराद्यमेवमादित्रैगुण्येन आदित्रिगुणा भवति । मध्ये तु त्रिगुणा
द्विविधा । मध्यखण्डस्य द्विप्रकारात् त्रैगुण्यात् खण्डत्रयमुच्यते । तदेव
द्विविधत्रैगुण्यमाह—खण्डेति । पूर्वं खण्डत्रयं गेयम् । तत आद्यं खण्डद्वयम् ।
ततो मध्यखण्डमित्येको भेदः । आद्य आदौ खण्डत्रयम्, ततोऽन्त्यं खण्डद्वयं
ततो मध्यमदलं खण्डमिति । अन्तस्त्रिगुणायाः त्रैगुण्यप्रकारमाह—अथान्त-
स्त्रिगुणायामिति । प्राक् खण्डत्रितयवादनम्, ततोऽन्तिमद्वयं, तथा अन्तिमं
खण्डे वादयेत् । एवमष्टविधा त्रिगुणा भवन्ति ॥ ६१९—६३४ ॥

अथवा चतुरश्रादौ क्वापि ताले^१ दलत्रयम् ॥ ६३५ ॥

प्रयुज्यैकस्य खण्डस्य मानेनाथ दलद्वयम् ।

कुर्याद् दलत्रयं तावद् यत्र सा त्रिगुणा भवेत् ॥ ६३६ ॥

चतुरश्रत्र्यश्रमिश्रयुक्तं^२ वेषा क्रमाद् दलैः ।

^१ अपाटाः (A).

^२ जोडण (A).

^३ जोडण (A).

^४ द्रुतत्रयं (D).

^५ योषात् (D).

^१अन्ये त्वेककले ताले द्विकलेऽथ चतुष्कले ॥ ६३७ ॥

क्रमाद् विरचितैः खण्डैस्त्रिगुणामभणन् बुधाः ।

^२एकं चञ्चत्पुटे खण्डद्वयं चाचपुटे ततः ॥ ६३८ ॥

मिश्रे खण्डत्रयं यत्र त्रिगुणां तां जगुः परे ।

पदैश्चतुर्भिरस्यां स्यात् खण्डमेकं पदं पुनः ॥ ६३९ ॥

मितं कलाभिरष्टाभिरित्युक्तं सूरिशङ्कणा ।

इति त्रिगुणा (६)

(मु०) पश्चान्तरमाह—अथेवेति । चञ्चत्पुटादौ यत्र क्वचन ताले खण्डत्रयं प्रयुज्य गीत्वा, ^३एकस्वरमानेन खण्डद्वयं खण्डत्रयं यत्र त्रियते, सा त्रिगुणा । अथवा ^४चञ्चत्पुटेन, चाचपुटेन वा मिश्रैस्तालेर्युक्तैः क्रमात् त्रिभिः खण्डैरेषा त्रिगुणा भवति । अन्ये त्विति । एककले, द्विकले, चतुष्कले च ताले क्रमात् कृतैः खण्डैस्त्रिगुणेत्यन्ये बुधा अभणन् । एवमिति । परे आचार्याः एकं खण्डं चञ्चत्पुटे, खण्डद्वयं चाचपुटे, मिश्रताले खण्डत्रयं यस्यां, तां त्रिगुणानामकामवादिषुः । पदैरिति । अस्यां त्रिगुणायां चतुर्भिः पदैरेकं खण्डम् । पदं पुनरष्टकलेन मितमिति शाङ्गदेवेनोक्तं भवति ॥ -६३५-६४०- ॥

इति त्रिगुणा (६)

पञ्चहस्तो हस्तपाटैर्हस्तशब्दान्विताभिधेः ॥ ६४० ॥

इति पञ्चहस्तः (१०)

पञ्चपाणिस्तु पाटैः स्यात् पाणिशब्दयुताभिधेः ।

इति पञ्चपाणिः (११)

^१ अन्ये त्वेककले (D).

^२ एवं I ed.

^३ एकखण्डं मानेन (A).

^४ चञ्चत्पुटचाचपुटमिश्रेः तालैः युक्तैर्वा (A).

कर्तरीपदवत् सङ्गः पाटैः स्यात् पञ्चकर्तरी ॥ ६४१ ॥

इति पञ्चकर्तरी (१२)

वर्धन्ते च ह्रसन्ते चेन्मात्राश्चन्द्रकला इव ।

तालश्चन्द्रकलाख्यश्च तदा चन्द्रकला भवेत् ॥ ६४२ ॥

द्वात्रिंशन्मात्रिकामन्ये प्राहुश्चन्द्रकलामिमाम् ।

द्विमात्राः षोडशकला वृद्धिहासयुजो विदुः ॥ ६४३ ॥

तादृक् चतुःषष्टिकलां तामाहुर्दक्षिणे पथि ।

इति चन्द्रकला (१३)

इति त्रयोदश प्रायिकहोड्कवाद्यानि ।

इति पञ्चविंशतिरभयवाद्यानि ।

(मु०) पञ्चहस्त इति । पञ्चहस्तशब्दसहितैः हस्तपाटैः पञ्चहस्तो भवति; इति पञ्चहस्तः (१०) पञ्चपाणिरिति । पाणि-शब्दयुक्ता आदिषुषां, तथाविधैः पाटैः पञ्चपाणिर्भवति; इति पञ्चपाणिः (११) कर्तरीति । कर्तरीपदयुक्ता संज्ञा येषां, तथाविधैः कर्तयैर्धर्ककर्तरी-विषमकर्तयादीनां तैस्तैः पाटैः पञ्चकर्तरी जायते; इति पञ्चकर्तरी (१२) वर्धन्ते इति । चन्द्रकलावत् मात्रा वर्धन्ते ह्रसन्ते न्यूनीभवन्ति चेत् यस्यां, सा चन्द्रकलाख्येन तालेनोपनिबद्धा चन्द्रकला (१३) अन्ये तु द्वात्रिंशन्मात्रोपनिबद्धा चन्द्रकलेत्याहुः । वृद्धिन्यूनतायुक्ताश्च षोडश-कलाः द्विमात्रास्ते आज्ञासिषुः । दक्षिणे मार्गे तादृशाः चतुःषष्टिकलाः यस्यां विद्यन्ते तां चन्द्रकलामाहुः ॥ -६४०-६४४- ॥

उद्ग्राहादिनिबद्धाः स्युरत्र गीतप्रबन्धवत् ॥ ६४४ ॥

वाद्यप्रबन्धास्तद्भेदलक्ष्माण्यभिधेऽधुना ।

यतिरोता च मजरो ^१रिगोणी कवितं पवस् ॥ ६४५ ॥

मेलापकश्चोपश ^२भेदग्राहप्रकरणान्यथ ।

अवत्सकश्छण्डगश्च तुडुका मलयं ततः ॥ ६४६ ॥

मलपाङ्गं च मलपपाटश्छेदोऽथ रूपकम् ।

अन्तरोन्तरपाटश्च खोजः खण्डयतिस्ततः ॥ ६४७ ॥

खण्डच्छेदोऽप्यवयतिः खण्डपाटश्च खण्डकः ।

^३खण्डहुल्लः समः पाटो ध्रुवकोऽङ्गाङ्गरूपके ॥ ६४८ ॥

तालो बितालः खलकः सम्मदायश्च जोडणी ^४ ।

उडव ^५स्तलपाटश्चो ^६ट्टवणी तुण्डकस्ततः ॥ ६४९ ॥

अङ्गपाटश्च पैसारस्त्रिचत्वारिंशदित्यमी ।

उक्ताः श्रीकरणाप्रण्या प्रबन्धा वाद्यसंश्रयाः ॥ ६५० ॥

शीतोदकास्तथा स्नानगर्वोऽन्यो गर्वनिर्णयः ।

उत्प्रेक्षामात्रजा लक्ष्महीनास्तेऽस्मदुपेक्षिताः ॥ ६५१ ॥

(क०) एवं वाद्यानि निरूप्य तत्प्रबन्धान् दर्शयितुमाह—
उद्ग्राहादीत्यादि । अत्र वाद्यप्रकरणे, गीतप्रबन्धवत् उद्ग्रा-
हादिनिबद्धा इति । उद्ग्राहादयः, उद्ग्राहः, मेलापकः, ध्रुवः,
विकल्पेनान्तरः, आभोगश्चेति प्रबन्धाध्याय उक्ता धातवः (श्लो.
७-१०-चतुर्थे प्रबन्धाध्याये) तैनिबद्धा एलादयो यथा गीतप्रबन्धे
उक्ताः, तथात्रापि तैनिबद्धा यत्यादयो वाद्यप्रबन्धाः स्युः ।
गीतप्रबन्धवदित्यतिदेशेनैव मेलापकाभोगयोः यथायोगमभावेन
द्विधातुकत्वादिकं भेदत्रयं द्रष्टव्यम् (श्लो. -११, १२-चतुर्थे

^१ रिगोणीकवितं (D). ^२ भेदग्राहप्रहर (D). ^३ वडः कुल्लः समः
पाटो (D). ^४ णं (D). ^५ उडव (D). ^६ ट्टवणी (D).

प्रबन्धाध्याये) । वाद्यप्रबन्धगतानामुद्ग्राहादीनां भाण्डिकलोककृताः
संज्ञास्तु लहरीत्युद्ग्राहस्य, ^१येडुपु इति मेलापकस्य, अन्तरिति
ध्रुवस्य, उपान्तरिति वैकल्पिकस्यान्तरस्य, ^२मुक्तायीत्याभोगस्य
च संज्ञा द्रष्टव्याः । तद्भेदलक्षणातीति । तेषां वाद्यप्रबन्धानां
भेदा यत्यादयः; ^३तासां लक्ष्माणि लक्षणानि । तान्युद्दिशति—
यतिरित्यादि ॥ -६४४-६५१ ॥

(मु०) इदानीं वाद्यप्रबन्धान् निरूपयितुमाह—उद्ग्राहेति ।
उद्ग्राहध्रुवकामोगैः पूर्वोक्तगीतप्रबन्धवदुपनिबद्धाः वाद्यप्रबन्धा भवन्ति ।
ते च यत्यादयो ^४पैसारान्ताः ^५त्रिचत्वारिंशत् । ^६शीतोदकास्तथा स्नान-
गर्वोऽन्यो गर्वनिर्णयाध्यायस्तत्रैव केवलोत्प्रेक्षाजनिताः लक्षणाभावात् अस्मा-
भिरुपेक्षिताः ॥ -६४४-६५१ ॥

प्रायो वाद्यप्रबन्धानां दैकारोऽन्ते निधीयते ।

काभ्यांचित्कूटवर्णाभ्यां रचितोऽत्यन्तकोमलः ॥ ६५२ ॥

एकरूपाक्षरस्तलच्छन्दोभिर्व्यञ्जनोऽञ्जवलः ।

यो वाद्यते वाद्यखण्डो वि ^१रामेबहुभिर्मुहुः ॥ ६५३ ॥

यतिर्जक्का च सा तज्जैर्वाद्या मण्ठादिसालगे ।

आदौ वाद्यप्रबन्धस्य कस्याप्यङ्गतया यदा ॥ ६५४ ॥

तद्विदो वाद्यन्येतां ^२वदन्त्यु ^३ट्टवणं तदा ।

^१ ख. युडुपु fin. I ed. यडुपु I ed. यडुपु (C). यडुपु (D). ^२ ख.
क्तापीत्या fin. I ed. मुक्ता इत्या (D). ^३ तेषां I ed. ^४ पैसारान्ता
(A), (B). ^५ त्रिचत्वारिंशत् (B). ^६ शीतोदकीस्थानगर्भं (B); शशीभेदक?
[शीतोदक] स्थानगर्भं (A). ^७ जिजतो (D). ^८ रामो बहु (D).
^९ नां (D). ^{१०} ट्टव I ed.

पाटानां रचनां केचिदत्र नेच्छन्ति सूरयः ॥ ६५५ ॥

गड्दगथो गक्कथोटं गड्दगथो गक्कथोटं गड्दगथो गक्कथोटं ।

इति यतिः

(क०). तत्र यतिं लक्षयति—काभ्यांचिदिति । कूट-
वर्णाभ्यां पटहादिवाद्यसाधारणवर्णाः कूटवर्णा उच्यन्ते, तेषु याभ्यां
काभ्यांचित् । रचित इति । मिथोयोगार्हाभ्यां 'तथोंग कथो-
टिंग' इत्याद्यक्षराभ्यां निर्मितः । अत्यन्तकोमलः 'बन्धकाठिन्य-
वर्जितः । एकरूपक्षरः उपक्रान्तवर्णानुसारेणैव समापितः ।
तालच्छन्दोभिव्यञ्जनोज्ज्वल इति । तालच्छन्दसोरभिव्यञ्जनेन
प्रकाशमानः । बहुभिर्विरामैः विच्छेदैरुपलक्षितः यो वाद्यखण्डः
मुहुर्वाद्यते सा यतिः जक्का च । जक्केति यतेः संज्ञान्तर-
मित्यर्थः । सा तज्ज्ञैर्मण्डादिसालग इति । सालगसूडस्य मण्डादौ
गीते वाद्या वादनीया, रचनायां योजनीयेत्यर्थः । एतां यतिं
यदा कस्यापि वाद्यप्रबन्धस्यौतागजरादेरादावङ्गतया तद्विदो
वादयन्ति, तद्वटुवर्णं वदन्ति । अत्र यती केचित् सूरयः पाटानां
नागबन्धादीनां रचनां नेच्छन्तीत्यनेन केचिदिच्छन्तीति गम्यते
॥ ६५२-६५५ ॥

इति यतिः (१)

(मु०) अथ वाद्यप्रबन्धानां साधारणं लक्षणमाह—प्राय इति ।
बाहुल्येन वाद्यप्रबन्धानामन्ते ऽदकारः देमितिशब्दः स्वेच्छोपनिबद्धाभ्यां

^१ ख. तथोंगः क fn. I ed. ^२ प्रबन्ध I ed. ^३ छ. न्धस्य तागजरागदे
आदा । ज. न्धस्य चती गराद आदा fn. I ed. ^४ दोटवर्ण I ed. ख. दोडुव
fn. I ed. ^५ दकारः देमि (B). दकारः देमि (A).

कूटपाटस्य वर्णाभ्यां निबद्धः पाटाक्षरः समानाक्षरच्छन्दोभिव्यक्ति-
^१समर्थस्ताल इति । यतिं लक्षयति—य इति । यो वाद्यखण्डः बहुभिः
विरामैः वाद्यते सा यतिः । सा जक्केति चोच्यते । सा च मण्डादिसालगसूडे
वादनीया । आदाविति । इयं यस्य कस्यापि वाद्यप्रबन्धस्य आदौ यदा एतां
यतिं वादयन्ति, तदैनां वाद्यज्ञा ^२उटुवर्णमिति वदन्ति ॥ ६५२-६५५ ॥

द्विरुद्वेप्राहस्ततः खण्डं यस्यां द्विर्भूरिद्वैकृति ।

तत्किंचिदधिकं वारे द्वितीयेऽथ तृतीयकम् ॥ ६५६ ॥

किंयद् दीर्घं शुद्धकूटखण्डैः पाटैर्विमिश्रितैः ।

व्यस्तैः समस्तै रचितं ततो द्वैकृतिमत्युनः ॥ ६५७ ॥

सकृत् तच्च^१ प्रयोक्तव्यमथ वर्णसरात्मकम् ।

दीर्घं खण्डं ततोऽल्पं च प्राच्यं शुद्धादिनिर्मितम् ॥ ६५८ ॥

ओता सोक्ता छण्डणान्ता कैश्चिद् द्वैकृतिमुक्तिका ।

एषंकलयुग्मे स्यान्निःसारी छण्डणो भवेत् ॥ ६५९ ॥

उद्धतो ध्वनिरत्र स्यात् प्रायो मानं विलम्बितम् ।

दीप्तं नूतं च तामाहुः केचित् केदार इत्यपि ॥ ६६० ॥

इमा^१मावहनं प्राहुरेकेऽप्ये त्वन्यथा जगुः ।

पाटैर्बहुलद्वेकारैस्तालेश्च निखिलैः कृता ॥ ६६१ ॥

बहुधा स्थापना यस्यामाहुराह^२वनी बुधाः ।

आदौ द्वेकारखण्डं चेद् द्वेकारादिस्तदोच्यते ॥ ६६२ ॥

(क०) अनन्तरमोतां लक्षयति—द्विरुद्वेप्राह इत्यादि ।
यस्यामोतायामुद्वेप्राहो द्विद्विवारं प्रयोज्यो भवति । तत् उद्वेप्राह-

^१ मार्गस्ताल (B). ^२ डटवण (A). ^३ ज्विद् (D). ^४ यतो (D).
^५ तत्र (D). ^६ मावहनं (D). ^७ ग. घ. वनीममून् fn. I ed.

नन्तरं भूरिदेकृति बहुलदेकारं 'खण्डमलापकाख्यं' खण्डं द्विभवेत् । तत्खण्डं द्वितीये वारे किञ्चिदधिकं प्रथमवारापेक्षया । किञ्चिदधिकमित्यनेन द्वितीयं खण्डमपि द्विवारं कर्तव्यमित्यर्थः । द्वितीयवारे किञ्चिदाधिक्यं च कतिपयैः पाटाक्षरैः कर्तव्यं भवति । अथ तृतीयकं ध्रुवाख्यं खण्डम् । शुद्धकूटखण्डेरिति पाटेरित्यस्य विशेषणम् । शुद्धाश्च खण्डाश्चेति द्वन्द्वः । अत एव मिश्रितैर्व्यस्तैः समस्तपाटे रचितम् । **कियद्दीर्घं** पूर्वखण्डापेक्षया किञ्चिदीर्घं भवेत् । ततः अनन्तरम् । **देकृतिमत् तच्च पुनः सकृत्प्रयोक्तव्यमिति** । तृतीयखण्डानन्तरं द्वितीयं देकारखण्डं पुनः सकृदेकवारं प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । देकृतिमदिति द्वितीयखण्डमित्यत्र परामृश्यते । **अथ वर्णसरात्मकमिति** । अथ अनन्तरं; वर्णसरसंज्ञकमपरं दीर्घं खण्डं, **ततोऽप्यं** च प्राच्यं शुद्धादिपाटैः कार्यम् । **छण्डणान्तेति** । छण्डणो नाम वक्ष्यमाणो वाद्यप्रबन्धभेदः; सोऽज्जते यस्याः सा तथोक्ता । **देकृतिमुक्तिरिति** । प्रायो वाद्यप्रबन्धानां देकारोऽज्जते विधीयत इति सामान्येन पूर्वमुक्तम् । तस्य मतान्तरेण क्वचिदपवादो दर्शितो भवति । एषा ओता एककलयुग्मे यथाक्षर-चच्चत्पुटे स्यात् । छण्डण ओताङ्गत्वेन तदन्ते प्रयोज्यः । छण्डणो निःसारौ भवेत् । **अत्र ओतायां, प्रायः प्राचुर्येण, उद्धतो ध्वनिः, घोषाक्षरजनितो ध्वनिः, विलम्बितं मानं च दीप्तं नृत्तं च स्यात्** । अस्या एवौताया मतान्तरेण संज्ञान्तराणि दर्शयति—**तामाहु-रित्यादिना** । ये त्वेनामाहवनीमाहुः, तेषु केचन तस्या लक्षण-मन्यथा जगुरित्युक्त्वा तद्दर्शयति—**पाटैर्बहुलदेकारैरिति । आदा-**

विति । ओतायामादाबुद्ग्राह्यखण्डात् पूर्वं देकारखण्डं प्रयुज्यते चेत्तदौता देकारादिरित्युच्यते ॥ ६५६-६६२-॥

लक्षणानुसारेण प्रस्तार्य दर्शयितुमाह--

यथा—तद्विदं कर्त्योक्तं नगनथोगकुथोगदार, धिक्कट्टर, तक्तथोगक धिधिक थोरघटेर, इत्युदग्राहो द्विवारं कर्तव्यः । गड्दगदे गिनदेंगक् तु थं हं देंगक् देंगनथ गनतदिगि नत्तत्तेकटदेदेंगिनतक्कट खखुधं देंगक्, इति देकारखण्डं द्विः ॥

द्वितीयवारे त्वधिकं कथ्यते यथा—गड्पक् देंगक् गड्ददक् देंगक्, इति । तदेंगडदक्त् थोक्तथोगक् तटे कटदकट् दरे होक्तथोरे-हेटेतक्के धिक्थोतें थों टें थों टें, इति तृतीयखण्डं शुद्धादिपाट-रचितम् ॥

ततः पुनः प्राचीनदेकारखण्डं सकृत् । ततः—गड्दक् दगिनधिकाधिक तक्तदेंगि कथन ह्कदक दडक् दरगड धिरिगिड धरगड्दक् । दरगरदग धिरगड्दग, तक्तधिरथोगटे धिक्थो-गटे थिक् थोडिं खुं खुंततक् थोरगडर, तक् थोरगडतक् थोतक् थोतक् थोरगड थोरगड तक् धिक्थोगटें, इति वर्णसरात्मकं खण्डम् ॥

ततः प्राचीनं शुद्धादिनिमित्तं स्वल्पम् । एतावत्पर्यन्तं चच्चत्पुटे । गड्दक् टेंद्रग् थोहटें हेते दहं थोर, तद धिधि थों थों रघटे टें थों तथों तक्थों धिक्थोतें, इति निःसारौ छण्डणः । टेंकारस्थाने देकार इत्यन्ये ॥

इत्योता

यथेति । प्रस्तारस्तु तद्विटेमित्यादिग्रन्थत एवावगन्तव्यः ।
अत्र प्रथमं द्विरावृत्तं खण्डमुद्ग्राहः । ततो देकारबहुलं द्वितीयवारे-
ऽधिकं द्विरावृत्तं द्वितीयखण्डं मेलापकः । ततः शुद्धादिनिमित्तं
ध्रुवः । ततो ध्रुवशेषत्वेन सकृद्देकारखण्डस्यानन्तरं वर्णसरात्मकं
दीर्घं चतुर्थखण्डमन्तरः । ततोऽप्यं शुद्धादिनिमित्तं पञ्चमं खण्ड-
माभोगः । एवमन्यत्राप्युद्ग्राहादयोऽवयवा यथासंभवं द्रष्टव्याः ।
तदेतावदोतास्वरूपं चच्चत्पुटे प्रोक्तम् । छण्डणस्तु पृथक्प्रबन्धो-
ऽप्योताङ्गत्वेन विहितत्वादोतान्तर्भूत एव निःसारके
प्रयोक्तव्यः ॥

इत्योता (२)

(सु०) ओतां लक्षयति—द्विरिति । उद्ग्राहो द्विवारं गेयः ।
ततो भूरिदेकृति बहुलीकृतदेकारसहितं खण्डमपि द्विवारं गेयम् । द्वितीये
वारे किञ्चिदधिकं गेयम् । ततस्तृतीयं दीर्घं खण्डं शुद्धपाटैः यैः कूटपाटैः
मिश्रितैः व्यस्तेः समस्तेः पाटै रचितम् । शुद्धपाटादिलक्षणं मर्दलप्रकरणे
कथयिष्यति (श्लो १०३३—१०३६, अत्रैव) । एवं तृतीयखण्डा-
नन्तरं पुनस्तदेव खण्डे देकारयुक्तं सकृत् प्रयोक्तव्यम् । ततो वर्णसर-
संज्ञकं दीर्घं खण्डम् । ततः शुद्धपाटादिनिमित्तमल्पं यस्यां सा ओता
इत्युच्यते । तस्याश्चान्ते च छण्डणः कर्तव्यः । इयमोता देकृतिमुक्ति-
केत्युच्यते । एककलवत् चच्चत्पुटे च द्वयं कर्तव्या । निःसारो तालो
विरचिता इयमेव छण्डणो भवति । उद्धत इति । अस्यामुद्धतो ध्वनिः,
विलम्बितं मानम्, विकटं नृत्यं च । तामेतां केचित् केदार इत्याहुः । एके

¹ चच्चत्पुटप्रयुक्तं छण्ड (D). ² सारो I ed. सारुका प्रयोक्तव्या (D).

³ मिश्रव्यस्तसम (B). ⁴ खण्डं देकार (B). ⁵ देकिक (B). देकिक (A).

⁶ इयं (B).

इमाम् आहवनीमाहुः । मतान्तरेणान्यथा लक्षयति—पाटैरिति । देकार
प्रचुरैः पाटैः सर्वैः तालैः युक्ता स्थापना यस्यां तामाहवनीत्याहुः । आदौ
देकारः निवध्यते चेत्, तदा देकारादिरित्युच्यते ॥ ६५६—६६२ ॥

इत्योता (२)

कृत्वैकवारमुद्ग्राहं नातिदीर्घा^१ न चाल्पकः^२ ।

वादकोद्घोषगम्भीरो ध्वनिमुच्चतरं दधत् ॥ ६६३ ॥

त्रिःखण्डोऽभ्यस्यते कूटैर्बद्धो वर्णसरेण वा ।

मुहुर्विधायोपशमं छण्डणो यत्र रज्यते ॥ ६६४ ॥

गजरोऽसावुद्ग्राहं स्यादस्यादौ पुनः पुनः ।

एकताल्यामुद्ग्राहं तस्यां निःसारकेऽप्युच्यते ॥ ६६५ ॥

भवेदुपशमोऽन्यत्र नास्य तालो नियम्यते ।

गजरावयवाः सर्वे वाद्यन्ते ते निरन्तराः ॥ ६६६ ॥

(क०) अथ गजरं लक्षयति—कृत्वैकवारमित्यादि ।

यत्र गजरे प्रथममेकवारमुद्ग्राहं कृत्वा । नातिदीर्घा इत्यादीनि
खण्डविशेषणानि द्रष्टव्यानि । कूटैः पटहादिसाधारणैरक्षरैः,
वर्णसरेण वा बद्ध उच्चतरं ध्वनिं दधत् । नातिदीर्घः अत्यायत-
त्वरहितः । न चाल्पकः अतिह्रस्वत्वरहितः । वादकोद्घोष-
गम्भीरः वादक इति तु स्वमुखेनैव पाटाक्षरोच्चारणपटुः
तालधरो वा, पटहादिवाद्यवादको वा अभिधीयते । तस्योद्घोष
उच्चारणे वादने वा घनध्वनिः, तेन गम्भीरः । एवंविधः खण्ड-

¹ केचिदाहवनीयमा (A), (B). ² देकार प्रधानैः (B).

(B). ⁴ देकारो (B). ⁵ टंका (B). ⁶ चं (D). ⁷ कम् (D).

⁸ तज्जै (D). ⁹ गमे (D).

स्तिवारमभ्यस्यते । उपशमम् उपशमाख्यं वक्ष्यमाणं वाद्यप्रबन्धं मुहुर्विधाय, यत्र छण्डणो रज्यते रागयुक्तः क्रियते चेत्, असौ गजरप्रबन्धः । अस्य गजरस्यादावुट्टवर्णं वक्ष्यमाणं पुनः पुनः स्यात् । तदुट्टवर्णमेकताल्यां स्यात् । उपशमस्तस्यामेकताल्याम्, अथवा निःसारुके भवेत् । अन्यवेति । गजराङ्गत्वाद् अन्यत्र प्रबन्धान्तराङ्गत्वे 'स्वतन्त्रत्वे वेत्यर्थः' । अस्योपशमस्य तालो न नियम्यते । अत्रैव तालनियम इत्यर्थः ॥ ६६३-६६६ ॥

यथा—तथोह तथोह धिर्धो^२, हटे । थोहदग थोहटें, इत्युट्टवर्णमेकताल्यां पुनः पुनः । थोहें दंदगेन थोहें गें धिकतक, इत्युट्टग्राहः । प्रतिग्राहणा बोध्यते । अयं किल एकताल्यां कृतः । गड्दगत दैगगनन्दिहिक । कथोगतकधिक थोहटें थोहदगक् । गिड्दकथोगकथो^३, दैथोहटगथो^३, दै, इति त्रिकेताल्यां खण्डः । केवलोऽप्ययं खण्डो गजर इत्युच्यते । गड्दकथोगकथो-गकथोहरघट थरे, इत्येकताल्यां पुनः पुनरुपशमः । थोहटें, इति छण्डणः । एतत्सर्वं नैरन्तर्येण वाद्यते ॥

इति गजरः

(क०) प्रस्तार्य दर्शयति—'तथोह तथोहेत्यादि । उट्टग्राहं प्रस्तार्य प्रतिग्राहणा चोच्यत इत्युट्टग्राहस्य संज्ञान्तरमुक्तम् । लोके हि तथा ताण्डिका वदन्ति । प्राकृतत्वेन 'पडिधा' इति गजरावयवाः सर्वे वाद्यन्ते । ते निरन्तरा इत्युक्तत्वात् अत्रावयवत्वेनोक्तानि उपशमच्छण्डणोद्वर्णानि नैरन्तर्येण प्रयोज्यानि । अयं

^१ स्वतन्त्रत्वेनेत्यर्थः (D). ^२ तदो साधिर्धो इत्या (D). ख. तथोहधि छोहे fn. I ed.

गजर उट्टग्राहे ध्रुवाभ्यां द्विधातुको वेदितव्यः । उपशमादयः पृथक्प्रबन्धा अप्यङ्गत्वेन विहिताः प्रयुक्ताः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

इति गजरः (३)

(मु०) गजरं लक्षयति—कृत्विति । एकवारमुट्टग्राहं गीत्वा, नातिदीर्घः, नालः, वादकस्य भेदेन गम्भीरः उच्चध्वनिं दधानः कूटपाटैः पूर्वोक्तवर्णसरेण वा निबद्धः खण्डः त्रिवारमभ्यस्यते चेत्, ततोपशमं वै मुहुर्विधाय, छण्डणः पूर्वोक्तो यत्र क्रियते असौ गजरः । अस्य आदौ पूर्वोक्तमूट्टवर्णं गेयम् । तच्चैकताल्या, निःसारुकतालेन वा भवेत् । उपशमस्तु अन्यत्र तालेन वा भवेत् । अस्य तालनियमो नास्ति । सर्वेऽपि गजरावयवा गजरसंनिकृष्टा वाद्यन्ते ॥ ६६३-६६६ ॥

इति गजरः (३)

प्रत्येकं द्विः प्रयुक्तेनोपशमनेान्तयोगिना ।

युक्तं खण्डत्रयं शुद्धैः कूटैः खण्डैश्च निर्मितम् ॥ ६६७ ॥

पाटैर्व्यस्तैः समस्तैश्च बद्धं वर्णसरेण वा ।

यस्यां स्याद् वादकस्थूलम^१लत्कोलाहलाकुलम् ॥ ६६८ ॥

छण्डणान्तरा रिगोणी सा दधती ध्वनिमुत्तमम् ।

अस्यामूट्टवर्णं कार्यं वैकल्पिकमुपक्रमम् ॥ ६६९ ॥

दीप्तनृत्तं भवेदेषोपशमा^२ललिता मता ।

ललितं यद्युट्टवर्णं तदा तल्ललितं भवेत् ॥ ६७० ॥

अन्त्यखण्डात् सोपशमाच्छण्डणाद् दीप्तनर्तनम् ।

^१ खण्डेन खण्डसरेण वा यत्र (B). ^२ मूट्टवर्णं (A). ^३ शुद्धं (D).
^४ वां तत्र वर्णं (D). ^५ सत्को (D). ^६ मे ललिते (D). ^७ तुल्ल (D).

(क०) अथ रिगोणीं लक्षयति—**प्रत्येकमित्यादि** । द्विः द्विवारं प्रयुक्तेनान्तयोगिनाः खण्डान्तसंबन्धेनोपशमेन युक्तम् । पुनः किविधम्? शुद्धैः कूटैः खण्डैश्च निमित्तम् । शुद्धः तत्-द्राद्यप्रतिनियता वर्णाः, कूटाः सर्ववाद्यसाधारणाः, अत्र खण्डशब्देन वर्णसमुदायावयवभूता उच्यन्ते, तैश्च निमित्तम् । व्यस्तैः, समस्तैश्च पाटैः नागबन्धादिभिर्बद्धं, वर्णसरेण वा बद्धं प्रत्येकमेवंविधं खण्डत्रयं यस्यां स्यात्, सा रिगोणीति संबन्धः । पुनः किविधा? **वादकस्थूलमिलत्कोलाहलाकुलमुत्तमं ध्वनिं दधती** मध्ये मध्ये वादको वाद्यध्वनिमेलनेन खलु कोला^१हलं स्थूलध्वनिं करोति, तेन संकीर्णमुत्तमं सुखश्राव्यमित्यर्थः । तादृशं ध्वनिं दधती । छण्डणोऽन्ते यस्याः सा । अस्यां रिगोण्यामुपक्रमं उट्टवर्णं वैकल्पिकं कार्यम् । एषा रिगोणी दीप्तनृत्त उद्धते भवेत् । उपशमाः खण्डान्तेष्वङ्गत्वेन प्रयुक्ताः । **ललिते** लास्यनृत्ये मताः । उट्टवर्णं यदि स्वयं ललितं तदोट्टवर्णं ललितनृत्ते भवेत् इत्यनेनोट्टवर्णस्य कदाचिदुद्धतत्वमप्युक्तं भवति । अन्त्यखण्डादारभ्य सोपशम-च्छण्डणे **दीप्तनर्तनम्**, उद्धतं^२ नृत्तं प्रयोज्यमित्यर्थः ॥ ६६७-६७१-॥

यथा—तत्कं धिकं तकधिक तककि थोकटगेन२ थोंग-कथों३ इति प्रथमखण्डम् ।

टैथोटैं थोंधिथोंहधिहटै । इत्युपशमो द्विः । तत्कर्म दडरद कुथिबुर्गदडधिक दकर्म दड्मदकथोंगसकधिक कधिकत धिककधि टैंगेनथोंग२ थोंगकथों इति द्वितीयखण्डम् ।

^१ हलध्वनिं करोति (C).

^२ तं प्रयोज्य (C).

टै थों हटमं थोटै । इत्युपशमो द्विः । थोंगटं दरगड धिरगड धित्याः थोंकट तकथों कटधिकक। थोंधिक तद्धितक् इति तृतीयखण्डम् ।

कत्थोंटक्क थोंहकटगे धिकटै थौ हटमं थों हटै इत्युपशमो द्विः । तथों गिड्दक् दिगनदिगन दिगनक थोंगटद्धितक् । थोंहटै । इति च्छण्डणः । **इत्येकताल्यामुदाहरणम् ॥**

इति रिगोणी

(क०) तत्कं धिवकेमित्यादिः प्रस्तारो द्रष्टव्यः । **इत्येकताल्यामुदाहरणमिति** । लिखिते प्रस्तार इत्यर्थः । एवं तालान्तरेऽपि द्रष्टव्यमिति भावः । खण्डत्रययुक्तत्वादयं विधातुर्वैदितव्यः ॥

इति रिगोणी (४)

(सु०) रिगोणीं लक्षयति—**प्रत्येकमिति** । शुद्धादिपाटैः व्यस्तैः समस्तैर्वा वर्णसरेण वा यन्निबद्धं प्रत्येकं द्विवारप्रयुक्तेन उपशमाख्येन अङ्गेनान्ते युक्तं^१ खण्डत्रयं गीयते । वादकस्तु स्थूलेन कोलाहलेन^२ युक्तेन व्याकुलो भवति, अन्ते च छण्डणो यस्यां **सा रिगोणी ॥ अस्याम्** उपक्रमे^३ उट्टवर्णं वैकल्पिकेन क्रियते, तदा न वेति । इयं रिगोणी, 'दीप्तनृत्ते'^४ नयेत् । ललिते तु उपशमयुक्ता, यदि^५ उट्टवर्णं ललितं स्यात्, तदा अन्त्य-खण्डात् सोपशमं कार्यम् । दीप्तनर्तने च^६ उद्धतः कार्यः ॥ ६६७-६७१-॥

इति रिगोणी (४)

^१ हृङ्गकायां वा ख (B).

^२ युक्तव्याकुलो (A).

^३ उट्टवर्णं (A).

^४ दीर्घवर्णा (B).

^५ भवेत् (B).

^६ उट्टवर्णं (A).

^७ उपशमः (B).

नातिदीर्घं द्विराद्यं स्यात् खण्डं शुद्धादिनिमित्तम् ॥ ६७१ ॥

यद्वा वर्णसरेणाथ तादृखण्डं सकृद्भवेत् ।

इत्युद्ग्राहध्रुवौ कृत्वा स्वोद्ग्राहान्त्यदलेऽथवा ॥ ६७२ ॥

स्वोद्ग्राहे यत्र मुक्तिस्तत्कवितं कवयो विदुः ।

^१अस्य नामान्तरं प्राहुरन्येऽवच्छेद इत्यपि ॥ ६७३ ॥

भवेद्विह^२ द्रुतं मानं वर्णाः प्रायः स्युरुद्धताः ।

बाहुल्यान्नर्तनं दीप्तं निःशङ्केनेति कीर्तितम् ॥ ६७४ ॥

यथा—गड्दकदगिनददं गिनथोगं धिक्कट नकाधितक
देहकदर गडदरिक्थ रिक्थ रिदरगड थरिक थो गंडके । धिक्थोटे^३र,
इत्युद्ग्राहो द्विः । झेकक नखखिन^४र तहे हके नखखिनथो, इति
ध्रुवाख्यं खण्डम् । ततो देहकडरगडेत्यादिनोद्ग्राहान्त्यखण्डेनो-
द्ग्राहेण वा सकलेन गड्दगित्यादिना त्यागः । निःसारताले चेद-
मुदाहरणम् ॥

इति कवितम्

(क०) अथ कवितं लक्षयति—नातिदीर्घमित्यादि ।

^५यत्र कविते शुद्धादिनिमित्तम् । आदिशब्देन कूटाः, खण्डाश्च
गृह्यन्ते । यद्वा वर्णसरेण निमित्तं नातिदीर्घमाद्यं खण्डं द्विः प्रयोज्यं
स्यात् । अथ अनन्तरं तादृगाद्यखण्डसदृशं द्वितीयखण्डं सकृद्भवेत् ।
इत्युद्ग्राहध्रुवाविति । तत्राद्यं द्विरभ्यस्तमुद्ग्राहः । अथ सकृत्कृतं
ध्रुवः । तौ कृत्वा स्वोद्ग्राहान्त्यदले स्वकीयोद्ग्राहान्त्यार्धं ।

अथवा स्वोद्ग्राहे, समस्त एवोद्ग्राहे वेत्यर्थः । मुक्तिः न्यासो
भवति; तत्कवितं विदुरिति संबन्धः । अस्य कवितस्य, अवच्छेद-
इति नामान्तरमन्ये प्राहुः । इह कविते द्रुतमानं भवेत् । प्राय-
उद्धता इति । उद्धतप्रचुरा इत्यर्थः । बाहुल्याद् दीप्तं नर्तनमिति ।
वर्णानुगुण्येनेति भावः ॥ ६७१-६७४ ॥

(क०) गड्दगदगिनेत्यादिप्रस्तारो लक्षणानुसारेण
द्रष्टव्यः । मेलापकाभोगहीनत्वादिदं द्विधातुर्वेदितव्यम् ॥

इति कवितम् (५)

(गु०) कवितं लक्षयति—नातिदीर्घमिति । शुद्धपाटादिनिमित्तं
वाद्यखण्डं वर्णसरेण^१ वा निमित्तं द्विर्गम्यम् । तेन तत्सदृशमेव खण्डं सकृद् गेयं
भवेत् । एवमुद्ग्राहध्रुवौ गीत्वा उद्ग्राहसहितेऽन्यखण्डे उद्ग्राहे वा यस्मिन्
मुक्तिः तत्^२ कवितम् ॥ ६७१-६७४ ॥

इति कवितम् (५)

उद्ग्राहो^३ऽन्यो ध्रुवो नातिदीर्घः शुद्धादिनिमित्तः ।

स्याद् वर्णसरब^४द्धो वा छण्डणोऽन्ते यदा तदा ॥ ६७५ ॥

पदं वदन्ति वाद्यज्ञाः प्रायस्तद्दीप्तनर्तने ।

बादयित्वा यातं मध्ये प्रबन्धस्य विमुच्यते ॥ ६७६ ॥

पाटेन^५ यत्र^६ तत् प्रोक्तमपरं^७ सूरिभिः पदम् ।

यथा—तद्देहे^८ तदे^९ ततक्तदै^{१०} । इत्युद्ग्राहः । तक्त धिक्कट
धिधिक्कटधिक्कटगड्दगधितकतक धिक्थोगटे^{११} । इति ध्रुवः ।

^१ हं द्वि (D). ^२ तस्य (D). ^३ घृतं (D). ^४ ख. यत्र वचिते
fin. I ed.

^१ च (A). ^२ कवितम् (A), (B). ^३ कवितम् (A), (B).
^४ होचो (D). ^५ न्यो (D). ^६ तत (D). ^७ तत्रोक्त (D).

गतकटध्विधि कटध्विकिगडगध्विधकट ध्विकिरडाड-
गध्विकिगडाहृगथोंटं हृध्विकथोंगटं । इति च्छण्डणः ।
इदमुदाहरणं वर्णताले ॥

इति पदम्

(क०) अथ पदं लक्षयति—उद्ग्राहोऽल्प इत्यादि ।
'अल्पध्रुवो नातिदीर्घ' इत्यनेन ध्रुवस्योद्ग्राहापेक्षया द्विगुणदीर्घत्वं
विवक्षितम् । ततोऽपि दीर्घत्वं निषिध्यते । शिष्टं स्पष्टम् ।
मतान्तरेण पदस्य लक्षणमाह—वादयित्वेति । प्रबन्धस्य
उक्तलक्षणस्य पदप्रबन्धस्य, मध्ये उद्ग्राहध्रुवयोरन्तराले,
उद्ग्राहात् परं ध्रुवात् पूर्वमित्यर्थः । यतिं प्रथमोक्तं यतिप्रबन्धं
वादयित्वा, पाटेन तत्पूर्वोक्तेषु येन केनचित् पाटेन विमुच्यते
त्यज्यते यत्, तत्पदं प्रोक्तम् । उद्ग्राहध्रुवकाभ्यामिदं पदं
द्विधातु ॥ ६७५-६७७- ॥

(क०) तदेहं तदेमिति प्रस्तारः ॥

इति पदम् (६)

(गु०) पदं लक्षयति—उद्ग्राह इति । अल्प उद्ग्राहः, ध्रुवश्च
नात्यन्तदीर्घः शुद्धपाटादिभिर्निमितः; वर्णसरेण वा अन्ते छण्डणः, तदा
पदमित्युच्यते । प्रायस्तद् दीप्तनर्तनं । मतान्तरेणान्यथा लक्षयति—
वादयित्वेति । प्रबन्धस्य मध्ये पूर्वोक्तयति वादयित्वा यत्र पाटेन विमुच्यते
तत् पदम् ॥ ६७५-६७७- ॥

इति पदम् (६)

१ गीतदीर्घ इत्यनेन (C). ध्रुवो नाति I ed.

एकताल्यां द्रुते^१ माने नर्तनारम्भगोचरे ॥ ६७७ ॥

समं च करटाटीपिकाहलावादाने सति ।

अभ्यस्तो वाद्यछण्डोऽल्पः कूटेनैकेन निमितः ॥ ६७८ ॥

तद्वीमिति च्छण्डणान्तः स्मृतो मेलापको बुधैः ।

विद्यावन्तः स्वसमये प्राहुर्मेलापनीमिमाम् ॥ ६७९ ॥

वर्णानां टिरिकीत्येषामावृत्तिष्टीपिरुच्यते ।

यथा—थोंगटं गड्गनं थोंगटं । इति यावत् प्रबन्धपूर्ति
पुनःपुनर्वादनियम् । तद्वीमिति* । इति च्छण्डणः । इति मेलापकः ।

इति मेलापकः

(क०) अथ मेलापकं लक्षयति—एकताल्यामित्यादि ।
द्रुते माने नर्तनारम्भगोचरे नृत्तारम्भविषये । समम् एककालम् ।
करटाटीपिकाहलावादाने सतीति । करटायान्टीपिः करटाटीपिः,
काहलाया वादनं काहलावादनं, तयोर्द्वन्द्वैकवचनम् । कूटेनैकेनेति ।
शुद्धछण्डाभ्यां विनेत्यर्थः । तद्वीमित्यनुकरणम् । तदात्मकश्छण्डणो-
ऽन्ते यस्येति स तथोक्तः । विद्यावन्तः केवलं लक्ष्यप्रयोक्तारः ।
तानेव लोके 'विद्यावंत' इति कर्णाटा वदन्ति । टिरिकीत्येषा-
मावृत्तिरिति । टिरिकि टिरिकि टिरिकि टिरिकि, इति टीपेः
स्वरूपमुक्तम् ॥ -६७७-६८०- ॥

^१ ग. घ. ताले fin. I ed. ताले (गु०).

मधिकमिति भाति, नास्ति च क्वचित् fin. I ed.

^२ दीपि (D). अवेतिपद-

^३ ख. तनु इ fin. I ed.

(क०) थोंगेटे गड्दग्नमित्यादिः प्रस्तारः । अयं केवलं मेलापकखण्डात्मकत्वाद् एकधातुकोऽवगन्तव्यः ॥

इति मेलापकः (७)

(मु०) मेलापकं लक्षयति—एकताल्यमिति । एकतालीसञ्ज्ञके ताले, नर्तनारम्भगोचरे नृत्यस्य विशेषे सति, करतादिवादने च युगपत् विद्यमाने अल्पकूटपाटेन एकेन^१ निमित्तः अभ्यस्तश्चेत्, तद्धीमिति वर्णोऽन्ते यस्य, एवैविधः^२ छण्डणश्चान्ते^३ वाद्यते यस्य, स मेलापकः । वादक-प्रसिद्धाः मेलापनीति इमां प्राहुः ।^४ टिरिकीति वर्णानामावृत्ति-वशात् टीपिरित्युच्यते ॥ -६७७-६८०-॥

इति मेलापकः (७)

खण्डं शुद्धादिभिः पाटैर्बद्धं वर्णसरेण वा ॥ ६८० ॥

अल्पं कोमलनादं च सुकुमाराक्षरान्वितम् ।

अभ्यस्तं कोमले नृत्ते भवेदुपशमाभिधम् ॥ ६८१ ॥

यथा—टेंथोंकगे थोटेटे थोंहटगे थायें थोटे ॥

इत्युपशमः

(क०) अथोपशमं लक्षयति—खण्डं शुद्धादिभिरिति । आदिशब्देन कूटा गृह्यन्ते । स्पष्टमन्यत् ॥ -६८०, ६८१ ॥

(क०) टेंथोंकट इत्यादिः प्रस्तारः । अयमपि एकधातुकः ।

इत्युपशमः (८)

^१ निमित्तः (B). ^२ छण्डनेश्वा (B). ^३ विद्यते (A). ^४ यदि किञ्चिद् वर्णावृत्तिः तेऽपि अल्पमेलापकाः (A), (B).

(मु०) उपशमं लक्षयति—खण्डमिति । खण्डे सति खण्ड-शब्दादिकैः शुद्धादिभिः पाटैः वर्णसरेण^१ वा खपनिबद्धं, सुकुमाराक्षरान्वितं कोमलनादं च यत्, कोमले नृत्ते अभ्यस्तं तद् उपशमः ॥ -६८०, ६८१ ॥

इत्युपशमः (८)

आदौ वाद्यप्रबन्धानां शुद्धकूटादिनिमित्तः ।

यः खण्डो वाद्यते प्राहुर्द्वग्राहं तं महत्तमाः ॥ ६८२ ॥

उद्ग्राहोपशमादीनां यद्यप्यन्याङ्गतोदिता ।

यावत् पूरणमावृत्तेस्तथापि स्यात् प्रबन्धता ॥ ६८३ ॥

द्विरावृत्तिरनावृत्तिर्वा स्यादङ्गतया^२ स्थितौ ।

यथा—तें टें है तट्टें तक्कतटे, इति यावत् प्रबन्धपूरण-मभ्यासाद् उद्ग्राहः प्रबन्धः । अङ्गत्वं तु द्विःसकृद्वा प्राक्प्रयोगस्तु अङ्गप्रबन्धयोस्तुल्यः ॥

इत्युद्ग्राहः

(क०) अथोद्ग्राहं लक्षयति—आदावित्यादि । शुद्ध-कूटादिनिमित्त इत्यादिशब्देन खण्डा गृह्यन्ते । महत्तमाः अति-शयेन महान्त आचार्या इत्यर्थः । ननु उद्ग्राहादीनां प्रबन्धावय-वत्वेनोक्तानां कथं पृथक्प्रबन्धतेत्यत आह—उद्ग्राहोपशमादीना-मित्यादि । अत्रादिशब्देन मेलापकछण्डणादयो गृह्यन्ते । अन्या-ङ्गता प्रबन्धान्तराङ्गभावो यद्यप्युदिता; तथापि यावत्पूरणमिति । यावतीभिः आवृत्तिभिः प्रबन्धाकाङ्क्षाबुद्धिः पूर्यते, तावदावृत्तेर्हेतोः प्रबन्धता स्यात् । अयमर्थः—उद्ग्राहाद्यवयवेषु यत्नैक एव प्रबन्ध-

त्वेनोच्यते तत्रैतरावयवस्थाने तमेव प्रयुज्य, अवयवित्वेन प्रबन्धः
पूरणीय इति । अत एवोद्ग्राहोपशमादीनां प्रबन्धानामेकधातु-
कत्वदोषोऽपि निवर्तनीयः । एकधातुकत्वे ह्यप्रबन्धत्वदोषः
प्रसज्यते । प्रबन्धानामनेकावयवत्वनियमात् । एकधातुकस्य तु
तदभावात् । तत्रावृत्तिकृतानेकत्वाङ्गीकारे तु, न स दोष इति सर्वं
समञ्जसम् । यद्येवं प्रबन्धत्वस्य अन्याङ्गत्वस्य च को भेदः ?
इत्यत आह—**द्विरावृत्तिरित्यादि** । अङ्गतया स्थितौ, **द्विरावृत्तिः**
द्विवारमावृत्तिः । अनावृत्तिः सकृत्प्रयोगः । बहुधावृत्तौ प्रबन्धतै-
वेत्यर्थः ॥ ६८२-६८४-॥

(क०) तै टै हें तट्टे इति प्रस्तारः । **प्राक्प्रयोगस्त्वङ्ग-**
प्रबन्धयोस्तुल्य इति । उद्ग्राहस्यान्याङ्गत्वे पृथक्प्रबन्धत्वे च
प्राक्प्रयोगः समान एव । आवृत्त्य एव भेदिका इत्यर्थः ।
अयमन्येकधातुः ॥

इत्युद्ग्राहः (६)

(मु०) उद्ग्राहं लक्षयति—**आदाविति** । शुद्धपाठकूटपाटादिभिः
निमित्तः खण्डः वाद्यप्रबन्धानामादी यो वाद्यते स उद्ग्राहः । उद्ग्राहेति ।
उद्ग्राहोपशमादीनां यद्यपि अन्याङ्गत्वमुक्तं, तथापि प्रबन्धपूर्णपर्यन्त-
मीवृत्तौ कृतायां स्वतन्त्रप्रबन्धत्वं भवति । अङ्गत्वेन प्राधान्येन स्थितौ
सत्यां **द्विरावृत्तिः । अनावृत्तिर्वा सकृत्प्रयोगः । बहुधावृत्तौ प्रबन्धतै-**
वेत्यर्थः ॥ ६८२-६८४-॥

इत्युद्ग्राहः (६)

^१ काकल्यायां स्वत (B).

^२ सिद्धिस्त्रिवृत्तिः (A), (B).

उद्धतं ध्वनितं कूटबद्धं खण्डं मुहुर्महुः ॥ ६८४ ॥

प्रयुक्तं स्यात् प्रहरणं ^१ध्रुवाद्याभोगगोचरे ।

नृत्ते प्रायः प्रयोक्तव्यमन्यत्रापिच्छया भवेत् ॥ ६८५ ॥

यथा—कथोगक्क थोगथोगंगटथोगक्क थोग थोगथोक्
कथोगक् थोङ्क थोगक्थोङ्क थोगक् । गड्दक्काधिक थोगक् ।
टगं दंथोह । दिङ्गनिकुकुधित्यो ह्दधिकं धिटं इति पुनः पुनः
प्रयोज्यम् । **एकतात्पर्यामिदमुदाहरणम् ।**

इति प्रहरणम्

(क०) अथ प्रहरणं लक्षयति—**उद्धतमित्यादि** ।
ध्वनितं घोषयुक्तम् । **कूटबद्धं** कूटरेव बद्धम् । **मुहुर्महुः** प्रयुक्तं
खण्डं प्रहरणं स्यात् । ध्रुवाद्याभोगगोचरे प्रायः प्रयोक्तव्यमिति ।
अयमर्थः—ध्रुवादिभिः समस्तावयवैः परिमितं यावत् नृत्तं,
तावति नृत्ते खण्डस्य मुद्रावृत्त्या प्रायेण प्रयोज्यमिति ।
अन्यत्रापि । खण्डनृत्ते चेत्यर्थः ॥ -६८४, ६८५ ॥

(क०) कथो गक्कथोमित्यादिः प्रस्तारः । इदमन्येक-
^२धातुकः ॥

इति प्रहरणम् (१०)

(मु०) प्रहरणं लक्षयति—**उद्धतेति** । उद्धतनादं कूटपाटैः
निबद्धं खण्डं पुनः पुनर्गीयमानं प्रहरणमित्युच्यते ॥ -६८४, ६८५ ॥

इति प्रहरणम् (१०)

^१ ध्रुवमाभो (D).

^२ धातुकम् I ed.

^३ नादात् द्रुतकूट (A).

उद्ग्राहः स्यात् ततः खण्डं शुद्धकूटादिनिमित्तम् ।
तद्वर्णसरबद्धं वा प्रयुज्य द्विरिदं द्वयम् ॥ ६८६ ॥
ततः प्राक्खण्डसहितं तादृक् कूटमयं दलम् ।
वाद्यते छण्डणोऽन्ते च यत्र सोऽवत्सको भवेत् ॥ ६८७ ॥
प्रयोज्यं नर्तने दीप्ते शार्ङ्गदेवेन कीर्तितः ।

यथा—गड्गदन्दं गड्दक्थक्कट तकधक्कट तक्थक्कट ।
इत्युद्ग्राहः । खडि खडि खखनख खिदक् झेखखनख खिदक्कटतक्कट
धक्कटकगिणनग थोंगदिहिक् थोंगदिहिक्कटतक धिक्थोंगटे
गडक् । तकधिक थोंगटें । इति द्वितीयं खण्डम् । एतच्च सहो-
द्ग्राहेण पुनः पुनर्वायेत् । झक झखिखिन्नखनखखित हें खखनखझे
खन खरिब तुडि हिदिहि । कथोंगक् । इति तृतीयखण्डं पूर्वखण्डेन
सह वादयेत् । तकधिक तक्करे घटथथोंगक् थोंगक्कटें, इति
छण्डणः । इदमुदाहरणं रङ्गविद्याधरताले ॥

इत्यवत्सकः

(क०) अथावत्सकं लक्षयति—उद्ग्राह स्यादित्यादि ।
इदं द्वयमिति । उद्ग्राहं द्वितीयखण्डं च द्विः प्रयुज्य, ततोऽनन्तरं,
प्राक्खण्डसहितं द्वितीयखण्डसहितं, कूटमयं कूटाक्षरप्रचुरं
तादृक् द्वितीयखण्डसदृशं दलं तृतीयखण्डं यत्र वाद्यते, अन्ते च
छण्डणो वाद्यते सोऽवत्सको भवेत् ॥ ६८६-६८८ ॥

(क०) गड्गदन्दमित्यादिः प्रस्तारः । अयं त्रिधातुकः ।

इत्यवत्सकः (११)

^१ च. तदुद्ग्राहमयं fin. I ed. ^२ प्रायोऽयं (D). ^३ छ. ज. यद्यवा
fin. I ed. ^४ छण्डणप्र (C).

(सु०) अवत्सकं लक्षयति—उद्ग्राह इति । पूर्वं पूर्वलक्षित
उद्ग्राहः, ततः शुद्धपाटादिनिबद्धं खण्डं वर्णसरनिबद्धं वा ज्ञेयमुद्ग्राहः ।
^१खण्डं च द्विः प्रयोक्तव्यम् । ततः पूर्वं खण्डसहितं तादृशं पाटे रचितं
^२द्विर्वादीयत्वा, अन्ते च छण्डणो^३ गीयते यत्र सः अवत्सकः ॥ ६८६-६८८ ॥

इत्यवत्सकः (११)

कूटादिबद्धः खण्डः स्याच्छण्डणो वाद्यमोक्षकः^४ ॥ ६८८ ॥

यथा—गड्गद् टैद्वर तकथों थोंहटें हतटहें धोरं तकथों
तकथों धिक्थों तत धिधि थों थों रघ टै टै थोः तथोटे ॥

इति छण्डणः

(क०) अथ छण्डणं लक्षयति—कूटादिबद्धः खण्ड
इत्यादि । वाद्यमोक्षक इति । वाद्यस्य वाद्यप्रबन्धस्य मोक्षको-
ऽवसानकारकः । इदमन्याङ्गत्वे । पृथक्प्रबन्धत्वे तूद्ग्राहोक्तो
न्यायो द्रष्टव्यः ।^५अत्र द्वयोरे^६प्यन्तप्रयोक्तव्यः समानः ॥ ६८८ ॥

(क०) गड्गदुत्तमित्यादिः प्रस्तारः । अयमप्येक-
धातुकः ॥

इति छण्डणः (१२)

(सु०) छण्डणं लक्षयति—कूटादीति । कूटपाटादिनिबद्धः खण्डः
^७छण्डणः ॥ ६८८ ॥

इति छण्डणः (१२)

^१ द्वयमुद्ग्राहखण्डं (B). ^२ द्वयं वादनीयं (B). ^३ णः ख आभोगः
गीयते (B). ^४ स्यच्छण्डणं (D). ^५ णम् (D). ^६ ख. तत्र fin. I ed.
^७ प्यन्त्यप्र (C). ^८ छण्डणः (B).

शुद्धकूटादिभिर्बद्धः खण्डो वर्णसरेण वा ।

अभ्यस्तः स्याद् द्रुते माने तुडुका दीप्तनर्तने ॥ ६८६ ॥

द्रुताद् द्रुततरं मानमत्र लक्ष्येषु दृश्यते ।

उद्ग्राहध्रुवकाभोगे^१ यत्रान्यतमखण्डकम् ॥ ६८७ ॥

वादनीयं परे प्राहुरन्ये तु तुडुका^२ जगुः ।

उद्ग्राहध्रुवकाभोगोद्ग्राहाणां वादनं क्रमात् ॥ ६८९ ॥

यथा—टें दंदगि तथोंगटेंधिकतः रघटे हे कथोः टेगेधिक
तटथोंगः गण नगिः थोंगतक धिकथोंगटें । एकताल्यामिदमुदा-
हरणम् ॥

इति तुडुका

(क०) अथ तुडुकां लक्षयति—शुद्धकूटादिभिरित्यादि ।

द्रुते माने दीप्तनर्तनेऽभ्यस्तखण्डस्तुडुका स्यात् । अत्र तुडुकायां—
लक्ष्येषु द्रुताद् द्रुततरं मानं दृश्यते इति । देशोत्वेनानियमादिति
भावः । अस्या एव मतान्तरेण लक्षणान्तरमाह—उद्ग्राहेत्यादि ।
परे आचार्याः, अत्र तुडुकायाम् उद्ग्राहध्रुवकाभोगेषु अन्यतमं
खण्डकं वादनीयं प्राहः । तदेयं द्विधातुका । पुनरपि मतान्तरेण
लक्षणान्तरमाह—अन्ये त्विति । अन्ये आचार्यास्तु उद्ग्राहध्रुवका-
भोगे उद्ग्राहाणां क्रमाद्वादनं तुडुकां जगुः । तदानीमियं त्रिधातुका
भवति ॥ ६८६-६८९ ॥

(क०) टें ददंगितेत्यादिः प्रस्तारः । अस्मिन् पक्ष
इयमेकधातुका ॥

इति तुडुका (१३)

^१ गेष्वन्यत्रानामख (D).

^२ तुडुवं (D).

(सु०) तुडुकां लक्षयति—शुद्धेति । शुद्धपाटकूटादिभिः
वर्णसरेण वा निबद्धः खण्डः अभ्यस्तः तुडुकेत्युच्यते । उद्ग्राहेति । केचिद्
एतस्या उद्ग्राहादिषु अन्यतमं खण्डं वादनीयमित्याहुः । अन्ये तु उद्ग्राहा-
दीनां चतुर्णां क्रमेण वादनात् तुडुकेत्याहुः ॥ ६८६-६८९ ॥

इति तुडुका (१३)

यत्र शुद्धादिभिर्बद्धः खण्डो^१ वर्णसरेण वा ।

विशालः स्याद् द्रुतलयः पर्यन्ते तु विलम्बितः ॥ ६९२ ॥

दीप्तैर्वर्णैः क्वचित् क्वापि कोमलैश्चारुगुम्फितः ।

यत्रासौ मलयः प्रोक्तः प्रायिको दीप्तनर्तने ॥ ६९३ ॥

यत्रोद्ग्राहः सकृद् द्विर्वा ध्रुव^२कोऽथ सकृद्भवेत् ।

व्यापकाक्षरमिश्रैस्तद्विथोटैर्दभिरक्षरैः ॥ ६९४ ॥

^३बद्धं निरन्तरयति प्राहुस्तं मलयं परे ।

यथा—गड्दक् तद्वित्थों ह्योहरे घटें गणनगतक धिकक
थों हटें हैं थोदगक् । तक्क तहधिक थोकथोहक थो३ हट्टें डि
खिखरखिखिखेरथटें हैं थोहगक् । दिहं कटदहं कटगड्द गथरिकट२
थरिकटतक३ ततक धिधिक थो३थोदटें । इदमुदाहरणं मुद्रित-
मण्डताले ॥

इति मलयः

(क०) अथ मलयं^४ लक्षयति—यत्र शुद्धादिभिरित्यादि ।

यत्र मलपे शुद्धादिभिर्वर्णसरेण वा यो बद्धः खण्डः । द्रुतलयः
सन् विशालः स्यादिति । खण्ड आदित आरभ्य भागत्रये द्रुतलयः

^१ खण्डे (D).

^२ कोऽथ (D).

^३ बद्धं (D).

^४ ख. पं च लस

fn. I ed.

प्रयोक्तव्य इत्यर्थः । पर्यन्ते तु विलम्बित इति । चतुर्थभागे विलम्बितलयः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः । मतान्तरेण लक्षणान्तरमाह—**यत्रोद्ग्राह इत्यादि । व्यापकाक्षरमिश्रैरिति ।** व्यापकाक्षराणि कादीनि^१ षोडश, तैमिश्राणि कृताक्षराणि तद्विधो^२ ढें दे, इत्यक्षराणि ^३मर्दलप्रतिनियतत्वेन शुद्धानि, तैर्बद्धम् । **निरन्तरयतिम्** अविलम्बितविच्छेदं **मलयं** तं परे **प्राहुः** । अस्मिन् पक्षे द्विधातुकोऽयम् ॥ ६६२-६६५- ॥

(क०) गड्ढम् तद्विधो, इत्यादि प्रस्तारः । अस्मिन् पक्षे-ज्यमेकधातुकः ॥

इति मलयः (१४)

(सु०) मलयं लक्षयति—**यत्रेति ।** शुद्धपाटादिभिर्वर्णसरेण ^४वा निबद्धः, ^५वितालः, तालशून्यः, द्रुतलयः प्रान्ते विलम्बितलयान्वितः दीप्तादिवर्णयुक्तः खण्डो यत्र स मलयः^६ । प्रायिको दीप्तनतने । मतान्तरेणान्यथा लक्षयति—**यत्रेति ।** उद्ग्राहः सकृद् द्विर्वा गेयः । ध्रुवः सकृत् वक्ष्यमाणव्यापकाक्षरमिश्रैः ^७तद्विधो ढें दे इत्येतेरक्षरैः निबद्धं ^८निरन्तरयतियुक्तं **मलयं** परे **प्राहुः** ॥ ६६२-६६५- ॥

इति मलयः^९ (१४)

सोदाहरणलक्ष्माणि बालबोधार्थमभ्यधाम् ॥ ६६५ ॥

लक्षममात्रमथो वक्ष्ये विस्तरव्रस्तमानसः ।

मलपाङ्गं तु मलपेनाङ्गेन मलपेन च ॥ ६६६ ॥

इति मलपाङ्गम्

(क०) अथ मलपाङ्गादीनां संक्षेपेण लक्षणमात्रमेव वक्तुमाह—**सोदाहरणेति ।** तत्र मलपाङ्गं लक्षयति—**मलपाङ्गं त्विति ।** अङ्गेन मलपेन । पुनरपि मलपेन चेत्यनेन अङ्गिना मलपेन चेति गम्यते । मलय एवाङ्गत्वेन अङ्गित्वेन च प्रयुज्यते चेन्मलपाङ्गं नाम प्रबन्धो भवतीत्यर्थः ॥ -६६५, ६६६ ॥

इति मलपाङ्गम् (१५)

(सु०) एवं मुग्धपरिज्ञानार्थं सदृष्टान्तान् भेदानुक्त्वा, दृष्टान्त^१-हीनान् अवशिष्टभेदान् लक्षयति—**मलपाङ्गमिति ।** अङ्गभूतेन मलपेन मुख्येन च मलपेन युक्तं मलपाङ्गम् ॥ -६६५, ६६६ ॥

इति मलपाङ्गम् (१५)

पाटैर्मलपपाटः स्याद् विषमैर्मलपोपमः ।

इति मलपपाटः

(क०) विषमैः पाटैः कृतो मलपोपमः मलयसदृशो मलपपाटः स्यात् ॥ ६६७- ॥

इति मलपपाटः (१६)

(सु०) पाटैरिति । विषमैः पाटैः मलयवदुपनिबद्धचमानः मलयपाटः ॥ ६६७- ॥

इति मलपपाटः (१६)

^१ ख. नि षोडश कू. fn. i. ed. ^२ द्वितो (D). ^३ मर्दल (C).
^४ च (B). ^५ विशालतालशून्यः (A). ^६ मलयः (A). ^७ वेद्यो ढें दे एतै (B). ^८ निबिडयति युक्तं मलयं (A). ^९ मलयः (A).

^१ न्तादीनव (A). ^२ याङ्ग (A). ^३ येन (A). ^४ येन (A).
^५ याङ्गम् (A). ^६ याङ्गम् (A). ^७ च. परैः fn. i. ed. ^८ यव (A).

द्रुतैः करतलाघातैर्विकृतैर्यत्र बाद्यते ॥ ६६७ ॥
बाद्यं विच्छिद्य विच्छिद्य च्छेदमिच्छन्ति तं बुधाः ।

इति च्छेदः

(क०) अथ च्छेदः—विकृतैरिति । द्रुतस्यात्र प्रकृतत्वात्
मध्यविलम्बिता विकृता उच्यन्ते ॥ -६६७, ६६८- ॥

इति च्छेदः (१७)

(मु०) द्रुतैरिति । करतलस्य उद्धतैः द्रुतैः विकृतैश्च यत्र बाद्यं
आघातैः बाद्यते^१ स च्छेदः ॥ -६६७, ६६८- ॥

इति च्छेदः (१७)

ओतां कृत्वा द्विरुद्ग्राहः सकृद् वा व्यापकाक्षरैः ॥ ६६८ ॥
सपाटैर्विहितो यत्र प्रान्ते रचितवैकृतिः ।
मध्ये लये छण्डणः स्याद् रूपकं तन्निरूपितम् ॥ ६६९ ॥

इति रूपकम्

निबद्धो वादितो गीतवाद्यसंघौ मतोऽन्तरः ।

इत्यन्तरः

अन्तरं वादयित्वा चेदनिबद्धस्य वादनम् ॥ १००० ॥
क्रियतेऽन्तरपाटः स्यात् तदा निःशङ्कसंमतः ।

इत्यन्तरपाटः

^१ बाद्यन्ते स बाद्यच्छेदः (B).

समाश्लिष्टधनश्लक्ष्णपाटवर्णविनिर्मितः ॥ १००१ ॥
हस्तलाघवसंपन्नः खोजः संजल्पितो बुधैः ।

इति खोजः

कृत्वा खण्डं पाटवद्धं यतिवद् वादनं भवेत् ॥ १००२ ॥
एवमावृत्तिकरणादाहुः खण्डयति बुधाः ।

इति खण्डयतिः

खण्डच्छेदसमायोगात् खण्डच्छेदप्रबन्धयोः ॥ १००३ ॥
^१छेदैर्व्यक्तैः समायुक्तं खण्डच्छेदं परे जगुः ।

इति खण्डच्छेदः

यस्यां विरतिरन्ते च तालस्य व्यापकाक्षरैः ॥ १००४ ॥
सपाटैर्बद्धखण्डा या साऽऽख्यातावयतिर्बुधैः ।

इत्यवयतिः

पाटस्य खण्डनाद् बाधे खण्डपाटोऽभिधीयते ॥ १००५ ॥
इति खण्डपाटः

खण्डः स्यात् खण्डमध्येऽपि खण्डशो वादने सति ।

इति खण्डकः

स्रोतोगताख्यया यत्वा खण्डहुल्लोऽभिधीयते ॥ १००६ ॥
इति खण्डहुल्लः

गीतनृत्तसमो माने प्रबन्धः प्रोच्यते समः ।

इति समः

^१ खण्डै (D).

निष्पन्नः केवलैः पाटैः पाट इत्यभिधीयते ॥ १००७ ॥

इति पाटः

ध्रुवको भूरिवाद्येषु स्यादावृत्तो^१ऽन्तरेऽन्तरे ।

इति ध्रुवकः

अङ्गमङ्गीकृतं सान्द्रैरपाटैर्व्यापकाक्षरैः ॥ १००८ ॥

इत्यङ्गम्

द्विरुद्ग्राहो ध्रुवाभोगं^२ ध्रुवाख्यः क्रमशस्ततः ।

यत्राङ्ग^३रूपकं प्राह तत् तेजोऽन्वयदीपकम् ॥ १००९ ॥

इत्यङ्गरूपकम्

तालश्चतुःषष्टिकलो युग्मे मार्गे च दक्षिणे ।

इति तालः

वितालस्त्वादिमध्यान्तविकृतस्ताल इष्यते ॥ १०१० ॥

इति वितालः

हस्तेन वितताङ्गुष्ठविरलाङ्गुलिना क्रमात् ।

पताकेन हतैर्जातैः पाटैः स्यात् खलकाभिधः ॥ १०११ ॥

इति खलकः

समुदायो निजैः पाटैः समस्तातोद्यवाचनात् ।

इति समुदायः

पाटानां पृथगुक्तानां मिश्रणाज्जोडणी मता ॥ १०१२ ॥

इति जोडणी

^१ न्तरान्तरा (D).

^२ ध्रुवस्यात् (D).

^३ पूरकं (D).

उडबः सलयात् तालाद् द्वितालाच्च लयोज्झितात् ।

इत्युडबः

तलपाटस्तु मलपोन्मिश्रपाटप्रबन्धजः ॥ १०१३ ॥

इति तलपाटः

निजेर्या तद्विधोटैर्भिव्यापकरक्षरैस्तथा ।

पाटैर्वा रचिता किञ्चिद् विलम्बितलयाश्रया ॥ १०१४ ॥

वैकारालंकृताद्यन्ता वदन्त्युट्टवणीममूम् ।

इत्युट्टवणी

वाद्यैकदेशं वर्गान्तमयं वाद्यादिमध्ययोः ॥ १०१५ ॥

वाद्येल्लघुहस्तत्वाद् यं तमाख्याति तुण्डकम् ।

इति तुण्डकः

पाटैरेव यतिः सान्द्रैः प्राञ्जलैरङ्गपाटकः^१ ॥ १०१६ ॥

इत्यङ्गपाटकः

खण्डः स्यात् पृथगातोद्यवाद्यैः पैसारसंज्ञकः ।

इति पैसारः

इति त्रिचत्वारिंशद्वाद्यप्रबन्धाः ।

(क०) इतः परं रूपकादीनां लक्षणानि ग्रन्थत एव सुबोधानि ॥ -६६८-१०१७- ॥

(सु०) इदानीं रूपकादीनां लक्षणं वक्तुमाह—ओतामिति । पूर्वोक्तामोतां कृत्वा यत्र उद्ग्राहः व्यापकाक्षरैः पाटसहितैः कृतः, अन्ते

^१ कः (D).

च ^१दंकारेण युक्तः सकृत् द्विर्वा गेवः ^२मध्यलये च छण्डणः, तद्रूपकम्
इति रूपकम् (१); निबद्धमिति पाठः पाठेर्गीत्वा, गीतवाद्यसंघिगतः
निबद्धोऽन्तरः, इत्यन्तरः (२); अन्तरमितिः अन्तरवादनानन्तरम्,
अनिबद्धस्य वादनं क्रियते चेत् ^३तदन्तरपाट इत्यन्तरपाटः (३);
समेति^४ समैः समानैः झिल्लैः धनैः निविडैः श्लक्ष्णैः मसृणैः पाटवर्णै-
निबद्धः ^५हस्तलाघवसंयुक्तेन वाद्यमानो खोजः, इति खोजः (४);
कृत्वेति पाटनिबद्धं खण्ड कृत्वा पूर्वोक्तयतिवद् वादनं यत्र भवति ।
एतदावृत्ती खण्डयतिः, इति खण्डयतिः (५); खण्डच्छेदेति खण्डच्छेदयोः
संयोगात् खण्डच्छेदः । अन्ये तु ^६च्छेदेः अवयवपाटैः व्यक्तेष्वन युक्तममुं
विदुः, इति खण्डच्छेदः (६) यस्यामिति आते तालस्य विरतिः, सपाटैः
पाटसहितैः व्यापकाक्षरैः उपनिबद्धा च सा अवयतिः, इत्यवयतिः (७);
पाटस्येति वाद्ये पाटस्य खण्डनात् खण्डपाटः, इति खण्डपाटः (८);
खण्डेति खण्डमध्ये खण्डणः ^७अवयवशः वादने क्रियमाणे ^८खण्डकः, इति
खण्डकः (९); स्रोतोगताख्येयेति तस्मिन्नेव खण्डके स्रोतोगताख्यया
यस्या वादने क्रियमाणे खण्डहुल्लः, इति खण्डहुल्लः (१०); गीतेति
माने प्रमाणे गीते नृत्ते च समः सम इत्युच्यते, इति समः (११);
निष्पन्न इति केवलैः पाटैः गीतवाद्यसंघिगतो निष्पन्नः पाट इत्युच्यते,
इति पाटः (१२); ध्रुवक इति ^{१०}अनेकवाद्येषु अन्तरा मध्ये मध्ये
आवृत्तो ध्रुवकः, इति ध्रुवकः (१३); अङ्गैरेति ^{११}पाटहीनैः व्यापकाक्षरैः
अङ्गसहितैः उपनिबद्धमङ्गं भवति, इत्यङ्गम् (१४); द्विरिति उदग्राहो
द्विगैः, ततोऽनन्तरं ध्रुवाभोगं ध्रुवाक्रमेण ^{१२}बद्धं यत्र सकृद्गीयते तदङ्ग-
रूपकमिति, इत्यङ्गरूपकम् (१५); ताल इति युग्मे च चत्तुष्टये^{१३}

^१ टें (A) डें (B). ^२ मध्यमलयन छ (B). ^३ तदा तरलपाटः (B).
^४ समैरिति (B). ^५ लाघवेन वाद्यमानो भोगः (A). ^६ च्छेदावयवैः व्य (B).
^७ शः समः अ (B). ^८ अवयवरावादाने (A). ^९ खण्डः (A), (B).
^{१०} ध्रुवेषु वा (B). ^{११} तालपाटहीनैः (B). ^{१२} यत्र सकृ (B). ^{१३} पुटैः (B).

दक्षिणमार्गे चतुःषष्टिकलाभिर्यो गीयते स तालः, इति तालः (१६);
वितालस्त्विति । आदिमध्यावसानेषु विकारं प्राप्तः ताल एव विताल
इत्युच्यते, इति वितालः (१७); हस्तेनेति । ^१विततोऽङ्गमुष्टः, विरला-
ञ्चाङ्गमूलयो यस्मिन्, एवंविधेन वक्ष्यमाणपताकाख्यहस्तेन (श्लो १०२,
सप्तमे नर्तनाध्याये) कृताघातेर्जातिः पाटैस्तु ^२खलकः, इति ^३खलकः
(१८); समुदायेति । निजैः सहजैः पाटैः समस्तवाद्यवादानात् समुदायः,
इति समुदायः (१९); पाटानामिति । पृथगुक्तानां पाटानां मिश्रीकरणे
^४जोडणी, इति ^५जोडणी (२०); उडव इति । पूर्वोक्ततालसहितात्,
लयप्रबन्धात्, वितालप्रबन्धाच्च लयहीनात् कृतादेतोः उडवः, ^६इत्युडवः^७
(२१); तलपाटेति । पूर्वोक्त^८मलप्रबन्धमिश्रितपाटप्रबन्धाल्लयसहिता-
दुत्पन्नः तलपाटः, इति तलपाटः (२२); निजैरिति । स्वोत्पन्नैः तद्विधै-
रेमित्यादिभिर्वर्णैः व्यापकाक्षरैः पाटैर्वा रचिता विलम्बितलययुक्ता आदा-
वन्ते च ^९दंकारेणालंकृता ^{१०}उट्टवणी, इत्युट्टवणी^{११} (२३); वाद्येति ।
वाद्यस्य आदौ मध्ये च वादकः वर्गान्तमयं ^{१२}लयवाद्यैकदेशे वादकं हस्त-
लाघवेन यं वादयेत्, तं ^{१३}तुण्डकमिति शाङ्गदेव आख्याति, इति ^{१४}तुण्डकः
(२४); पाटैरिति । अङ्गसहितैः निविडैः पाटैः उपनिबद्धा पूर्वोक्तयतिरेव
अङ्गपाटकः, इत्यङ्गपाटकः (२५); खण्डेति । आतोद्यवादितैः खण्डैः
पाटैः ^{१५}पैसारः, इति पैसारः (२६) एवं त्रिचत्वारिंशद्वाद्यप्रबन्धाः
॥ -६६६-१०१७- ॥

इति पैसारः

इति त्रिचत्वारिंशद्वाद्यप्रबन्धाः ।

^१ विततो (A). ^२ कृतव्यक्तवाताक्षरैः (B). ^३ फलकः (A), (B).

^४ फलकः (A). ^५ जोडणी (A). ^६ कोडणी (B). ^७ तालप्रबन्धात्

चतुष्टयसहितात् विताल (A). ^८ उडवः (A). ^९ इत्युडवः (A).

^{१०} मलय (A). ^{११} टेंका (A). ^{१२} उट्टवणा (B). ^{१३} वणा (B).

^{१४} धमिति लय (A). ^{१५} तुण्डकमिति (A), (B). ^{१६} तुण्डकः (A).

^{१७} वैस्तारः (A).

प्रदर्शनार्थमित्युक्ताः प्रबन्धाः कतिचिन्मया ॥ १०१७ ॥
 अन्यानपि ^१प्रधानेन विदांकुर्वन्तु तद्विदः ।
 पाटभेदाश्च वाद्यानि प्रबन्धा वाद्यसंश्रयाः ॥ १०१८ ॥
 यथायोगं मर्दलादिसर्ववाद्यैश्चिमे मताः ।

इति वाद्यप्रबन्धलक्षणम्

(क०) उक्तरीत्यान्येऽपि प्रबन्धाः कल्पयितुं शक्या
 इत्याह—प्रदर्शनार्थमित्यादि । पटहोक्तान् हस्तपाटादीन् यथा-
 योगं मर्दलादिष्वतिदिशति—पाटभेदाश्चेत्यादि । पाटभेदा नाग-
 बन्धादयोऽष्टाशीतिर्हस्तपाटाः । वाद्यानि बोल्लावणीप्रभृतीनि
 पञ्चविंशतिः । वाद्यसंश्रयाः ^२प्रबन्धा यत्यादयस्त्रिचत्वारिंशत्
 ॥ -१०१७-१०१८- ॥

इति वाद्यप्रबन्धलक्षणम्

(मु०) एवमुक्तप्रकारेणान्यानपि प्रबन्धान् अनेनैव दिशोहनीया
 इत्याह—प्रदर्शनार्थमिति । अतिदेशमाह—पाटभेदाश्चेति । नागबन्धादयः
 पाटभेदा अष्टाशीतिः, बोल्लावणीप्रभृतीनि वाद्यानि पञ्चविंशतिः, यत्या-
 दयो वाद्यसंश्रयाः प्रबन्धास्त्रिचत्वारिंशत् ॥ -१०१७-१०१८- ॥

इति वाद्यप्रबन्धलक्षणम्

निर्दोषबीजवृक्षोत्थः ^३पिण्डेऽर्धाङ्गुलसंमितः ॥ १०१९ ॥
 एकाविंशत्यङ्गुलः स्याद् दैर्घ्ये वामे मुखे पुनः ।
 चतुर्दशाङ्गुलानि स्युर्दक्षिणे तु त्रयोदश ॥ १०२० ॥

^१ प्रधानेन (D). ^२ ख. याः पञ्च प्र. fin. I ed. ^३ पिण्डो (D).

मानं यस्य मनाडमध्यः ^१पृथुरेकाङ्गुलाधिके ।
 वक्त्राभ्यां चर्मणो वृत्ते घने ये प्रान्तयोस्तयोः ॥ १०२१ ॥
 चत्वारिंशत् पृथग्रन्ध्राण्यङ्गुलान्तरवन्ति च ।
 वध्रे ^२तद्वन्ध्रविन्यस्ते सीवनप्रक्रियावति ॥ १०२२ ॥
 प्रोतोऽर्धाधः स्थिता दृष्टोदरपृष्ठा च ^३विनिका ।
 क्रियते वेष्टयते मध्ये त्रिभिर्बन्धेदृढं तथा ॥ १०२३ ॥
 कार्यो गोमूत्रिकाबन्धस्तत्र वध्रे ^४द्वयेन च ।
 तथा यथा पिनढास्ये भवेतां चर्मणो दृढे ॥ १०२४ ॥
 कुण्डल्योः प्रान्तयोर्वामकुण्डल्यां संनिवेश्य च ॥
 कच्छां क्षिप्त्वा दक्षिणस्यां कृष्ट्वा द्विगुणतां नयेत् ॥ १०२५ ॥
 साञ्चलद्वितयां पट्टमयीमष्टाङ्गुलायताम् ।
 यद्वान्यवस्त्रजां शोभानुगां न्यस्येत् कटीतटे ॥ १०२६ ॥
 निगदन्ति मृदङ्गं तं मर्दलं मुरजं तथा ।
 प्रोक्तं मृदङ्गशब्देन मुनिना पुष्करत्रयम् ॥ १०२७ ॥
 अत्यन्ताव्यवहार्यत्वान्निःशङ्को न तनोति तत् ।
^५भूतिमिश्रेण भक्तेन चिक्कणेनातिमर्दनात् ॥ १०२८ ॥
 पिण्डिकां पूरिकाकारां वामवक्त्रे निवेशयेत् ।
^६बोहणाब्धेन तेनास्यं लिम्पेदल्पेन दक्षिणम् ॥ १०२९ ॥
 एवं जलधरध्वानगम्भीरो भवति ध्वनिः ।
 निःशङ्कोनात्र च प्रोक्तो देवता नन्दिकेश्वरः ॥ १०३० ॥

^१ ध्या (D). ^२ च. ध्रे सद. fin. I ed. ^३ वनि (D). ^४ ध्राद (D).
^५ भूरि I ed. ^६ लोह (D).

रक्तचन्दनजो यद्वा खादिरोज्यैरयं मतः ।

त्रिशदङ्गुलदैर्ध्वश्च पिण्डे त्वङ्गुलसंमितः ॥ १०३१ ॥

एतस्य वामं वदनं द्वादशाङ्गुलसंमितम् ।

दक्षिणं तु मितं साधैरेकादशभिर्दङ्गुलैः ॥ १०३२ ॥

पाटाश्च तद्विश्वोद्वेहं न देमित्यत्र कीर्तिताः ।

तद्वद्वा दधलाश्चेति पाटा^१ नन्यत्र मन्वते ॥ १०३३ ॥

इह स्युः पटहोक्ताश्च वर्णाः षोडश कादयः ।

^२अधिकान् भञ्जमान् वर्णान् वर्णयन्त्यपरे त्विह ॥ १०३४ ॥

तेषु तद्व्यादयः सप्त केवलाः शुद्धसंज्ञकाः ।

सस्वरैरस्वरैर्युक्तैरयुक्तैर्वा कखादिभिः ॥ १०३५ ॥

व्यापकाख्यैः षोडशभिर्मिश्रास्ते कूटसंज्ञकाः ।

कूटमि^३श्रास्तु ते शुद्धा बुधैः खण्डाभिधा मताः ॥ १०३६ ॥

छन्दसा भूरिहृद्येन स्फूर्तिमूर्तिस्वारधीः ।

कविः कवयति श्लोकं श्रवणोत्सवदैः पदैः ॥ ११०३७ ॥

यथा तथा क्वचित् तालैर्वर्णत्रयमनोहरान् ।

विधाय वादको वाद्यप्रबन्धान् बन्धुमर्हति ॥ १०३८ ॥

इमं कवित^४काराख्यं वादकं ब्रुवते जनाः ।

इति मर्दलक्षणम्

(क०) अथ मर्दलं लक्षयति—निर्दोषेत्यादि । स्पष्टोर्थः ।

पाटाश्च तद्विश्वोद्वेहं न देमित्यत्र कीर्तिता इति । अत्र^५ मर्दलस्य

दक्षिणवक्त्रे तद्विश्वो^१द्वेहं न दे इति सप्त वर्णाश्च पाटाः कीर्तिताः ।

तद्वद्वा दधलाश्चेति पाटान् अन्यत्र मन्वते इति । अन्यत्र मर्दलस्य

वामवक्त्रे तद्वद्वा दधलाश्चेति षड्वर्णान् पाटान् मन्वते । इह

स्युरिति । इह मर्दले पटहोक्ताः षोडश कादयो वर्णाश्च स्युः ।

अपरे आचार्यास्त्विह मर्दले भञ्जमान् वर्णानधिकान् वर्णयन्तीत्येवं

मितित्वा मर्दले द्वाविंशत्पाटा भवन्ति । अत्र केषांचिदेकरूपवेऽपि

पृथक्प्रयत्नसाध्यत्वात् पृथक्गणत्वमवगन्तव्यम् । तेष्वित्यादि । तेषु

द्वाविंशद्वर्णेषु तद्व्यादयः सप्त तद्वित्तो^२द्वेहं न देमित्येते वर्णाः

केवला वर्णान्तरैरमिश्राश्चेच्छुद्धसंज्ञका भवन्ति । कूटानां वर्णानां

स्वरूपं दर्शयति—सस्वरैरित्यादि । तैः शुद्धा एव सस्वरादयः शब्दाः

पूर्वमेव व्याख्याताः । तादृग्भूतैः व्यापकाख्यैः सकलवाद्यसाधा-

रण्येन व्यापकसंज्ञैः कखादिभिः षोडशभिः वर्णैर्मिश्रिताश्चेत् तदा

कूटसंज्ञका भवन्ति । खण्डानां स्वरूपं दर्शयति—कूटमिश्रास्त्विति ।

ते शुद्धाः तद्व्यादयः सप्त वर्णाः । अत्र तु शब्दश्चेदर्थः । कूटमिश्रा-

श्चेदित्यर्थः । तदा खण्डाभिधा मताः । अथ^३ श्लोकदृष्टान्तपूर्वकं

वाद्यप्रबन्धनिर्माणप्रकारमाह—छन्दसेत्यादि । स्फूर्तिमूर्तिरिति ।

स्फूर्तिः प्रतिभा, सैव मूर्तिर्यस्येति स तथोक्तः । उदारधीः

अविकलबुद्धिः कविर्यथा श्रवणोत्सवदैः पदैः श्लोकं कवयति

तथा तादृशो वादकः । क्वचित्तलैरिति ; अनेनान्यत्र तालेनापत्रत्र

तालाभ्यां वा निबद्धान्, वर्णत्रयमनोहरान् ; वर्णानां शुद्धानां

कूटानां खण्डानां च त्रयं वर्णत्रयम् । यथाशोभं ग्रथितैः शुद्धादिभिः

^१ च. नन्येऽत्र fn. I ed. ^२ अत्र काकुताद्वर्णा (D). ^३ च. श्राश्च ते
fn. I ed. ^४ गन्तव्यस्य (D). ^५ माख्यातं (D). ^६ अथ (C).

^१ तद्वित्तो (C). ^२ ख. श्रद्धान्तरैरमिश्राश्च शुद्ध संज्ञकाः पाटा fn. I ed.
शब्दार्थाः पाटा (C). ^३ श्लोककवितानाह (C).

त्रिविधैर्वर्णैः, मनोहरान् विधाय वाद्यप्रबन्धान् बहून् ग्रथितुमर्हति योग्यो भवति । जनाः भाण्डिकजनाः । इमं प्रबन्धनिबन्धारं वादकं ^१कवितकाराख्यं कवितकार इत्याख्यां यस्येति स तथोक्तः तं ब्रुवते ॥ -१०१६-१०३६- ॥

इति मर्दलक्षणम्

(मु०) अथ मर्दलं लक्षयति—निर्दोष इति । व्रणभेदादिदोषहीनात् वीजकवृक्षात् जातः अर्धाङ्गुलप्रमाणः पिण्डः, मध्यविवरं विना काष्ठ-प्रमाणमेकविंशत्यङ्गुलं दैर्घ्यं, वाममुखं च चतुर्दशाङ्गुलं, दक्षिणे तु त्रयोदश, मध्यः मध्यप्रदेशः, पृष्ठः स्थूलः, मुखाभ्याम् एकाङ्गुलेनाधिकः, द्वयोः प्रान्तयोः वृत्ते वर्तुले घने निविडे द्वे चर्मणी, तयोः चर्मणोः प्रत्येक-मङ्गुलान्तराणि चत्वारिंशद्ब्रह्मणि कार्याणि । बध्न इति । ^२शिवन-प्रक्रियायुक्ते तयोश्चर्मणोः रन्ध्रेषु विन्यस्ते ^३वध्ने प्रोता ऊर्ध्वमधश्च स्थिता दृष्टमुदरं पृष्ठं च यस्याः, एवंविधा विनिका यत्र क्रियते, “विनिका वाद्यशास्त्रेऽस्मिन् कर्परा परिकीर्तिता” इति (श्लो. -११०८. अत्रैव) । सा च विनिका ^४त्रिविधैर्बध्ने बद्धे सति, दृढवेष्टिते कार्या इति । तत्र तस्मिन् प्रदेशे द्वाभ्यां वद्धाभ्यां गोमूत्रिका कार्या, गोमूत्रिकाकारेण ^५रचनाविशेषेण ^६वध्ने च कार्य इत्यर्थः । तथा कार्यं यथा द्वे अचला^७दितमुखे चर्मणी दृढे स्याताम् । प्रान्तयोरिति । प्रान्ते वर्तमाने कुण्डलिद्वयमध्ये वामकुण्डल्यां कच्छां चिपिटारज्जुं क्षिप्त्वा दक्षिणकुण्डल्यां निक्षिप्य आकृष्य द्विगुणं कुर्यात् । कथंभूतां कच्छाम्? अञ्चलद्वयेन युक्तां पट्सूत्र-कृताम् अष्टाङ्गुलां, अन्यवस्त्रजातां वा तां शोभानुगां कटिप्रदेशे ^{१०}न्यस्येत्

स्यापयेत् । एवंविधलक्षणयुक्तं मृदङ्गमाहुः । तस्यैव पर्यायो मर्दलमुरजा-विति । प्रोक्तमिति । मुनिना भरतेन पुष्करत्रयमुक्तम् । तदत्यन्तं लोक-व्यवहाराभावात् शार्ङ्गदेवो न व्यतस्तस्तत् । भूतीति । भूतिः काष्ठभस्म, तन्मिश्रितेन ओदनेन चिक्कणेन ^१स्निग्धेन संमर्द्य पिण्डिकां गोलकीं कृत्वा, पूरिका गुडमिश्रः, ^२भूला इति महाराष्ट्रे, प्रसिद्धः, पिण्डिकां तदाकारां कृत्वा मर्दलस्य वामे मुखे निवेशयेत् । भूतिमिश्रस्योदनस्य बोहणमिति संज्ञा । तेन दक्षिणमुखं स्वल्पमेव लिप्सेत् । एवं बोहणलिप्ते गम्भीरो ध्वनिर्भवति । अत्र देवता च नन्दिकेश्वरः ॥

मतान्तरमाह—खादिरिति । अयं मर्दलः अन्यैराचार्यै रक्तचन्दन-

^३काष्ठेन, खदिरकाष्ठेन वा जातः संमतः । त्रिशदङ्गुलानि दैर्घ्यम्, ^४अङ्गुलप्रमाणः पिण्डः, वाममुखं द्वादशाङ्गुलम्, दक्षिणं सार्धैकाद-शाङ्गुलम् । पाटानाह—पाटा इति । तद्विधां ते हे नैं दें इत्येते ^५पाटाः । अन्ये तु ^६तटह्ला दधलाश्चेत्येते पाटा इत्याहुः । ^७पटहोक्ताश्च षोडश कवगादयः, ^८अशमानपि अवाधिकाः पाटवणां इति केचिदाहुः । पाटानां संज्ञाविशेषमाह—तेष्विति । तद्व्याचयः सप्त केवलाः शुद्धपाटाः, सस्वरैः स्वरयुक्तैः, अस्वरैः, स्वरहीनैर्वा समस्तैः व्यस्तैर्वा यापकसंज्ञैः कखादिभिः षोडशभिर्वर्णैः मिश्राः पाटाः कूटसंज्ञकाः पाटाः । कूटमिश्राः शुद्धास्तु खण्डपाटा इत्युच्यन्ते । छन्दसेति । रमणीयेन छन्दसा प्रतिभावान् कविः यथा श्रवणयोः उत्सवदायकः पदैः श्लोकं रचयति, तथा वादकः शुद्धकूटादि-वर्णत्रयमनोहरान् ^९प्रबन्धान् बद्धुं रचयितुमर्हति ॥ -१०१६-१०३६- ॥

इति मर्दलक्षणम्

^१ कवितकाराख्यं कवितकार (C). ^२ द्वयोः (B). ^३ दगुल (B) ^४ सकलक्रिया युक्ते (B). ^५ बद्धे (A). च द्व प्रान्ते ऊर्ध्वं (B). ^६ त्रिविधैर्बध्ने सति (A). ^७ गैव (B). ^८ वादकैः कार्यः (B). ^९ अच्छिद्रितम् (B). ^{१०} न्यसेत् (A), (B).

^१ स्निग्धतं (A). ^२ भूयो (A). ^३ खदिरपनसादिकाण्डैरपि कतव्य इत्युक्तम् (B). ^४ द्वयङ्गुल (A). ^५ अत्र मर्दने कीर्तितः शुद्ध पाटाः (B). ^६ तदह्ला (A). ^७ पाट प्रोक्ताश्च (A). ^८ ऋभमा (A). ^९ बन्धान् (B).

चतुर्विधो मार्दलिको ^१वादको मुखरी तथा ॥ १०३६ ॥
 ततः प्रतिमुख्याख्यस्तूर्यो गीतानुगो मतः ।
^२वादको वादकर्ता स्याद् वादः पक्षपरिग्रहः ॥ १०४० ॥
 स्वपक्षसाधनं तद्वत् परपक्षस्य दूषणम् ।
 येऽन्ये जल्पवितण्डाद्या वादभेदाः सलक्षणाः ॥ १०४१ ॥
 न तान् ब्रवीम्यहं ग्रन्थप्रपञ्चमभ्युपगम्य ।
 वादे च वादनं कार्यं प्रथमं ^३व्राटनाभिधम् ॥ १०४२ ॥
 मर्दले तालरहिते बोहणेन विना ध्वनिः ।
 यो देहडङ्गित्यादि कृतोऽसौ ^४व्राटनं मतम् ॥ १०४३ ॥
 वोडवाडं ^५घनरवं ^६हस्तावत्यर्थमाचरेत् ।
 मुक्तशब्दात्मकं ^७रेहदडादप्रमुखं ततः ॥ १०४४ ॥
^८उधारं स्थापनं पश्चाद् वादयेत् तदथोच्यते ।
 मुखयोर्बोहणं ^९दत्त्वा वादयेद् वाममाननम् ॥ १०४५ ॥
 गड् ^{१०}दग्धोमिति वक्त्रं तु गड् ^{११}दग्धोमिति ^{१२}दक्षिणम् ।
 ततो मध्यलये ताले द्वितीये ^{१३}मुखयोर्द्वयोः ॥ १०४६ ॥
 कुर्यान्नादसमायोगमथोच्चोच्चं दलत्रयम् ।
 पृथग्विलम्बिते ^{१४}मध्ये द्रुते चैव लये क्रमात् ॥ १०४७ ॥
 तथैकद्वित्रिथोकाररचितं ग्रहमोक्षभाक् ।
 आलप्तिवच्च त्रिस्थानशुद्धं हस्तद्वयेन यत् ॥ १०४८ ॥

मधुरं वाञ्छते तज्जैः स्थापनं तदुदाहृतम् ।
 ततस्थोकारबहुलग्रहमोक्षोऽन्तरो भवेत् ॥ १०४९ ॥
 चतुरश्रव्यश्रमिश्रखण्डेष्वेकेन केनचित् ।
 तालेन ^१टाकिणीवादी कर्तव्यौ तदनन्तरम् ॥ १०५० ॥
 तयोरेकसरो जोडा चेति भेदद्वयं मतम् ।

(क०) अथ मार्दलिकभेदानाह—चतुर्विध इत्यादि ।
 जल्पवितण्डाद्या इति तर्कशास्त्रोक्तलक्षणा वादभेदा द्रष्टव्याः ।
 व्राटनाभिधमिति । व्राटनमित्यभिधा यस्य तत्तथोक्तम् । व्राटनस्य
 स्वरूपमाह—मर्दल इत्यादि । देहडङ्गित्यादिरीत्याद्यनुकरणे
 वर्णोच्चारणम् । आदिशब्देनान्येऽन्यनुकरणयोग्या वर्णा ग्राह्याः ।
 एवंकृतोऽसौ देहडङ्गित्यादि ध्वनिः व्राटनं मतमिति संबन्धः ।
 वोडवाडमिति । हस्तावत्यर्थमिति वोडवाडप्रयोजनकथनेन हस्त-
 जाड्यापनयनाय क्रियमाणां निरन्तराङ्गमुष्टकनिष्ठिकाहतिमद्-
 स्ताभ्यां वादनं वोडवाडमिति तत्स्वरूपमुच्येत् । ततोऽनन्तरं
 मुक्तशब्दात्मकं सानुरणनध्वनिरूपं रेहदडादप्र^१मुखम् उधाराख्यं
 वाद्यं वादयेत् । पश्चाद् उधारानन्तरं स्थापनं वादयेत् । तदथोच्यते
 इति । अथ अनन्तरं, तत्; स्थापनमुच्यते, स्वरूपकथनेन
 प्रकाशयते । मुखयोर्बोहणं दत्त्वेति । भूतिमिश्रेण मज्जितेनौदनेन^२
 पूरिकाकारां पिण्डिकां कृत्वा, वामवक्त्रे निवेश्याल्पेन तेनौदनेन
 दक्षिणं वक्त्रं लिप्त्वेत्यर्थः । वाममाननं गड्^३दग्धोमित्यनुकरणं

^१ वादिको I ed. ^२ वादिको I ed. ^३ ताडना (D). ^४ ताडनं
 ततः (D). ^५ वोडवाडं (D). ^६ हस्तावत्यर्थं (D). ^७ रेहदडं दडमुखं (D).
^८ ओंकीरं (D). ^९ कृत्वा (D) ^{१०} दग्धोमिति I ed. दग्धोमिति (D). ^{११} दग्धोमिति
 I ed. दग्धोमिति (D). ^{१२} लक्षणम् (D). ^{१३} यो मुं (D). ^{१४} तं (D).

^१ च. टाकिणी fin. I ed. शमनी (D). ^२ ख. ग. डगीरित्यनुकरणेन व
 fin. I ed. ^३ ख. ग. डगीरित्यनुकरणेन व fin. I ed. ^४ ख. मुखं पारा । ज. मुख-
 मुबारा fin. I ed. ^५ ख. न हृदिका fin. I ed. ^६ च. इदनेमित्यनुकरणेन व fin. I ed.

यथा भवति तथा वादयेत् । दक्षिणं वक्त्रं तु गङ्दग्धामित्यनुकरणं यथा भवति तथा वादयेत् । ततः अनन्तरं, मध्यलये द्वितीयाख्ये ताले द्वयोर्मुखयोः वामदक्षिणयोः नादसमायोगं नादयोरेकाकारयोर्भिन्नाकारत्वे वादिसंवादिरूपयोः समायोगं मेलनं कुर्यात् । अथ अनन्तरम् । उच्चोच्चमिति । दीर्घदीर्घं दलत्रयं खण्डत्रयं विलम्बिते मध्ये द्रुते च पृथग्वाद्यत इत्युत्तरेण संबन्धः । पृथगिति । प्रथमखण्डमादौ विलम्बिते लये, ततो मध्यलये, ततो द्रुतलये । एवं प्रथम^१खण्डाद् दीर्घं द्वितीयखण्डं, तस्मात् तदपेक्षया दीर्घं तृतीयं खण्डमपि लयत्रये^२ योजयेदिति पृथक्शब्दार्थः । एतल्लय^३क्रमः, तथा एकद्वित्रिथोकाररचितं तत्तदेव खण्डत्रयं ग्रह-
मोक्षभागाद्यते ।

अयमर्थः—प्रथमदलं विलम्बितलये ग्रहमोक्षयोरेकैकथोकार-
रचितम्, मध्यलये ग्रहमोक्षयोर्द्विद्विथोकाररचितम् । द्रुतलये ग्रहण
मोक्षयोः त्रिद्विथोकाररचितं कृत्वा, तथा द्वितीयतृतीयदलयोरपि
कुर्यादिति । आलप्तिवच्च त्रिस्थानशुद्धमिति । आलप्तिर्यथा
मन्द्रमध्यताराख्येषु स्थानेषु शुद्धा अपस्वररहिता कर्तव्या भवति,
तथा मर्दलवाद्ये स्थापनमपि त्रिस्थानेषु विलम्बितमध्यद्रुतेषु शुद्ध-
मसंकीर्णं कर्तव्यमित्यभिप्रायः । अथवा आलप्तिवत्, आलापवत्,
आलापो रागालापः, सोऽस्यास्तीति मत्वर्थे वतिः । अस्मिन् पक्षे
त्रिस्थानशुद्धमिति मन्द्रादिष्वपस्वररहितमित्यर्थः । वादकः स्वयं
रागालापयुक्तमुद्धट्टनं कुर्वन् तदुपरञ्जकत्वेन मध्ये मध्ये मर्दल-
वादनं कुर्यादित्यर्थः । एवं हस्तद्वयेन यन्मधुरं वाद्यते, तत्स्थापनमिति

^१ खण्डापेक्षया दीर्घं द्वि I ed.

^२ ये यथायोगं fin. I ed.

^३ क्रमा-

तथैक I ed.

तज्ज्ञैः वाद्यजैरुदाहृतम् । ततः स्थापनान्तरं, थोकारबहुल-
ग्रहमोक्षः थोकारैः बहुलैः ग्रहमोक्षौ यस्येति स तथोक्तः । अन्तरः
अन्तराख्यः खण्डः कर्तव्यो भवति । तदनन्तरम् अन्तरानन्तरं
चतुरश्रत्थश्चमिश्रखण्डेषु मध्य एकतमेन केनचित् तलेन टाकणी-
वादौ, टाकणी च वादश्चेति द्वन्द्वः; तौ कर्तव्यौ भवतः । तयोः
टाकणीवादयोः, प्रत्येकम् । एकसरो जोडा चेति भेदद्वयं मतमिति ।
एकसरटाकणी जोडाटाकणीति । एकसरवादो जोडावादश्चेत्यर्थः
॥ -१०३६-१०५१- ॥

(सु०) मार्दङ्गिकभेदानाह—चतुर्विध इति । 'मार्दलिकः
मर्दलवादकः, ^२वादकादिभेदेन चतुर्विधः, वादकः, मुखरी, प्रतिमुखरी,
गीतानुग इति । तत्र वादकस्य लक्षणमाह—वादक इति । ^३वादस्य
विद्याफलस्य कर्ता वादकः, पक्षपरिग्रहश्च वाद इत्युच्यते । स्वपक्ष-
साधनं परपक्षदूषणं ^४पक्षपरिग्रहः । येऽन्य इति । ये जल्पवितण्डाद्या^५
अन्ये भेदाः, तान् ग्रन्थविस्तरभोत्या नावोचत् । तान् वदामः । वाद इति ।
पक्षपरिग्रहरूपे वादे ^६त्राटनसंज्ञिकं वाद्यं प्रथमं कर्तव्यम् । ^७त्राटनं
लक्षयति—मर्दल इति । ^८बोहणेन विना अतालं मर्दले वक्ष्यमाणं देहदड-
गादिभ्रतः यो ध्वनिर्जायते, तत्र ^९त्राटनं मतमिति । ^{१०}बोडवाडमिति
नित्रिडशब्दं मार्दङ्गिकप्रसिद्धं हस्तविस्तारार्थं ^{११}कुर्यात् । ततः, अनन्तरं
मुक्तशब्दरूपात् देहदडगात् । अप्रमुखं कार्यम् । ततः ^{१२}उधारस्थापनं च ।
तत्स्थापनम^{१३}प्रमुखमित्युच्यते । मुखयोरिति । मर्दलस्य मुखद्वये बोहणं

^१ मार्दङ्गिको (B).

^२ वादनकादि (B).

^३ वादनविद्या (B).

^४ विपक्ष (A).

^५ डादयः (B).

^६ त्रोटना (A), (B).

^७ त्रोटन

(A), (B). ^८ रोहणं विना (B).

^९ त्रोटनं (A).

^{१०} बोरवाड (A).

^{११} विचारार्थं (B).

^{१२} उधारस्था (A).

बोडबोड (B).

^{१३} मप्रधान

मुख्य (B). मधुना उच्य (A).

^१दत्वा वामं मुखं गङ्गदग्धोमिति वर्णैर्वादीयेत् । दक्षिणं वक्तुं तु गङ्-
दग्धमिति वादीयेत् । तत इति । ततोऽनन्तरं मध्यलये तालद्वये वादसंयोगं
कुर्यात् । ततो नादं पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् उच्चमानम् उत्तरोत्तरं विलम्बि-
तादिलयत्रयं क्रमात् एकद्वित्रैः ^२थोकारैः ग्रहे मोक्षे च युक्तं दलत्रयं
खण्डत्रयं स्थानत्रयमिति शुद्धं हस्तद्वयेन मधुरं यद् बाधते तत् स्थापनमिति ।
तत इति । ततः अनन्तरं ग्रहमोक्षमध्ये ^३शोमिति शब्देन व्याप्तं चतुरश्रादि-
तालेषु येन केनचित् तालेन रचितं भवेत् । तदा टाकणीवादश्च कर्तव्यः ।
तयोः टाकणीवादयोः प्रत्येकमेकसरः ^४जोडा ; एकसरटाकणी, जोडाटाकणी,
एकसरवादः, जोडावादश्चेति द्वौ भेदौ ॥ १०३६-१०५१ ॥

कृत्वा श्रमस्य वहनीं यस्तालेष्टकलादिके ॥ १०५१ ॥

वाद्यखण्डस्तालकलाप्रस्तारानुगतः कृतः ।

अखण्डितटाकणी सैकसरत्वं सकृत्कृतेः ॥ १०५२ ॥

एकद्वित्रिचतुर्वारं शुद्धाभ्यसनतो भवेत् ।

इह श्रमवहन्याद्यः प्रकारो वादने यथा ॥ १०५३ ॥

^{*}तद्वितोटे ततधिधि थो थो टें ततधधि धिधि थो थो थो
टें टें टें । तततत धि धि धि धि † थो थो थो थो टे टे टे टे । इति
श्रमवहनीं कृत्वा, एकसरटाकणी यथा—तकधिकट । तकधिकट
धिकटतक तकधिकट तकतकधिकट धिकटकतधिकट इत्यष्टौ
वाद्यखण्डस्य खण्डा अष्टासु कलासु, सैव द्विवारं जोडा ॥

^१ हत्वा (A). ^२ धोकारैः (A). ^३ शोमिति (A). ^४ जोडा (A).
जोन्ता (B). ^५ टाकणी I ed. * तद्विधौ इति पाठो दृश्यते
क्वचित् † एतदाक्षराष्टकेऽनुस्वारो दृश्यते ख. पुस्तके fn. I ed. ^६ किणी
I ed.

(क०) तत्र सामान्येन टाकणीं लक्षयति—कृत्वेति ।
श्रमस्य वहनीं कृत्वा, अष्टकलादिके ताले एककलचञ्चत्पुटादा-
वित्यर्थः । आदिशब्देन द्विकलचतुष्कलचञ्चत्पुटादयो गृह्यन्ते ।
तत्रैकस्मिन् ताले, तालकलाप्रस्तारानुगत इति दक्षिणादिमार्ग-
वशात् तालस्य यावन्मात्रा कला भवति, तस्याः प्रस्तारमनुगतः
कृतः । अखण्डितः सकलो वाद्यखण्डः टाकणीति संबन्धः ।
सा सकृत्कृतेरेकसरत्वंमिति । प्राप्नोतीति शेषः । अनावृत्त्यैक-
सरटाकणी भवतीत्यर्थः । टाकण्यङ्गत्वेन प्रसक्ततायाः श्रमवहन्या
लक्षणमाह—एकद्वितीत्यादि । शुद्धाभ्यसनेति । शुद्धानां तद्वद्यादि-
सप्तवर्णानां मध्ये केषांचिदेकद्वित्रिचतुर्वारमावृत्तौ । ^१ताः प्रस्तार्य
दर्शयितुमाह—यथेति ॥ -१०५१-१०५३ ॥

(क०) तद्वितोटेमित्यादि यावदष्टकलं ^२श्रमवहन्याः
प्रस्तारो द्रष्टव्यः । सैव द्विवारं कृता चेज्जोडाटाकणी ॥

^३टाकणीवत् समस्तं प्राक्खण्डं कृत्वा ततः परम् ।

खण्डं खण्डं द्विद्विवारं बाधते वाद्यसंज्ञके ॥ १०५४ ॥

^४तत्रैकसरजोडात्वं टाकणीवद्वाहृतम् ।

यथा—ददं । टिरि । टिट्टिकड् । कडगझे । कड-
दगझे । थरिक्कथरि । टगणगणधरि । गणगणधरि । दथरि
गडग । दथरिगडग । दथरिगडग दथरि । दथरितगंड-

^१ तां (C). ^२ सम (C). ^३ च. टाकणीवत् fn. I ed. टोकलीवत्
(D). ^४ च. अत्रे fn. I ed. ^५ टावणी (D).

दक्थरिक्कटतत्तक्। इति षोडशकले ताले षोडशकलासु षोडश-
खण्डकं वाद्यं कृत्वा तान् षोडश खण्डान् द्विद्विः कुर्यात् ।

इत्येकसरवादः

(क०) अथ वादं लक्षयति—**टाकणीवदित्यादि** । वाद-
संज्ञकं प्राक्खण्डं स्वकीयं प्रथमं खण्डं टाकणीवन् टाकण्यामिव
सकृदेकवारं कृत्वा । ततः परं खण्डं द्विद्विवारं वाद्यत इति
संबन्धः । तत्रैकसरजोडात्वमिति । एकसरत्वं चैकसरजत्वम् ।
टाकणीवदुदाहृतमिति । उक्तलक्षणस्य वाद्यस्य सकृत्करणेनैक-
सरवादः । तस्यैव समुदायत्रयस्य द्विःकरणेन जोडावाद इत्यर्थः
॥ १०५४, १०५५ ॥

(क०) ददं टिरि, इत्याद्येकसरवादस्य प्रस्तारः ।
जोडावादे तमेव द्विः कुर्यात् ।

इत्येकसरवादः

(सु०) तयोर्लक्षणमाह—**कृत्वेति** । ^१अमस्य वहनीं कृत्वा अष्ट-
कलाधिके अष्टकलाभ्यधिके ताले तालकलाविस्तारानुगः ^२एकसरगीतो
वाद्यखण्डः ^३टाकणीत्युच्यते । सा ^४टाकणी एकद्वित्रिचतुर्वारमावृत्ता एक-
सरः । इहेति । ^५अमबहल्याः वादनप्रकारः तद्विधेदेमित्याद्यैः पाटैः ।
एकसरं लक्षयति—^६टाकणीवदिति । ^७टाकणीवत् समस्तखण्डं प्रथमं
गीत्वा, ततः परं खण्डं द्विप्रकारं वाद्यते चेत् पाटः पाटस्यैकसरत्वम् जोडाल्वं
च ^८टाकणीवद् ^९ज्ञातव्यम् इत्येकसरपाटाः । स एवेति स एवैकसरः द्विः-
कृतश्चेत्, ^{१०}जोडेत्युच्यते ॥ १०५४, १०५५- ॥

इत्येकसरवादः

^१ अमबहलीं (A). ^२ प्रसार गी (B). ^३ टाकणी (A). ^४ टाकणी
(A). ^५ अमबहल्या (A). ^६ टाकणी (A). ^७ टाकणी (B).
^८ टाकणी (B). ^९ कर्तव्यम् (A). ^{१०} जोष्रेत्यु (A).

तकारेण च सर्वेषामेतेषां त्याग इष्यते ॥ १०५५ ॥

कुर्यात् ततो दिगिदिगिं ताटवादादिकं तथा ।

वर्णा दिगिदिगीत्येते प्रोक्ता दिगिदिगी^१ बुधैः ॥ १०५६ ॥

यः खण्डोऽतिद्रुते माने ताटवादः स^२ कथ्यते ।

अन्येऽपि वादविधयोऽभ्युहन्तामध्वनामुना ॥ १०५७ ॥

इति वादप्रकाराणां सम्यक्त्वे विजयो भवेत् ।

इति ^३वादकः

(क०) सर्वानुगतं लक्षणैकदेशमाह—**तकारेणेति** ।
ततोऽनन्तरं दिगिदिगिं कुर्यात् । तथा दिगिदिगेत्यनन्तरं ^४ताट-
वादादिकं कुर्यात् । अत्रादिशब्देन ताण्डिकप्रसिद्धो वाद्यविशेषो
द्रष्टव्यः । दिगिदि^५गीति ताटवादयोः क्रमेण स्वरूपं दर्शयति—**वर्णा**
इत्यादि । अन्येऽपीति । पूर्वोक्ता ^६बोल्लावण्यादयो देशीप्रसिद्धाश्च
वाद्यविधयः । अमुना अध्वना वादोक्तमार्गेणाभ्युहन्ताम् ।
निगमयति—**इतीति** । सम्यक्त्वे उक्तप्रकारेण वादने विजयो
भवेदिति फलं दर्शितम् ॥ -१०५५-१०५६- ॥

इति ^७वादकः

(सु०) **तकारेणेति** । एतेषां सर्वेषां ^८प्रान्ते तकारः कर्तव्यः ।
^९दिगिदिगीत्यादिवर्णान् कुर्यात् । अतिद्रुते माने यः खण्डो गीयते, स
^{१०}ताटवाद इत्युच्यते । अन्येऽपि वाद्यप्रकारा अनेका अमुना अध्वना अनेन

^१ गी र्त्तुं (D). ^२ उच्च (D). ^३ वादिकः I ed. ^४ ख. टाकवा
fin. I ed. टाकणी वा (D). ^५ गि ताट I ed. ^६ बोहज I ed.
^७ वादिकः I ed. ^८ घाते (B). ^९ धोदिगित्यादि (B). ^{१०} नटपाट (A).

मार्गेण ऊहनीयाः । एवमुक्तपाटप्रकारेण, वादप्रकाराणां सम्यक्त्वं समीचीनत्वं यत्र विद्यते, तत्र तस्य ^१मार्दलिकस्य विजयो भवेत् ॥ -१०५५-१०५८- ॥

इति ^२वादकः

कर्ता वाद्यप्रबन्धानां नृत्तशिक्षाविचक्षणः ॥ १०५८ ॥

गीतवादननिष्णातः सुरेखोऽन्तर्मुखश्च यः ।

अर्धाङ्गमिव नर्तक्या वादयेद् रङ्गभूमिगः ॥ १०५९ ॥

वादकैः प्रेक्षितमुखो वादनार्थं मुख्य्यसौ ।

इति मुखरी

(क०) अथ मुखरिणं लक्षयति—कर्तव्यादि । वाद्य-प्रबन्धानां यत्यादीनां कर्ता निर्माता । नृत्तशिक्षाविचक्षण इति । पात्राणां प्रथमं नटनोपदिष्टस्य नृत्तस्य ^३तदसंनिधावपि अभ्यास-करणे दक्ष इत्यर्थः । गीतवादननिष्णात इति । मध्ये नादानुकरणेन गीतं यथा रज्यते तथा वादने निपुण इत्यर्थः । सुरेख इति । वादनसमये दृश्याङ्गसंनिवेशवानित्यर्थः । अन्तर्मुख इति । अवहित-मना इत्यर्थः । नर्तक्या अर्धाङ्गमिवेति । करचरणाद्यङ्गं यथा नृत्त उपयुज्यते, तथा मुख्य्यपि नृत्तानु^४गुणलयप्रदानाङ्गवदुपयुज्यत इत्यर्धाङ्गमिवेत्युक्तम् । वादनार्थं वादकैः प्रेक्षितमुख इति । इतरेषां वादकानां वादनं मुख्य्यधीनमित्यर्थः ॥ -१०५८-१०६०- ॥

इति मुखरी

^१ मार्दलिकस्य (A), (B). ^२ मार्दलिकः (A). ^३ ख. नटसंनिधा-
वभ्यासक fin. I ed. ^४ ज. ण तानत्र fin. I ed.

(सु०) मुखरीलक्षणमाह—कर्तेति । सुरेखः रञ्जकः अन्तर्मुखश्च कर्तव्यः । अर्धाङ्गमिव ^१नृत्ते तदनुसारित्वात् अभिनयकारकः रङ्गसंगतः नायकस्थानतः वादकैः प्रेक्ष्यः रङ्गमण्डपं प्राप्तः ॥ -१०५८-१०६०- ॥

किञ्चिद्दीनो मुखरिणः प्रोक्तः प्रतिमुख्यसौ ॥ १०६० ॥

इति प्रतिमुखरी

(सु०) प्रतिमुखरीलक्षणमाह—मुखरीप्रोक्तलक्षणेः किञ्चिद्दीनः प्रतिमुखरी ॥ -१०६०- ॥

इति प्रतिमुखरी

शुद्धसालगगीतानां वर्णान् कठिनकोमलान् ।

समांश्च विषं^२मान्नादं मन्द्रं मध्यं च तारकम् ॥ १०६१ ॥

प्रोढं वा मधुरं सम्यगनुगच्छति वादनात् ।

पूर्वभागे तथाभोगे ज्वकाप्रहरणे क्रमात् ॥ १०६२ ॥

कुर्याद् वैकल्पिके यद्वा समग्रं गीतमाश्रिते ।

समुत्थिते वानुलोम्याद् वैलोम्याद् बोधयेन वा ॥ १०६३ ॥

निःसारी सालगे गीते यस्तं गीतानुगं विदुः ।

क्रमात् तकारर्थोक्तौ स कुर्याद् ग्रहमोक्षयोः ॥ १०६४ ॥

इति गीतानुगः

(क०) प्रतिमुखरिगीतानुगयोल्लक्षणं ग्रन्थत एव सुबोधम् । तत्र ज्वकेति यतिरुच्यते । 'यति^३ज्वका च सा' (श्लो. ६५४-

^१ नृत्ये (A). ^२ मं नादं (D). ^३ ज्वका च (मूलपाठः) । ज्वकेति सा
I ed.

अलैव) इत्युक्तत्वात् । ग्रहे तकारः । मोक्षे थोकार इति क्रमो
द्रष्टव्यः ॥ -१०६०-१०६४ ॥

इति गीतानुगः

(सु०) गीतानुगं लक्षयति—शुद्धेति । यस्तु शुद्धानां सालगानां
च गीतानां कठिनादिगुणान् वर्णान् वध्ना, समाश्च विषमान्, ^१नादं,
मन्द्रमध्यतारेण प्रौढं मधुरं वा वादनात् सम्पगनुगच्छति अनुसरति,
यश्च सालगे गीते पूर्वभागे उद्ग्राहे आभोगे च निःसास्ताले आलुलोम्येन,
प्रातिलोम्येन, उभयेन वा जक्का प्रहारेण कुर्यात् । तं गीतानुगं विदुरिति
संबन्धः । स गीतानुगो वादकः ग्रहे तकारं मोक्षे थोकारं च कुर्यात्
॥ -१०६१-१०६४- ॥

इति गीतानुगः

इति चतुर्विधमार्दलिकलक्षणम्

वर्णव्यक्तिः ^१सुरेखत्वमनुयायप्रवीणता ।
मधुरोद्धतवाद्येषु विज्ञता हस्तलाघवम् ॥ १०६५ ॥
अवधानं श्रमजयो मुखवाद्येषु पाटवम् ।
रक्तिराविद्धकस्यानुवृत्तिर्बहुलता तथा ॥ १०६६ ॥
यतिताललयजत्वं गीतानुगमनं तथा ।
गुणा मार्दलिकस्यैते दोषः स्यात् तद्विपर्ययः ॥ १०६७ ॥

इति मार्दलिकगुणदोषाः

(क०) अथ मार्दलिकगुणदोषानाह—वर्णव्यक्तिरित्यादि ।
^१अनुयायप्रवीणता अनुयायो नाम अनुवृत्तिः वाद्यानुकरणमित्यर्थः;

^१ द्विगुणं नादं (A). ^२ धकारं (B). ^३ ग. सुरेखत्व I ed. ^४ ग. च.
नुयायप्र । च. नुमायिप्र fn. I ed. ^५ ख. ग. यायिप्र fn. I ed.

तत्र प्रवीणता । तदोषानाह—तद्विपर्यय इति । तेषां गुणानां
विपर्ययो वैपरीत्यं दोषः ॥ १०६५-१०६७ ॥

इति मार्दलिकगुणदोषाः

(सु०) ^१मार्दलिकगुणदोषानाह—वर्णव्यक्तिरिति । सुरेखत्वं
रञ्जकत्वं, ^२भीतच्छायायानुसरणं ^३मनुयायत्वं, तत्र प्रवीणता । आविद्धकः
^४हुडुक्कावादकः, तस्य अनुवृत्तिः अनुसरणम् ॥ १०६५-१०६७ ॥

इति ^५मार्दलिकगुणदोषाः

तद्वृन्दं द्वित्रितुरैस्तज्जैर्मर्दलधारिभिः ।

प्राधान्येन विधातव्यं तैर्मुख्यनुवर्तनम् ॥ १०६८ ॥

इति मार्दलिकवृन्दम्

(क०) अथ मार्दलिकवृन्दं लक्षयति—तद्वृन्दमिति ।
तेषां मार्दलिकानां वृन्दं समाजः ॥ १०६८ ॥

इति मार्दलिकवृन्दम्

(सु०) ^१मार्दलिकवृन्दं लक्षयति—तद्वृन्दमिति । द्वाभ्यां
विभिश्चतुर्भिर्वा मृदङ्गधारकैः वृन्दं भवति । तैश्च प्राधान्यात् पूर्वलक्षितो
मुख्येनुसृतव्यः ॥ १०६८ ॥

इति ^२मार्दलिकवृन्दम्

^३या हस्तसंमिता दैर्घ्येऽष्टाविंशत्यङ्गुला पुनः ।

परिधावङ्गुलमिता पिण्डे सप्ताङ्गुले मुखे ॥ १०६९ ॥

^१ मार्दङ्गिक (B). ^२ स्थानात् (B). ^३ णं त्वनुयायः (B). ^४ कुडुका
(B). ^५ मार्दङ्गिक (B). ^६ मार्दङ्गिक (A), (B). ^७ मार्दङ्गिक (सु०).
^८ यो (D).

मण्डल्यौ वक्त्रयोर्वल्लीमध्यावेकादशाङ्गुले ।
 सपादाङ्गुलकस्थौल्ये उदलीकृतबन्धने ॥ १०७० ॥
 वदनाभ्यां सह स्यातां कुर्याद् रन्ध्राणि षट् तयोः ।
 बद्धरज्जुनिवेशार्थं पुरोभागेऽर्गलाद्वयम् ॥ १०७१ ॥
 कलशाकलितद्वचन्तं पश्चाद्भागेऽर्गलाद्वयम् ।
 बन्धसूत्रान्तरे मध्ये भवेदुदरपट्टिका ॥ १०७२ ॥
 अङ्गुलत्रयविस्तारा श्लक्ष्णा हृदयहारिणी ।
 द्वात्रिंशत् तन्तुसंजातरज्ज्वा पक्षद्वयं दृढम् ॥ १०७३ ॥
 बद्ध्वा तत्रोत्कक्षकौ च विधाय स्कन्धपट्टिकाम् ।
 तयोर्द्विगुणतां न्यस्येदङ्गुलार्धार्धसंमितम् ॥ १०७४ ॥
 छिद्रं यस्याश्चतुर्थीशो नादोद्बोधविधायकम् ।
 हुडुक्का सा बुधैः प्रोक्ता तस्याश्च स्कन्धपट्टिकाम् ॥ १०७५ ॥
 न्यस्य स्कन्धे दक्षिणेन पाणिना वादनं भवेत् ।
 उदरे पट्टिका प्रोक्ता तस्यां वामं निवेशयेत् ॥ १०७६ ॥
 देवता मातरः सप्त शार्ङ्गदेवेन कीर्तिताः ।
 कुर्वीत पाटहान् वर्णानिहं देकारवर्जितान् ॥ १०७७ ॥
 अत्रान्यैरधिकावुक्तौ^३ मञ्जकारौ मनोषिभिः ।
 लक्ष्यज्ञास्त्वावजं प्राहुरिमां स्कन्धावजं तथा ॥ १०७८ ॥
 इति हुडुक्कालक्षणम्

(क०) अथ हुडुक्कां लक्षयति—या हस्तसंमितेत्यादि ।
 'मञ्जकाराविति । अत्र हुडुक्कायां मकार'ञ्जकारौ पाटहेभ्यो

^१ च. यधारि fin. I ed. ^२ योक्ता I ed. ^३ घ. क्ती मञ्जका fin. I ed.
^४ मञ्जका. ^५ रानकार.

वर्णेभ्योऽधि^१कावुक्तौ । पाटहेर्वर्णेः सह मकार'ञ्जकारौ प्रयोक्तव्या-
 वित्यर्थः । इमां हुडुक्कां लक्षयज्ञा आवजं, तथा स्कन्धावजं चैवं
 संज्ञाद्वयमपरमाहुः ॥ १०६९-१०७८ ॥

इति हुडुक्कालक्षणम्

(गु०) हुडुक्कां लक्षयति—^३या हस्तेति । दीर्घत्वे हस्तप्रमाणे,
 परिधौ वतुलप्रमाणे अष्टाविंशत्यङ्गुजः, पिण्डे एकाङ्गुलः, तस्याः द्वे
 मुखे सप्ताङ्गुले, मुखयोः मण्डल्यौ वल्लीमध्यौ चर्मरचिते एकादशा-
 ङ्गुलमिते, सचतुर्थांशाङ्गुलः स्थौल्ये, पूर्वोक्तया उदृत्या बद्धमुखेन सह
 स्यातां भवेतामिति । तयोः मण्डल्योः बन्धनरज्जुप्रवेशाय षट् रन्ध्राणि
 कार्याणि । पूर्वभागे च तिस्रोऽर्गला कलशे कलिता आदिरन्तश्च^४ यासां
 तथाविधा, पश्चाद्भागे तु द्वे अर्गले^५ बद्धेति, बन्धसूत्रयोः मध्ये उदरपट्टिका
 भवेत् । अङ्गुलत्रयविस्तारा श्लक्ष्णा^६ मसृणा हृदयहारिणी द्वात्रि-
 षत्तन्तुभिः^७ संजातरज्जुः पाशः तथा पक्षद्वयं दृढं बद्ध्वा, तत्र^८ प्रोक्ता-
 वस्था ऊर्ध्वकक्षा यस्याः, तथाविशां स्कन्धपट्टिकां कृत्वा, तयोः^९ रन्ध्रयोः,
 न्यस्येत् । अङ्गुलचतुर्थांशमितं छिद्रं यस्याः, चतुर्थीशे^{१०} नादोद्बोधविधायकं
 स्यात् । तस्या वादनप्रकारमाह—तस्यां इति । वर्णानाह—कुर्वीतेति ।
 देकारं विना पटहोक्तान् वर्णान् कुर्यात् । अत्र अन्यैः मनोषिभिः
^{११}मकार'ञ्जकारावधिकावुक्तौ । इयं हुडुक्का लोके आवजं, स्कन्धावजमिति
 च कथ्यते ॥ १०६९-१०७८ ॥

इति हुडुक्कालक्षणम्

^१ का उक्ताः (D). ^२ नकारौ. ^३ यो (A). ^४ यावान् सा (A).

^५ बन्धेति (B). ^६ रम्या मनोहारिणी (A). ^७ रचितयां रज्ज्वा पक्ष (A).

^८ प्रोता कच्छा यस्याः (B). ^९ अक्षयोः (A), (B). ^{१०} शे अवयवे (B).

^{११} मकारजकारा (A), (B).

बीजवृक्षोद्भूवा पिण्डेऽङ्गुलतुयांशसंमिता ।

एकविंशत्यङ्गुला स्याद् दैर्घ्यं हस्तमिताथवा ॥ १०७९ ॥

परिधौ दधते मानं या चत्वारिंशदङ्गुलम् ।

चतुर्दशाङ्गुले वक्त्रे केषांचिद् द्वादशाङ्गुले ॥ १०८० ॥

मण्डल्यौ लोहजे सूत्रवेष्टिते चर्मबन्धने ।

परिधौ संमिते ते च द्वाचत्वारिंशदङ्गुले ॥ १०८१ ॥

तिखस्तिख^१स्तथा तन्त्रीमुखयोर्वलयद्वयम् ।

दधते कवलव्याप्तं चतुर्दशभिरन्वितम् ॥ १०८२ ॥

रन्ध्रैस्तेष्वेकान्तरेषु विग्निकास्तावतीः क्षिपेत् ।

द्वाभ्यांद्वाभ्यां विग्निकाभ्यां बन्धो मत्स्याकृतिर्भवेत् ॥ १०८३ ॥

यस्यास्तां करटामाहुः प्रान्तयोः प्रान्तबद्धया ।

कच्छया स्कन्धदेशे तां कट्यां वां वादने बहेत् ॥ १०८४ ॥

चर्चिका देवता चास्यां पाटास्तु करटेत्यमी ।

वादनं कुडुपाभ्यां तु शाङ्गदेवेन कीर्तितम् ॥ १०८५ ॥

तिरिक्तिरिक्किरीति प्रायः पाटद्वयं मतम् ।

इति करटालक्षणम्

(क०) अथ करटां लक्षयति—बीजवृक्षोद्भूवेत्यादि ।

पाटास्तु करटेत्यमी करटेति वर्णसमुदाय एकः । तिरिक्कि

तिरिक्किरीति द्वितीयः । प्राय इति प्राचुर्येणेत्यर्थः । सामान्येन तु

पटहादिकूटपाटा यथोचितं द्रष्टव्याः ॥ १०७९-१०८६ ॥

इति करटालक्षणम्

^१ च. स्ततस्तन्त्री fn. I ed.

^२ केवलं व्याप्तं I ed.

^३ च. प्रोतव

fn. I ed.

(सु०) करटालक्षणमाह—बीजेति । बीजकोऽननवृक्षः, तस्मात् जाता । पिण्डे अङ्गुलचतुर्थांशेन मिता, दीर्घत्वे एकविंशत्यङ्गुलाः, अथवा हस्तमिता [चतुर्विंशत्यङ्गुला] परिधौ, वर्तुलप्रमाणे चत्वारिंशदङ्गुला, तस्याश्च द्वे मुखे चतुर्दशाङ्गुले, केषांचित् द्वादशाङ्गुले कार्ये इति । ^१मण्डल्यौ च लोहमयौ सूत्रेण वेष्टिते चर्मणावबद्धे परिधौ द्वाचत्वारिंशदङ्गुले कार्ये । तिख इति । मुखयोः चतुर्दशमी रन्ध्रे युक्तं कवलेन व्याप्तं वलयद्वयं दधाना तिखस्तिखः तन्त्रीः तेष्वेकान्तरेषु ^२रन्ध्रेषु ^३क्षिपेत् । तावतीविग्निका कर्परांश्च निक्षिपेत् । द्वाभ्यां विग्निकाभ्यां मत्स्याकारं बन्धनं क्रियते यस्यां, तां करटामित्याहुः । प्रान्तप्रदेशयोः ^४प्रान्त्या बद्धया च कच्छया स्कन्धप्रदेशे कट्यां वा वादनसमये करटां बहेत् । करटेति त्रयो ^५वर्णाः पाटाः, ^६कुडुपाभ्यां कोणद्वयेन वादनं कार्यम् ॥ १०७९-१०८५-॥

इति ^८करटालक्षणम्

घनः श्लक्ष्णः सुपक्वश्च स्तोकवक्त्रो महोदरः ॥ १०८६ ॥

पाणिभ्यां वाद्यते तज्जैश्चर्मनद्धानतो घटः ।

कथिताः पाटवर्णा ये मर्दले ते घटे मताः ॥ १०८७ ॥

इति घटलक्षणम्

(क०) अथ घट-घडस-ढवस-ढक्का-कुडुक्का-कुडुवा-रुञ्जा-डमरु-कुडक्का-मण्डिडक्का-डक्कुली-सेल्लुका-^{१०}श्ललरी-

^१ कुण्डल्यौ (A). ^२ कवलेन (A). ^३ रे रन्ध्रेषु (A). ^४ रन्ध्रेः

(B). ^५ प्रोतया (A). ^६ वर्ण नाम स्थिता एवास्याः पाटवर्णाः (B).

^७ उडुपाभ्यां (A). ^८ कुडुपाभ्यां (B). ^९ कुडुकाकरटा पाटलक्षणम् (A).

^{१०} ल्लका I ed. ^{११} श्ललरी I ed.

भाण-त्रिवली-दुन्दुभि-भेरी-निःसाण-^१तुम्बकीनां लक्षणानि ग्रन्थत
एव सुबोधानि ॥ -१०८६-११५७ ॥

इति घटाविलक्षणम्

(सु०) घटं लक्षयति—घन इति । घनः ^२अन्तःसारः, इलक्षणः
मसृणः, सुषक्वः सम्यक्साकवान्, स्तोक्वक्वः अल्पमुखः, महोदरः
स्थूलोदरः, चर्मनद्वाननः चर्मणा आच्छादितमुखश्च यत् करद्वयेन वाद्यतं
सः घटः । मर्दले ये कथिताः पाटवर्णाः ते सर्वेऽप्यस्मिन् घटे ज्ञातव्याः
॥ -१०७५, १०८७ ॥

इति घटलक्षणम्

हुडुक्कयैव घडसो व्याख्यातः किंतु मण्डली ।
दक्षिणस्योद्गलीबद्धा वामा रज्ज्वा नियन्त्रिता ॥ १०८८ ॥
औदर्या पट्टिकायां च वामोऽत्र न निवेश्यते ।
गोकारबहुलं चामुं वादयेदिति तद्विदः ॥ १०८९ ॥
अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ मदनाक्ताग्रभागतः ।
दक्षिणेन करेणास्यै धर्षणाद् गौकृतिर्भवेत् ॥ १०९० ॥
घातोऽङ्गुलीभिर्बामस्य वामाङ्गुष्ठेन पीडनम् ।

इति घडसलक्षणम्

(सु०) घडसं लक्षयति—हुडुक्कयैवेति । ^३हुडुक्कालक्षणमेव
घडसस्य लक्षणं, तद्वि कथं पृथङ्निर्देश इत्याह—किंत्विति । अयं विशेषः—
दक्षिणस्य स्थिता मण्डली अस्य घडसस्य उद्गत्या वध्यते । वामामण्डली तु

^१ तुम्बकी I ed. ख. तुम्बकी fn. I ed.

^२ ससारः (B).

^३ क्वाचनात् (B).

^४ हुडुक् (A). कुलुक्क (B).

^५ हुडुका (A).

कुलुक्का (B).

^१रज्ज्वा नियम्यते । औदर्यात् उदरसबन्धिन्यां ^२पट्टिकायां वामहस्तस्य
निवेशो नास्ति । गोकारस्य प्राचुर्यं यस्मिन् ; एवं^३विधम् अमुमङ्गुष्ठमध्य-
माङ्गुल्योः ^४मध्वोच्छिष्टनिप्तेन अग्रभागेन वादयेत् । दक्षिणहस्तेन अस्य
धर्षणात् मुखधर्षणात् गोकार उत्पद्यते । एतस्य च वामवादने वामहस्तस्या-
ङ्गुलीभिः घातः यतिः तस्यैवाङ्गुष्ठेन पीडनमिति ॥ १०८८-१०९०-॥

इति घडसलक्षणम्

स्याद्वस्तदैर्घ्यः परिधौ सनवर्त्रिशदङ्गुलः ॥ १०९१ ॥
द्वादशाङ्गुलके वक्त्रे वल्लीवलयसंयुते ।
यो धत्ते सप्त सप्तापि रन्ध्राणि वलयद्वये ॥ १०९२ ॥
तथा कवलयोस्ताभ्यां तुण्डे वलयसंयुते ।
पिधाय गाढं बध्येते रन्ध्रविन्यस्तदोरकैः ॥ १०९३ ॥
यस्यासौ ढवसः प्रोक्तः शाङ्गदेवेन सूरिणा ।
स्कन्धे निक्षिप्य कच्छान्तं वामहस्तेन वादयेत् ॥ १०९४ ॥
वामास्ये दक्षिणस्थेन कुडुपेन तु दक्षिणे ।
ढंकारपाटं वर्णैश्च रूढोऽयं ढवसो जने ॥ १०९५ ॥

इति ढवसलक्षणम्

(सु०) ढवसं लक्षयति—स्यादिति । हस्तप्रमाणदैर्घ्यः परिधौ
वर्तुलप्रमाणेन च सहितः सनवर्त्रिशदङ्गुलः एकोनचत्वारिंशदङ्गुल इत्यर्थः ।
यश्च वल्लीवलयसंयुते द्वादशाङ्गुलप्रमाणे द्वे मुखे धत्ते, वलयद्वये च सप्त
सप्त रन्ध्राणि धत्ते इति । यस्य च वलयं^५ तुण्डे मुखे वलयेन संयुक्ते ताभ्यां
बलयाभ्यामाच्छाद्य रन्ध्रविन्यस्तेः दोरिकैः यस्य गाढं बध्येते, अस्मी

^१ तर्जनीया (A), (B).

^२ घटिका (B).

^३ विधं सममङ्ग (A)

^४ मध्वच्छिष्ट (B).

^५ वसते I ed.

^६ वलयौ कवलयोः (B).

द्वस इति । स्कन्ध इति । स्कन्धे कच्छान्तं कच्छायाः प्रान्तं निक्षिप्य,
वामहस्तेन वादयेत् ^१वामास्ये; दक्षिणास्ये तु दक्षिणहस्तस्थेन कोणेनेति
॥ १०६१-१०६५ ॥

इति द्वसलक्षणम्

व्याख्याता द्वसेनैव ढक्का किंतु मुखद्वयम् ।
तयोदशाङ्गुलं तस्या धृत्वा तां वामपाणिना ॥ १०६६ ॥
तज्जो दक्षिणहस्तस्थकोणघातेन वादयेत् ।
ढँकारः पाटवर्णाः स्युनिःशङ्केनेति कीर्तितम् ॥ १०६७ ॥

इति ढक्कालक्षणम्

(मु०) ^१ढक्का लक्षयति—व्याख्यातेति । द्वसोक्तलक्षणेनैव
ढक्का व्याख्याता । अयं तु विशेषः—मुखद्वयं तयोदशाङ्गुलमिति । तां
वामपाणिना धृत्वा दक्षिणहस्तस्थकोणघातेन वादयेत् ॥ १०६६-१०६७ ॥

इति ढक्कालक्षणम्

हुडुकैवार्गला हीना कुडुक्का किंतु वादनम् ।
अस्याः करेण कोणेन क्षेत्रपालस्तु देवता ॥ १०६८ ॥

इति कुडुक्कालक्षणम्

(मु०) कुडुक्का लक्षयति—^१कुडुक्केति । पूर्वोक्तहुडुकैव अर्गला
हीना कुडुक्का । किंतु करेण कोणेन ^२वादनमिति विशेषः । क्षेत्रपालस्तु
अस्या देवता ॥ १०६८ ॥

इति कुडुक्कालक्षणम्

^१पाटवर्णाद्यस्य वामास्ये (B). ^२हस्तत्वेन (B). ^३घ. वर्णः
स्याभिः श । ड. वर्णश्च निः श. I cd. ^४ढक्का (A). ^५ढक्का (A).
^६कुडुक्केति (B). ^७वा वादन (B).

बीजदारमयो सप्ताङ्गुलगर्भमुखद्वया ।
एकाविंशत्यङ्गुला च यस्या वैद्यैः समाकृतिः ॥ १०६९ ॥
संहताग्नित्रयाकारव्यङ्गुलस्थूलतायुते ।
वृत्ते नवाङ्गुले गर्भे वलये वल्लिनिमिते ॥ १०७० ॥
सप्तसप्तच्छिद्रयुते यस्याः स्यातां मुखद्वये ।
कवलाभ्यां पिनह्रोते मुखे च वलयाङ्गिते ॥ ११०१ ॥
सरन्ध्रे कवले रन्ध्रन्यस्ततन्त्रोसुयन्त्रिते ।
कुडुवा सा हुडुक्कोक्तवर्णात् कंकारभूयसी ॥ ११०२ ॥
कोणाभ्यां मदनाक्ताभ्यां वाद्यते त्यक्तज्ञैकृतिः ।

इति कुडुवालक्षणम्

(मु०) कुडुवा^१ लयक्षति—बीजेति । बीजकवृक्षकृता लोहादि-
धातुमयो वा सप्ताङ्गुलो गर्भो मुखद्वयं यस्याः, एकविंशत्यङ्गुल-
दीर्घा, समानाकारा ^२संहतमेवोत्थापितं यदभिनयं तद्वत् त्रिकोण आकारो
यस्याः व्यङ्गुलिस्थूलतायुते । यस्याश्च मुखद्वये वर्तुले ^३गर्भगते नवाङ्गुले
वल्लीकृते सप्तसप्तरन्ध्रे द्वे वलये स्याताम् । मुखद्वयेति । मुखद्वये ^४कवला-
भ्यामिति द्विमुखे ^५कवलाभ्यामपि पिनह्रोते आच्छद्यते । मुखे च वल-
याङ्गिते कार्ये; सरन्ध्रे रन्ध्रसहिते, रन्ध्रन्यस्तया तन्त्रया सम्यक् नियन्त्रिते
द्वे कवले यस्यां सा ^६कुडुवा; हुडुक्कोक्त एव वर्णा यस्यां, मधूच्छिद्र-
लिप्तकोणद्वयेन वाद्यते । ^७कंकारो नास्ति ॥ १०६९-११०३ ॥

इति ^८कुडुवालक्षणम्

^१कुडुवा (A). ^२संहत (A). संहतमेकवस्थापितं (B). ^३गर्भे
नवा (B). ^४कम्बला (B). ^५कम्बलाभ्यां पिन (B). ^६कुडुवा (A).
^७कंकारो (A). कंकारो (B). ^८कुडुवा (A).

अष्टादशाङ्गुला दैर्घ्ये दृढा रुञ्जा समाकृतिः ॥ ११०३ ॥
 एकादशाङ्गुले तस्या वदने कुण्डलीयुते ।
 'नद्वय्ये चर्मणा वामवक्त्रान्तःकुण्डलीद्वयम् ॥ ११०४ ॥
 तत्रैका वक्त्रमात्रा स्यादपरा चतुरङ्गुला ।
 कुण्डल्योरन्तराले स्यान्न^१लिका स्नायुनिर्मिता ॥ ११०५ ॥
 सैकच्छिद्रं वामवक्त्रं सूत्रतन्वञ्चनीयुतम् ।
 पूर्ववद्विग्निकाः कार्या वक्त्रयोः सप्तं सप्त च ॥ ११०६ ॥
 पादोनहस्तमात्रां च नागपाशवतीं दृढाम् ।
 कच्छां स्कन्धे निवेश्यास्या वादनं वेदितं बुधैः ॥ ११०७ ॥
 हंकारजननादृञ्जा सा भवेद् भृङ्गिदैवता ।
 मतङ्गोक्तास्त्वमे वर्णाः कतदा वनमा रवौ ॥ ११०८ ॥
 उक्तास्त्वन्यैरिमे वर्णाः करणा घटनाः खहौ ।
 विग्निका वाद्यशास्त्रेऽस्मिन्^२ कर्पराः परिकीर्तिताः ॥ ११०९ ॥

इति रुञ्जालक्षणम्

(सु०) रुञ्जां लक्षयति—अष्टादशेति । अष्टादशाङ्गुलदीर्घा रुञ्जा, सा समानाकृतिः, ^१तस्या कुण्डलीयुते दैवे वदने एकादशाङ्गुलेन चर्मणा नद्वय्ये वन्दयितव्ये । वाममुखस्य मध्ये कुण्डलीद्वयं कर्तव्यम् । तत्र कुण्डलीर्मध्ये एका वक्त्रप्रमाणा स्यात्, अपरा तु चतुरङ्गुलप्रमाणा च । कुण्डलीद्वयमध्ये स्नायुनिर्मिता नलिका स्थाप्या । वाममुखमेकच्छिद्रसंयुतं सूत्र^३तन्तुना अञ्चनवत्या वाद्यं बध्वा, प्रान्ते कठिनया वादनरञ्ज्या संयुतं भवेत् । पूर्वप्रकारेण विग्निकाः कर्पराः प्रतिमुखं सप्त सप्त कर्तव्याः ।

^१ तद्वये I ed. ^२ ज्वालिका I ed. ^३ कर्करा I ed. ^४ यस्यां (A). ^५ तन्तुनामन्तवत्या वाद्यबन्धया प्रान्ते (A).

अस्या वादनप्रकारमाह—पादेनेति । चतुर्थांशोनहस्तप्रमाणां कच्छां चिपिटरज्जुं स्कन्धे निवेश्य वादनं कर्तव्यम् । इयं च हंशब्दमुत्पादयति, तस्मात् रुञ्जेत्युच्यते । मतङ्गेन कतदवनमरवा^१ वर्णा एकताः । अन्यैः करणघटनखहा उक्ताः । अस्मिन्च वाद्यशास्त्रे विग्निकाशब्देन कर्परा उच्यन्ते ॥ ११०३-११०९ ॥

इति रुञ्जालक्षणम्

वितस्तिमात्रदैर्घ्यः स्यादष्टाङ्गुलमुखद्वयः ।

^२यो यस्य मण्डलीयुक्ते मुखे बद्धे च चर्मणा ॥ १११० ॥

त्रिवलीवत् क्षाममध्ये निबद्धः सूत्रदोरकैः ।

मध्ये च गाढतां नी^३तावञ्चन्यौ वादनाय च ॥ ११११ ॥

भवेतां प्रान्तसंलग्नसमृन्मदनगोलकैः ।

असौ डमरुको मध्ये धृत्वा हस्तद्वयेन च ॥ १११२ ॥

डघवर्णां वादनीयः प्रोक्तो निःशङ्कसूरिणा ।

अन्यैः कखरटा वर्णाः प्रोक्ता डमरुकेऽधिकाः ॥ १११३ ॥

इति डमरुकलक्षणम्

(सु०) डमरुकं लक्षयति—वितस्तिरिति । एकवितस्तिप्रमाण-दैर्घ्यः, अष्टाङ्गुलप्रमाणमुखद्वयं च, यस्य मुखद्वयं चर्मणा युक्तं मण्डली-युक्तं च भवेत्, वक्ष्यमाणत्रिवलीवत् क्षामः कुशो मध्यप्रदेशो यस्य, मध्ये; मध्यप्रदेशे, गाढैः दोरकैः उपनिबद्धः द्वे अञ्चन्यौ वादनीयस्य प्रान्ते संलग्नः समृन्मृदा सहितः मदनस्य सिक्थकस्य गोलको ययोः स डमरुकः । मध्ये

^१ रता (A). ^२ योगस्य I ed. ड. योजस्य fin. I ed. ^३ नीते रञ्चन्यौ (?) I ed. ख. नीती खान्यौ । घ. नीती खान्यौ । ड. नीतिरतन्यौ fin. I ed. ^४ लग्नसम्यङ्मदन I ed. च. लग्नं स fin. I ed.

हस्तद्वयेन धृत्वा ^१डधवर्णयुतो वादनीयः । अन्यैः कखरटा वर्णा अधिकाः प्रोक्ताः ॥ १११०—१११३ ॥

इति डमरुलक्षणम्

वितस्तिमात्रं देर्घ्यं स्यान्मध्यः किञ्चित् कृशो भवेत् ।

मुखे त्वष्ठाङ्गुलैः पिण्डोऽर्धाङ्गुलस्तन्त्रिकाद्वयम् ॥ १११४

मुखे मुखे शङ्ककवश्च चत्वारस्ताम्रनिर्मिताः ।

तेषामधो द्वावूर्ध्वं द्वौ तन्त्रीबन्धनसिद्धये ॥ १११५ ॥

तन्त्र्योस्तृणशलाका च निदध्याद् ध्वनिपुष्टये ।

अन्यलक्ष्म हुडुक्कावद्यस्याः पाटाक्षराण्यपि ॥ १११६ ॥

स्याद् दशाङ्गुलदैर्घ्येण कुडुपेन तु वादनम् ।

निःशङ्कशार्ङ्गदेवेन डक्का सा परिकीर्तिता ॥ १११७ ॥

अन्येऽस्या वादनं प्राहुः करेण कुडुपेन च ।

हस्तघातेन डंकारो वादने कुडुपेन तु ॥ १११८ ॥

घटस्ततो ङगिश्चेति मुखान् पाटान् वदन्त्यमी ।

नगौ खकरटा वर्णा मुख्याः प्रोक्ताः परेरिह ॥ १११९ ॥

अस्यां च सूरयः प्राहुर्देवतां विन्ध्यवासिनीम् ।

अङ्गुलीना मध्यमा सा द्व्यङ्गुलीना कनीयसी ॥ ११२० ॥

इति डक्कालक्षणम्

(मु०) ^२डक्का लक्षयति—वितस्तिमात्रमिति । देर्घ्यं वितस्ति-
प्रमाणम्, मध्यः किञ्चित् कृशः क्षामः, अष्ठाङ्गुलप्रमाणं मुखद्वयम्, द्वे
तन्त्र्यौ, मुखे मुखे प्रतिमुखम्, चत्वारः ताम्रनिर्मिताः शङ्ककवः तेषां
शङ्ककूनामधःप्रदेशे द्वौ, ऊर्ध्वं च द्वौ तेषां ऊर्ध्वः तन्त्रीबन्धनार्थं, तन्त्रीद्वयं

^१ दन्तवर्ण (A) डमरुवर्णद्वयेन (B).

^२ डक्का (A), (B).

नादवृद्धयर्थं तृणशलाका क्षेप्तव्या; अन्यत् लक्ष्म कुडुक्कावत् । ^१कुडुपेन च
वादनं यस्याः, सा डक्का । केचित् ^२करेण कोणेन च वादनमाहुः । करेण
^३घाते क्रियमाणे ^४रुशब्द उत्पद्यते । कोणेन तु घटादयः, अमून् ^५पाटंमुखान्
वदन्ति । अन्यैः नगखकरटा वर्णा इह मुख्या इति वदन्ति । अस्यां डक्कायां
विन्ध्यवासिनीं देवतामाहुः । पूर्वोक्तप्रमाणा ^६डक्का उत्तमा, तत अङ्गुल-
न्यूना मध्यमा, द्व्यङ्गुलन्यूना कनिष्ठेति ॥ १११४—११२० ॥

इति डक्कालक्षणम्

डक्कं च मण्डिडक्का स्यात् किं त्वस्याः षोडशाङ्गुलम् ।

दैर्घ्यमष्ठाङ्गुली गौरी स्यातां वदनयोर्द्वयोः ॥ ११२१ ॥

षोडशाङ्गुलको मध्यपरिधिर्नित्रि चार्गला ।

न च कच्छोत्कक्षकस्तु मध्ये स्यादञ्चनीद्वयम् ॥ ११२२ ॥

उत्कक्षं चाञ्चनीद्वन्द्वं वामाङ्गुष्ठाङ्गुलित्रयात् ।

धृत्वा संपीड्य तर्जन्या मण्डलीप्रान्तमाननम् ॥ ११२३ ॥

अस्या दक्षिणजानुस्थं हन्याद् दक्षिणपाणिना ।

उत्कक्षं मणिबन्धोर्ध्वं यद्वा न्यस्याञ्चनीद्वयम् ॥ ११२४ ॥

कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैः संयुज्यापीड्य मण्डलीम् ।

तर्जन्या मध्यया वाथ हस्तेनान्येन वादयेत् ॥ ११२५ ॥

वदन्ति वादनं तस्याः करेण कुडुपेन वा ।

चर्यागाने च पूजायां शक्तेः सा विनियुज्यते ॥ ११२६ ॥

इति मण्डिडक्कालक्षणम्

^१ कोणेन (A). ^२ कोणेन न वादन (A). ^३ निर्घोषे (B). ^४ तुशब्द (B).

^५ मुखपाटान् (A). मुखस्य पाटान् (B).

^६ डक्का (A), (B).

^७ डक्का (A), (B).

(सु०) 'मण्डिडक्का' लक्षयति—'डक्केवेति'। पूर्वोक्तलक्षणा 'डक्केव' 'मण्डिडक्का' भवति । अयं तु विशेषः—दैर्घ्यं षोडशाङ्गुलं, वदनद्वये, गर्भे^१ द्वयमष्टाङ्गुलम्, मध्यपरिधिः षोडशाङ्गुलः, अर्गलाश्च न सन्ति, न च कच्छा, मध्ये तु पुनः ऊर्ध्वकक्षमञ्चनाद्वयं स्यात्, एवंविधमञ्चनीद्वयं वामाङ्गुष्ठेन अङ्गुलीत्रयेण च धृत्वा, [तर्जण्या संपीडघ] अस्या आननं दक्षिणजानुनि स्थितं दक्षिणहस्तेन 'घातयेत्' । वादने प्रकारान्तरमाह—
उत्कक्षमिति । ऊर्ध्वकक्षमञ्चनीद्वयं मणिबन्धे ऊर्ध्वप्रदेशे निक्षिप्य, कनिष्ठा-
नामिकाङ्गुष्ठेः संयोज्य, तर्जनीमध्यमाभ्यां मण्डली पीडयित्वा, तर्जण्या
मध्यया बाध अन्यहस्तेन वादयेत् । प्रबन्धाध्यायोक्तचर्यागाने, शक्तेः
पूजायां च सा विनियुज्यते ॥ ११२०-११२५ ॥

इति 'मण्डिडक्कालक्षणम्'

कांस्याद् गोशृङ्गलो दन्तिदन्ताद्वा डक्कुली भवैत् ।
दैर्घ्यं पञ्चाङ्गुला वक्त्रे तस्याश्च चतुरङ्गुले ॥ ११२७ ॥
मेप^२ पार्यद्वलीवद्धे स्वस्वचक्रसमन्विते ।
चक्रे च कांस्थजे ताम्रमेये वा लोहजे पृथक् ॥ ११२८ ॥
पञ्चरन्ध्रे तथोद्द्वली रन्ध्रविन्यस्तदोरकैः ।
सौत्रेणगढं निबध्यते मध्ये सूत्रेण वेष्टितम् ॥ ११२९ ॥
नातिश्लथं नातिगाढं मध्यं सूत्रे त्वनामिकाम् ।
निधाय मध्यतर्जन्यौ विवृते चक्रसंयुते ॥ ११३० ॥
कृत्वाङ्गुष्ठं^३ त्वन्यचक्रे न्यस्याथ मदनाञ्चिताम् ।
विधायाञ्चनिकामेकां तां दुंदुमिति वादयेत् ॥ ११३१ ॥

^१ मसिडक्का (A). ^२ डक्केति (B). ^३ डक्केव (B). ^४ मसि-

डक्का (A). ^५ द्वयं द्वयष्टाङ्ग (A). ^६ वादयेत् (A). ^७ मसिडक्को (A).

^८ पायूद fin. I ed. ^९ त्व त्वन्यवक्त्रे fin. I ed.

तुंतुमित्यपरे प्राहुः पाटा मर्दलसंभवाः ।
यथासंभवमेतस्यां शाङ्गदेवेन कीर्तिताः ॥ ११३२ ॥

इति डक्कुलीलक्षणम्

(सु०) 'डक्कुली' लक्षयति—कांस्यादिति । कांस्थेन गोशृङ्गेण
हस्तिदन्तेन वा डक्कुली कार्या । तस्या दैर्घ्यं पञ्चाङ्गुलम्, मुखद्वयं
चतुरङ्गुलम् । मेषस्य अजस्य वा पारिका कृतिः, तथा निमित्तया उद्द्वली
वद्धे मुखद्वये चक्रसमन्विते, चक्रद्वयं कांस्थेन, ताम्रेण, लोहेन वा पञ्चरन्ध्र-
संयुक्तं कार्यम् । तथा द्वे उद्द्वली छिद्रे न्यस्ते, सौत्रैः सूत्रकृतैः दोरकैः गाढं
बन्धनीये । वादनप्रकारमाह—मध्य इति । अन्तःसूत्रेण वेष्टितं नातिगाढ-
मतिश्लथत्वहीनम्, अनामिकाम्, मध्यसूत्रेषु निधाय^४ मध्यमातर्जन्यौ द्वे
अङ्गुल्यौ विवृते असंयुक्ते कृत्वा, अङ्गुष्ठमन्यस्मिन्^५ वक्त्रे न्यस्य
स्थापयित्वा, मदनाञ्चितं^६ सिक्चकेन अञ्चितं लिप्ताम् एकामञ्चनिकां
कृत्वा, ताम्^७ उद्द्वली दुंदुमिति शब्देन वादयेत्, अपरे तुंतुमिति मर्दलसंभवाः
पाटाः प्राहुः ॥ ११२७-११३२ ॥

इति डक्कुलीलक्षणम्

षड्विंशत्यङ्गुला दैर्घ्ये परिधौ त्रिशदङ्गुला ।
समकाया सेल्लुका स्याद् बीजकाष्ठेन निर्मिता ॥ ११३३ ॥
दशाङ्गुले मुखे तस्याः परस्त्वैकादशाङ्गुले ।
उक्तेन बन्धनोद्द्वली ताभ्यामेकाङ्गुलाधिके ॥ ११३४ ॥
वल्लीजं तर्जनीस्थौल्यं मुख्योर्वलयद्वयम् ।
सरन्ध्रषट्कं रन्ध्रस्थरञ्जुभिर्गाढयन्त्रितम् ॥ ११३५ ॥

^१ डक्कुली (B). ^२ डकुली (A). ^३ मध्यात् तर्जनीभ्यो (A). ^४ चक्रे
(A). ^५ डक्कुली दुंदुमिति (B). ^६ डकुली दुमिति (A).

एकाङ्गुलाधिकं तच्च वक्त्राभ्यां वदनं पुनः ।

तन्त्रिकागमितं वामं वामहस्तेन वादयेत् ॥ ११३६ ॥

मुखं दक्षिणपाणिस्थकुटुपेन तु दक्षिणम् ।

मुखे वामे तु शंकारो धिकारो दक्षिणे मुखे ॥ ११३७ ॥

इति सेल्लुकालक्षणम्

(मु०) १ सेल्लुकां लक्षयति—षड्विंशतीति । दैर्घ्यं षड्विंशत्यङ्गुला, परिधौ वर्तुलप्रमाणी, त्रिशदङ्गुला च, समानदेहा बीजकाष्ठेन असनकाष्ठेन निमिता सेल्लुका स्यात् । तस्या मुखद्वयं दशाङ्गुलम् । अन्यैराचार्यैः एकादशाङ्गुलमित्युक्तम् । वन्दनमुदली च ३ ताभ्यां मुखाभ्यामेकेनाङ्गुलेनाधिके, वलयद्वयं वल्ली^१युतं मुखयोः स्थाप्य रन्ध्रषट्केण युक्तं, रन्ध्रस्थिताभी रज्जुभिर्गाढं वद्धाभ्या वक्त्राभ्याम् एकेनाङ्गुलेनाधिकमिति वलयद्वयं विशेषणम् । तन्त्रिकागमितं वाममुखं वामहस्तेन वादयेत् । दक्षिणहस्तस्थकाणेन दक्षिणं मुखं वादयेत् । वामे मुखे शंकारः, दक्षिणे मुखे तु धिकार उत्पद्यते ॥ ११३३-११३७ ॥

इति सेल्लुकालक्षणम्

पलः स्यात् पञ्चविंशत्या दैर्घ्यं तु द्वादशाङ्गुला ।

अष्टादशाङ्गुलमिता परिधौ समविग्रहा ॥ ११३८ ॥

ससन्नकटकं रन्ध्रद्वयं कण्ठे च बिभ्रती ।

चर्मणाऽऽनद्धवदना झल्लरी परिकीर्तिता ॥ ११३९ ॥

वामहस्तधृता सा च वाद्या दक्षिणपाणिना ।

इति झल्लरीलक्षणम्

^१ नैलुकी (A). (B).

^२ नैलुकी (A). (B).

^३ द्वाभ्यां (A).

^४ वल्ली कृतं (A). ^५ शंकारः (A). ^६ नैलुकी (A).

(मु०) झल्लरीं लक्षयति—पलैरिति । पलः पञ्चविंशतिप्रमाणा, दैर्घ्यं, द्वादशाङ्गुला, परिधौ अष्टादशाङ्गुलमिति, समविग्रहवती सूत्रकटकयुक्तं कण्ठे रन्ध्रद्वयं दधाना चर्मणा आच्छादितमुखी झल्लरी स्यात् । सा वामहस्तेन धृत्वा दक्षिणपाणिना वादनीया ॥ ११३८-११३९-॥

इति झल्लरीलक्षणम्

स्यात् तदर्धपलो भाणः परिधौ द्वादशाङ्गुलः ॥ ११४० ॥

अन्यत्तु झल्लरीलक्ष्म तस्य श्रीशार्ङ्गोदितम् ।

इति भाणलक्षणम्

(मु०) भाण लक्षयति—स्यादिति । तदर्धपलः सार्धद्वादशपलपरिमितं मानम् । परिधौ द्वादशाङ्गुलः । अन्यत्तु लक्ष्म झल्लरीवत् ॥ ११४०, ११४०-॥

इति भाणलक्षणम्

सप्ताङ्गुलमुखद्वन्द्वात् त्रिवली हस्तदैर्घ्यभाक् ॥ ११४१ ॥

मुष्टिग्राह्यश्च मध्योऽस्या वदने कवलावृते ।

कवले लोहमण्डल्यो सप्तरन्ध्रे पृथक्पृथक् ॥ ११४२ ॥

रन्ध्रन्यस्तेर्गुणैर्बद्धो मध्ये गाढं च वेष्टनम् ।

सूत्ररज्ज्वा हस्तमात्रा कच्छा स्कन्धावलम्बिनी ॥ ११४३ ॥

वादनं करयुग्मेन^१ शाङ्गदेवेन कीर्तितम् ।

तदादौदेति वर्णाः स्युस्त्रिपुरा चात्र देवता ॥ ११४४ ॥

^१ अन्तर्मध्ये द्वादशाङ्गुला (A).

^२ ख. बद्धैर्मध्ये fn. I ed.

^३ ड.

वेष्टितम् । च. वेष्टिता fn. I ed.

^४ करयुग्मेन I ed.

एकादशाङ्गुलमुखी विशत्यङ्गुलदैर्घ्यभाक् ।
मुखाधमानमध्यासी मध्ये चाञ्चनिकायुता ॥ ११४५ ॥
तदर्धवर्णसंयुक्ता त्रिकुल्या चोच्यते^१ बुधैः ।

इति त्रिवलीलक्षणम्

(सु०) त्रिवलीं लक्षयति—सप्ताङ्गुलेति । सप्ताङ्गुले द्वे मुखे हस्तौ दैर्घ्यम् । एवंविधा त्रिवली भवति । अस्याः त्रिवल्या मध्यो मुष्टि-
ग्राह्यः, वदने चर्मनद्धे मुखे कवलेनायुते कार्ये सप्तरन्ध्रे पृथक्पृथक्, लोह-
मण्डल्यो कवले इत्युच्यते, तेन कवलेन युक्ते द्वे मुखे कार्ये । रन्ध्रन्यस्तैर्गुणैः
मध्यभागे वेष्टनं कार्यम् । सूत्ररज्जुना कृतहस्तप्रमाणा स्कन्धावलम्बिनो
कच्छा कार्या, ^२करद्वयेन च वादनम् । तदादौदे इत्यादयो वर्णाः । अत्र
वेवता च त्रिपुरा । अस्याः त्रिवल्याः लक्षणविशेषेण नामान्तरमाह—
एकादशेति । एकादशाङ्गुलं मुखं यस्याः । विशत्यङ्गुलदीर्घा मुखस्य,
अर्धमानं सार्धपञ्चाङ्गुलं तावत्प्रमाणो मध्यो यस्याः, एवंविधलक्षणयुक्ता
अञ्चनिकया युता च त्रिवली वर्णसंयुक्तेत्याहुः । इयमेव त्रिकुल्येत्युच्यते
॥ -११४१-११४५- ॥

इति त्रिवलीलक्षणम्

आम्रद्रुमसमुद्भूतो महागात्रो महाध्वनिः ॥ ११४६ ॥
कांस्यभाजनसंभारगर्भो वलयवर्जितः ।
चर्मनद्धाननो बद्धो वध्रैर्गाढं समन्ततः ॥ ११४७ ॥
दृढं^३ चार्मणं कोणेन वाद्यो^४ वर्णेन दुन्दुभिः ।
मघनिर्घोषगम्भीरघोंकारस्यात्र मुख्यता ॥ ११४८ ॥

^१ ग. घ. परं fn. I ed.

^२ शरद्वयेन (A), (B).

^३ दृढवर्णेन I ed.

घ. दृढे वागेन fn. I ed.

^४ प्राणेन I ed.

मङ्गले विजये चैव वाद्यते देवतालये ।

इति दुन्दुभिलक्षणम्

(सु०) दुन्दुभिं लक्षयति—आग्नेति । आम्रद्रुमोद्भवः स्थूलाशयः
स्थूलध्वनिः स्थूलरवः; कांस्यभाजनानां समूहो गर्भं यस्य, वलयहीनः,
चर्मणा आच्छादितमुखः मुखद्वयं, वध्रैः परितो बद्धः, दृढेन चर्मकृतेन
^१कोणेन वर्णेन च दुन्दुभिः वाद्यो वादनीयः । अत्र मेघगर्जितगम्भीरध्वनिवत्
^२घोंकारस्य मुख्यत्वम् । अयं दुन्दुभिः विजययात्रायां, मङ्गले च देवतालये
वाद्यते ॥ -११४६-११४८- ॥

इति दुन्दुभिलक्षणम्

वितस्तित्रयदैर्घ्या स्याद् भेरी ताक्षेण निर्मिता ॥ ११४९ ॥

चतुर्विशत्यङ्गुले च वदने वलया निवृते ।

तस्याः सवलये चर्मच्छन्ने छिद्रसमन्विते ॥ ११४० ॥

रज्ज्वा नियन्त्रिते गाढं मध्ये सूत्रेण बन्धनम् ।

दक्षिणस्थेन कोणेन वामहस्तेन ताडनात् ॥ ११५१ ॥

उद्भूतो भवति ध्वानो गम्भीरो^३ऽरिभयंकरः ।

^५तंकारः पाटवर्णोऽस्यां मुखो निःशङ्ककोत्तितः ॥ ११५२ ॥

इति भेरीलक्षणम्

(सु०) भेरीं लक्षयति—वितस्तिरिति । वितस्तित्रयमिता दीर्घा
ताक्षेण निर्मिता भेरी वलयसंयुते मुखे यस्याः, चतुर्विशत्यङ्गुले कार्यं ।
त्रयद्वयं च चर्मणा आच्छादितं छिद्रसहितं रज्जुबद्धं कार्यम् । मध्ये च

^१ आकारप्रमाणेन (A).

^२ चलेन (A).

वलने (B). ^३ दोंकारस्यात्र

(A). ^४ ख. रोडति भयं करः fn. I ed.

^५ तकार I ed. ख. टकार ।

ङ. तकार fn. I ed.

सूत्रेण बन्धनं कार्यम् । दक्षिणहस्तेन कोणेन, वामहस्तेन च घातात् कृतो
अरिभयंकरः गम्भीरः अत्युद्भटश्च ध्वानो भवति । अस्यां तंकारः
पाटवर्णो मुख्यो भवति ॥ ११४६-११५२ ॥

इति भेरीलक्षणम्

कांस्यजस्ताम्रजो लौहो वोत्तमो मध्यमोऽधमः ।

एकवक्त्रो महान् वक्त्रे स्वल्पोऽधोऽर्धयवाकृतिः ॥ ११५३ ॥

^१भूतगर्भः कांस्यपात्रभारैर्महिषचर्मणा ।

छन्नाननो बद्धचर्मा तद्वध्न्यस्तव ध्रक् ॥ ११५४ ॥

क्षिप्तोऽधो बध्नवलये निवेश्यार्वात्तैर्मुहुः ।

द्विषद्वित्रासजननो निःसाणः शार्ङ्गणोदितः ॥ ११५५ ॥

चार्मणेनास्य कोणेन सद्वितीयस्य वादनम् ।

^२दृढशब्देन भीरुणां भिनत्ति हृदयान्यस्य ॥ ११५६ ॥

स्यादस्माद् युद्धवीराणां रोमाञ्चोपचितं वपुः ।

इति निःसाणलक्षणम्

(मु०) निःसाणं लक्षयति—कांस्यज इति । कांस्यजः निःसाण
उत्तमः, ताम्रजः मध्यमः, लौहजः, अधमः । एकमुखो महान् स्थूलः मुखे
स्वल्पः, अधोऽर्धयवाकृतिः अर्धयवप्रमाणाकाराधीभागः । ऊर्ध्वकृतपूर्व-
प्रकारकांस्यपात्रसमूहैः^३ पूर्णः मध्यः, महिषचर्मणा आच्छादितमुखः, तस्य
निःसाणस्य रन्ध्रे^४ विन्यस्तेः चर्मवलये निवेश्य मुहुर्मुहुः आर्वात्तैः द्विगुणितैः
वध्रकैः बद्धं चर्म यस्य, स वैरिवित्रासकारी निःसाणः । सद्वितीयस्यास्य
चर्मसंबन्धना कोणेन वादनं दृढशब्दे^५ यदा क्रियते, तदायं निःसाणः

^१ ख. भूतगर्भः fn I ed.

^२ ख. घ. षटशब्देन fn. I ed.

^३ हे पूर्व

मध्यः (B).

^४ विन्यस्ते बध्नवलये (B).

भीरुणां हृदयानि भिनत्ति । अस्मात् युद्धवीराणां रोमाञ्चितं वपुश्च
स्यात् ॥ ११५३-११५६ ॥

इति निःसाणलक्षणम्

निःसाणवत् तुम्बकी स्यात् ततोऽल्पा गात्रनादयोः ॥ ११५७

इति तुम्बकीलक्षणम्

(मु०) तुम्बकीं लक्षयति—निःसाणवदिति । निःसाणात् गात्रे,
नादे च किञ्चिदल्पा तुम्बकी स्यात् ॥ ११५७ ॥

इति तुम्बकीलक्षणम्

उक्तौ प्रकृतिदारुणामनुक्तौ वा विकल्पतः ।

ज्ञेयो दारववाद्यानां खदिरो रक्तचन्दनः ॥ ११५८ ॥

सर्वेषु सूर्यथायोगं पाटाः पाटहमार्दलाः ।

नीरसोच्छ्रितभूजाताज्जीर्णाद् वाताहतात् तरौ ॥ ११५९ ॥

निर्मिद्योत्सारिते गर्भे शेषाद् वाद्यानि कारयेत् ।

पूर्वप्ररोहे छिन्नेज्यो यः प्ररोहः प्ररोहति ॥ ११६० ॥

तदुद्भवद्रुदोद्भूतं वाद्यं सर्वं प्रशस्यते ।

गर्भस्योत्सारणं त्वेतद् वेणोरन्यत्र पादपे ॥ ११६१ ॥

तरुणां जातयस्तिस्त्रः पित्तला वातला तथा ।

श्लेष्मला चेति तत्र स्यात् पित्तला नीरसक्षितौ ॥ ११६२ ॥

अत्यल्परसभूजाता वातला श्लेष्मला पुनः ।

जलाशयसमीपस्थरससंस्तुतभूमिजा ॥ ११६३ ॥

^१ तुम्बकी I ed.

^२ तुम्बकी I ed.

^३ व. विकल्पतः fn. I ed.

पित्तलात्युत्तमा जातिर्वातला त्वधमा भवेत् ।

श्लेष्मला वर्ज्यते शुष्के वृक्षोऽपि छेदनात् पुरा ॥११६४॥

इति काष्ठलक्षणम्

(क०) अथावनद्धवाद्यप्रकृतिभूतं दारुविशेषं तद्गुणां-
श्चाह—उक्तावित्यादि । प्रकृतिदारूणामनुक्ताविति । ^१यत्र दारु-
वाद्यस्य प्रकृतित्वेन यथानुक्तं दारूणामुक्तिर्यथा पटहादौ
खदिरादेः । अनुक्तौ वेति । यथाभिधानं दारुविशेषाणामनभिधानं
वा, यथा कुडुक्कादीनाम् । तत्रोभयत्रापि ^२दारुवाद्यानां दारूणा
निर्मितानां पटहादीनां वाद्यानां प्रकृतित्वेनेति शेषः । खदिरो
रक्तचन्दनेन विकल्पितो ज्ञेयः । खदिरो वा रक्तचन्दनो वा कर्तव्य
इत्यर्थः । सर्वेष्विति । सर्वेषु तुडुक्कादिषु वाद्येषु । पाटहमार्दलाः
पाटा इति । पाटहाः कखादयः षोडश । मार्दला अपि मतान्तरोक्तैः
सह तद्व्यादयः षोडश । यथायोगं स्युरिति । यैः पाट्यैस्य वाद्यस्य
स्फुटमनुकरणं भवति तत्र प्रयोज्या इत्यर्थः ॥ ११५८-११६४ ॥

इति काष्ठलक्षणम्

(सु०) वाद्यकाष्ठविशेषानाह—उक्ताविति । कारणभूतानां
काष्ठानामनुक्तावनुक्तौ वा विकल्पेन दारुचितानां वाद्यानां सर्वेषां खादिरो
रक्तचन्दनो वा प्रकृतिर्जातिव्या । यथायोगं, यथासम्भ्यः । एवं पटहसंन्धिनः,
मार्दलसंन्धिनश्च पाटाः । नीरसायाम् ; ^३अम्बुशून्यायाम् । ^४उच्छिन्न-
भूजातायां, जीर्णात्, पुराणात् सर्वदा पवनेन आन्दोलितात् तरोः ^५निभिद्य

^१ यस्य (C). ^२ दारुवाद्या (C). ^३ तद्व्यादयः (C). ^४ यथा-
सम्भूतं (B). ^५ त्वक् शून्यायां (B). ^६ उच्चायां च (A), (B). ^७ शाखा-
यां निभिद्य (B).

छित्वा गर्भं उत्सारिते त्यक्ते सति शेषात् तस्मात् वाद्यानि कारयित-
व्यानि । पूर्वं इति । पूर्वस्मिन् प्ररोहे छिन्ने सति प्रच्छेदात् अन्यस्मात्
प्ररोहात् जातं वाद्यं प्रशस्तम् । गर्भोत्सारणमिदं वेणुवाद्यं विना अन्यत्र
ज्ञातव्यम् । तरुजातीः कथयति—तरूणामिति । तासां लक्षणमाह—
^१भित्तरेति । तरूणां तिष्ठो जातयः ; पित्तला, वातला, श्लेष्मला चेति । तत्र
तिसृणां मध्ये नीरसभूमौ जाताः तत्रः तरवः पित्तला, ^२अल्पतरसभूमौ जाता
वातला, जलाशयसममीपस्थरससंस्तुतभूमौ जाता श्लेष्मला इति । तामु
पित्तला अत्युत्तमा, वातला ^३अधमा, श्लेष्मला तु ^४वर्ज्या इति । छेदात्पूर्वं
शुष्को वृक्षोऽपि वर्ज्य इति ॥ ११५८-११६४ ॥

इति काष्ठलक्षणम्

कोमलत्वं व्रणग्रन्थिभेदान् दारुषु वर्जयेत् ।

इति काष्ठदोषाः

(क०) दारुदोषानाह—कोमलेत्यादि ॥ ११६४- ॥

इति काष्ठदोषाः

(सु०) काष्ठदोषानाह—कोमलत्वमिति । कोमलत्वं सुकुमार-
त्वम् । व्रणं छिद्रं, ग्रन्थिः ^१शाखासंधिः, भेदः ^२भित्तत्वं, एते दोषा दारुषु
वर्जनीयाः ॥ ११६४- ॥

इति काष्ठदोषाः

षाण्मासिकस्य वत्सस्य चर्म स्यात् पुटबन्धने ॥ ११६५ ॥

अन्ये द्विवत्सरस्याहुस्तत्र लक्ष्येषु दृश्यते ।

वृद्धस्य वृषभस्यास्य चर्मणा वध्रकल्पना ॥ ११६६ ॥

^१ तत्रेति (A), (B). ^२ अत्यल्पतरस (B). ^३ मध्यमा (B). ^४ अधमा
(B). ^५ ग्रन्थिकृता संधिः (B). ^६ भेदत्वं (B).

कुन्देन्दुहिमसंकाशमाभ्रपल्लवसन्निभम् ।
स्नायुमांसविहीनं च चर्मं गोसंभवं च यत् ॥ ११६७ ॥
शीतोदके निशामेकां वासयित्वा समुद्धृतम् ।
वाद्यावनहनार्थं तद् ग्राह्यं श्रीशार्ङ्गणोदितम् ॥ ११६८ ॥

इति चर्मगुणाः

(क०) चर्मणो गुणानाह—षाष्मासिकस्येत्यादि ॥ ११६५—
११६८ ॥

इति चर्मगुणाः

(सु०) चर्मगुणानाह—षाष्मासिकस्येति । षष्मासोत्पन्नस्य
वत्सस्य तर्णकस्यं ^१चर्मं पुटवन्धने स्यात् । अन्ये तु द्विवत्सरस्याहुः । तत्
लक्ष्येषु न दृश्यते । पुटं वाद्यमुखं वृद्धवृषभस्य चर्मणा वध्ना कार्या । कुन्देति ।
^२कुन्दादिवत् उज्ज्वलं, माकन्दपल्लववत् ^३आताम्रं वा स्नायुमांसाभ्यां
विहीनं गोचर्मं, तदेकस्यां निशायां शीतलोदके ^४स्थाययित्वा, उद्धृतं सत्
वाद्यपिधानार्थं ग्राह्यम् ॥ ११६५—११६८ ॥

इति चर्मगुणाः

मेदोदुष्टं जराक्रान्तं क्लिन्नं काकमुखाहतम् ।
अग्निधूमहतं ^५जीर्णं न वाद्ये चर्मं कर्मकृतम् ॥ ११६९ ॥

इति चर्मदोषाः

(क०) चर्मदोषानाह—मेदोदुष्टमित्यादि ॥ ११६९ ॥

इति चर्मदोषाः

^१ छागलस्य चर्म (B). ^२ कुन्देन्दुकुमुदवर्णः (B). ^३ ताम्रपल्लव-
सदृशवर्ण (B). ^४ निक्षिप्य क्लित्वा, पञ्चात् (B). ^५ ख. चूर्णं fin. I ed.

गुणभूरितरोदारैर्यस्य नद्धं जगत् त्रयम् ।
अवनद्धमिदं तेन शाङ्गदेवेन कीर्तितम् ॥ ११७० ॥

इत्यवनद्धवाद्यप्रकरणम् ।

(क०) अथावनद्धवाद्यप्रकरणं निगमयितुमाह—गुण-
रित्यादि ॥ ११७० ॥

इत्यवनद्धवाद्यप्रकरणम् ।

(सु०) चर्मदोषानाह—मेद इति । मेदसा ^१दूषितम्, मेदो
धातुविशेषः । जरा गर्भवेष्टनं, ^२तया आक्रान्तम् । क्लिन्नं स्तिमितम् ।
काकमुखाहतं शिथिलम् । अग्निना धूमेन वा नष्टम् । जीर्णं जरठम्
॥ ११६८—११७० ॥

इत्यवनद्धवाद्यप्रकरणम् ।

अथ घनवाद्यम्—

कांस्यजे घनवाद्ये स्यात् कांस्यमग्नौ सुशोधितम् ।
कांस्यजो वतुलस्तालः सपादद्वयङ्गुलाननः ॥ ११७१ ॥
^४मध्योऽस्याङ्गुलविस्तारो निम्नो रन्ध्रं च मध्यगम् ।
पादोनगुञ्जामात्रं स्यात् पिण्डस्तु यवमात्रकः ॥ ११७२ ॥
सार्धाङ्गुलः स्यादुत्सेधः समाश्लक्ष्णशुभाकृतिः ।
कार्या तथा यथा नादो भवेच्छ्रुतिमनोहरः ॥ ११७३ ॥
नेत्रवस्त्राञ्चलाप्राणि रज्जुकृत्य ^५निवेशयेत् ।
रन्ध्रेऽप्राणमनिर्गत्य ग्रन्थिं च रचयेद् दृढम् ॥ ११७४ ॥

^१ पूरितं (B). ^२ जरायुर्गर्भ (B). ^३ तेन (A). ^४ मध्योऽस्याङ्गुल-
I ed. ^५ ख. घ. निवेश्य च fin. I ed.

ईदृक्तालयुगं कृत्वा तालमेकमथाञ्चलैः ।
 आवेष्ट्य तज्जनौ वामामङ्गुष्ठेन च वेष्टनम् ॥ ११७५ ॥
 आक्रम्य तलमध्यस्थं धृत्वा तिर्यङ्मुखीकृतम् ।
 शेषाङ्गुलीः प्रसार्योर्ध्वाद् दक्षिणेन तु पाणिना ॥ ११७६ ॥
 तालमन्यतरस्यान्तलम्बमानाचलावलिम् ।
 तर्जन्यङ्गुष्ठयोरग्रभागतस्तिर्यगगाननम् ॥ ११७७ ॥
 धृत्वा तस्याग्रभागेण मध्यमन्यस्य ताडयेत् ।
 अल्पनादो भवेच्छक्तिभूरिनादः शिवो भवेत् ॥ ११७८ ॥
 शिवे स्निग्धे घनो नादः शक्तौ स्यात् तद् विपर्ययः ।
 वामेन धारयेच्छक्तिं शिवं दक्षिणपाणिना ॥ ११७९ ॥
 अश्वमेधफलं चैव प्राप्नुयाद् दोषमन्यथा ।
 देवता तुम्बर्युग्मे शक्तिः शक्तौ शिवे शिवः ॥ ११८० ॥
^४द्रुतादिसिद्धयै ^३तन्नादधृतिरूर्ध्वाङ्गुलीकृता ।
^६कल्पनेत्युच्यते कार्यमस्य स्यात् तालधारणम् ॥ ११८१ ॥
 निःशङ्कशार्ङ्गदेवेन पाटाः सर्वे ^२ञ्ज कीर्तिताः ।

इति ताललक्षणम्

(क०) अथ घनवाद्यं लक्षयितुमाह—अथेति । कांस्यज-
 मिति घनवाद्यस्य सामान्यलक्षणम् । तच्च कांस्यमग्नौ मुशोदितं
 ग्राह्यमिति शेषः । तत्र तालं लक्षयति—कांस्यज इत्यादि ।
 द्रुतादीत्यादि । द्रुतादिसिद्धयै अत्रादिशब्देन लघ्वादयो गृह्यन्ते,

^१ इ. च. मध्यस्थे fn. I ed. यार्ड (यु).

^२ घ. मुखाकृती fn. I ed.

^३ घ. शिरे fn. I ed.

^४ धृवा (D).

^५ घ. तत् तादृग्वृत्ति fn. I ed.

^६ घ. अल्पनेत्युच्यते fn. I ed.

^७ धारिणा (D).

^८ प्रकीर्तिता (D).

द्रुतादिमितकालप्रदर्शनायेत्यर्थः । ऊर्ध्वाङ्गुलीकृता हस्तद्वये,
 तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां तालद्वयस्य धृतत्वात् तदतिरिक्ताङ्गुल्य ऊर्ध्वी-
 कृताः ता ऊर्ध्वाङ्गुल्यः ताभिः कृताः । तन्नादधृतिः तयोः तालयोः
 नादस्यानुकरणेनाकारेण दीर्घस्य दीर्घस्य निरोधेन अवसानकरणं
 ह्रस्वीकरणमित्यर्थः । कल्पनेत्युच्यते इति । लक्ष्यप्रधानैः ताल-
 धारिभिरिति शेषः । कार्यमस्य स्यात्तालधारणमिति । अस्य ताल-
 धारिणः, तालधारणम् उक्तप्रकारेण तालयोः धारणं, तथा
 तन्नादधारणं च कार्यं स्यात् कर्तव्यं भवति । अत्र ताले सर्वे
 पाटाः कीर्तिता इति । तालस्य तूर्यत्रयमिति हेतुत्वादिति भावः
 ॥ ११७१-११८२ ॥

इति ताललक्षणम्

(सु०) घनवाद्येषु प्रथमं तालं लक्षयति—कांस्यज इति । कांस्य-
 जाते ^१घनवाद्ये प्रथमं कांस्यमग्नौ शोधयेत् । कांस्यात् जातो कांस्यजः,
 वृत्तः वर्तुलः, सचतुर्धाश्रित्याङ्गुलमितमाननं मुखं यस्य; अस्य कांस्य-
 तालस्य मध्यः अङ्गुलविस्तारो भवति, निम्नः नीचश्च भवति । मध्यगतं
 रुद्धं पादोनगुञ्जप्रमाणं भवेत् । पिण्डस्तु, यवमात्रः । उत्सेधः उच्छ्रायः,
 सार्धाङ्गुलप्रमाणः । समानः श्लश्गो मसुणो रमणीयाकृतिश्च तथा कार्या,
 यथा श्रवणयो रमणीयनादो भवति । नेत्र वस्त्राञ्चलाप्राणि पटुवस्त्र-
 विशेषाणि, तैः रज्जुकृत्य रज्जुं विधाय रुद्धे निवेश्य अप्राणाननिर्गत्यै
 अनिर्गमाय श्रन्थि कुर्यात् । ईदृमिति । एवंविधं तालद्वयं विधाय एकं तालं
^४अञ्चलैरावेष्ट्य तर्जनीया वामाङ्गुष्ठेन च वेष्टितं तालमाक्रम्य पाणितलस्य

^१ ख. करणानाकारेण fn. I ed. करणताकारेण दीर्घदीर्घदीर्घस्य (C).

^२ घनवाद्ये (B).

^३ नेत्रं पटुवस्त्रविशेषः, तस्याग्रदशया रज्जुं विधाय (B).

^४ अञ्जलै (B).

मध्यस्थले धृत्वा, तिर्यङ्मुखं कुर्यात् । शेषाङ्गुलैरर्घं विस्तार्य, ^२दक्षिण-
हस्तस्य तर्जनीया अङ्गुष्ठेन च रज्जुं वेष्टयित्वा, द्वितीयं तालं पाणितल-
मध्ये ^३लम्बमानं तिर्यङ्मुखं धारयित्वा, अन्यस्य तालस्य मध्यं ताडयेत् ।
अल्पेति । उभयोस्तालयोर्मध्ये अल्पध्वनिः शक्तिः, बहुध्वनिः शिवः,
शिवतालेन ताड्यमाने सति स्निग्धो ध्वनो निविडो नादो जायते । शक्तौ
अस्निग्धायामल्प इति । वामेनेति । वामेन पाणिना शक्तिं धारयेत् ।
दक्षिणेन पाणिना शिवम् । एवंकृते अश्वमेधफलं प्राप्नोति । अन्यथा दोषं
प्राप्नुयादिति । ऊर्ध्वाङ्गुल्या तस्य नादस्य धृतिः स्तम्भनं द्रुतत्वादिसिद्धये
यत्क्रियते, सा कल्पनेत्युच्यते । अस्य तालस्य अन्यत् कार्यं, ताल ^४धारणमिति
॥ ११७१-११८१ ॥

इति ताललक्षणम्

नलिनीदलसंकाशौ कांस्यताली समाकृती ॥ ११८२ ॥
त्रयोदशाङ्गुली वक्त्रे कांस्यजे द्व्यङ्गुली तले ।
मध्येऽङ्गुलमितौ निम्नौ तयोरन्यत्तु तालवत् ॥ ११८३ ॥
पाटा झनकटा मुख्याः सन्ति पाटान्तराण्यपि ।
नारदो ^५देवता चात्रेत्युक्तं सोढलसूनुना ॥ ११८४ ॥

इति कांस्यताललक्षणम्

(क०) अथ कांस्यतालादीनां लक्षणानि ग्रन्थत एव
सुबोधानि । तत्र कञ्चिकापट्टवाद्ययोर्दारवत्वे कांस्यजत्वेऽपि मूर्ति-
रूपत्वाद् घनवाद्यत्वमेवेत्यवसेयम् ॥ ११८२-११८४ ॥

इति कांस्यताललक्षणम्

^१ स्थितं (A). ^२ दक्षिणपाणिना द्वितीयं तालं (B). ^३ लम्बनात
अचला वलिर्यस्य तथाविधं (A). ^४ साधारणम् (A). ^५ देवतेत्युक्तमत (D).

(सु०) कांस्यतालं लक्षयति—नलिनीति । कमलिनीपत्रवत्
समानाकारी त्रयोदशाङ्गुलप्रमाणौ, मुखे द्व्यङ्गुली, कांस्यात् जातौ
कांस्यताली कार्यौ तयोः ^१तालयोः मध्ये तले मध्ये च अङ्गुलप्रमाणी
निम्नौ नीचौ च कर्तव्यौ । अन्यत् तालवद् ज्ञातव्यम् ॥ ११८२-११८४ ॥

इति कांस्यताललक्षणम्

अर्धाङ्गुलमिते ^२पिण्डे घण्टा कांस्यमयी भवेत् ।

उच्छ्रायेऽष्टाङ्गुला वक्त्रे विशाला मूलतोऽल्पिका ॥ ११८५

सा च प्रासादसंबद्धा शलाकाकारधारिणी ।

^३मूले दण्डं त्रिशृङ्गाग्रं दधती मूलसंयुता ॥ ११८६ ॥

षडङ्गुलायतं सार्धाङ्गुलपिण्डं च लम्बितम् ।

लोहजं ^४जालकं गर्भं दधानां तामधोमुखीम् ॥ ११८७ ॥

दण्डे धृत्वा टण्टकारबहलं वादयेत् सुधीः ।

सा सर्वदेवता तज्जैर्वाद्यते देवतार्चने ॥ ११८८ ॥

इति घण्टालक्षणम्

(सु०) घण्टां लक्षयति—अर्धाङ्गुलेति । पिण्डे अर्धाङ्गुलमिते,
उच्चत्वे अष्टाङ्गुला, कांस्यघटिता, मुखे विशाला, मूले अल्पा घण्टा
कार्या । सा च प्रासादसंबद्धा शलाकाकारधारिणी भवेत् । मूले च
शृङ्गाग्रं ^५संहिताग्रं दण्डं मूलसंलग्नं दधाना षडङ्गुलायाम् सार्धाङ्गुलपिण्डं
लम्बमानं ^६लोहजालकं गर्भं दधानाम्, तां घण्टाम् अधोमुखीं दण्डे धृत्वा

^१ तालयोस्तटां लक्षयति, तले मध्ये च (B). ^२ मिता I ed. ^३ मूल-
दण्डं विभागग्रं (D). ^४ जालकं I ed. ^५ संहिताग्रं (B). ^६ लोहशलाकां
(B). दोलाकीलकं (A).

टणत्कारबहुलं वादयेदिति । सा सर्वदेवता, देवतार्चने तज्ज्ञैः वाद्यते
॥ ११८५-११८८ ॥

इति घण्टालक्षणम्

^१तैक्षणगोलकगर्भाः स्युः कांस्योद्भवपुटद्वयाः ।

सुघनाः सूक्ष्मजातीयबदरीबीजसंमिताः ॥ ११८९ ॥

शिरःसुषिरविन्यस्तरज्जवः क्षुद्रघण्टिकाः ।

ताश्च घर्घरिका लोके भाष्यन्ते मर्मरास्तथा ॥ ११९० ॥

ताभिर्घर्घरभेदानां कृतिः ^२पेरणिनतर्तने ।

इति क्षुद्रघण्टिकालक्षणम्

(सु०) क्षुद्रघण्टिकामाह-तैष्येति । तीक्ष्णो लोहविशेषः, तज्जातो गोलकः मध्ये गर्भो यस्यां, कांस्यात् जातं पुटद्वयं यासां ताः, कांस्योद्भव-पुटद्वयाः सुघनाः, ^३सूक्ष्मबदरीबीजप्रमाणा शिखाच्छिद्रे विन्यस्तदोरिका क्षुद्रघण्टिका भवन्ति । ताश्च लोके ^४घर्घरिका इत्युच्यते । तथा मर्मरा इत्यपि । घर्घरविशेषाभिः ताभिः पेरणीनां नर्तकविशेषाणां वक्ष्यमाणानां नर्तने कृतिः प्रयोजनम् ॥ ११८९-११९०-॥

इति क्षुद्रघण्टिकालक्षणम्

कांस्यजा हस्तमात्रा स्यात् पिण्डे त्वर्धाङ्गुला घना ॥ ११९१

जयघण्टा समा श्लक्ष्णा वृत्ता प्रान्ते द्विरन्ध्रभाक् ।

धृत्वा तद्वन्ध्रविन्यस्तरज्जौ तां वामपाणिना ॥ ११९२ ॥

^१ तज्ज्ञैर् (D). ^२ वेराणि I ed. च. पेरणि fin. I ed. ^३ समीचीन पुटे सा सूक्ष्म (A). सूक्ष्मगुञ्जाप्रमाणं शिखरं रन्ध्रया सच्छिद्रे विन्यस्त (B). ^४ मर्मका घर्घरा इत्युच्यन्ते (A).

^१दक्षिणे दक्षिणस्थेन दृढकोणेन वादयेत् ।

डंकारबहुलाः पाटाः सर्वेऽस्याः शार्ङ्गोदिताः ॥ ११९३ ॥

इति जयघण्टालक्षणम्

(सु०) जयघण्टां लक्षयति—कांस्यजेति । कांस्यविरचिता हस्तप्रमाणा, पिण्डे तु अर्धाङ्गुलमिता, घना निविडा, समा समानाकारा, श्लक्ष्णा ममृणा, वृत्ता वतुला, प्रान्ते द्विरन्ध्रभाक्, रन्ध्रद्वयवती च जयघण्टा कार्या । तद्वन्ध्रविन्यस्तरज्जौ तस्या रन्ध्रे विन्यस्तायां रज्जौ, तां जयघण्टां वामपाणिना धृत्वा, दक्षिणप्रदेशे दक्षिणहस्तस्थितेन कोणेन वादयेत् । अस्या जयघण्टायाः पाटाः सर्वे डंकारप्रचुराः ॥ ११९१-११९३ ॥

इति जयघण्टालक्षणम्

खादिरं घनवेणूत्थं यद्वा कम्प्राचतुष्टयम् ।

श्लक्ष्णं द्व्यङ्गुलविस्तारं द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यकम् ॥ ११९४ ॥

मध्ये पिण्डो यथाशोभं किञ्चिन्न्यूनस्ततोऽन्तयोः ।

यस्य तत्कम्पिकावाद्यं तत्र द्वे द्वे तु कम्पिके ॥ ११९५ ॥

एकैकहस्तन्यस्ते ये तयोरेकैककम्पिकाम् ।

मध्यमाङ्गुल्योर्मूले धृत्वा प्रान्ते तयोः पुनः ॥ ११९६ ॥

अपरामपरां धृत्वा शिथिलां वादयेद्विद्या ।

कम्पेन मणिवन्धस्य कम्पिकावादनं मतम् ॥ ११९७ ॥

पाटाः श्रृङ्गकिटासुभ्यास्तत्र पाटान्तराण्यपि ।

कम्प्राणामन्तरं कृत्वानामया दक्षिणस्थया ॥ ११९८ ॥

तलघाताङ्गुष्ठ^१मुष्टेर्बामस्थेत्यपरे जगुः ।

इति कम्प्रालक्षणम्

(सु०) कम्प्रां लक्षयति—खादिरमिति । खदिरं जातं खादिरम् । घनवेणु^२स्यम्, घनोऽन्तःसारो यो वेणुः, तस्माज्जातं वा । इलक्षणं मसुणम्; द्व्यङ्गुलविस्तारम् द्व्यङ्गुलायाम्, द्वादशाङ्गुलदीर्घं कम्प्राचतुष्टयं कर्तव्यम् । पिण्डस्तु मध्ये शोभायमानतिक्रम्य क्रमेण कार्यः । प्रान्तयोरन्ते किञ्चिद्दीनः । यस्यैवं लक्षणं स्यात् तत् कम्प्राकावाद्यं ज्ञेयम् । तत्रेति । तामु चतुर्षु कम्प्रासु मध्ये, द्वे द्वे कम्प्रे ये प्रतिहस्तं^३ विशिष्येते, तयोरेकैकां कम्प्रां मध्यमाङ्गुष्ठयोः मूले धृत्वा, प्रान्तयोर्धृत्वा च अपरां कम्प्रां बुद्ध्या शनैर्वादिष्यत् । मणिबन्धस्य^४ कम्प्येन च कम्प्रावादनं मतम् । तत्र पाटाः किटकिटादयो मुख्याः । मतान्तरेण वादनप्रकारमाह—कम्प्राणामिति । कम्प्राणामन्तरं विधाय दक्षिणानामिकाया वामस्याङ्गुष्ठस्य मुष्टेः^५ तलेन प्रान्ते च इत्यन्ये अवादिषुः ॥ ११६४-११६८-॥

इति कम्प्रालक्षणम्

सर्पाकृतिरथो निम्ना कांस्यजा लोहजाथवा ॥ ११६६ ॥
शुक्तिस्थ्यङ्गुलविस्तारा सार्धहस्तद्वया मता ।
तिर्यग्प्रेक्षा^६राजिता च मृगशृङ्गोपमेन सा^७ ॥ १२०० ॥
ऋजुना लोहकोणेन^८सरेखेन विघर्षणात् ।
वाद्यते किरिकिट्टेति पाटा यक्षास्तु देवताः ॥ १२०१ ॥
यतिमात्रावबोधेऽन्त्येयुक्तं निःशङ्कसूरिणा ।

^१ घृष्टी वाम I ed. घृष्टी मुखस्ये (D). ^२ निशिष्येते (B). ^३ कल्पनेन च (B). ^४ किटकिटादयः पाटाः (B). ^५ तले प्रान्ते च पृष्ठे इत्यन्ये (A), तलेन प्रान्तः अङ्गुष्ठः इत्यन्ये (B). ^६ सङ्गता (D). ^७ वा (D). ^८ सरोपेण I ed.

किरिकिट्टकमित्युक्तं तल्लोके रुद्रवल्लभम् ॥ १२०२ ॥

इति शुक्तिवाद्यम्

(सु०) शुक्तिवाद्यं लक्षयति—सर्पेति । सर्पवत् आकृतिं दधती निम्ना नीचा कांस्येन लोहेन वा कृता व्यङ्गुलायामा सार्धहस्तद्वयदीर्घा तिर्यग्प्रेक्षया विराजिता शुक्तिः स्यात् । सा च; शुक्तिरपि, मृगशृङ्गवत् उपमा आकारो यस्य, तथाविधेन ऋजुना सगलेन लोहकोणेन रेखासंयुक्तेन घर्षणेन वादनीया । किरिकिट्टेत्यादयः पाटाः । देवतास्तु यक्षाः । अत्र; एतस्मिन् वाद्ये केवलं यतिज्ञानमेव प्रयोजनम् । इदमेव वाद्यं लोके^१किरिकिट्टकमित्युच्यते ॥ ११६९-१२०२ ॥

इति शुक्तिवाद्यम्

श्रीपर्णादारुजः पट्टश्चतुरश्रायतो भवेत् ।

द्वात्रिंशदङ्गुलो देव्येऽन्यैरुक्तंस्त्रिंशदङ्गुलः ॥ १२०३ ॥

विस्तारो हस्तमात्रः स्यादूर्ध्वाधःस्थितयोर्द्वयोः ।

लोहमय्योः^२सरिक^३योस्त्रिवृद्रज्जूपमायुजोः ॥ १२०४ ॥

क्षिप्ताभिस्तादृशशुद्रवलयवावलिभिर्युतः ।

वक्षोप्रे जानुनोर्मध्ये यद्वा^४संधायं वाद्यते ॥ १२०५ ॥

^५अयं च करं शाखाप्रै रालालिप्तो विघृष्यते ।

^६कखौथडरटाः पाटाः पाटहाश्चेह संमताः ॥ १२०६ ॥

सप्तात्र देवमुनयो देवताः शार्ङ्गोऽज्ञोऽविताः ।

इति पट्टवाद्यम्

^१ किरिकिट्टकमित्युच्यते (A), (B). ^२ सनिकयोः (D). ^३ योपिवृद्रक्तः प्रमायुजः (D). ^४ ख. पथयुजोः in. I ed. ^५ संधाय (D). ^६ अपं (D). ^७ शाखाप्रै जलालिप्तो विमृश्यते (D). ^८ कखौ कडरटाः (D). ^९ पट्टहा-वलक्षणम् (D).

(सु०) ^१पट्टवाद्यं लक्षयति—श्रीपर्णीति । श्रीपर्णीवृक्षात् जातः, आयतः, चतुरश्रः, द्वात्रिंशदङ्गुलो दीर्घः । मतान्तरेण त्रिंशदङ्गुलदीर्घः । विस्तारः हस्तप्रमाणो भवेत् । ऊर्ध्वमधश्च स्थितयोः द्वयोः लोहकृतयोः शरिकयोः श्रिवृद्धज्जुतुल्ययोः निक्षिप्ताभिः लोहमयक्षुद्रवलयवालिभिः संयुक्तः पट्टः कर्तव्य इति संबन्धः । वक्षसोऽग्रे जानुमध्यं वा धारयित्वा वाद्यते वादयेत् । अयं च पट्टः, रालालिप्तः, रालो वृक्षविशेषः, तस्य निर्यासेन लिप्तः, कराङ्गुल्यग्रः विषृष्यते । अस्य कखयडरटाः पाटहाश्च पाटाः । अत्र सप्त देवमुनयो देवताः ॥ १२०३-१२०६- ॥

इति पट्टवाद्यम्

सन्त्यन्यान्यपि वाद्यानि लोके भूयांसि यानि च ॥१२०७॥
तेषु विस्तारसंज्ञासादुदास्ते सोढलात्मजः ।

इति घनवाद्यलक्षणम्

(क०) अन्यान्यपि वाद्यानि लोकानुसारतो द्रष्टव्या-
नीत्याह—सन्तीत्यादि ॥ -१२०७- ॥

इति घनवाद्यलक्षणम्

(सु०) अन्येषु लोके प्रसिद्धेषु वाद्यभेदेषु विस्तराभ्यां शाङ्गदेव
उदासीनो भवति ॥ -१२०७- ॥

इति घनवाद्यलक्षणम्

रक्तं विरक्तं मधुरं समं शुद्धं कलं घनम् ॥ १२०८ ॥

^१ पट्टवाद्यं (B). ^२ शरिकयोः (B). ^३ त्रिवृत्तरज्जु (B). ^४ वृक्ष-
शेषनिर्यासः तेन नियसिन (B).

स्फुटप्रहारः ^१सुभरं ^२विषुष्टं च गुणैरिति ।

दशभिः संयुतं वाद्यमुक्तं सोढलसूनुना ॥ १२०९ ॥

अन्वर्थान्यत्र नामानि समं त्वष्टविधं मतम् ।

अक्षराद्यङ्गपूर्वं च तालादि यतिपूर्वकम् ॥ १२१० ॥

लयादि न्यासापन्यासपूर्वं पाणिसमं तथा ।

स्यादक्षरसमं गीतगुरुलघ्वक्षरानुगम् ॥ १२११ ॥

^३गीतस्य ग्रहमोक्षादीन्यङ्गान्यत्रेति यत्पुनः ।

स्यात् तदङ्गसमं तालानुगं तालसमं मतम् ॥ १२१२ ॥

यतेर्लघ्यस्य न्यासस्यापन्यासस्य च साम्यतः ।

यत्यादिपूर्वकं ज्ञेयं क्रमात् समचतुष्टयम् ॥ १२१३ ॥

गीतग्रहः पाणिसंज्ञैः समं पाणिसमं मतम् ।

वाद्यस्यैते गुणाः प्रोक्ता दोषः स्यात् तद्विपर्ययः ॥१२१४॥

इति वाद्यगुणदोषाः

(क०) अथ वाद्यगुणानाह—रक्तमित्यादि । तत्र सम-
स्याष्टौ भेदान् दर्शयति—अक्षरादीत्यादि । गीतग्रहैः; समातीता-
नागतैः । पाणिसंज्ञैरिति । क्रमात्; समपाण्यवपाण्युपरिपाणि-
संज्ञकैः ॥ -१२०८-१२१४ ॥

इति वाद्यगुणदोषाः

(सु०) वाद्यगुणदोषानाह—रक्तमिति । रक्तादिभिः विषुष्टान्तैः
दशभिर्गुणैः युक्तं वाद्यं भवति । तेषां नाम्नेव लक्षणं ज्ञायते । रक्तम्

^१ सुभरं I ed. ख. सुभटं fn. I ed. सुचरं (D). ^२ विषुष्टं (D).
^३ गीतादेर्यहं (D).

रञ्जकम् । विरक्तम् विभिन्नम् । ^१मधुरम् ^२माधुर्यम् । समम् वक्ष्यमाण-
मष्टविधम् । शुद्धम्, ^३असंसृष्टम् । कलम्, सूक्ष्मम् । घनं, ^४ससारम् ।
स्फुटप्रहारः व्यक्तध्वनिः । सुभरम्, सुरागम् । विघुष्टम् गम्भीरमिति ।
समं त्वष्टप्रकारं अक्षरसमादिभेदेन । तेषां लक्षणमाह—स्यादिति ।
^५शीतगतगुरुलघ्वक्षराणामनुगमन्वितम्, अनुगतम्, अक्षरसमम् । गीतस्य
अङ्गानि ग्रहमोक्षादीनि यदनुगच्छति, तदङ्गसमम् । गीतस्य ग्रहैः सम-
पाण्यादिभिः समं, पाणिसमम् । तालानुगं, तालसमम् । यतेरनुगं,
यतिसमम् । लयानुगं, लयसमम् । न्यासानुगं, न्याससमम् । अपन्यासानुगम्,
अपन्याससमम् । एतैर्गुणैः विपर्ययेण दोषः स्यात् ॥ -१२०८-१२१४ ॥

इति वाद्यगुणदोषाः

हस्तकोणप्रहारज्ञो गीतवादनकोविदः ।

यतिताललयाभिज्ञः पाटज्ञः पञ्चसञ्चवित् ॥ १२१५ ॥

दशहस्तगुणोपेतः पात्राभिप्रेतवादकः ।

आतोद्यध्वनितत्त्वज्ञः समादिग्रहवेदिता ॥ १२१६ ॥

गीतवादननृत्यस्थच्छिद्रञ्छादनपण्डितः ।

ग्रहमोक्षप्रदेशज्ञो गीतनृत्यप्रमाणवित् ॥ १२१७ ॥

वाद्ये समस्तभेदज्ञो रूपरेखान्वितस्तथा ।

उद्धट्टनपटुः सर्ववाद्यभेदविवेचकः ॥ १२१८ ॥

नादबृद्धिक्षयापत्तिकोविदो वादको वरः ।

गुणैः कतिपर्यैर्हीनः सर्वैर्वा वादकोऽधमः ॥ १२१९ ॥

इति वादकगुणदोषाः

(क०) अथ वादकगुणदोषानाह—हस्तकोणप्रहार
इत्यादि । उद्धट्टनपटुरिति । उद्धट्टनं नाम पाटाक्षरोच्चारणम् ।
उद्धट्टनेति भाण्डिका व्यवहरन्ति । उक्तगुणयुक्तो वादको वरः ।
कतिपर्यैः गुणैः हीनो मध्यः । सर्वैः गुणैः हीनोऽधमः स्मृतः
॥ १२१५-१२१९ ॥

इति वादकगुणदोषाः

(मु०) वादकगुणदोषानाह—हस्तेति ^१पञ्चसञ्चवित् गीतवाद्य-
^२नृत्यग्रहमोक्षरन्ध्राणि पञ्च वेत्तीति पञ्चसञ्चवित्, तथाविधः । ^३नादस्य
वृद्धिक्षयप्रापणज्ञः । एतैः गुणैः युक्तो वादको वर उत्तमः उत्कृष्टः ।
कतिपर्यैः अल्पैः गुणैः युक्तो हीनो मध्यमः । सर्वैः गुणैः हीनोऽधम इति
॥ १२१५-१२१९ ॥

इति वादकगुणदोषाः

^४वाञ्छानुगो दृढो व्यक्तो स्तिग्धो दृढनखो लघू ।

विधायार्द्धगुलिसंचारो स्वेदहीनो जितश्रमो ।

युक्तप्रहारो च करो प्रोक्तो दशगुणाविति ॥ १२२० ॥

इति हस्तगुणाः

इति श्रीमदनवद्यविद्याविनोदश्रीकरणाधिपतिश्रीसोढलदेवनन्दननिःशङ्क-
शार्ङ्गदेवविरचिते संगीतरत्नाकरे वाद्याध्यायः षष्ठः समाप्तः

(क०) वादकस्य करयोगुणानाह—^५वाञ्छानुगा-
वित्यादि ॥ १२२० ॥

इति हस्तगुणाः

^१ विभक्तं, विविक्तं (A). विभक्तं, विभिन्नं (B). ^२ माधुर्यं (A), (B).

^३ स्पष्टं (B). ^४ सुरभं, (A). सुवर्णं (B). ^५ गीतगतत्वेन गुरु (B).

^१ पञ्चरत्नवित् (A), (B).

^२ नृत्य (B).

^३ नादस्य (A), (B).

^४ च. वाद्यानुगो (n. I ed.).

^५ वाद्यानुगा (C).

अनवद्यगुणः कल्लिनाथो वाद्यविभागवित् ।
वाद्याध्यायस्य विवृतिमकरोन्नजिविद्यया ॥

इति श्रीमदभिनवभरताचार्यरायव्यकारतोडरमल्लश्रीलक्ष्मणाचार्य-
नन्दनचतुरकल्लिनाथविरचिते संगीतरत्नाकर-
कलानिधौ षष्ठो वाद्याध्यायः

(सु०) हस्तगुणानाह—वाञ्छानुगाविति । वाञ्छानुगो चेतो-
वाञ्छितवादकौ, विधेयः अधीनः अङ्गुलिसंचारो ययोः तयोः ॥११२२०॥

इति हस्तगुणाः

— ० —

इति श्रीमदन्ध्रमण्डलाधीश्वरप्रतिगण्डभैरवश्रीमदनपोतनरेन्द्रनन्दनभुजबल-
भीमभूपालतिलकश्रीसिंहभूपालविरचितायां संगीतरत्नाकर-
टीकायां संगीतमुधाकराख्यायां षष्ठो वाद्याध्यायः

१. श्लोकानामधार्तानुक्रमः

| अ | पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-------------------------------------|-----------|------------------------------|
| अंशसंवाद्यन्यतरं ^१ | ३४५ | अङ्गुलं षड्यवं चात्र ४६६ |
| अंशे तदनुवादी वा | ४१ | अङ्गुलं सप्तवद्वन्द्वं ३६६ |
| अकृतार्थेन पूर्वेषु | २१६ | अङ्गुलत्रयविस्तारं ४०० |
| अकृतार्थो तत्तस्ताभ्यां | २८८ | अङ्गुलत्रयविस्तारा ६१२ |
| अक्षराद्यङ्गुलं च | ६४५ | अङ्गुलत्रयविस्तारं ५१८ |
| अखण्डतालाः पाटाग्रचेत् | ५५७ | अङ्गुलत्रयितयं मानं ४५ |
| अखण्डितष्टाकणी संक ^२ | ६०४ | अङ्गुलद्वन्द्वपरिधिः ३८६ |
| अग्रं द्विवाङ्गुलं तस्य | ५१६ | अङ्गुलद्वयविस्तारम् " |
| अग्निधूमहतं जीर्णं | ६३४ | अङ्गुलद्वितयं मानं ४५४, ४५५ |
| अग्रादधस्तात् पाटोने | ३८६ | अङ्गुलस्य त्रिभिः पादैः ४६२ |
| अङ्गुः कार्योऽयं तैरङ्गुः | २४४ | अङ्गुलाधिकपाण्डवं च ३२४ |
| अङ्गुलं दलमपात्रं स्युः | २७२ | अङ्गुलानां दण्डमानं ४८६, ४७१ |
| अङ्गुलं गृहणीत तेऽयस्य ^३ | " | अङ्गुलानां यवार्धानां ४५८ |
| अङ्गुलाभावे तु गृह्यन्ते | २८६ | अङ्गुलानामन्तराणि ४५६ |
| अङ्गुलाभावे द्रुता याव्याः | २१६ | अङ्गुलानि त्रयस्त्रिंशत् ४६३ |
| अङ्गुलत्वा स्वरदेशानां | ३१६ | अङ्गुलार्धं पृथक्मानं ४५६ |
| अङ्गुले च स्वरस्थानं | ३७१ | अङ्गुलीभिश्चतसृभिः ३३५ |
| अङ्गुपाटञ्च पैसारः | ५६२ | अङ्गुलीभेदमात्रेण ३५६ |
| अङ्गुमङ्गीकृतं सान्द्रैः | ५६० | अङ्गुलीसारणभ्यासः ४७६ |
| अङ्गुलं तेन पूर्वोक्तं ^४ | ४६१ | अङ्गुलैः पञ्चदशभिः ४७० |
| अङ्गुलं निबन्धनासी | ४५६ | अङ्गुलैः सप्तदशभिः ४४५, ४६१ |
| अङ्गुलं निस्तुयैः गृह्यभिः | ४५६ | अङ्गुलैरेकविंशत्या ४७१ |
| अङ्गुलं यवपादेन | ४६१ | अङ्गुलैर्दण्डमानं स्यात् ४७० |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------------------------|--------------------------------|
| अङ्गुलैर्घां द्वादशभिः | ४४३ अन्वयैरधिकानुवृत्तौ |
| अङ्गुलैः ना मध्यमा सा | ६२२ अत्रापि सन्तस्तोभानां |
| अङ्गुल्यधैः पीडयित्वा | ५४० अत्रैतावतिथौ भेदः |
| अङ्गुल्याः कम्पने त्वज | ३४७ अतोत्तराधरो जेयो |
| अङ्गुल्यान्येऽन्यथाप्याहुः | ३३२ अतोपरिष्ठादात्म्य |
| अङ्गुष्ठघातैर्वाभिन | ५४० अथ द्वाविंशतिः प्राच्याः |
| अङ्गुष्ठतर्जनीघातः | ५४१ अथ द्वितीयमागल्यः |
| अङ्गुष्ठतर्जनीघातात् | ” अथ प्रतिमुखं कार्यं |
| अङ्गुष्ठपर्वदैर्घ्यं स्यात् | ३२३ अथवा चतुरधारी |
| अङ्गुष्ठमध्यमन्येऽत्र | ५३६ अथवा मध्यमं कृत्वा |
| अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ | ६१६ अथान्तस्त्रिगुणायां प्राक् |
| अङ्गुष्ठमाङ्गुलिसंघातौ | ५३६ अथोऽन्तरेऽस्ति पूर्व |
| अङ्गुष्ठानामिकाभ्यस्त | ५४५ अथोक्त्वा पञ्चमे तं च |
| अङ्गुष्ठान्यां कनीयस्या | ३५६ अथोच्चार्य रिमौ पं तु |
| अङ्गुष्ठान्यां च तर्जन्या | ३७६ अथोत्तरैश्चतुर्भिः स्यात् |
| अङ्गुष्ठान्यामेककाने | ३५६ अथोपवर्तनं केचित् |
| अतस्तस्या मुद्रितयो | ४६८ अथ पङ्क्तौ तु षष्ठाङ्क |
| अतस्ते सर्वपादानां | ५२४ अथ पङ्क्तौ स्थितैरङ्कैः |
| अतिपातो लगाभ्यां द्विः | ३५५ अथ समवदन्यत् स्यात् |
| अतिमन्द्रध्वनित्वाच्च | ४६१ अप्रस्थस्य वंशस्य |
| अतिमन्द्रध्वनित्वेन | ४३५ अधरात्तो द्विरधर |
| अतीतेन ग्रहेण स्याद् | ३६६ अधरात्स्वीनु क्रमादुक्त्वा |
| अत्यन्ताव्यवहार्यत्वात् | ६३१ अधस्तनं प्रकम्प्याथ |
| अत्यल्पसारभूजता | ६३१ अधस्तनः स्याद् गान्धारः |
| अत्र कीर्तिधरस्त्वन्यां | ४४३ अधस्तनयोगिसंख्या |
| अत्र गान्धारमेवाहुः | ४२४ अधस्तन्यास्तृतीयादौ |
| अत्र न्याममपन्यासम् | ८१ अधस्तादङ्गुलीसंघे |
| अत्र मेघान्ततन्त्री स्यात् | ३८६ अधस्तुम्बमधोवक्त्रम् |

| |
|-----|
| ६१२ |
| १६६ |
| २१५ |
| ३५० |
| २७१ |
| ३६८ |
| ४६० |
| ३७५ |
| ५५६ |
| ५०४ |
| ५५५ |
| ४६५ |
| ५०२ |
| ५०४ |
| १९० |
| १२० |
| २६१ |
| ३११ |
| २६८ |
| ४४२ |
| ३७७ |
| ४६३ |
| ४०५ |
| ३०५ |
| २४४ |
| ३६१ |
| ३२६ |

| |
|----------------------------|
| अद्यस्तृतीयार्थौ च |
| अधिकं यवपादेन |
| अधिकान् भक्षणमात्राणां |
| अधुना मुख्यबोधार्थं |
| अथो गच्छेत् प्लुते पूर्णे |
| अथो भागेऽक्षिरदृष्टं |
| अध्यष्टाविंशतिशतं |
| अध्यन्यानां प्रवासेषु |
| अतस्तरस्परैरेका |
| अनया मानयान् स्यात् |
| अनयोर्वंशयोः शेषं |
| अनयोर्वस्तुवन्त्यासः |
| अनागतः प्राक्प्रदत्त |
| अनागतसामातीतान |
| अनामया वह्निस्तन्त्री |
| अनिददं स्वबुद्ध्यार्थं |
| अनुष्टाय मुग्धानां |
| अनुच्छलस्तथा युक्तः |
| अन्यन्धश्चेति चतु |
| अनुव्यापिषो धातुः |
| अनुश्रवणिकां प्राह |
| अनुश्रवणिका हस्तः |
| अन्तःक्षिप्त्वा समाकृष्टैः |
| अन्तरं वादयित्वा चेद् |
| अन्तरं स्वररुपाणां |
| अन्तरात् सप्तमं स्यात् |
| अन्तरेषु पृथक्मानं |
| अन्तरेष्वङ्गुलद्वन्द्वं |

| |
|-----------------------------------|
| ४१६ अन्तरेष्वष्टमांशोनम् |
| ४५४ अन्तरेष्वष्टमांशोन |
| ५६६ अन्तरोऽन्तरपाटश्च |
| ४८१ अन्तर्वैहिम्बुको घातो |
| ३११ अन्तर्मध्यमा घातं |
| ३२५ अन्तस्तु मासमानं स्यात् |
| १६५ अन्तस्थरुद्रसंलनं |
| ४७५ अन्तान्तमन्ताहरण |
| ८१ अन्ताहरणमित्येतानि |
| ६ अन्तिमं वायुरन्ध्रं स्यात् |
| ४६२ अन्ते मेघं गीतकानां |
| ४१ अन्ते गुरुश्च कुमुदः |
| ३२ अन्ते चाङ्गुलमानेन |
| ३६० अन्ते वा सप्तमो मात्र |
| ३३४ अन्तो गीतिपदावृत्ति |
| ५५६ अन्त्यषष्ठ्यात् सोपशमात् |
| ५११ अन्त्यद्वयं वादयित्वा |
| ५३४ अन्त्यपूर्वद्वितीयाङ्क |
| ३४७ अन्त्यस्य त्वन्तिमा मात्रा |
| ३५२ अन्त्याङ्के तत्र नष्टाङ्क |
| ५५७ अन्त्याङ्कचतुष्कस्य |
| ५५० अन्त्ये तानिर्विप्तं पात |
| १९६ अन्त्ये द्वे न त्रयोक्तव्ये |
| ५८८ अन्त्ये पदावृत्तिमुक्तः |
| ४५१ अन्यत् ककुभमध्वार्धः |
| ३६५ अन्यत् झल्लरीलक्षम् |
| ४४६, ४५०, ४६३ अन्यत् पूर्ववदृष्टे |
| ४५० अन्यत् पूर्ववल्लक्षम् |

| |
|-----|
| ४५६ |
| ४६४ |
| ५६२ |
| ३३२ |
| ” |
| १०५ |
| ३२७ |
| ६० |
| १०८ |
| ४५७ |
| १३० |
| १६० |
| ४२५ |
| १०२ |
| ११५ |
| ५७१ |
| ५५८ |
| २७१ |
| १०२ |
| २१६ |
| २४४ |
| ४८ |
| ८ |
| ५४ |
| ३६५ |
| ६२७ |
| ४४८ |
| ४५८ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|----------------------------------|
| अन्यसु लघुकिनयां | ४०१ अपरामपरां धृत्वा |
| अन्यत्रोपरिवाद्यान्तं | ३३० अपाटोऽन्यस्तसंज्ञस्तु |
| अन्यथा वर्णयन्तीह | ३४७ अपि पञ्चयवं मानं |
| अन्यद्भेदत्रयं चात् | १४ अमङ्गो रायवङ्गोलः |
| अन्यद्भेदत्रयं चात् | १७ अभङ्गो लघुतो रायं |
| अन्यलक्षम् हुडुकावत् | ६२२ अभिनन्दोऽनङ्गनाम्नी |
| अन्यल्लघ्वीगतं लक्षम् | ३६१ अभिनन्दो लघुद्वन्द्वं |
| अन्यान्यपि पथानेन | ५६४ अभिषेके नरेन्द्राणां |
| अन्या विलम्बमध्याम्याम् | ३० अम्यस्तं कोमले नृत्ते |
| अन्येऽन्ताहरणेनान्तात् | १६० अम्यस्तः स्याद् दूते माने |
| अन्येऽपि वादविधयः | ६०७ अभ्यस्तो वाद्यवृण्डोऽन्यः |
| अन्येऽपि सन्ति भूयांसः | १६६ अयं च करशाखाग्रैः |
| अन्येऽन्या वादनं प्राहुः | ६२२ अयमेककलश्चक्षत् |
| अन्ये कलतलोन्मिथं | ३८१ अयन्यतराङ्गं स्यात् |
| अन्ये तु पञ्चमं कृत्वा | ५०२ अर्थं प्रोच्य विरम्याय |
| अन्ये तु प्रतिशास्त्रान्ते | ५४ अर्थपाणिभवेदेकं |
| अन्ये तु माषघातादि | ३८३ अर्थमाहं तथा व्यभि |
| अन्ये त्वेककले ताले | ५६० अर्थमात्रं दूतो माता |
| अन्ये द्वाविंशतं प्राहुः | ३६७ अर्थमुक्ताधर्ममुक्तेः स्याद् |
| अन्ये द्विवत्सरास्याहः | ६३३ अर्थं वार्धद्वयं वल्गां |
| अन्ये पञ्चैव संकीर्णान् | २५ अर्थसञ्चस्त्रिसञ्चश्च |
| अन्ये पाण्यन्तरं प्राहुः | ५३६ अर्धाङ्गमिव नर्वक्या |
| अन्यैः कखरटा वर्णाः | ६२१ अर्धाङ्गालमिति पिण्डे |
| अन्वर्थान्यत्र नामानि | ६४५ अर्धाङ्गुलानि प्रत्येकम् |
| अन्वितां पङ्क्तिं मिश्रं | ३२५ अर्धाङ्गुलान्तराणि स्यू |
| अपनीय कलां कक्षां | ३४० अर्धाङ्गुलप्रघातोत्थं |
| अपरान्तकमुल्लोच्यं | ३३ अर्धार्धपाणिस्त्रयोऽन्यां |
| अपरान्तकवत् तस्मात् | ११० अर्धेन्दुनागफणवद् |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|------------------------|-----------------------------------|
| अलंकारत्वमप्यस्य | ३४६ अष्टमांशाधिकैः पञ्च |
| अलम्नः कुण्डलीस्पर्शः | ५५४ अष्टमांशो नितं मानं |
| अलम्नाख्यस्ततो रेफः | ५२७ अष्टादश कलाः केचित् |
| अलम्नोऽभूदधोरात् | ५२४ अष्टादशाङ्गुलः किञ्चित् |
| अलम्नोत्सारविश्रामा | ॥ अष्टादशाङ्गुलमिता |
| अल्पं कोमलनादं च | ५७८ अष्टादशाङ्गुला वैश्यं |
| अलः संसटवद्भाति | ५७७ अष्टादशाङ्गुले वण्डः |
| अल्पनादो भवेच्छक्तिः | ६३५ अष्टादशाङ्गुले वंशे |
| अल्पानसंभवे तालं | २०० अष्टाविंशत्यङ्गुला च |
| अल्पान्तरस्वमुक्तं यत् | ३३० अष्टाशीतिरिमे हस्तं |
| अवगाढं प्रवृत्तं च | ८० अष्टौ द्वादश मध्ये लाः |
| अवत्सकश्छण्डणश्च | ५६२ अष्टौ विषमपाटा स्युः |
| अवधानं श्रमजयः | ६१० असंभवे पूर्वपूर्वं |
| अवनद्धमिवं तेन | ६३५ असमानविदारीकः |
| अवरुणं तृतीयादि | ५०० असावाधारिर्गान्तं |
| अवरंकादश परा | ४१ असौ डमरुको मध्ये |
| अवरोहिक्मादेत्य | ४२० असौ वामाङ्घ्रिसञ्चन |
| अवलेखो मध्यमया | ३३२ अस्मिन्नेककले वस्तु |
| अवष्टभ्य पुटं वामं | ४०५ अस्य नामान्तरं प्राहुः |
| अवान्तरविदारीणां | ४१ अस्य रागस्य गान्धारः |
| अविस्पष्टान्तरत्वेन | ४३५ अस्यां किनरवीणायां |
| अवोचदिति निःशङ्कः | ३४१ अस्यां च सुरयः प्राहुः |
| अश्वमेधफलं चैव | ४६६ अस्यां स्थायितमारम्य |
| अश्ववालधिकेशोऽर्थ | ४२६ अस्याः करेण कोणेन |
| अष्टचत्वारिंशता स्यात् | ४५० अस्याः खण्डद्वयं वाद्यं |
| अष्टमस्वरसंभूतिः | ४३७ अस्या दक्षिणजानुस्यं |
| अष्टमांशविहीनेन | ४६२, ४७१ अस्यापि स्थायितं प्राहुः |
| अष्टमांशाधिकं मानम् | ४६२, ४७१ अस्यामपि स्वरो लघ्ये |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--------------------------|-------------------------------|
| अस्यामुद्रवर्णं कार्यं | ५७१ आद्यं वस्तुद्वयं मन्द्रं |
| अस्यास्तु मन्द्रगान्धारः | ४१६ आद्यं सालगनट्टायाः |
| अस्यास्तु मध्यमो न्यासः | ४१६ आद्यं स्वस्थानमातिष्ठेत् |
| अस्यास्तुतीये स्वस्थाने | ४८७ आद्यखण्डं द्वितीयं च |
| आ | आद्यखण्डं यदाद्यो द्वौ |
| | आद्यमार्गोद्विगणं |
| | आद्यवर्णः पातकला |
| आ ककुभशिरोमध्यात् | ४०० आद्यस्वस्थानविधिना |
| आकारवर्जं शाखायां | १२७ आद्या तथा द्वितीया स्याद् |
| आवारः प्रथमावृत्तिः | १२१ आद्या द्विकलयुग्मेन |
| आकुञ्चन् मध्यमं पार्श्वं | ३३० आद्यान्तरं तत्र यवं |
| आक्रम्य तलमध्यस्थं | ६३६ आद्याया द्विकलञ्चवत् |
| आक्रम्य वामहस्तस्थं | ४२६ आद्या रोविन्दकगता |
| आक्रम्य वामेतस्या | ४२८ आद्यासु चतसृष्व्यासां |
| आग्रहं प्राक्तुतीयाद् वा | ४२१ आद्यास्तासु निरेवान्यत् |
| आतोद्यध्वनितत्वज्ञः | ६४६ आद्यास्तिस्रस्यजेत् |
| आदतैव्यं किनरीणां | ४०१ आद्ये कलाचतुष्कोज्ये |
| आदावधिक आवापे | १८ आद्ये वस्तुनि कर्तव्यं |
| आदिकामोदिकायाः स्याद् | ४६७ आधोरिकां पत्रिका चेत् |
| आदितालो द्वितीयश्च | १७१ आनन्दघनमध्येमि |
| आदित्ये दण्डमानं स्यात् | ४४६ आनिविप्रा आनिविप्रा |
| आदिमध्यान्तखण्डानां | ५५७ आनिविप्राः पादभागं |
| आदिमध्यावसानेषु | ३०, ५५१ आन्तरं जाठरं वादृष्णं |
| आदौ बैकारखण्डं चेत् | ५६५ आन्दोल्य मं प्रकम्प्याथ |
| आदौ मन्द्रस्ततस्तारः | ३५० आभोग्येति पञ्चानां |
| आदौ रूपमयैकैकम् | २४० आमध्यमस्वरस्थानं |
| आदौ वाद्यप्रबन्धस्य | ५६३ आमद्रुमसमुद्भूतः |
| आदौ वाद्यप्रबन्धानां | ५७६ आयसं वलयं कार्यं |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-------------------------|-----------------------------|
| आयसः कास्यजो रोप्यः | ४३० आसारितं चतुर्था स्यात् |
| आरभ्यानुष्टुभं वृत्तैः | १६३ आसारितं तदेवोक्तं |
| आरभ्याष्टाङ्गुलादेवम् | ४३६ आसारितवयं पूर्वं |
| आरुह्य चतुरस्तस्मात् | ४१७ आसारितवदतापि |
| आरुह्य वीस्तुतीयादीन् | ४१६ आसारितादौ शय्यादिः |
| आरुह्य पनिमन् पञ्च | ४०२ आसारितानामुत्पत्तिः |
| आरुह्य षट् स्वरानेषां | ४१६ आसारितान्याहुस्त्वै |
| आरोह्यिष्वरोही स्यात् | ४८७ आसारितस्य उत्पन्नं |
| आरोही पञ्चमान्तः स्यात् | ४८८ आसीदीशानवक्त्रात् |
| आरोहबहुला यस्यां | ३७६ आहात्य च द्वितीयस्य |
| आरोहेणावरोहेण | ३८८ आहत्य द्विचतुर्वास्मात् |
| आर्द्रचर्मकृतां शुष्कां | ४२८ आहत्य मं द्विगुणसं |
| आलपितवच्च लिस्थानं | ६०० आहुरेके मानहीनम् |
| आलापिनी किनरी च | ३१६ आहुरेके मानहीनम् |
| आलापिनीगतं लक्षम् | ३८६ |
| आलापिनीवदस्यां च | ३६१ |
| आवापनिविता आतां | ७७ इतः परस्याः प्रत्येकं |
| आवापस्ततः हस्तस्य | ५ इतः परेषु वंशेषु |
| आवापादिः प्रयोक्तव्यः | २१ इति नष्टस्य विज्ञेयं |
| आविद्धघातो र्निभता | ३५६ इति वंशे गतिः प्रोक्ता |
| आवृत्तिः पादभागदेः | २७ इति वादप्रकाराणां |
| आवृत्तिद्वयमात्राद्याद | १४७ इति षोडश वर्णाः स्युः |
| आवृत्त्या द्वित्रिरथवा | १२१ इति सर्वं चतुस्त्रिंशत् |
| आवेष्ट्य तर्जनीं वामात् | ६३६ इत्यादिविगुणा मध्ये |
| आश्वावर्णं शुष्कवाद्यम् | ३६४ इत्यादिषु पञ्च मेदाः |
| आश्वावर्णयां गेया सा | ३६६ इत्याह भरतस्ततः |
| आश्वावर्णरम्भाविधिः | ३६४ इत्येकविंशतिर्हस्तं |
| आष्टादशाङ्गुलाध्वेनात् | ४३३ इत्येते धातवः प्रोक्ताः |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|---------------------------|----------------------------------|-----------|
| इत्युक्तं कैश्चिदाचार्यैः | ३८८ उक्ताः श्रीकरणाग्रण्या | ५६२ |
| इत्युद्गाहध्रुवो कृत्वा | ५७४ उक्ता यवाष्टमांशोन | ४६३ |
| इदमावापिनी लक्ष्म | ३८८ उक्तानुबन्धवद् बोध्यम् | ३५७ |
| इदमाहुः कला तेषां | ५३ उक्तान्यन्यास्यपि प्राज्ञः | ४२६ |
| इदानीं तावृषी वंश | ४६६ उक्तास्त्वन्यैर्मि वर्णाः | ६२० |
| इन्दिरा पलिका श्रद्धा | ३२६ उक्तेन वन्धनोद्दृष्ट्या | ६२५ |
| इमं कवितकाराख्यं | ५६६ उक्तो प्रकृतिदाक्षणां | ६३१ |
| इमामाहवनीं ग्रहः | ५६५ उक्त्वा यद्गार्धपुर्वं तु | ४६८ |
| इयमेवोचिरे तालं | १६६ उक्त्वा तुयं विलम्बयाथ | ५०३ |
| इष्टतालद्रुतमितेपु | २४१ उक्त्वा तृतीयतुर्या च | ४६२ |
| इष्टतालद्रुतमितेः | २६५ उक्त्वा द्वितीयतृतीयो | ४१४, ५०६ |
| इष्टस्थानानवातिश्च | ४८० उच्यते धावनो दण्डः | ५४४ |
| इत्येतेऽप्यान्तरत्वेन | ४५० उच्छ्रायेऽष्टाङ्गुला वक्त्रे | ३३६ |
| इह भेरवत् कार्यं | ४८० उच्छ्रवासनं करतलं | ५४५ |
| इह श्रमवह्न्याख्यं | ६०४ उच्छ्रवासाद् वामपाणिश्च | ५४५ |
| इह स्युः पटहोक्ताश्च | ५६६ उडवः सलयात् तस्मात् | ५६१ |
| | उडवस्तलपाटश्च | ५६२ |
| ई | उत्कक्षं चाञ्चनीद्वन्द्वं | ६२३ |
| | उत्कक्षं मणिबन्धोर्ध्वं | ॥ |
| ईदृक्तालयुगं कृत्वा | ६३६ उत्क्षिप्तया सारण्या | ३२५ |
| ईदृग्गुणं कतिधा | २२५ अलिखता संनिविष्टाश्वा | ३३० |
| ईषदस्पष्टसारिका | ३६५ उत्तमः प्रोक्तमानः स्यात् | ५२० |
| ईषद्विरम्य स्पृष्ट्वा च | ४६५ उत्तरः पञ्चपाणिश्च | १३ |
| ईषद्विलम्ब्य चारुहा | ४२१ उत्तराद्यधरान्ताश्चेत् | ३४७ |
| उ | उत्तरा द्विकला ज्ञेयः | १३४ |
| | उत्तरा द्विद्विधरे | ३५१ |
| | उत्तराधरयातो हि | ३५० |
| उक्तगुणधुर्वा कङ्कालः | १८६ उत्तरे सं ततस्तलः | १७ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|------------------------------|-----------|
| उत्तरेणाकृतायै | २१६ उद्धतो ध्वनिरल स्यात् | ५६५ |
| उत्तरेणापरेत्याहुः | ३७५ उद्धृताङ्गुलिबद्धो तु | ४६८ |
| उत्तरो मुद्रितो वंशः | ४६८ उद्धृतो भवति ध्वानः | ६२६ |
| उत्तुञ्जीकरणं वाचं | ५४१ उद्धृष्टपरिवर्तौभ्यां | ३३५ |
| उत्सन्नोऽलगापटः स्यात् | ५४७ उपधरं स्थापनं पञ्चात् | ६०० |
| उत्पाते संध्रमे युद्धे | ३२२ उपक्रम्य चतुर्थां स्यात् | ८१ |
| उल्लेखामावजा लक्ष्म | ५६२ उपपातं विनात्यति | १०८ |
| उत्फुल्लः खलकस्तद्वत् | ५२६ उपपातस्ततोऽन्तेन | ११२ |
| उत्फुल्लो नक्षत्राघाताद् | ५३३ उपरिष्ठात् समारम्भ्य | २८० |
| उत्सृष्टसारणा यत्र | ३३५ उपरिस्थे वचनित् काष्ठे | ४२७ |
| उदरे पट्टिका प्रोक्ता | ६१२ उपालम्भोऽपि दोषाय | ४५२ |
| उदीयं तं द्रुतीकृत्य | ५०६ उपोहनं तु वस्तवर्थं | ७० |
| उद्ग्राहः स्यात् ततः खण्डं | ५८२ उपोहनं मष्टकस्य | १२० |
| उद्ग्राहः स्यादनुद्ग्राहः | १६६ उपोहनं स्यात् कलिकं | ६२ |
| उद्ग्राहध्रुवकाभोगं | ५८४ उपोहनानां गुरुणी | १३६ |
| उद्ग्राहध्रुवकाभोगे | ५८४ उपोहनानि बस्तुनि | १३६ |
| उद्ग्राहादिनिबद्धाः स्युः | ५६१ उपोहने कलापातान् | १०५ |
| उद्ग्राहोऽल्पो ध्रुवो नाति | ५७५ उभयोः संनिपातः स्यात् | ६ |
| उद्ग्राहोऽप्यगमादीनां | ५७६ उभयोः समभावेन | ३६० |
| उद्धट्टनपटः सर्वं | ६४६ उभापतिर्द्वयैः स्यात् | ४३३ |
| उद्धट्टादिः सुनन्द्यायां | १७७ उभापतेस्तु वंशस्य | ४४५ |
| उद्धट्टे तु सनिष्क्रामं | २१ उभापतो विपुल्ये | ४७० |
| उद्धट्टोऽपि व्यश्रभेदः | १३ उभापतो दण्डमानं | ४५८ |
| उद्दलीपिहिते वक्त्रे | ५४३ उल्लेखरेषां यत्रास्तां | ३३८ |
| उद्दल्यामेव श्लेकारः | ५२१ उल्लोप्यकवदज्ञानां | १६० |
| उद्दिष्टं तल संख्याङ्कं | २२५ उल्लोलः पाण्यन्तरश्च | ५२७ |
| उद्दिष्टे तु गुरोर्लभ्यः | २६२ उ | |
| उद्धतं ध्वनितं कृत् | ५८१ ऊनोऽधिको वा यो रुझः | ४७७ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|--------------------------------|
| ऊर्ध्वं लघुभ्यां रगणः | १६३ एककोष्ठोनिताः पञ्चाद् |
| ऊर्ध्वं संपिटकाद्वा स्यात् | ११० एकतन्त्रविदधरा |
| ऊर्ध्वपङ्क्तिगतता मेधाः | २८० एकतन्त्रां तु यत् प्रोक्तं |
| ऊर्ध्वपङ्क्तिस्थसर्वाङ्कु | २४५ एकतन्त्रादिगीतासु |
| ऊर्ध्वहस्तो दक्षिणेन | ५३४ एकताली च कुम्भः |
| ऊर्ध्वग्रे पटहादीं तु | ५४४ एकतालीं द्रुते माने |
| ऊर्ध्वघातं पताकेन | ५३४ एकताल्यामद्रुपणं |
| ऊर्ध्वघातद्वयं कृत्वा | ५३५ एकतानिनिविशा आज्ञा |
| ऊर्ध्वधः सारयेनाद | ३३० एकविशन्मिता मानं |
| ऊर्ध्वधरशिखाद्वन्द्वं | ४२६ एकदण्डमधो भागे |
| ऊर्ध्वधोगौ क्रमाद्वस्ती | ३३६ एकद्रुताया विषमं |
| ऊर्ध्वधो दीर्घभागम् | ३६३ एकद्वित्रिगुणां तन्त्री |
| | एकद्वित्रिचतुर्वारं |
| ऋ | एकद्वचङ्को क्रमान्यस्य |
| | एकमेव त्वधः शङ्कु |
| ऋचो गाथा च सामानि | ३४ एकरूपाक्षरस्ताव |
| ऋच्युद्धमिति सामोक्तं | १६६ एकवक्त्रो महान् वक्त्रे |
| ऋजुना लोहकोणेन | ६४३ एकवस्तुकम्पाद् |
| ऋपमं स्थायिनं कृत्वा | ४१४ एकविशतितन्त्रीस्थ |
| ऋपमः स्यात् प्रदिशिन्या | ४३६ एकविशत्यङ्गुलः स्याद् |
| ऋपमे स्थायिनि प्राञ्चं | ४६१ एकविशत्यङ्गुला च |
| ए | एकविशत्यङ्गुला स्यात् |
| | एकविशं गुरो कार्या |
| | एकविशं दण्डमानं |
| एकं चच्चत्पुटे खण्डम् | ३८१ एकविस्तारसंज्ञं तम् |
| एकं चच्चत्पुटे खण्डं | ५६० एकवीरवदयत् |
| एकः स्याद्वाचिको मुखः | ४८१ एकवीरादयोऽज्ञापि |
| एककं विविधो वा स्यात् | ८७ एकवीरादिसंज्ञाभिः |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-------------------------|-------------------------------------|
| एकवीरे दण्डमानं | ४६१, ४७० एतान् प्रायो हृङ्मुक्तायां |
| एकस्वरं यदा नानां | ३५६ एतान्युत्साहकारीणि |
| एकस्वराणि रुधाणि | ४६८ एते यथाक्षरास्तेषां |
| एकाक्षराः कला अष्टा | १६३ एतेषां पञ्च पद सप्त |
| एकाक्षराः सामगाने | १६६ एतेषु स्याद् ध्रुवः पातः |
| एकाङ्कयुक्तनिःशेषं | २६८ एते संघातेन भेदाः |
| एकाङ्कवन्त आराद्य | २५६ एतैः प्रकरणाभ्यानि |
| एकाङ्गादिषडङ्कान्तं | ८२ एतौ स्वयोनिवत् स्यातां |
| एकाङ्गुलाधिकं तत्त्व | ६२६ एतद्वाले ज्ञेयं तिति |
| एकाङ्गुलाधिकस्तस्मात् | ४६२ एतद्वै ध्वानगम्भीरं |
| एकादशाङ्गुलमुध्री | ६२८ एतद्वस्तसमायोगात् |
| एकादशाङ्गुलं तस्या | ६२० एतस्य पञ्चममेतस्मात् |
| एकैकं विविधं वात्र | ६२ एतस्य स्थायिनि चैन्त्यासः |
| एकैककोष्ठ एकाङ्क | २५१ एतस्यां तस्य षड्वर्जं च |
| एकैकमक्षरं शेषाः | १३६ एभिः स्वरेर्विरचितं |
| एकैकहस्तन्यस्ते ये | ६४१ एवं कतिपये रागाः |
| एकैकाङ्गुलवृद्धया स्युः | ४३३, ४५७ एवं चतुर्दशविधः |
| एकैको यः करद्वन्द्वी | ५५४ एवं चतुर्दशात् पञ्च |
| एकोनविशतिः प्रोक्तं | ४७१ एवं जलधरत्वात् |
| एकोनविशतिरिति | १६६ एवं तुम्बकमुत्तानं |
| एतत् कृतप्रतिकृतं | ३४४ एवं नष्टस्य शेषः स्यात् |
| एतत् क्रमेणाचरोहः | ४१४ एवं पञ्चदशैवैते |
| एतत् संहरणं प्रोक्तं | ८२ एवं प्रसिद्धलक्षमाणः |
| एतदाद्ये कालापटके | ६३ एवं वंशा नवैवेति |
| एतद्वस्तसमायोगात् | ३३७ एवं वस्तुवर्यं गीत्वा |
| एतयोस्तत्राले तु | ४०१ एवंविधस्य दण्डस्य |
| एतस्य वामं वदनं | ५६६ एवमन्वर्थनामत्वात् |
| एतां सालमनद्वीं तु | ५०२ एवमष्टविधामाह |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------------------------------|
| एवमष्टादश कलाः | ३७० कखचास्थडरटाः पाटाः |
| एवमावृत्तिकरणात् | ५५५ कच्छया स्कन्धदेशे तां |
| एवमाश्रावणामाह | ३७० कच्छां क्षिप्त्वा दक्षिणस्यां |
| एष संयोगमरुः स्यात् | २८० कच्छां स्कन्धे निवेश्यस्या |
| एषां पातकलायोगं | १५ कण्ठस्य गुणदोषा ये |
| एषु त्रिष्वपि पक्षेषु | ३६६ कण्ठिकावर्धमानं च |
| एषैककलयुग्मे स्यात् | ५६५ कण्ठिकानां वदन्तीत्यं |
| एषोऽपि जनकः प्रोक्ता | ३४२ कण्ठिकाभिश्चतसृभिः |
| एष्वक्षराणि नियतानि | १४३ कथिताः पाटवर्णा ये |
| ओ | कथिता न तु तेष्वस्ति |
| ओंकारश्च हकारोऽपि | १६३ कनिष्ठया दक्षिणया |
| ओयं चानुगतं तत्त्वं | ३६० कनिष्ठया मध्यमः स्यात् |
| ओजस्य पादभागेषु | २० कनिष्ठया प्रमितस्थौल्यम् |
| ओता सोक्ता छण्डणान्ता | ५६५ कनिष्ठाङ्गुलिबिस्तारा |
| ओतां कृत्वा द्विगुद्ग्राहः | ५८८ कनिष्ठाङ्गुलिसंयोगात् |
| ओवेणकं द्वादशाङ्गु | १०८ कनिष्ठाङ्गुल्यसंस्पर्शः |
| ओवेणके द्वादशाङ्गु | ११५ कनिष्ठा तर्जनीपाश्वर्यं |
| ओं | कनिष्ठादीनि भान्त्यत्र |
| ओदयां पट्टिकायां च | ६१६ कनिष्ठानामिकाङ्गुलैः |
| क | कनिष्ठामध्यपर्वोक्तं |
| कंदर्पतालस्तस्यैव | १७६ कनिष्ठाया मित्ता खानिः |
| ककुभं दक्षिणस्याङ्गदेः | ३२६ कनिष्ठासारणाभ्यां वा |
| | कनिष्ठासारितं प्रोक्तम् |
| | कनिष्ठासारितकला |
| | कनिष्ठासारिते युग्मः |
| | कनिष्ठासारितोत्तेन |

पुटसंख्या

६४३

६१४

५६५

६२०

४७७

१४२

१४७

१४२

६१५

४६१

३५७

४३६

५१२

३२४

४३०

३२८

३३२

३३६

१५६

६२३

४५६

३४४

१०२

१०५

१३२

३८१

पुटसंख्या

१८६

५४५

५०२

४८५

४६७

४७७

४७५

४४२

४२४

४६८

४७७

६४१

५१५

६४१

३३०

५४१

३४४

३४७

३४३

३४३

३३१

५४७

३३६

५१६

३३८

५६१

५३६

कन्तुको ली च सगणः

कम्पनं वामपादस्य

कम्पयित्वा ग्रहत्यासात्

कम्पयित्वा रिमो द्विनात्

कम्पयित्वा विलम्ब्यापि

कम्पितस्तुम्बकी काकी

कम्पितस्फुरितध्वानं

कम्पिता वलिता मुक्ता

कम्पिते न्यस्यते रागः

कम्पिते स्वायिनि न्यासात्

कम्पितोज्जी तुम्बध्वानं

कम्पेन मणिवन्धस्य

कम्बलाक्ष्येन बध्नीयात्

कम्पनामन्तरं कृत्वा

कम्पिका तत्क्रिया चोक्ता

करटयां तु टेमेव

करणं तस्य वक्ष्यामि

करणस्य तु भेदाः स्युः

करणस्यानुबन्धस्तु

करणैश्चित्रयत्यस्ताः

करणांशुपगुरुस्ततः

करतामान्यपीमानि

करसञ्चयेन शुद्धेन

करस्य किञ्चित् साङ्गुष्ठं

करेणुवदनाकारः

कर्तरी खसितौ यत्र

कर्तरीपदवत् संतुः

कर्तरीभ्यां समं घातः

कर्तरीसमकर्तरी

कर्तरीसमापाणिच

कर्तरी गलरन्ध्रे वा

कर्तव्यं संमितं सार्धैः

कर्तव्या गुण्डक्तेस्तु

कर्तव्यान्वेककान्यत्

कर्ता वाद्यप्रबन्धानां

कर्परं नारिकेलोत्थं

कलध्वनिर्लघुद्वन्द्वं

कलशाकलितद्वयन्तं

कलशेभ्यो बहिर्वामं

कलाचतुष्ककालात् स्यात्

कला द्वादश शेषास्तु

कला द्वाविंशतावेवं

कलानां पूरणं मन्त्रं

कलानिधिः षोडशः स्यात्

कलानिधौ सप्तार्धः स्यात्

कलाप्रयोगनिर्मुक्तं

कला भवन्ति शकले

कला मुनिजनेरुक्ता

कलास्वष्टासु विविधः

कल्पनेत्युच्यते कार्यं

कवलाक्ष्येन बध्नीयात्

कवलाभ्यां पिनक्षेते

कवले लोहमण्डलौ

कविः कवयति श्लोकं

कांस्यजस्ताम्रजो लोहः

कांस्यजा हस्तमात्रा स्यात्

पुटसंख्या

५२६

५५४

३६४

५१८

२६६

१६५

६०८

३८६

६१२

५१६

८२

३६८

१६३

४३४

४६४

११४

३७३

१६५

११४

६३६

५१८

६१६

६२७

५६६

६३०

६४०

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|------------------------------|---------------------------------|
| कांस्यजे घनवाद्ये स्यात् | ६३५ कुडुवा सा ह्रदुक्कोक्तं |
| कांस्यजो वर्तुलस्तालः | " कुडुवोद्भवपाटाभ्यां |
| कांस्यभाजनसंभारं | ६२८ कुण्डल्योः प्रान्तयोर्वामं |
| कांस्यमथ्योप्यवा लोहः | ३६४ कुण्डल्यो रतयते स्यात् |
| कांस्याद् गोशृङ्गतो दन्ति | ६४४ कुन्देनुहिमसंज्ञां |
| कास्यांचित् कूटवर्णभ्यां | ५६३ कुन्दो लाद् द्रुतो लो गः |
| कार्या तथा यथा नादः | ६३५ कुर्यात् ततो दिगिदिगि |
| कार्यावङ्गुलदैर्ध्वो च | ४२५ कुर्याद् चलत्रयं यद्वा |
| कार्यो गोमूत्रिकावन्धः | ५६५ कुर्याद् बैकल्पिके यद्वा |
| कालो लघ्वादिमितया | ४ कुर्यान्नादसमायोगात् |
| काहला तुण्डिकन्यौ च | ३२० कुर्वन्ति हृदयस्फूर्ति |
| किचिच्छास्त्रकृतां प्राचां | ४५२ कुर्वन्मृदुष्टपुष्टि च |
| किचिद् गीतानुहरणात् | ३६२ कुर्वन्त्येकव रुध्रेऽपि |
| किचिद्धीनो मुखरिणः | ६०६ कुर्वन्ति पाटहान् वर्णान् |
| किचिन्मून् त्वधस्तुभ्यं | ३६५ कुलकं छेद्यं चेति |
| किंतु त्रियोयं भेदे | २७७ कुविन्दके लघ्विन्दुं |
| किंतु प्रतिनिधिनां | २४१ कुहरेणाय तद्वाद्यं |
| किंतु बद्धा पदैरन्यैः | १२७ कूर्तमिश्रास्तु ते शुद्धाः |
| किंतु लब्धे लघौ शेषं | ३०५ कूर्तादिबद्धः खण्डः स्यात् |
| किंतु स्थायिनमारभ्य | ४०७ कूर्मपृष्ठोन्नतं मध्यं |
| किनरीलितयं तव | ३६३ कृतं यत् तृतीयं तत् |
| किनरी द्विविधा लघ्वी | ३८६ कृतं संयोजनं वा चेत् |
| किनरी वादकाः प्रायः | ४४४ कृताव्रेष्टो बंशपत्रैः |
| किनर्या वैः स्वरैः स्वस्व | ४२५ कृतौ यतोर्ध्वेयातो द्वौ |
| कियद् दीर्घं शुद्धकूटं | ५६५ कृत्वा खण्डं पाटबद्धं |
| किरिकिटुकमित्युक्तं | ६४३ कृत्वा मृगभाघं च |
| कुचसलसहितं मध्ये | १४५ कृत्वा ग्रहं द्वितीयं च |
| कुडुक्को द्वौ द्रुतो लो द्वौ | १८२ कृत्वा ग्रहात् परौ द्विस्तु |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------|---------------------------------|
| ६१६ | कृत्वाङ्गुष्ठं त्वन्यचके |
| ५५४ | कृत्वा ततोऽग्रतः किंचित् |
| ५६५ | कृत्वा तृतीयं स्वस्थानम् |
| ६२० | कृत्वा तृतीयतुर्यौ च |
| ६३४ | कृत्वा द्वितीयं स्वस्थानं |
| १६० | कृत्वा द्वितीयतुर्यौ च |
| ६०७ | कृत्वा न्यासे ग्रहे गोडः |
| ५५६ | कृत्वा श्रमस्य वहनी |
| ६०६ | कृत्वाष्टमं विलम्बाय |
| ६०० | कृत्वा स्थायिनिपादो च |
| ३२२ | कृत्वा स्थायिस्वरं न्यासः |
| ३४६ | कृत्वा स्पृष्ट्वा ग्रहं प्रोच्य |
| ४४१ | कृत्वेकवारमुद्ग्राहं |
| ६१२ | कृष्णा दक्षिणतो गन्ती |
| ३५ | केचित् लघोदशेवात |
| १६६ | केचिद् देशीविदो वंशान् |
| ३३८ | केवलास्ताः प्रयुज्य द्विः |
| ३६६ | कोणः कार्यो मूलदेशे |
| ५८३ | कोणघातेन निर्घोषं |
| ३२५ | कोणाङ्गुलीवादीनाम् |
| ४८५ | कोणाभ्यां मदनान्ताभ्यां |
| ५५६ | कोणाहतश्च संभ्रान्तः |
| ५३२ | कोणाहृतो हस्तपाटः |
| ५३१ | कोणेन पाणिना वास्य |
| ६३३ | कोमलत्वं वृणन्नयि |
| १६२ | कोल्लकोज्यैर्यं प्रोक्तः |
| २६८ | कोष्ठे समोर्ध्वपङ्क्तिस्थे |
| ५३४ | क्रमव्युत्क्रमघातात् |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------|----------------------------|
| ६२४ | क्रमव्युत्क्रमतोऽप्यास्याः |
| ३६१ | क्रमात् तकारसंज्ञिकौ |
| ४८६ | क्रमात् तदेवता ऋद्धं |
| ४१६ | क्रमादधोऽधो विन्यसेत् |
| ४८५ | क्रमादन्त्योपात्यतुर्यं |
| ५१० | क्रमादन्येऽङ्गुलीकोषं |
| ४२३ | क्रमादुपोहान्यातां |
| ६०४ | क्रमादेतद् द्वयाभ्यासात् |
| ४८२ | क्रमादेते करा यत् |
| ४१० | क्रमाद् गलेषु शेषेषु |
| ४१६ | क्रमाद् द्रुतं नखैर्घटीः |
| ४६४ | क्रमादिकोर्ध्वहस्ताभ्यां |
| ५६६ | क्रमाद् विरचितैः खण्डैः |
| ७ | क्रमेण ताडनाद् द्वाभ्यां |
| ३६६ | क्रमेण यदि जायेत |
| ४४४ | क्रमेण स्वरमारोहेत् |
| ३७७ | क्रियतेऽन्तरपाटः स्यात् |
| ५२१ | क्रियते पाटनिष्पत्तौ |
| ५४० | क्रियते वेष्टयते मध्ये |
| ३४३ | क्रियानन्तरविश्रान्तिः |
| ६१६ | क्रौडा द्रुतो विरामान्तो |
| ५२६ | क्रोधाभिमानयोः कुर्यात् |
| ५३२ | क्षिपेत् ककुबदण्डस्य |
| ५२१ | क्षिप्ताभिस्तादृशशूद्रं |
| ६३३ | क्षिप्तोऽथो वप्रवसये |
| १६२ | क्षेपः प्लुतोऽतिपातश्च |
| २६८ | क्षेपादयोज्य चलारः |
| ५३४ | क्षेपो दक्षिणपादस्य |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|---------------------------------|
| क्षेपो लघुगुरुभ्यां स्यात् | ३५४ गजशम्भो गुरोरुर्ध्वं १९० |
| ख | गजरावयवाः सर्वे ५६६ |
| | गजरोज्जापुट्टवर्णं ॥ |
| खण्डं खण्डं द्विद्विवारं | गजलीलं दण्डकं च ३३८ |
| खण्डं शुद्धादिभिः पाटैः | गजलीलो विरामान्तं १९० |
| खण्डः स्यात् खण्डमध्येऽपि | गजलीलो हंसलीलः १७१ |
| खण्डः स्यात् पृथगातोद्यं | गजश्चतुर्लं धारासौ १९४ |
| खण्डच्छेदसमायोगात् | गजो वर्णयतिः सिंहः १७२ |
| खण्डच्छेदोऽयवयतिः | गह्वर्धोभिर्नितं वक्त्रं तु ६०० |
| खण्डत्रयं ततः खण्डं | गतानुगतिकत्वेन ४६१ |
| खण्डमष्टाङ्गमुलं न्यस्य | गत्रयं लपनगमाः १७६ |
| खण्डहुल्लः समः पाटः | गत्वा विलम्ब्य तं तस्मात् ४६६ |
| खण्डानि त्रीणि यत्र स्युः | गत्वा स्याद्विनमारम्भ्य ४१३ |
| खट्वस्तौविषमैः कोष्ठैः | गर्तमध्ये च रुन्ध्रेण ३२५ |
| खसितस्फुरितौ यत्र | गर्मस्योत्सारणं त्वेतत् ६३१ |
| खसितौ यत्र तत् प्राहुः | गर्मस्य व्यापकं रुन्ध्रं ३८६ |
| खसितो यत्र बाधनाः | गलपाः स्युर्विरामान्तौ १८५ |
| खानिः परिमिता शेषं | गली द्वौ गुरुश्चेति १८२ |
| खानिः सर्वेषु वंशेषु | गली प्लुतत्रयं वक्रः १९६ |
| खानिस्तदुच्यते देश्यां | गमनेत्येकोनविंशत्या ३७३ |
| खुंकारवहलं बाधं | गातुः सहायः कर्तव्यः २४ |
| खेटकौ शिखयोर्मन्त्रौ | गान्धारस्तु ग्रहो देश्यां ४१५ |
| ग | गान्धर्वमार्गकुशलः २४ |
| | गान्धारो स्वाधिनि प्रोच्य ४६४ |
| | गान्धारो मध्यमाङ्गुल्या ३८८ |
| | गायत्रीप्रभृतिच्छन्दः १९६ |
| | गायेद् गीतं निबद्धं च ३८८ |
| गजकेशोपमां तन्वी | गायत्र्येत्येतौ लघूच्यन्तौ ३८१ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|---------------------------|--|
| गीतं चतुर्विधाद् बाधात् | ३१७ गुरुः कलात्र द्विकले ११ |
| गीतं ततोऽननन्देन | ॥ गुरुः प्लुती भवेत् प्राचा २८६ |
| गीतं बाधं तथा नक्तं | ४ गुरुणागुरुणा कार्यं ३८ |
| गीतकत्रयसंयोगात् | ३८३ गुरुद्वयप्लुताः प्रोक्ताः १८६ |
| गीतग्रहैः पाणिसंज्ञैः | ४६७ गुरुमेरावधः पङ्क्तैः २५६ |
| गीतनूतगतन्यूनं | ३२२ गुरुमेरोरधः पङ्क्तौ ३७७ |
| गीतनूतसमो माने | ५८६ गुरुल्लघूद्वैतस्ताले १९७ |
| गीतप्रधानतावाद्यं | ३६० गुरुल्लघूतप्रातः २८६ |
| गीतवादनदक्षत्वं | ४७६ गुरुस्तदा विपुच्छन्दि ३४५ |
| गीतवादननिष्णातः | ६०८ गुरुहेतोः स्मृतीये तु २१६ |
| गीतवादननृत्यस्थं | ६४६ गुरुच्युष्टौ च लघवः ३७६ |
| गीतस्य ग्रहोक्षादि | ६४५ गुरुच्युष्टौ लघूच्यन्तौ ३७ |
| गीतस्यान्तेऽनुकर्तापि | ३६२ गुरु द्वौ लघवोऽष्टौ च ३७८ |
| गीताङ्गनियमं कञ्चित् | ६२ गुरुवन्ते चेति मात्रिका ७६ |
| गीतादेिसमकालस्तु | ३२ गुरुवन्ते चेति मात्रिका ३६ |
| गीतादेविदधत्तालः | ४ सर्वाष्टाश्वतुरश्यादेः १७३ |
| गीताङ्गानुगं विप्रकारं | ३६१ गुरुवन्ते तु चत्वारः १८६ |
| गीताङ्गानुगं पदावृत्त्यां | १२० गुरुवन्तोऽपि स्थिता यदा ३६४ |
| गीते तत्सद्वर्गतिभ्यां | ६२ गुरुवन्तोऽपि स्थिता यदा ३६४ |
| गीत्या ततः परं गेयं | १२० गुरुवन्तोऽपि स्थिता यदा ३६४ |
| गुणा मार्दलिकस्यैते | ६१० गुरुवन्तोऽपि स्थिता यदा ३६४ |
| गुणान् दोषाश्च तद्वन्दं | ३२३ गो ल इत्याद्यष्टपञ्चं स्यात् ३८१ |
| गुणैः कतिपयैर्हीनः | ६४६ गौरीसरस्वतीकण्ठा १७३ |
| गुणैरावेष्ट्य कलशान् | ५१८ ग्रन्थिब्रजमिदा हीनः ३२४ |
| गुणैर्मूर्तिरोदारीः | ६३५ ग्रहं कृत्वा धमाहृत्य ५०५ |
| गुम्फः स्वरान्तराणां तु | ४०८ ग्रहं चोक्त्वा तृतीयं च ४२४ |
| गुरवः पञ्च लाः षट् च | ३७४ ग्रहं तमेव स कृत्वा ५०६ |
| गुरवोऽष्टौ द्वादशाश | ३७३ ग्रहं द्विगुणं प्रोच्य ४६४, ४६६, ५०५ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| | | प | |
| ग्रहं मालविनः कृत्वा | ४२३ | घटस्ततो ङगिष्येति | ६२२ |
| ग्रहद्वितीयतुर्याच्च | ४८२ | घडसो ढवसो ढक्का | ३२० |
| ग्रहव्यासाद् देवकृतेः | ५०० | घता द्वन्द्वमुकुन्दो च | १७२ |
| ग्रहव्यासाद् वसन्तः स्यात् | ४०३ | घनः श्लक्ष्णः सुपवक्त्रश्च | ६१५ |
| ग्रहमेत्य ततः प्राञ्चं | ४८१ | घनस्य च गुणान् दोषान् | ३२३ |
| ग्रहमोक्षप्रदेशज्ञः | ६४६ | घनो मूर्तिः सामिधाताद् | ३१८ |
| ग्रहश्चिन्धमरामक्रीः | ५०३ | घातः केवलया पातः | ३३२ |
| ग्रहांशव्यासनिधमः | ४०८ | घातः पातश्च संलेखः | ३३१ |
| ग्रहाच्चेदवरोहेण | ४२० | घातः स्यान्मध्यमाक्रान्तः | ३३२ |
| ग्रहादिस्वरसंभूतिः | ४२५ | घाताद् दक्षिणहस्तेन | ५४० |
| ग्रहादींस्तीव्रं स्वरान् स्पृष्ट्वा | ४२१ | घातोऽङ्गुलीभिर्वांमस्य | ६१६ |
| ग्रहाधरांस्तीनारुह्य | ४१८ | घातोऽन्तिमयुरध्यानः | ३५७ |
| ग्रहाधस्तात्तीर्थं च | ४१५ | घोषो रेफोऽथ बिन्दुः स्यात् | ३३१ |
| ग्रहाधस्तुर्यपर्यन्तं | ४१८ | | |
| ग्रहालिसरणं कृत्वा | ४१४ | ङ | |
| ग्रहान्मध्यस्थितात् पङ्जाद् | ४१६ | ङ्वजितः कवगञ्च | ५२२ |
| ग्रहान्मन्द्रनिपादाच्चेत् | ४२२ | | |
| ग्रहार्थं ग्रहपूर्वं च | ४६७ | च | |
| ग्रहार्थं द्रुतमुच्चार्य | ५०० | | |
| ग्रहार्थं च स्थिरीभूय | ४६६ | चक्रे कौतुकतो तन्नि | ३२२ |
| ग्रहे चैत्यस्यते रागः | ४२१ | चक्रे च कांश्यजे ताघ्रे | ६२२ |
| ग्रहे व्यासाद् भैरवस्य | ४६० | चच्चस्तुटः स्याद् द्विकलः | १११ |
| ग्रहे व्यासेन गुर्जयाः | ४६१ | चच्चस्तुटश्चाचुटः | १११ |
| ग्रहे व्यासो यदा रागः | ४१८ | चच्चस्तुटवदङ्गुल्यः | ४१८ |
| ग्रहे व्यासो वसन्तस्य | ४६२ | चच्चस्तुटादिभेदास्तु | २११ |
| ग्रहो गान्धार एवास्या | ४१३ | चच्चस्तुटा सप्तमो स्यात् | ३७० |
| ग्रहो हि मध्यमो रागः | ४०४ | चच्चस्तुट लेककले | १११ |

घ

ङ

च

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

पुटसंख्या

चण्डतालश्चन्द्रकला

चतस्रः कण्डिकास्तासां

चतुःस्वरच्छिद्रमुता

चतुरङ्गो निवर्तते

चतुरङ्गुलदैर्घ्यां च

चतुरङ्गुलदैर्घ्येण

चतुरङ्गुलपर्यन्तं

चतुरङ्गुलवक्त्रं च

चतुरङ्गुलसमानं

चतुरङ्गुलसंघाते

चतुरश्रव्यथमिश्रं

चतुरश्रस्तथा व्यथः

चतुर्थं व्यङ्गुलं प्रोक्तं

चतुर्थं पञ्चमी चेह

चतुर्दश स्वरस्थाने

चतुर्दशस्तु पञ्चम्यां

चतुर्दशाङ्गुलं दण्डं

चतुर्दशाङ्गुलानि स्युः

चतुर्दशाङ्गुले वक्त्रे

चतुर्दशाङ्गुलो दण्डः

चतुर्दशाङ्गुलो वंशः

चतुर्दशादिवंशानां

चतुर्दशादिवंशेषु

चतुर्दशी गलो पूर्णः

चतुर्धा तत्र पूर्वाभ्यां

चतुर्धा तेषु विस्तारः

चतुर्धैत मतं वाद्यं

१७२

१४२

५१३

२८८

३२५

३८६

३६०

३८६

३६३

३३६

५५७, ५५६, ६०१

१०

३६८

४८२

११२

३८६

४४४

५६४

६१४

४५६

४४३

४४४

१८६

३१७

३२१

चतुर्मावाक्षरगणाः

चतुर्मुखश्चतुर्भिः स्यात्

चतुर्मुखस्य दण्डस्य

चतुर्मुखो जप्यताम्यां

चतुर्मुखे दण्डमानं

चतुर्मुखो साधपादं

चतुर्थं तु चत्वारः

चतुर्विंशतिरासां तु

चतुर्विंशतिसंख्यैः स्यात्

चतुर्विंशत्यङ्गुलानां

चतुर्विंशत्यङ्गुले च

चतुर्विंशो मार्दलिकः

चतुश्चतुष्कोष्ठहीनाः

चतुश्चत्वारिंशता स्यात्

चतुष्कलं तु द्विगुणं

चतुष्कलं तृतीयं स्याद्

चतुष्कलः सुतन्दायां

चतुष्कला स्युस्तेष्वार्ये

चतुष्कलानि चत्वारि

चतुष्कले तु द्विगुणं

चतुष्कलो तु द्विगुणो

चतुष्कले त्र्यानिविशाः

चतुष्कलेनैककले

चतुष्कलेनोत्तरेश

चतुष्कलोल्लोप्यकवत्

चत्वारिंशत्पञ्चम्यं

१४०

४३३

४६२

४६१

४६८

४७०

१६१

४४६

२८०

४१

४४६

४७१

६२६

६००

२५६

४५०, ४७२

७०

३७३

१४६

१३५

१०२

४६

११

८६

३८

४६

१२७

४५१

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--------------------------|------------------------------|
| चत्वारो गास्तथा ता स्युः | ३७४ छाननो बद्धचर्मा |
| चत्वारो लघवोऽशब्दाः | १८३ छायानट्टाख्यरागस्य |
| चत्वारो हस्तपाटाः स्युः | ५२६ छिद्रं यस्याश्चतुर्थांशे |
| चर्चिका देवता चास्यां | ६१४ छिद्रे यस्याश्च संकीर्णं |
| चर्मणानद्वयदना | ६२६ छदैव्यैः समायुक्तं |
| चर्मनद्वाननो बद्धः | ६२८ ज |
| चर्मावितद्वयदनम् | ३१८ ज |
| वर्ग्याने च पूजायां | ६२३ जनको नयसा वक्रः |
| चलनं मणिवन्धस्य | ५३२ जयघण्टा ततः कम्पा |
| चलशङ्कुं गले रन्ध्रं | ३६० जयघण्टा समा श्लक्ष्णा |
| चलशङ्कुग्रामणादि | ३६४ जयघण्टा समा श्लक्ष्णा |
| चारुश्रवणिकालम् | ५५० जयश्री रगणाल्लो गः |
| चार्मणेनास्य कोणेन | ६३० जलाशयसमीपस्थं |
| चित्रा वाचः प्रवर्तन्ते | ३१४ जाताः पञ्चेति पञ्चभ्यः |
| चित्रा बाधप्रधानत्वात् | ३६० जाता हस्तजपाटैस्तु |
| चित्रा वीणा विपञ्ची च | ३१६ जात्यस्य मध्यमग्रामं |
| चित्रा वृत्तिर्दक्षिणा च | ३५६ जायतेऽस्यापि वंशे तु |
| चित्रायामङ्गुलीमात्रं | ३४३ जायते तादृशैः पाटैः |
| चित्रिता ललिता स्निग्धाः | ३७६ जायते शाङ्गिणोक्तोऽज्ञो |
| चित्रे त्वेकमितीमानि | १५७ जायन्ते वैष्णवशरीरं |
| चिरमध्यद्वतलयाः | ३० जितथमकरद्वन्द्वः |
| छ | जो लब्धौ द्रुतो पञ्च |
| | ज्येष्ठतलेन चेज्ज्येष्ठं |
| छण्डणाल्ता रिगोपी सा | ५७१ ज्ञ |
| छन्दकासारिते वर्धं | ३४ |
| छन्दसा भूरिहृयेन | ५६६ [झण्टुं दिगिदिगि |
| छन्दो धारा कंकुटी च | ३३८ झण्टुमाद्याक्षरैरेव |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--------------------------------|-----------------------------|
| झम्पातालो विरामान्तं | १६० तं चाथ प्राञ्चमस्यार्थं |
| झेंकृतिर्वैकृतिस्थाने | ५५१ तं दक्षिणं शिवं नौमि |
| ज्ञ | तं दधन्नधमध्वेज्य |
| | तं वादनप्रकारं च |
| | तं विलम्बिततां नीत्वा |
| ज्ञानं पूरणसंख्यायाः | २२५ तं विलम्ब्य ततो गच्छेत् |
| ज्ञेयो वारववाद्यानां | ६३१ तं सं प्रोच्य निमाहृत्य |
| | तकारो माणिक्यवल्ली |
| ट | तकारेण च सर्वेषां |
| | तच्चैककलावल्कार्यं |
| टाकणीवत् समस्तं प्राक् | ६०५ तच्छिरः प्रान्तयोर्मानं |
| ड | तज्ज्ञो दक्षिणहस्तस्य |
| | तटल्ला दधलाश्चेति |
| | ततं येनावनद्धं च |
| डक्कायां मर्दने चैव | ५५१ ततं वीणा द्विधा सा च |
| डक्कैव मण्डिडक्का स्यात् | ६२३ ततः करणभेदं द्विः |
| डघवर्णां वादनीयः | ६२१ ततः पगो दो गलो गः |
| डेंकारबहुलाः पाटाः | ६४१ ततः परं तु जितयं |
| ड | ततः प्रतिमुखयोऽथः |
| | ततः प्राक् खण्डसहितं |
| | ततः शीर्षं सैककेन |
| डेंकारपाटवर्णश्च | ६१७ ततः समयहे शम्पा |
| डेंकारः पाटवर्णाः स्युः | ६१८ ततश्चन्द्रकलाः प्राहुः |
| त | ततश्चाद्यमिति प्रोक्तं |
| | ततस्तत् सकृदाहृत्य |
| | ततस्तृतीययुतौ च |
| तंकारः पाटवर्णोऽज्ञां | ६२६ ततस्तृतीयमाकम्प्य |
| तं च श्रुतिनिर्दिष्टाः प्राहुः | ४३५ ततस्तृतीयमारुह्य |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--------------------------|-------------------------------|
| तत्स्थोकारबहुलं | ६०१ तत्रार्धमन्यमादौ स्याद् |
| ततोऽतीतग्रहे शम्पा | ३६७ तत्रैकसरजोडात्वं |
| ततोऽधस्थं द्राघयित्वा | ४६६ तत्रैका वक्त्रमाता स्यात् |
| ततोऽन्तर्मेकोऽन्ते | १२७ तत्सर्वं वंशवाजोऽज |
| ततोऽन्तिमद्वयं खण्डं | ८२ तथा कवलयोस्ताभ्यां |
| ततो दक्षिणहस्तस्थं | ५५८ तथा तथा विघातयं |
| ततो दीर्घं रिमो कृत्वा | ४२६ तथा नीरटितो ह्लादः |
| ततो दुःसरसंचारं | ५०२ तथा यथा पितृदास्ये |
| ततो मध्यममित्येवं | ५२४ तथा लयान्तरगतः |
| ततो मध्यलये ताले | ५५८ तथापि बालबोधाय |
| ततो यदि ग्रहे ताले | ६०० तथास्या दोरिकादेशं |
| ततो लोहमयीं श्लक्ष्णां | ४१६ तथैकद्वित्रिचोकारं |
| ततो द्विकार ओंकारः | ३६१ तथैवातिद्रुतलयं |
| तत्किंचिदधिकं वारे | १६६ तदङ्काधस्तनैः सार्धं |
| तत् तत् सुषिरं चाबं | ५६५ तद्भेदेन पूर्वोक्तं |
| तत्तत्सारीप्रदेशस्थं | ११७ तदधोऽधश्च तावन्ति |
| तत्त्वं भवेदनुगतम् | ३६१ तदभावे तु षष्ठाङ्के |
| तत्पञ्चस्तीनामपि ज्ञेयं | ३६१ तदर्थं पिण्डसंयुक्तं |
| तत्परं दीर्घतां नीत्वा | २७६ तदधर्वर्णसंयुक्ता |
| तत्परं स्थायिनं तस्मात् | ४६६ तदधोऽधश्चिन्तेन |
| तत्पराः स्वस्वपूर्वतः | ४१६ तदर्थं मेढकोपान्ते |
| तत्र जातिरुदात्ता स्यात् | २६० तदा तदो मेढकोपान्त्ये |
| तत्र रचितविशेषस्य | ३५८ तदा तदो मेढकोपान्त्ये |
| तत्र लम्बशिखायोर्ध्वा | ४२६ तदा तदविडगोडस्य |
| तत्र लघ्वीगतं लक्ष्म | ३६६ तदा द्वितीयं स्वस्थानम् |
| तत्र शब्दगुणेष्वेव | ४७६ तदान्तासां वादनं यद् |
| तत्र श्रीशाङ्गदेवेन | ३१८ तदासांस्तिवद्भाति |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|------------------------------------|
| तदास्तामुच्यते किनु | ४५३ तन्नीभागस्तुतीयांशं |
| तदुक्तं सकलं वाद्यं | ३४० तन्नीभिः सप्तभिश्चित्रा |
| तदुद्भवद्विदोऽन्ते | ६३१ तन्नीमानेन वच्चीयात् |
| तदूर्ध्वं चक्रिका स्थाप्या | ५१४ तन्नीरुद्रात् पुरः स्वाङ्गघ्नं |
| तदोत्प्लिप्ता संनिविष्टा | ३३१ तन्नी लम्बाङ्गुष्ठमार्धा |
| तदोपाच्छादनं मार्गं | ४७६ तन्नीसंलग्नजीवातः |
| तद्द्वादशकलं प्रोक्तं | ८२ तन्त्या संवेष्टय कुकुम्भं |
| तद् द्वादशकलातालं | ३८० तन्त्यैकयैव करणं |
| तद्वीमिति छण्डणान्तः | ५७७ तन्त्योस्तृणशलाकां च |
| तद्बृन्दं द्वित्रिचतुरैः | ६११ तन्मध्ये तु समा कोष्ठे |
| तद्भेदप्रत्ययार्थं तु | १६६ तपो लगी दुती गौ लः |
| तद्भेदास्वेकतन्वी स्यात् | ३१६ तमान्योऽप्य द्वितीयं तु |
| तद्भेदं दण्डान्तरालं | ३६४ तमेव स्थायिनं कृत्वा |
| तद्भेदं ततः संधिः | ११० तथा चानामन्यत्र |
| तद्वयथाक्षरः कार्यः | १३ तथा तु स्वेच्छया वक्त्रं |
| तद्वर्णसरबद्धं वा | ५८२ तथा यद् वातैः रुद्रैः |
| तद्वल्लयान्तरं मार्गं | १३३ तयावगुण्ठच बलयं |
| तद्विदो वादयत्येतां | ५६३ तयोरेकसरो जोडा |
| तन्निर्वागभितं वामं | ६२६ तयोर्द्विगुणात् न्यस्य |
| तन्वी बध्ना ततोऽधस्तात् | ४२७ तरुणां जातयस्तिष्ठः |
| तन्वी यत् तदाचण्ड | ३५६ तर्जनीपाञ्चलमायाः |
| तन्वी लम्बाङ्गुष्ठमार्धा | ३३४ तर्जनीमध्यमानामा |
| तन्वीकर्षोऽङ्गुष्ठतर्जं | ३३५ तर्जन्यङ्गुष्ठयोश्च |
| तन्वीणामर्धार्धस्थानं | ३४३ तर्जन्या च पुत्रवपादं |
| तन्वीदैर्घ्येऽथ द्वादशायं | ३६१ तर्जन्या धार्यते विन्दुः |
| तन्वीद्वयेन नकुलः | ३४२ तर्जन्या मध्यमा बाध |
| तन्वीपञ्चिकयोः रन्तः | ३८२ तत् कृत्वावरोहेण |
| तन्वीप्रान्तान्तरे शिप्वा | ३२५ तलघाताङ्गुष्ठमष्टेः |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-------------------------------|
| तलपाटस्तु मलयं | ५६१ तादृक्पादस्ततस्तद्वत् |
| तलप्रहारः प्रहरः | ५२७ तानि गीतानि वक्ष्यामः |
| तलप्रहारहेतुः स्यात् | ५४८ तानेवाङ्कान् लभन्ते ते |
| तलप्रहारो बलितं | ५४८ तान्यक्षराणि वक्ष्ये |
| तलहस्तोऽर्धचन्द्रश्च | ३३१ तान्त्रजं ब्रह्मगीतानि |
| तलाङ्गस्यप्रहारेण | ५४४ तान्यष्टौ बवरीबीजं |
| तले केचिद्विह प्राहुः | ५३७ ताभिधंघरभेदानां |
| तलेन दक्षिणो हस्तः | ३३५ ताम्रजा राज्ञी यद्वा |
| तलेन हत्वा प्रहरेत् | ५३७ तारं च स्पृश्यते स स्यात् |
| तस्मात् कृत्वावरोहेण | ४११ तारम्भूततया काक |
| तस्मात् तृतीयतुर्ये तु | ३६४ ताररुध्रं ततोऽधस्तात् |
| तस्मादधस्तनौ स्पष्ट्वा | ४२४ तारस्थानं द्विः प्रहृत्य |
| तस्मादधोऽङ्गुलान्युत्ता | ३८६ तारस्थानस्थितः षड्जः |
| तस्मादापण्डमारुह्य | ४१५ तारस्थाने द्विराधातात् |
| तस्मादुद्दिष्टस्वस्थात् | ३०१ तारस्था मुखसंयोगं |
| तस्मादेव ग्रहण्यासे | ४६६ तारादी ययमुक्तेन |
| तस्माद् देश्यनुसारेण | ४५५ ताराष्टष्टु रुध्रेषु |
| तस्माद् बीणा निषेव्येति | ४२६ तालत्रयं च शम्भिका |
| तस्माल्लक्ष्यविच्छेदं यत् | ४०४ तालपातकलाभिज्ञः |
| तस्मिन्नेव ग्रहे कृत्वा | ४६६ तालभेदाः क्रमादङ्कैः |
| तस्य तुम्बं परीणाहे | ३८६ तालमन्यतरस्यात् |
| तस्य द्वे लीणि चत्वारि | ४३१ तालश्चतुः षट्कलः |
| तस्य वादनभेदाश्च | ३२३ तालश्चन्द्रकलाध्यश्च |
| तस्या स्थाने भवेदाद्या | ३६० तालस्तलप्रतिष्ठायां |
| तस्याः सवलये चर्मं | ६२६ तालानां लक्षणं वक्ष्ये |
| तस्यास्तालोऽत्र कर्तव्यः | ३७५ तालानामधुना तेषां |
| ताः षष्ट्यधमाद्वितीयान्त्या | १०५ तालाश्चत्वारः इत्यन्ये |
| तादृक्चतुःषट्कलां | ५६१ तालिकेयं पृथग्यद्वा |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|------------------------------|----------------------------------|
| तलेन टाकणीवादी | ६०१ तुम्बकं मध्यरुध्रं स्यात् |
| तले निःशङ्कलीलाख्ये | १७५ तुम्बं दण्डश्चककुम्भं |
| तले राजमृगाङ्गे तु | १६७ तुम्बं धृत्वाय पादाम्बां |
| तले सरस्वतीकण्ठं | ॥ तुम्बं वक्षसि निक्षिप्य |
| तालोऽयं कांस्यतालः स्यात् | ३२० तुम्बस्योत्प्रेषधस्तस्य |
| तालोऽष्टमोऽन्तिमा शम्भ्या | १२३ तुरङ्गलीलाः शम्भुः |
| तालो राजमृगाङ्गश्च | १७३ तुर्युपेण सा लोके |
| तालो वितालः खलकः | ५६२ तुर्यं कृत्वा तमाहृत्य |
| तावत्संख्याकपर्यन्तां | २१६ तुर्यं चोक्त्वा तृतीयं च |
| तावद् द्रुतोऽत्र तालः स्यात् | २८० तुर्यं चोक्त्वा द्वितीयादीन् |
| तावद् यावद् द्रुदो बन्धः | ३२७ तुर्यं ततस्तृतीयं च |
| तावांश्च परिषेपोऽसौ | ३६८ तुर्यं द्वितीयतस्तु लीन् |
| ताश्च धर्मरिका लोके | ६४० तुर्यं विलम्ब्य कृत्वा च |
| तासु स्वभावतो यास्तु | २४४ तुर्यं विलम्ब्य तत्पञ्चं |
| तिरस्त्रीं तत्परामृतां | २४४ तुर्यं एकाङ्कवानेवं |
| तिरिक्तिरिक्तिरिति | ६१४ तुर्यपञ्चमपुर्याश्च |
| तिर्यक्पङ्क्तिरित्येकोऽङ्कः | २८० तुर्यवस्तुत्तरार्धस्थैः |
| तिर्यक्संस्थेन दैर्घ्येण | ३२४ तुर्यस्वरं द्वितीयं च |
| तिर्यग्नध्रे चलं शङ्कुं | ३६४ तुर्याद्विष्यत्ययेऽप्येवं |
| तिर्यग्नध्रे निवेशोऽयं | ॥ तुर्यादयो निषादाद्याः |
| तिर्यग्नध्रे तावदन्यत् | ३६३ तुर्यां द्वादशस्तालः |
| तिर्यग्नध्रे चोदरीः षड्भिः | ॥ तुर्यां ग्रहाश्चात्र्यं |
| तिर्यग्नध्रे चोदरीः सार्धः | ४६१ तुर्यां च ततोऽधस्थं |
| तिर्यग्नध्रे चोदरी राजिता च | ६४२ तुर्यां तद्यथं च |
| तिर्यग्नध्रे चोदरी तन्वीः | ६१४ तुर्यां तु तुर्यांश्च |
| तिर्यग्नध्रे चोदरी तयोः | ४४१ तुर्यां द्विस्त्रिराहृत्य |
| तुंतुमित्यपरे प्राहुः | ६२५ तुर्याकम्पनादुर्ध्वं |
| तुण्डिकन्येव चोक्त्वा स्यात् | ५१५ तुर्याग्रहतां त्वस्या |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|------------------------------------|
| तृतीयग्रहतां त्वस्या | ५०० तेषु वृत्तं तदूर्ध्वार्धः |
| तृतीययुत्यंसार्योस्तु | ३६० तेषु स्वरविभागाय |
| तृतीयपञ्चमाङ्गाम्यां | २०४ तेष्वष्टासुध्वरंन्द्राणि |
| तृतीयपञ्चमोपात्यं | २८८ ते हेमादिमयाः सप्त |
| तृतीयभागरहितं | ३६८ तो गण्युतो राजतालः |
| तृतीयस्त्वस्य वंशेषु | ४६२ तैश्चण्णोलकगर्भाः स्युः |
| तृतीयादितेषु स्युः | ५४४ त्यक्त्वाङ्गुलानि चत्वारि |
| तृतीयाधस्ततस्थाने | ३०८ त्यक्त्वा चान्त्यां कलां तत्तु |
| तृतीये गरुणि प्रोक्तं | ३६६ त्यक्त्वा फूलास्त्रुपिरं |
| तृतीये तु तृतीयो गः | ३६६ त्यक्त्वा वितस्ति जीवातः |
| तृतीये सप्तके स्थानं | ३४१ वयः स्वराः प्रजायन्ते |
| तृतीये स्याच्चतसृभिः | २०८ वयस्तु दक्षिणात् पाणेः |
| तृतीयोऽस्याः स्वरो वंशे | ५०६ त्रयोदशाङ्गुलं तस्याः |
| तृतीयो दृश्यते प्रायः | ४६१ त्रयोदशाङ्गुलस्तद्वत् |
| ते चानन्ता न शक्यन्ते | ५२३ त्रयोदशाङ्गुलो वंशः |
| ते द्वे रज्ज्वितं शक्ते | ४५१ त्रयोदशाङ्गुली वक्त्रे |
| तेनैव तत्पवृत्तं स्यात् | ६४३ त्रयोदशादयो ये च |
| तेनेषां खण्डतालत्वम् | १७३ त्रयोदशादयो वंशाः |
| तेभ्य उद्दिष्टसंस्थेभ्यः | ३०१ त्रयोदशापरे तारं |
| तेषां च मुखरन्ध्रस्य | ५१३ त्रयोदशेति सर्वेऽङ्गी |
| तेषां संनिहिताद्यानां | २७७ त्रयो द्रुता डोम्बली तु |
| तेषामथो द्वावूर्ध्वं द्वौ | ६२२ त्रयोविंशत्यङ्गुलानां |
| तेषामन्योन्यसंसर्गात् | २५ त्रिः खण्डोऽभ्यस्याते कूटं |
| तेषामुत्पादकान् पाणीन् | ५२८ त्रिशदङ्गुलदैर्घ्यञ्च |
| तेषु तद्व्यादयः सप्त | ५६६ त्रिकलः षट्कलो वाव |
| तेषु प्रस्तुतभेदस्थं | २७२ त्रिकस्य चलनाद् वामं |
| तेषु रुद्राङ्गुलीप्राप्तिः | ४६० त्रिधापरान्तकं तद्वत् |
| तेषु विस्तारसंज्ञासत् | ६४४ त्रिधोक्तोऽयं द्वयोस्त्यः |

पुटसंख्या

१२०

४३२

४५७

५१८

१८१

६४०

५१८

१५०

४३१

३३०

४३६

३८८

६१८

४३५

४५४

६३८

४५३

४५५

४५७

३३१

१८०

४५८

५६६

१६३

५४५

५२

५२०

पुटसंख्या

३५२

१७२

४४४

२७६

२८०

२५२

२६१

१२१

३४७

६२१

४६८

४७६

४२८

३५१

३२४

८३

३८६

३२४

५५८

४६५

३२७

८५

८

१८१

१३७

५५६

दक्षिणः कर्तरी कुपार्त्

दक्षिणश्चेति तत्र स्यात्

दक्षिणस्थेन कोणेन

दक्षिणस्य करस्य स्यात्

दक्षिणस्यानामया वा

दक्षिणस्योद्गीर्णवद्धा

दक्षिणाङ्गुष्ठतो हन्ति

दक्षिणानामया यत्र

दक्षिणास्यस्य कवलं

दक्षिणे दक्षिणस्थेन

दक्षिणेन करेणास्ये

दक्षिणे वार्तिके त्वेतिद्

दक्षिणे स्यात् विसंख्यातं

दण्डः कलानिधौ वंशे

दण्डः शंभुरुमा तन्वी

दण्डः श्रीशाङ्गदेवोक्तः

दण्डः सप्तदशे वंशे

दण्डः सार्धः षोडशभिः

दण्डमानं परं लक्षम्

दण्डमानं मनोरकं

दण्डमानं युतं सार्धं

दण्डमानं श्रुतिनिधौ

दण्डश्च महाजनिकं

दण्डश्च स्थितं चतुर्थः प्र

दण्डश्च मिश्रो द्विधा वर्णः

दण्डश्च शरीरसंहारी

दण्डश्च यवयुग्मेन

दण्डश्च मानमादित्ये

पुटसंख्या

३३५

६

६२६

४५६

३८८

६१६

३५६

३३४

५१८

६४१

६१६

७०

१४०

४५०

३२६

४५४

४५५

४५८

४७०

४६४

४७२

४६५

३२५

४५८

४५८

४५८

४७२

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|------------------------------------|----------------------------------|
| दण्डहस्तः पिण्डहस्तः | ५२६ दशैति शुष्कवाद्यानि |
| दण्डहस्तः समनखः | ५२७ दीपको दलगा द्विदिः |
| दण्डहस्तो घनरजः | ५४० दीपकोदीक्षणी ढेङ्की |
| दण्डांशः परिशेषोऽत्र | ३६३ दीप्तं नृत्तं च तामाहुः |
| दण्डाग्राद् द्व्यङ्गुलैः श्रस्तात् | ३६० दीप्तनृत्तं भवेदेषा |
| दण्डान्तर्धीर्धर्मध्यातः | ३६८ दीप्तवर्णः क्वचित् क्वापि |
| दण्डान्ते सारिकोत्सेधः | ४०० दीर्घं खण्डं ततोऽप्यं च |
| दण्डे त्वेकोनविंशत्य | ४६४ दीर्घाङ्गुल्य तृतीयं च |
| दण्डे धृत्वा टणलकारं | ६३६ दृढचामेण कोणेन |
| दण्डे पञ्चदशस्य स्यात् | ४६४ दृढशब्देन भीरुणां |
| दण्डे संवेष्टयेन्मन्द्रं | ३२८ दृश्यते मध्यमादेस्तु |
| दण्डोऽङ्गुलैकविंशत्या | ४६२ दृश्यते यत्र तं प्राहुः |
| दण्डोऽष्टादशवर्णास्य | ४६४ देकारादीनि यत्नासौ |
| दण्डो यवाष्टमांशेन | ४७२ देकाराद्यलङ्कृताद्यन्ता |
| दद्वयं गश्च मदनः | १६२ देवता तुल्यव्युत्पन्ने |
| दधते कवलव्याप्तं | ६१४ देवता मातरः सप्त |
| दधानः ककुभं सारं | ३२४ देशाख्या त सदा लक्ष्ये |
| दर्पणे दद्वयं गश्च | १७६ देशीतालप्रपञ्चेन |
| दर्शने स्पर्शने चास्या | ३२६ देशीतालस्तु लब्धादि |
| दलगा दलपाश्चैव | २८० देशीतालाः समादिष्टाः |
| दशभिः संयुतं वाद्यं | ६४४ देशीपट्टह्रस्वाहुः |
| दशमं द्व्यङ्गुलं हीनं | ३६४ देशीपट्टह्रस्वाहुः |
| दशमुष्मिन्तं दण्डं | ३६६ देशीवर्णेषु सर्वेषु |
| दशमुष्टचधिर्कं मानं | ३८० देशीस्थोऽप्येवमेव स्यात् |
| दशमेकादशे प्रोक्ते | ४०० देश्यास्तदाद्यं स्वस्थानं |
| दशहस्तगुणोपेतः | ६४८ देहसीष्ठवसंपन्नः |
| दशाङ्गुले मुखे तस्याः | ६२४ दीर्घ्यमष्टाङ्गुली गभौ |
| दशाङ्गुलो महानन्दः | ४३३ दीर्घ्यं पञ्चाङ्गुला वक्त्रे |

| | | |
|-----------------------------|---|-----|
| दीर्घ्यं मुष्टी तु विस्तारः | ४२६ द्रुती तुरङ्गलीलः स्यात् | १८२ |
| दीर्घ्यं स्यामाध्यविस्तारः | ४२४ द्रुती द्वौ जगणो वक्रः | १६३ |
| दोरकं नागपाशेन | ३२७ द्वयोः रानिविशास्तद्वत् | ४८ |
| दोरको वासुकिर्जीवा | ३२६ द्वाविशच्च कला ज्ञेयाः | १४२ |
| द्रुतं कृत्वा पञ्चमं तु | ४६२ द्वाविशत्तनुसंजातं | ६१२ |
| द्रुतमध्यविलम्बः स्यात् | ३० द्वाविशदङ्गुलानां तत् | ४४८ |
| द्रुतमेल्लघोमैः | १६६ द्वाविशदङ्गुलो दीर्घ्यं | ६४३ |
| द्रुतवयं लघुद्वन्द्वं | १६६ द्वाविशन्मात्रिकामन्ये | ५६१ |
| द्रुतवयं विरामान्तं | १६४ द्वाविशांशेनपादाभ्यां | ४७२ |
| द्रुतहीनादयो द्व्यादि | २४४ द्वादशं तु तृतीयांशं | ३६४ |
| द्रुतहीनादयो भेदः | २८४ द्वादशाङ्गुल आदित्यः | ४३४ |
| द्रुतहीनाद्यकोष्ठासु | ३०१ द्वादशाङ्गुलके वक्त्रे | ६१७ |
| द्रुताङ्कानन्तरं कार्यं | २६६ द्वादशाङ्गे दशकलं | ११० |
| द्रुतादिकाल्लयानासां | ३६० द्वादशात्र कला प्राग्वद् | ३६८ |
| द्रुतादिनियमः सोऽत्र | २८४ द्वादशानां दशानां च | ३८० |
| द्रुतादिरचनाभेदात् | १६६ द्वादशाद्यंस्वरन्यूनः | ४५३ |
| द्रुतादिसिद्धये तन्नादः | ६३६ द्वादशैति गुणाः प्रोक्ताः | ४७६ |
| द्रुताद् द्रुततरं मानं | ४८४ द्वापञ्चशब्दं भवेत् सार्धं | ४६४ |
| द्रुताद् द्रुती विरामान्तौ | १७४ द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्च | ३५५ |
| द्रुताद्याद्यधरैर्ज्ञेयं | १७३ द्वाभ्यां द्वाभ्यां विनिर्दिष्टाभ्यां | ६१४ |
| द्रुते विन्दुविरामान्ते | १७४ द्वाविशति कलाः केचित् | ३६७ |
| द्रुते लब्धे ततः पूर्वैः | २६४ द्वाविशत्यङ्गुलोऽप्यन्यः | ४३५ |
| द्रुते शंभुलघो देवी | १७४ द्विकलेऽष्टकला भावा | ७६ |
| द्रुतैः करतलाघातैः | ५८८ द्विकले द्वादशकलं | ६२ |
| द्रुतैः षड्भिस्तु षट्तालः | १६४ द्विकले द्वादश कलाः | १३ |
| द्रुतो मध्यो विलम्बश्च | २८ द्विकलेनोत्तरं स्यात् | ४४ |
| द्रुतो लघुः सार्धमात्रः | २०६ द्विकले पञ्चपाणी सा | १२७ |
| द्रुतो लघुर्गुरुर्वात्यैः | ३११ द्विकले पादभागः स्यात् | १८ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------------------------|----------------------------------|
| द्विकले मद्रके वस्तु | ४४ द्वितीयोऽस्यामपि प्रायः |
| द्विकले स्युनिशनिता | ८६ द्वितीयो द्व्यध्वान्त्यः |
| द्विकलो वायवा चच्चत् | ११२ द्विवास्तोऽधिकाः सारीः |
| द्विगुणद्विगुणत्वेन | १४ द्विदण्डकं शङ्कुनाष्ट |
| द्विगुणद्विगुणो जेयो | २८ द्विदिकोऽन्तोऽन्ताः स्वस्व |
| द्विगुणाकर्षणात् कर्षेत् | ३२५ द्विमात्रं च कला वक्रं |
| द्वितीयं कम्पयित्वा च | ४१६ द्विमात्राः षोडशकलाः |
| द्वितीयं कम्पितं कृत्वा | ४६७ द्वियोगजाः क्रमाद्भेदाः |
| द्वितीयं च क्रमादुक्त्वा | ५०५ द्विरभ्यस्येदेवमेव |
| द्वितीयं च ग्रहे न्यासः | ४२०, ४८२ द्विरावृत्तिरनावृत्तिः |
| द्वितीयं च तृतीयाध | ३०४ द्विरुत्तराधरातो द्विः |
| द्वितीयं च प्रयुज्य द्विः | ३६४ द्विरुत्तरो द्विरुत्तरः |
| द्वितीयं द्वियवोपेत | ४०० द्विरुद्ग्राहस्ततः खण्ड |
| द्वितीयं सप्तमं कृत्वा | ४८२ द्विरुद्ग्राहो ध्रुवाभोगं |
| द्वितीयध्वजे विधायमेतत् | ३७३ द्विरुत्तराधरातो विरामान्ताः |
| द्वितीयतुर्यषष्ठाङ्गैः | २०४ द्विषद्विवासाजननः |
| द्वितीयपञ्चवत् प्रान्ते | ३६८ द्विसंख्यातं विसंख्यातं |
| द्वितीयमन्तरं मेयं | ३६८ द्विस्त्रिंशं ग्रहतपूवैः |
| द्वितीयमन्तरालं तु | ३६४ द्विस्त्रिंशोऽयवरोहेष |
| द्वितीयमात्रा तावान्ता | १०४ द्विस्त्रिंशोऽयवरोहेष |
| द्वितीयस्वरमेवास्या | ४६८ द्वे चत्वारि भवत्यष्टौ |
| द्वितीया तु पदैर्युक्ता | १२१ द्वे षड्भ्यो स्वस्वपूर्वतः |
| द्वितीयाधस्तनः पाठ्यः | २६८ द्वे षष्ठ्या एककोष्ठोने |
| द्वितीयान्तरतोऽधस्तात् | ३६४ द्वौ तालौ संनिपातौ द्वौ |
| द्वितीयान्या भवेन्मध्य | ३० द्वौ द्वौ तालासाधकोष्ठौ |
| द्वितीये षष्ठ्यमानतः स्यात् | ४६० द्वौ मार्गौ गीतकेषूक्तौ |
| द्वितीयोऽत्र स्वरः स्थायी | १८७ द्वौ लौ द्वौ लघुर्द्वौ द्वौ |
| द्वितीयोऽस्याः स्वरो लघ्वे | १६६ द्वौ लौ द्वौ लघौ घत्ता |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|------------------------------|------------------------------------|
| द्वौ षोडश लघून्यन्ते | ३७६ ध्रुवको भूरिवाद्येषु |
| द्व्यङ्गुलावध्यष्टमी तु | ३६० ध्रुवपातमपातं वा |
| द्व्यङ्गौ यदा तदान्तः स्यात् | ८७ ध्रुवपाते प्रयोज्यास्ता |
| द्व्यधर्मधर्मस्थितं तद्वत् | ४०२ ध्रुवायां तुम्यस्तालः |
| | ध्रुवासारितमावृत्तिं |
| | ध्रुवो हस्तस्य पातः स्यात् |
| ध | |
| धतूरकुसुमाकार | ५१५ न |
| धनुषा वामहस्तस्थ | ४२८ नगो खगरटा वर्णाः |
| धन्वासी स्यात् तदा दृष्टः | ४१४ न च कच्छोत्कक्षकस्तु |
| धन्वास्या दृश्यते वंशे | ४६३ न तल युक्तिलेशोऽस्ति |
| धातुना चित्रिता कार्या | ३८५ न तद्रन्ध्रैः स्वजातीयैः |
| धातून्यत्र प्रयुज्जीत | ३७७ न तान् ब्रवीम्यहं ग्रन्थ |
| धातून् वृत्तिवयं तत्त्व | ४७४ न नयेत् तर्जनीस्पर्श |
| धात्वन्तरैर्मिश्रयित्वा | ३७७ नन्वेकलक्ष्मभेदोऽर्थ |
| धैवतं ग्रहमास्थाय | ४०१ न नयेत् तर्जनीस्पर्श |
| धैवतं स्थायिनं कृत्वा | ४११, ४१७ न नयेत् तर्जनीस्पर्श |
| | ४१६, ४२१, ४८६ न नयेत् तर्जनीस्पर्श |
| धैवतः स्थानाध्यमया | ४३६ नलिनीदलसंकाशौ |
| धैवतं स्थायिनां नीते | ४६५ नवमं तु यवाधीनं |
| धैवतं स्थायिनि प्राञ्चं | ५१० नवमुष्टिमितो दीर्घो |
| धृत्वा कर्कटहस्तेन | ५१७ न वा तत्सर्वमार्गेषु |
| धृत्वा तद्रन्ध्रविन्यस्त | ६४० नष्टे तु परपङ्क्तिनां |
| धृत्वा तस्याग्रभागेण | ६३६ न स्थूला न कुशात्यन्तं |
| धृत्वा संपीड्य तर्जन्वा | ६२३ न ह्यङ्गुलं पञ्चययं |
| ध्रुवः शम्या ततस्तालः | ४ नागबन्धश्च पवनः |
| ध्रुवका पतिता चित्रे | ८ नागबन्धोऽयवघटः |
| ध्रुवका सर्पिणी कृष्णा | ७ नागबन्धो विपर्ययात् |

| पुटसंख्या | | पुटसंख्या | |
|------------------------------|----------|----------------------------|-----|
| नागेन्द्रदण्डमानं स्यात् | ४५६ | निक्षिपेत् काकुभं दण्डं | ३६३ |
| नागेन्द्रवत् परं लक्ष्म | " | निक्षिप्येत्सुपु रन्ध्रेषु | ४१८ |
| नाटके लघ्वेवक्तोऽयं | ४२१ | निगदन्ति मृदङ्गं तं | ४६५ |
| नाट्यरामकृतेराद्यं | ४०४ | निजपातंविना यदा | ४४ |
| नातः परं तु वंशानां | ४६० | निजैर्यां तद्विधोदधिः | ४६१ |
| नातिदीर्घं द्विराद्यं स्यात् | ४७४ | निघातव्या यवस्थूला | ४१४ |
| नातिश्लथं नातिगाढं | ६२४ | निघाय मध्यतर्जनी | ६२४ |
| नात्र त्रयोदशो वंशः | ४५० | निगिडधोरःस्थलासत्रां | ३३० |
| नात्र संख्या विदारीणां | ३७८ | निप्रताशनितानिश* | १७ |
| नादबुद्धिध्यापति* | ६४६ | निप्रनिप्रा निशनिताः | ६३ |
| नादधुतिस्वरग्राम* | ४३० | निबद्धं वादयेदाद्यं | ४५६ |
| नादहेतोर्माहितस्य | ४३२ | निबद्धो वादितो गीत* | ५८८ |
| नानामार्गलंयो यत्र | १ | निमनमध्यं मनागन्तः | ३२४ |
| नानावाद्योद्भवैः पाटैः | ४५६ | निरन्तरघनध्वनः | ४५४ |
| नारदो देवता चात्र | ६३८ | निरन्तरैः पाणिघातैः | ३६२ |
| नारित प्रतिनिधिस्थलासां | २४४ | निरन्तरैः स्तुतिपदैः | १६० |
| नि विलम्ब्यावरोहो चेत् | ४८५ | निदोषबीजवृक्षोत्थः | ४६४ |
| निःशङ्कबीणेत्याद्याश्च | ३१६ | निदोषस्थोत्खातनाभेः | ४१६ |
| निःशङ्कः शाङ्गदेवश्च | १७३ | निर्दिष्टोत्सारिते गर्भे | ६३१ |
| निःशङ्कशाङ्गदेवेन | ६२२, ६३६ | निर्युक्तं पदनिर्युक्तम् | ३५ |
| निःशङ्कसंज्ञके ताले | १६७ | निशो ताशौ निसमिति | १७ |
| निःशङ्कनात्र च प्रोक्तः | ४५५ | निशो निताराप्रतिशं | " |
| निःशङ्कोऽत्र समाधत्ते | ४०७ | निषादाद् ग्रहतां नीतात् | ४०८ |
| निःशब्दा शब्दयुक्ता च | ४ | निषादे स्थायिनि प्रोच्य | ४०७ |
| निःशब्देति चतुर्धाक्ता | " | निष्कोटिमयोन्मृष्टम् | ३४७ |
| निःसाणवत् तुम्बकी स्यात् | ६३१ | निष्कोटिताव्याः स्थलितः | ३३१ |
| निःसारको राजविद्या* | १७२ | निष्कोटिताभिर्धं पाणि* | ३३५ |
| निःसारो सालमे गीते | ६०६ | निष्कोटितलेन हस्ते | ३३६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| निष्क्रामोऽधस्तलस्य स्यात् | ६ | पञ्चपाणिस्तु पाटैः स्यात् | ५६० |
| निष्प्रः केवलैः पाटैः | ५६० | पञ्चपाणेः कनिष्ठ्यादि* | २० |
| निहन्ति कर्तरीतुल्यः | ३३५ | पञ्चपाणी प्रवेणी तु | ११२ |
| नीरसोन्मृष्टतमूजातात् | ६३१ | पञ्चभिलंघुभिर्गौरी | १६७ |
| नृते प्रायः प्रयोक्तव्यम् | ५८१ | पञ्चमं ग्रहमास्थाय | ४६६, ५०६ |
| नेत्रवस्त्राञ्चलप्राणि | ६३५ | पञ्चमांशोर्नितं मानं | ४४४ |
| न्यस्तां पृष्ठे कनिष्ठ्याया | ३२६ | पञ्चमानमिताः शर्षं | ४४६ |
| न्यस्य स्कन्धे दक्षिणेन | ६१२ | पञ्चमी शम्पातालाम्यां | ३७० |
| न्यस्यते शुद्धनट्टायाः | ४६८ | पञ्चमो निःशङ्कलीलः | १७१ |
| न्यस्याल्पमाद्यान्महतः | २०० | षष्ठ्यमो लक्ष्यते स्थायी | ४१८ |
| न्यासः कर्णाटगोडस्य | ५०६ | पञ्चरन्ध्रे तथोद्गम्यो | ६२४ |
| न्यासस्तदा तृतीयं स्यात् | ४८२ | पञ्चलघ्वक्षरोच्चार* | ६ |
| न्यासस्तुल्लङ्घगीडस्य | ५०७ | पञ्चविंशतिराख्यात* | ४५८ |
| न्यासान्तमयवांशान्तं | ४१ | पञ्चविंशत्यक्षरं स्यात् | ३७३ |
| न्यासान्तो विविधः कार्यः | ४० | पञ्च षट् सप्त वा वस्तुनि | ५२ |
| न्यासापन्यससंन्यास* | ८० | पञ्च सप्त नवापि स्तुः | २५ |
| न्यासे कृते रामकृतेः | ४६६ | पञ्च स्वरान्यस्यते चेत् | ४१३ |
| न्यासोऽध्यायोज्य संवादि* | ८१ | पञ्चहस्तः पञ्चपाणिः | ५५० |
| न्यासो यदा स्यात् स्वस्थानं | ४६४ | पञ्चहस्तो हस्तपाटैः | ५६० |
| | | पञ्चाङ्गमुलः परीणाहः | ३८६ |
| | | पञ्चानारुह्य तुर्यं च | ४११ |
| | | पञ्चाफहा निषादात्तात् | ४१० |
| पक्षान्तरे वस्तुमात्रं | १०२ | पञ्चेति फूत्कृतोर्दोषान् | ४७७ |
| पङ्क्तिः कृत्वेष्टतालस्य* | २४४ | पटहस्य हुडुकायाः | ५४८ |
| पङ्क्तिभ्यां स्वस्वपूर्वाभ्यां | २६५ | पटहो मर्दलश्चाद्य | ३२० |
| पङ्क्तौ तदङ्कयोगाङ्कं | २७१ | पट्टसूत्रमयी तन्वी | ३८८ |
| पङ्क्तौ तु प्लुतहीनायां | ३११ | पताका तुर्ध्वगमनात् | ७ |
| पञ्चविंशद्वस्तपाटाः | ५२४ | पताकेन हतैर्जातिः | ५६० |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-------------------------------|--------------------------------|
| पतितात् सह पूर्वाभ्यां | ३०३ पाटः पाटाक्षरं यद्वा |
| पतिताद् गुरुलाभः स्यात् | २८८ पाटप्रभववाद्यानि |
| पतिताल्लः पात्यपातं | २६८ पाटभेदाश्च वाद्यानि |
| पतिते वृत्तगुर्वङ्का | ३०३ पाटवित्यासभेदाः स्युः |
| पदं वदन्ति वाद्यज्ञाः | ५७५ पाटस्य खण्डनाद् वाद्ये |
| पदैश्चतुर्भिरस्यां स्यात् | ५६० पाटाः किटकिटा मुख्याः |
| पद्यासनोपनिष्टेन | ५२१ पाटा जनकटा मुख्याः |
| पमागल्य विलम्ब्यामुं | ४२० पाटानां पृथगुक्तानां |
| पमान्दोल्य प्रकम्प्यापि | ४८५ पाटानां रचनां केचित् |
| परासां शेषकोष्ठेषु | २५२ पाटाश्च तद्विशोदहे |
| परामु शेषकोष्ठेषु | २४४ पाटेन यत्र तत्प्रोक्तं |
| परितोऽञ्जुलन्यूना | ३६३ पाटेरेव यतिः सान्द्रैः |
| परिधावङ्गुलमिता | ६११ पाटेर्बहुलदैकारैः |
| परिधिर्दृश्यते तत्र | ३६८ पाटेर्मूलपाटः स्यात् |
| परिधिस्तु तृतीयांशं | ४०० पाटेर्वा रचिता केचित् |
| परिधौ दधते मानं | ६१४ पाटेर्ब्यस्तेः समस्तेष्व |
| परिधौ संमिते ते च | ” पाटोऽज्योन्याङ्गजातयः |
| परिवृत्तः षोडशेति | ५२७ पाणिभ्यां वाद्यते तज्ज्ञैः |
| परिवृत्तो हस्तपाटः | ५४२ पाण्यन्तरस्य जनकः |
| परिग्रहस्थथा सा स्यात् | ४०० पातः कला तु सा ज्ञेया |
| परे कृतार्थे शास्त्राः स्यात् | २८८ पातयुक्ते पादभागे |
| परे परेऽजरोही स्यात् | ४६० पातयेत् पूर्वपूर्वाङ्गङ्कं |
| परेषु च निवृत्तेषु | ३०५ पादकम्पोज्य जनकः |
| परो द्विषरोज्य स्यात् | ३४७ पादस्युनेन पादेन |
| परो यद्यङ्गतापः स्यात् | २८८ पादभागः कलानां तु |
| परो स्वरो दृष्टीकृत्य | ४६६ पादभागत्रये निप्रो |
| पलैः स्यात् पञ्चविंशत्या | ६२६ पादभागा द्वादश स्युः |
| पश्चिमाद्यं प्रतिमुखं | ७६ पादभागा विहायाद्यां |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--------------------------|---------------------------------|
| पादभागेष्वानिविप्रा | १२३ पुष्पन्ति वीणावाद्यं ये |
| पादान्मुखं छन्दं स्यात् | १३० पुष्पं कलं तलं बिन्दु |
| पादोत्तरार्धतालानेन | ११२ पूरणापूरणभ्यां च |
| पादोनगुञ्जामात्रं स्यात् | ६३५ पूर्वं कृत्वा तमाहल्य |
| पादोनव्यङ्गुलं तुर्यं | ४०० पूर्वं ग्रहं द्वितीयं च |
| पादोनव्यङ्गुलं मानं | ४४७ पूर्वं प्रकम्प्य तस्यार्धं |
| पादोनव्यङ्गुलानि स्युः | ४६५ पूर्वप्ररोहे छिन्नेज्यो यः |
| पादोनमङ्गुलद्वन्द्वं | ४२५, ४६४, ४७२ पूर्वभागे तथाभोगे |
| पादोनमङ्गुलं मानम् | ४७१ पूर्वमानाधिकाः सन्ति |
| पादोनहस्तमात्रं च | ६२० पूर्वलङ्घमविपर्ययात् |
| पादोनाभ्यामङ्गुलाभ्यां | ४४६ पूर्ववत् काकुभौ दण्डः |
| पादोनेन यवद्वन्द्वं | ४४५ पूर्ववद्विभिकाः कार्या |
| पादोनेरङ्गुलैर्मानं | ४७२ पूर्वश्चेत् पतितो न स्यात् |
| पादोपापतसंपिष्टे | ११४ पूर्वस्मादपरं तुम्बं |
| पादिका वीणवी कार्या | ५१२ पूर्वस्या वा परस्या वा |
| पावो वेणुसमूलावः | ” पूर्वोर्ध्वस्थपदावृत्या |
| पिण्डिकां पुरिकाकारां | ५६५ पूर्वेषां पात्यमानानाम् |
| पित्तलात्युत्तमा जातिः | ६३२ पूर्वानि लक्षणं शेषम् |
| पिधाय गाढं वध्येते | ६१७ पूर्वानिमन्यदादित्ये |
| पिनाक्यां धनुषः कम्पा | ४२५ पूर्वोक्तमपरं लक्ष्म |
| पिडयेतां पुटद्वन्द्वं | ५३६ पूर्वोक्तमपरं सार्धं |
| पुटमध्ये दक्षिणेन | ३३६ पूर्वोक्ता द्वादश कला |
| पुटमेकं निहत्यातां | ५३७ पृथक्तृतीयभागोनम् |
| पुटमेकैकपाणिश्चेत् | ” पृथक्पञ्चयवी सार्धं |
| पुनः प्राञ्चं विधायाय | ४८६ पृथक्किरोत्तयोर्मनं |
| पुनरुच्चार्य तं कृत्वा | ५०४ पृथक्सद्विवर्गं मानं |
| पुनर्द्वेषा शीर्षकं तु | ३४ पृथक्सपादपादेन |
| पुनाति ब्रह्महत्यादि | ३२६ पृथक्सपादवानि स्युः |

२४६
४३७
४३८
५०१
४६०
४६५
६३१
६०६
४५३
५३२
४००
६२०
२१६
३६०
४०
८५
३०२
४७२
४५६
४६५, ४७१
३६४
४७०
४६१
४४७
४६२
४५५
४४८
४५८

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|---|
| पृथक्सप्तान्तरालानि | ४५८ प्रत्येकं मूलतः षष्ठं |
| पृथक्सार्धाङ्गुलानि स्युः | ४५९ प्रत्येकं यवपादेन |
| पृथक्सार्धाङ्गुलान्येषां | ४५७ प्रत्येकं वा पुटद्वन्द्वे |
| पृथगष्टमु रुद्रेषु | ४७१ प्रत्येकं षोडशांशेन |
| पृथग्विलम्बिते मध्ये | ६०० प्रत्येकमङ्गुलं मानं |
| प्रकम्प्य तत्परं प्रोच्य | ४२१ प्रत्येकमङ्गुलदलं |
| प्रकम्प्य लङ्घितं तस्मात् | ४२३ प्रत्येकमङ्गुलद्वन्द्वं |
| प्रकम्प्याथ तृतीयं च | ४१७ प्रत्येकमान्तरालेषु |
| प्रकरी स्याच्चतुर्वस्तु | १०२ |
| प्रकल्प्य तस्य षड्जत्वं | ४८६ प्रत्येकमष्टरुद्रा स्यात् |
| प्रकृतिः सर्ववीणानाम् | ३२८ प्रथमं प्रथितं प्राज्ञैः |
| प्रगल्भधीः सुगारीरः | ४३० प्रथमे पादभागे स्यात् |
| प्रचालनाद्गामहस्त* | ५३६ प्रथमे सप्तके स्थानं |
| प्रतापशेखरो जम्पा | १७२ प्रथमे स्थायिनं कृत्वा |
| प्रतापशेखरो दीप्तात् | १९० प्रदर्शनार्थं केषांचित् |
| प्रतिपादः पदैरन्यैः | १२० प्रदर्शनार्थमित्युक्ताः |
| प्रतिपादादिमे चैका | ” प्रदर्शनार्थमेतेषु |
| प्रतिमुष्कां तदाचष्ट | ३४५ प्रदेष्टव्या स्युश्चेद् यत्र |
| प्रतिहारोपप्रवो च | १६६ प्रमेदा घनवाद्यस्य |
| प्रत्यङ्गो मणगो लो द्वौ | १८० प्रमाणं मुनिदण्डस्य |
| प्रत्युपोहनमत्र स्यात् | ४४, ५३ प्रमाणमन्तरालेषु |
| प्रत्युपोहनमत्रोप* | ६२ प्रयुक्तं स्यात् प्रहरणं |
| प्रत्येकं तस्य चावृत्तिः | ३८५ प्रयुज्यं तीणि खण्डानि |
| प्रत्येकं ती नामगतैः | १० प्रयुज्यैकस्य खण्डस्य |
| प्रत्येकं त्रियवी सार्धा | ४५४ प्रयोगेऽभिस्तुतस्य स्यात् |
| प्रत्येकं द्विः प्रयुक्तेन | ५७१ प्रयोगो द्वौ पदैश्चान्यः |
| प्रत्येकं मानमाध्यातं | ४५०, ४५९, ४६२, ४६३ प्रयोज्यं नतं दीप्ते |
| | ४६२, ४६३ प्रवृत्तं चैककं वर्णं* |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------------|--------------------------------------|
| प्रवृत्ताभ्यां प्रवृत्तेन | ७८ प्रोक्तं यवेनाम्यधिकैः |
| प्रवेष्टनत्तरं कैश्चित् | ११२ प्रोच्य तृणं विलम्ब्याथ |
| प्रवेष्टानां तु प्रवृत्तं स्यात् | ११४ प्रोच्य स्पृष्ट्वा ग्रहं तस्मात् |
| प्रसिद्धिविधुरत्वेन | १९९ प्रोतोच्छाधिः स्थिता दृष्ट* |
| प्रस्तारसंख्ये नष्टं च | ” प्रौढं वा मधुरं सम्यग् |
| प्रस्तावादीनि सप्तापि | १६३ प्लुतः सार्धातिमात्रवत् |
| प्रस्तुतेषु विपर्यस्ताः | २७२ प्लुतपञ्कती सङ्ख्याः स्युः |
| प्रहारलाघवात् कृत्वा | ३४७ प्लुतमेरावधः पञ्कतेः |
| प्राक् चतुर्दशवंशात् ते | ४४४ प्लुतलाभस्तु गुरुवत् |
| प्राक् प्राग्यम्भोत्तरादीनि | ३६४ प्लुताकारितचतुराः |
| प्राक् प्राग्वदवरोही स्यात् | ४८८ प्लुताल्लम्भो निवृत्तिस्तु |
| प्राक्स्वरस्थानवदारुह्य | ४८७ प्लुते त्रयो विरिञ्चाद्या |
| प्राप्ते वामसंस्थास्तु | २०० प्लुते व्यङ्गं त्रिमात्रं च |
| प्राग्वच्चतुर्निवृत्तिः स्यात् | २९२ प्लुते मात्रायुतो वक्रः |
| प्राग्वत् परं मुरल्यां तु | ४६५ प्लुतो ज्ञेयो गुरुस्थाने |
| प्राग्वत्परं रुद्रदण्डे | ४७२ प्लुतो व्यस्ते समस्ते च |
| प्राग्वत् परं विश्वमूर्ते | ४६४, ४७२ |
| प्राग्वदाषष्ठमारोह* | ४८७ |
| प्राचां चतुर्णां मेरुणां | १९९ फुल्लपूर्वश्च विशेषः |
| प्राचीनं लघुतां नीत्वा | ४०१ फुल्लारदोषा यमलं |
| प्राचीनं स्वरमच्चार्यं | ४८८ फुल्लारप्रभवो वायुः |
| प्रायम्यसाम्यतो यद्वा | ४०५ फुल्लाररुद्रधमेकं स्यात् |
| प्राधान्येन विघातव्यं | ६११ फुल्लारेऽपि यथायोगं |
| प्राप्तान्तराण्यन्यकोष्ठे | ४२७ फुल्लारैः सावधानत्वं |
| प्रायेणैतानि दृश्यन्ते | ५५० फुल्लारो यमलः स्तोत्रः |
| प्रायो वाद्यप्रबन्धानां | ५६३ |
| प्राहुः परिसृतं मृग्यं | ३८३ बद्धं निरन्तरयति |
| प्रोक्तं मुदङ्गशब्देन | ५९५ बद्धं स्तुतिपदैस्त्यक्तं* |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|
| बद्धरज्जुनिवेशार्थं | ६१२ |
| बध्यप्रान्तातिरिक्तोऽङ्गो | ४२७ |
| बध्वा ततोत्कषाको च | ६१२ |
| बध्यमूलान्तरे मध्ये | ॥ |
| बहिस्तन्तीहृतिस्तूर्णं | ३३५ |
| बहुधा तद् गुणत्वेन | ३७६ |
| बहुधा मूर्च्छना हस्ताः | ३३६ |
| बहुधा स्थापना यस्यां | ५६५ |
| बहुधाविद्धकरणः | ३७४ |
| बहुलेन प्रयुक्ते च | ३७१ |
| बाह्यालतनं दीप्तं | ५७४ |
| बाह्याकायस्य यच्चर्मं | ५१८ |
| बिन्दुं मिथो मेलयेत् | ३७६ |
| बिन्दुरूपयुते प्रोक्तं | ५४० |
| बिन्दुरेकत्र तन्व्यां स्यात् | ३३६ |
| बिन्दुहस्तेन वा मन्त्रे | ३८८ |
| बीजदास्ययी सप्तं | ६१६ |
| बीजवृक्षोद्भवा पिण्डे | ६१४ |
| बृहती किनरीत्येषा | ३६६ |
| बृहतीदण्डमानं स्यात् | ३६३ |
| बृहतीमध्यमा लघ्वी | ॥ |
| बोद्धवाहं धनरवं | ६०० |
| बोल्लावण्येषाणिभ्यां | ४२१, ५४५ |
| बोह्याख्येन तेनास्यं | ५६५ |
| ब्रह्मणा च पुरा गीतं | १६६ |
| द्वयतेऽभिमतं तत्तु | ३८३ |

म

पुटसंख्या

४१

१४३

१६७

८६

६२१

४४

४४२

५७४

५६६

७६

४८८

११२

१५२

१८५

५६५

४१६

३५४

५५३

४२८

५३०

२२

५२४

२०६

३७६

३६४

२१५

भेदास्तलेन रिभितं

भेदास्तेऽन्यथेनामानः

भेदास्ते पङ्क्तिषु ज्ञेयाः

भेदेरेककलाद्यैः स्यात्

भेरीनिःसाणतुम्बक्यः

ध्रमरः कुञ्चितश्चेति

ध्रमरः संधितश्छिन्नौ

ध्रमरोज्जः क्रमाच्छीघ्रं

ध्रमरो हस्तपादः स्यात्

ध्रामणं वैपरित्येन

म

मं प्रकम्प्य स्थिरीभूय

मं विधाय ग्रहं तं च

मकन्दरः कीर्तितः

मगणश्च त्रयो दीप्ता

मगणो लघुतौ रज्ज्

मङ्गले विजये चैव

मङ्गलेषु च सर्वेषु

मण्डरूपकवेलायां

मण्डो न जी लघुयुद्धा

मण्डले चाल्यते यत्र

मण्डल्यौ लोहजे सुखं

मण्डल्यौ वक्रतयोर्वेली

मत्तङ्गोक्तास्त्विये वर्णाः

मदनः प्रतिमण्डश्च

मधुरं वाद्यते तज्जीः

श्लोकानामर्धानुक्रमः

पुटसंख्या

२७१

३५०

२८०

७६

३२०

५२७

३३१

३३३

५४१

३६१

४०२

४०३

१२७

१६६

१८१

६२६

३२२

१८५

५५२

६१४

६१२

६२०, ४७६

२१६

६०१

मधुरध्वानसिद्धयै तत्

मधुरोद्धतवाद्येषु

मध्यपर्वं कनिष्ठयाः

मध्यप्रान्तान्तराले तु

मध्यमं ग्रहमास्थाय

मध्यमं ज्येष्ठमित्येषां

मध्यमं स्थायिनं कृत्वा

मध्यमः षष्ठभागेन

ममध्यमाङ्गुल्यधोर्मुले

मध्यमादिग्रहः शास्त्रे

मध्यमादिग्रहे कार्या

मध्यमादिपर्वं ज्ञेयं

मध्यमादेः समाख्यातं

मध्यमानामिकाभ्यां तु

मध्यमायां दण्डद्वयं

मध्यमासारितादिस्थं

मध्यमासारिते ताले

मध्यमेऽष्टौ कलास्त्वाद्या

मध्यमे सप्तके स्थानं

मध्यमो मुक्तया तन्व्या

मध्यपङ्क्तिं ग्रहं कृत्वा

मध्यपङ्क्तिं ग्रहात् पूर्व

मध्यस्थानगताः सप्त

मध्यस्वरा नव दशकं

मध्यान्तयोश्च वा भिन्नं

मध्योऽङ्गुलमिति निम्नी

मध्ये च गाढां नीती

मध्ये कूर्मोन्नता लोदी

६८७

पुटसंख्या

५१४

६१०

४६४

४२५

४८८

१३२

४०६, ४८२

५२०

६४१

४०७

४०५

॥

४०२

३३३

३६८

१४६

१५३

१३७

३१४

३८८

४१४, ४१६, ४२०

४१३

४३६

४४३

१२७

६३८

६२१

३८६

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------------------------|------------------------------|
| मध्ये कुर्मोन्नतां लोहीं | ३६३ मातावृत्तः कलानां च |
| मध्ये पिण्डो यथाशोभं | ६४१ माता स्यादवरपाष्टाङ्गा |
| मध्ये लये छण्डणः स्यात् | ५८८ माधवी संभावितारब्धा |
| मध्ये वामपुटं वामं | ५४४ माधुर्यं सौकुमार्यं च |
| मध्योज्याङ्गुलविस्तारः | ६३५ माधुर्यरन्ध्रितयुक्ता |
| मध्योत्तरद्विरधरः | ३४७ मानं खानिस्तु मातव्या |
| मध्योत्तरद्विरधरे | ३५२ मानं खानेस्त्वष्टमांशं |
| मनोदण्डे सपादैकं | ४४६ मानं खानी त्वष्टमांशं |
| मनौ दण्डस्तु पादोनं | ४६० मानं जातिमुखाब्धे स्यात् |
| मन्द्रषड्जं ग्रहं कृत्वा | ४२० मानं तारादिरुध्राणि |
| मन्द्रस्थं पञ्चमं कृत्वा | ४१६ मानं नागेन्द्रदण्डस्थं |
| मन्द्रस्वरद्विरुच्चारत् | ३५० मानं महानन्ददण्डे |
| मन्द्रस्वरद्विराघातात् | ३५१ मानं यस्य मनाङ्गमध्यः |
| मन्द्राद्यन्तो भवेत् तारः | ३५२ मानं लक्षणमन्यत् |
| मर्दनेनेष्टकाचूर्णं | ३६५ मानं वादनचापे स्यात् |
| मर्दलाख्यं ततो वाचं | ३२३ मानं पण्मुखदण्डस्थं |
| मर्दने तालरहिते | ६०० मानं स्याद्यवपादोनं |
| मलपाङ्गं च मलपं | ५६२ मानहीनं तु यद्रन्ध्रं |
| मलपाङ्गं तु मलपं | ५८७ मानात्तराणिभिदुः |
| मलपा द्वौ मुख द्वौ द्वौ | १६२ मानेज्ज दृश्यते तेषां |
| मल्लतालो विरामान्तं | १८६ माने पञ्चमये कस्मात् |
| मल्लिकामोदताले तु | १८५ मानं चित्तं वातिगाध्यं |
| मल्लिकामोदविजयं | १७२ मार्गदेशीगतत्वेन |
| महत्त्वयान्तरा चेति | ४० मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रं |
| महाजनिकमन्तः स्याद् | ७८ मार्गस्थपट्टस्थानं |
| मात् तृतीयं व्रजेत् तस्मात् | ४२२ मार्गाः स्मृतत्र चत्वारः |
| मात्रापूर्वदले कार्यः | ७६ मार्गासारितकं लीला |
| मात्रामात्रमिति प्रोक्तं | ६० मितं कलाभिरष्टाभिः |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------|------------------------------|
| १६५ | मितः शिरः पृथक् प्रान्तं |
| १६० | मितश्चतुर्मुखे दण्डे |
| ३६० | मिता खानिः परं लक्ष्म |
| ३८२ | मिता खानिभवेत्तारं |
| ४५१ | मितानि पूर्ववच्छेषं |
| ४६४ | मितानि लक्षणं शेषं |
| ४५६ | मितानि सप्त प्रत्येकं |
| ४५६ | मितो दण्डो विश्वमुत्तौ |
| ४४९ | मिथ्या प्रयोगबाहुल्यं |
| ४६८ | मिलन्ति मुद्रिता वंशाः |
| ४५६ | मिलन्ति सर्ववंशानां |
| ४६५ | मिथ्ये खण्डत्रयं यत् |
| ४५६ | मिथ्योऽन्तः षड्विधः प्रोक्तः |
| ४५६ | मिथ्यो द्रुतचतुष्ठा स्युः |
| ४५६ | मीयते च ततोऽस्माभिः |
| ४५६ | मीयन्ते सर्वभेदस्थाः |
| ४५६ | मुकुन्दे तु लघुबिन्दुं |
| ४५६ | मुक्ततन्वीभवं कृत्वा |
| ४५६ | मुक्ततन्व्याश्च षड्जः स्यात् |
| ४५६ | मुक्तशब्दात्मकं देहं |
| ४५६ | मुक्ते तु ताररन्ध्रेऽन्यं |
| ४५६ | मुक्त्वा तृतीयं स्पृष्ट्वा च |
| ४५६ | मुखं दक्षिणपाणिस्थं |
| ४५६ | मुखतालनं वा कार्यं |
| ४५६ | मुखप्रतिमुखं स्यातां |
| ४५६ | मुखयोर्बाह्वोर्दत्वा |
| ४५६ | मुखरन्ध्रं च तस्या स्यात् |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------|-------------------------------|
| ४६० | मुखरन्ध्रात् ताररन्ध्रं |
| ४४६ | मुखरन्ध्रादङ्गुलानि |
| ४४८ | मुखरन्ध्रेऽङ्गुलं मानं |
| ४६२ | मुखात्परं प्रतिमुखं |
| ४५८ | मुखार्धमानमध्यासो |
| ४६२ | मुखे त्वष्टाङ्गुलः पिण्डः |
| ४६२ | मुखे मुखे शङ्कुवश्च |
| ४५६ | मुखे वामे तु श्लेकारः |
| ४५६ | मुख्यवीणाऽभ्युक्तस्य |
| ४५६ | मुख्येयं सर्ववीणानां |
| ४५६ | मुद्रिताः स्वररन्ध्राः स्यात् |
| ४५६ | मुद्रितास्तु ग्रहः प्रोक्तः |
| ४५६ | मुद्रिते पूर्वपूर्वस्मात् |
| ४५६ | मुद्रितेषु भवेत् षड्जः |
| ४५६ | मुद्रितोऽस्या ग्रहो वंशे |
| ४५६ | मुख्याङ्गोऽपरवंशः |
| ४५६ | मुष्टिग्राह्यश्च मध्योऽस्याः |
| ४५६ | मुष्टः सारण्या तन्वी |
| ४५६ | मुहुर्विधायोपशमं |
| ४५६ | मूर्च्छनारागभाषादेः |
| ४५६ | मूलतः पञ्चमांशोनं |
| ४५६ | मूलतः सप्तमांशोनं |
| ४५६ | मूलतः सप्तमांशोनं |
| ४५६ | मूलतश्चात्रपर्यन्तं |
| ४५६ | मूलमुत्पीड्य धृत्वा तां |
| ४५६ | मूलशब्दोऽन्ययं याति |
| ४५६ | मूले दण्डं त्रिषुङ्गायं |
| ४५६ | मूलेन संमिता कार्या |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|---------------------------|-----------|------------------------------|-------------|
| मुकुला क्षीरपाकेन | ५१४ | यत् शुद्धादिभिर्बद्धः | ५८५ |
| मेघनिर्घोषगम्भीरं | ६२८ | यत् सारण्या हृत्ति | ३३५ |
| मेढकात् पुरतः शङ्कुः | ३६४ | यत् स्याद् गुरुरन्ते सा | ३७४ |
| मेढोदुष्टं जाराकान्तं | ६३४ | यत् स्वस्थानमाद्यं तत् | ५०५ |
| मेरुः संयोगमेरुश्च | १६६ | यत्नाङ्गरूपकं प्राह | ५६० |
| मेघापकचोपशमं | ५६२ | यत्ताभिधरे क्षीराः | ३२८ |
| मेघपार्युदलीबद्धे | ६२४ | यत्तारम्भविधिः स स्यात् | ३७२ |
| मैवं तद्धातुभेदानां | ३५७ | यत्तावमुष्टमाचष्ट | ३५७ |
| य | | यत्तासौ मलयः प्रोक्तः | ५८७ |
| | | यत्तोद्ग्राहः सकृद् द्विर्वा | ॥ |
| | | यथा कलतलाख्याभ्यां | ३८१ |
| यः कफोपहृताद् वक्त्रात् | ४७७ | यथाक्षरं द्विसंख्यातं | १४०, ३८५ |
| यः करेण कराभ्यां वा | ५५५ | यथाक्षरं सर्वमार्थं | १४० |
| यः खण्डोऽतिद्रुते माने | ६०७ | यथाक्षरद्विकलयोः | ३७८, ३८० |
| यः खण्डो वायले प्राहुः | ५७६ | यथाक्षरश्च द्विकलः | १० |
| यः शेषः स प्लुताल्लभ्यः | २२५ | यथाक्षरस्य युगमस्य | ३७० |
| यतस्तं नौमि विस्तारं | ३१४ | यथाक्षरस्योत्तरस्य | ३६७, ३७३ |
| यत्तिताललयज्ञत्वं | ६१० | यथाक्षरादितितयं | १५७ |
| यत्तिताललयाभिन्नः | ६४६ | यथाक्षरादिभेदेन | १५६ |
| यत्तिमात्रावबोधेज्ज | ६४२ | यथाक्षरेण वा तत् | ४४ |
| यत्तिरोता च गजरः | ५६२ | यथाक्षरेणोत्तरेण | ६२, ८५, ३७० |
| यत्तिर्जन्मका च सा तज्जैः | ५६३ | यथाक्षरे विषेणोज्ज | १३ |
| यत्तेर्लयस्य न्यासस्य | ६४५ | यथाक्षरोत्तरे शीर्षं | ११० |
| यत्वादिपूर्वकं ज्ञेयं | ॥ | यथा तथा क्वचित् तालैः | ५६६ |
| यत् तन्मष्टमाख्यातं | २१५ | यथा यथा स्वरे व्यक्ती | ४२६ |
| यत् द्वादश गा गोज्जे | ३७८ | यथायोगं मर्दलादि | ५६४ |
| यत् निःशङ्कुवीणा सा | ४२८ | यथा विरतिरन्यत्र | ३६२ |
| यत् बोल्लावणी सोक्ता | ५५१ | यथाशोभं विदारी च | १६३ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--------------------------|------------------------------------|
| यथाशोभं कांस्यतालं | १६६ यद्वा शाब्धेयमुदिता ८२ |
| यथासंभवमेतस्यां | ६२५ यद्वा षट्प्लुतहेत्वङ्कं २२५ |
| यथास्थानं प्रयोक्तव्याः | ३५८ यद्वा न्यवस्तुजां शोभा ५६५ |
| यथास्वं स्वरभेदानां | ३४२ यद्वा गीतानुत्ताभ्यां ३२१ |
| यथास्वं स्वरदेशाणीः | ३६५ यन्मेढकशिरोमध्यमात् ३६४ |
| ययैकैकस्वराधिक्यं | ५६६ यमलं तुण्डकित्योश्च ५१५ |
| यदङ्कुयोगादन्त्योऽङ्कः | २०६ यवत्रयं पृथक्सार्धम् ४४६ |
| यदा डोम्बक्रियः प्रोक्तं | ४६४ यवत्रयं सार्धपादं ४४७ |
| यदा तदा गोडकृतेः | ५०० यवद्वयं पृथङ्मानम् ४७० |
| यदा तदाद्यं स्वस्थानं | ४६५ यवद्वयार्धिकः सार्धः ४४६ |
| यदा तदा द्राविडः स्यात् | ४२३ यवन्पुनाङ्गुलमितं ४०० |
| यदा तदा द्विरधरं | ३५१ यवपादाधिकं मानं ४६२ |
| यदा तदा भैरवः स्यात् | ४११ यवपादाधिका त्रिशद् ४४७ |
| यदा तदा वर्धमानं | १५६ यवपादोनापादोनं ४६२ |
| यदा तदा स्यात्कामोदा | ४१७ यवस्य चाष्टमागेन ४५४, ४७१ |
| यदा पूर्वक्रमाद् गीताः | १५६ यवस्य सार्धपादाभ्यां ४५०, ४७२ |
| यदा प्रसारिताङ्गुलः | ५३३ यवस्य सार्धपादेन ४४६, ४५४, ४७१ |
| यदा भवति कैशिक्या | ५०६ यवस्याधिकं मानं ४६३ |
| यदा वराटघाः स्वस्थानं | ४६० यवस्याष्टमभागेन ४५० |
| यदा वाद्यपुटद्वन्द्वं | ५३५ यवाधिकं सपादेन ४४६ |
| यदा विदारीविच्छेदं | ३४५ यवाधिकव्यङ्गुलं तु ३६४ |
| यदा विलम्बितलयं | ॥ यवाधिकाङ्गुला ज्ञेया ४४७ |
| यदिदं लक्ष्यमास्तोक्तं | ५५१ यवाधिका जातिमुखं ॥ |
| यद्वा कलाप्रयोगेण | ८२ यवाधिकाभ्यां सार्धाम्याम् ३६६ |
| यद्वा लक्ष्यप्रधानानि | ४०४ यवाधिकैर्दण्डमानम् ४६४ |
| यद्वा लघ्वादिखण्डानां | १७३ यवान्वितैः सपादेन ४६५ |
| यद्वा वर्णसरेणाथ | ५७४ यवार्धसहिता रुद्रं ४४८ |
| यद्वा शताशता तालः | १६ यवार्धेनाधिकं तस्य ४७० |

पुटसंख्या

पुटसंख्या

| | | | |
|--------------------------------|----------|--------------------------|----------|
| यवाधौनाङ्गुलद्वन्द्वं | ४०० | यावत् पूरणमावृत्तेः | ५७६ |
| यवाष्टमांशयुक्तानि | ४६३ | यावत्तो यत्र रागे स्युः | ५११ |
| यवाष्टमांशसहिता | ४७१ | युक्तं करैः क्रमादेभिः | ३३८ |
| यवाष्टमांशसहितैः | ४६३, ४६४ | युक्तं खण्डय्यं गुडैः | ५७१ |
| यवेन च सपादेन | ४७२ | युक्तं सार्धेन पादेन | ४६३ |
| यवेनाभ्यधिकं मानं | ४६५ | युक्तप्रहारी च करो | ४६६ |
| यवनव्यङ्गुलं पूष्टं | ३६४ | युक्तमन्तरमानं स्यात् | ४७१ |
| यवनमङ्गुलं मानम् | ४४६ | युक्ता यवेन सार्धेन | ४४७, ४७१ |
| यवनमङ्गुलद्वन्द्वम् | ३६६ | युक्तेनैककलायीयां | ४६ |
| यवोनाभ्यामङ्गुलीभ्यां | ४०० | युक्तैर्यवेन पादेन | ४५४ |
| यस्तु दक्षिणहस्तस्य | ५३३ | युक्तैर्यवस्य पादोनं | ४६४ |
| यस्त्वादितारो मन्त्रान्तः | ३५० | युगपद् यत्र तत्तुष्यं | ३५६ |
| यस्मात् स यस्यामूर्ध्वयां | २६८ | युगपद्वादनं रूपं | ३४४ |
| यस्मिन् विषमपाणिं तं | ५३६ | युग्मतालः प्रतिमुखं | १३७ |
| यस्य तत्क्रमिकावाद्यं | ६४१ | युग्मप्रवृत्तवत् तस्मात् | ११० |
| यस्य निष्पादकं सोऽत्र | ५३२ | युग्मस्य ये त्रयो भेदाः | २५४ |
| यस्यां विविरितन्ते च | ५८६ | युग्मे द्विकलयुग्मेन | ८५ |
| यस्यां स्याद् वादकस्यूलं | ४७१ | युग्मोज्जः प्रथमस्तेषां | ८३ |
| यस्यामसौ ध्रुवा ज्ञेया | ३८१ | येऽप्ये जल्पवितण्डाब्जाः | ६०० |
| यस्यामुपक्रमे मध्ये | ५५४ | ये चत्वारस्त्रियोगोत्थाः | २८० |
| यस्यास्तां करटामाहुः | ६५४ | ये पाटाः पट्टे प्रोक्ताः | २५३ |
| यस्यास्तूतीयखण्डेऽजटौ | ३७३ | ये पूर्वोक्तकर्माः सन्ता | ४५१ |
| यस्यासौ द्वयः प्रोक्तः | ६१७ | ये प्रहाराविशेषोत्थाः | ३४६ |
| या पक्ववेणुबल्कोत्था | ३२८ | यैः कश्चिदङ्गुलैर्नवभिः | १३० |
| या मात्रा वस्तुनोज्ज्या स्यात् | ३७५ | यैर्द्वैः पतितैर्नष्टे | २२५, ३०१ |
| या हस्तसंमिता दैर्घ्यं | ६११ | यो ग्रहः क्रियते वंशे | ५१० |
| याः षोडश कलाः प्रोक्ताः | १०५ | यो देहदण्डमित्यादि | ६०० |
| यादकं चतुष्कले वस्तु | ११० | यो घत्ते सप्त सप्ताणि | ६१७ |

| | पुटसंख्या | पुटसंख्या | |
|----------------------------|-----------|---------------------------|-----|
| यो यस्य मण्डलीयुक्ते | ६२१ | रन्ध्रेष्वष्टसु तारादि° | ४५६ |
| यो वायते वाद्यखण्डः | ५६३ | रन्ध्रेस्तोषेकान्तेरेषु | ६१४ |
| यो बीणावादनं वेत्ति | ४२६ | रागस्य तस्य तैरेव | ४२५ |
| योमेनैकेन निष्पन्नः | ५५६ | रागाः प्रोक्ताः पथानेन | ५११ |
| योगोऽन्योपान्त्यपेच्छानां | २५७ | रागाभिन्न्यक्तिगताः स्तुः | ४०७ |
| योग्या दलमपेषु स्तुः | २७१ | रागोऽप्यञ्चमः स्थायी | ४२१ |
| | | रागे कुर्वन्ति बङ्गायै | ४०४ |
| | | रागे प्रथममञ्चर्या | ४६६ |
| | | रागे शुद्धराट्या सा | ४६८ |
| रक्तं विरक्तं मधुरं | ६४४ | राजचूडामणिं नत्वा | १६८ |
| रक्ताचन्दनजातुं सर्वान् | ३८७ | राजचूडामणिर्दो द्वौ | १८१ |
| रक्तचन्दनजो यदा | ३६६ | राजचूडामणिं रङ्गं | १७१ |
| रक्तिमाधुर्यविरहात् | ४६८ | राजतालो वर्णतालः | ॥ |
| रक्तिरागिद्विकस्यानु° | ६१० | राजनारायणाख्यञ्च | १७२ |
| रगणो ढेङ्किता कैश्चित् | १८७ | रामक्री स्यादतो प्रोक्ता | ४२१ |
| रङ्गः शीरङ्गचञ्चर्या | १७१ | रामासंविधायस्यां ग | ४२६ |
| रङ्गश्चतुर्दशो नच | १८६ | रिगो रिदलमेताभि | ५०४ |
| रङ्गामरणताले तात् | १८३ | रिभितो द्वौ लघू गान्ती | ३५३ |
| रज्ज्वा नियन्त्रिते गाढं | ५२६ | रिखेव ग्रहमात्रित्य | ५०४ |
| रतिलीलः सिहलीलः | १७१ | रंकारजनाद्रज्जा | ६२० |
| रन्ध्रसितैर्गुणैर्गाम् | ५१८ | रुज्जा इमको इक्ता | ३१० |
| रन्ध्रन्यस्तैर्गुणैर्बद्धः | ६२७ | रुक्म कृतप्रतिवृत्तः | ३४४ |
| रन्ध्रमध्ये काशमयीं | ५१४ | रूपक्रियाविपर्ययात् | ॥ |
| रन्ध्रमघोडपुलमितं | ५१७ | रूपपूर्तो निवर्तन्ते | २६८ |
| रन्ध्रस्य मुखसंयोग° | ४३६ | रूपगवो प्रापकाङ्क्ष्यः | २८६ |
| रन्ध्रेष्विलेङ्गमूलोक्ते | ४४२ | रचितो भ्रमरो विद्युत् | ५२६ |
| रन्ध्रेऽप्राणामनिर्गम्यं | ६३५ | रक्षभ्रमरघोषाञ्च | ३३८ |
| रन्ध्रे तस्य विनयेन | २४२ | रेफस्तेस्वरवो घातः | ३५६ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------------------------------|
| रेफात्मभ्यां कराभ्यां चेत् | ५३४ लघुर्गुहृतद्वन्द्वं |
| रो द्रुतो द्वौ गुरु स्कन्दे | १९६ लघुर्द्रुतद्वयं चान्ते |
| रोविन्दं तस्य षण्मात्रः | १२० लघुर्द्रुतानां त्रितयं |
| रोविन्दकोत्तरे सप्त | ३४ लघुर्द्रौ द्वौ गुरुरिति |
| | लघुर्निन्तरे त्वस्मिन् |
| ल | लघुर्गवातिर्कीर्णोऽसौ |
| | लघुस्थाने गुरुर्लघुः |
| लक्षणस्थं द्वितीयादि | ५१० लघुहीनादुपक्रम्य |
| लक्ष्यन्त्यन्तराण्यासां | ३६५ लघुर्गुहृतं ग्रेहं न्यासः |
| लक्ष्म द्विकलवत् किनु | ४६ लघुर्गुहृत्य तृतीयं च |
| लक्ष्ममात्रमथो वक्ष्ये | ५८६ लघुर्गुहृत्य द्रुतं कृत्वा |
| लक्ष्मान्ताहरणादीनां | ११२ लघुर्गुहृत्य लघोः पूर्वो |
| लक्ष्मेवं योजयेत् सर्वं | ४८६ लघुर्गुहृत्याधिरस्यार्धं |
| लक्ष्यज्ञास्त्वावर्जं प्राहुः | ६१२ लघुर्गुहृतिर्तीयो च |
| लक्ष्ये तु दृश्यते स्थायी | ४११ लघोरङ्के न लभ्येत |
| लक्ष्ये तु पञ्चमः स्थायी | ४२२ लघ्वन्ते द्रव्यं सिद्धं |
| लक्ष्ये तु सर्ववशस्थाः | ४८६ लघ्वादितालो लोकेऽसौ |
| लगो लपो गपो चेति | २७० लघ्वी सा किनरी प्रोक्ता |
| लग्नां द्वितीयप्राप्तये | ३६१ लघ्वीदण्डगतं दीर्घं |
| लघवोऽष्टादशान्ये स्युः | ३६५ लघ्व्याः स्यादं बृहती स्नायुः |
| लघवोऽष्टौ गुरुलाघव | ३७३ लङ्घ्येल्लङ्घितादूर्ध्वं |
| लघुगुर्वात्मैकैर्घातिः | ३५३ लघो गपो पमो लाद्रः |
| लघुर्द्रयं द्रुतश्वैकः | १७५ लपो गलो प्लुतः कीर्तिः |
| लघुनि व्यापकं ह्रस्वं | १७३ लघुप्लुतो सगणोजङ्गः |
| लघुप्लुतावृत्तः स्यात् | १६४ लघ्वाङ्क्युनितात्प्याङ्कः |
| लघुमेरावधः पङ्क्तये | ३०२ लघ्वाङ्क्युयोगहीनेऽन्ये |
| लघुमेरुवदन्यत् | ३०६ लघ्वेधेऽधोजनं शेपात् |
| लघुमेरी कोष्ठपङ्क्तयः | २५१ लभ्यते तत्र नष्टाङ्कः |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|--------------------------------|
| लयं तालं विरामं च | ३६१ लौह्या सारिकया युक्तं |
| लयत्रैघादादिमध्यं | ३० |
| लयप्रवृत्तिनियमः | ” व |
| लयाः क्रमात् समादौ स्युः | ३२ |
| लयादिन्यासापन्यासं | ४६७ वंशं पूरयते तज्जैः |
| लयान्तरे स्वतन्त्रे स्यात् | १४० वंशं प्रयुज्जीत शृङ्गारे |
| लयोऽङ्गरे पदे वाक्ये | २८ वंशं पावः पाविका ज |
| ललितं यद्युद्वेगं | ५७१ वंशः सप्तदशो लक्ष्म |
| ललितायास्तदा प्रोक्तं | ५०६ वंशपद्धतिरेषा च |
| ललिते द्वौ द्रुतो लो गः | १६३ वंशपद्धादयेऽग्रन्धः |
| ललितो मधुरः स्निग्धः | ४७४ वंशवीणाशरीराणां |
| ललित्यं कोमलत्वं च | ४७६ वंशवीणाशरीराणि |
| लाघवतुर्दश चत्वारः | १४३ वंशाश्चतुर्दशैवैवं |
| लिखेदं दक्षिणसंस्थैवम् | २०४ वंशश्रेणीमिमामाह |
| लीनाकृतिं द्विरुच्चार्य | ३६४ वंशस्थैर्नवमीं रुद्धीः |
| लीलाकरणयत्याख्यौ | १२७ वंशस्य मुखरन्ध्रस्थ |
| लीला दली पः करणं | १६२ वंशानामल्पमानानां |
| ललितेन सकोणेन | ५५३ वंशान्तरान्तरेऽस्तुत्यं |
| लेख्यपङ्क्त्युपरिश्रेणी | २७२ वंशेऽधः सवैरुन्धेभ्यः |
| लोके मालवगोऽसौ | ५०७ वंशे ग्रहस्तुतीयोऽस्य |
| लोके सालमगोऽसौ | ५०८ वंशे तुल्यः प्रकाराः स्युः |
| लोको व्यवहिताङ्गुष्ठः | ५३६ वंशे देशीस्वराणां |
| लोहजं जालकं गर्भं | ६३६ वंशे वसौ दण्डमानं |
| लोहामय्योः सारिकयोः | ६४३ वंशेष्वस्यामपि प्रायः |
| लौकिकैर्बैदिकैर्वापि | १६३ वक्तुं तदुक्तरीत्या हि |
| लो द्रुतो प्रतिलातः स्यात् | १८६ वक्त्राभ्यां चर्मणी वृत्ते |
| लो द्वौ चतुर्द्वौ द्वौ लौ | १८३ वक्त्रे फूत्काररन्ध्रस्थे |
| लोहीं कांस्यमयी यद्वा | ३८६ वक्षोपे जानुनोर्मध्ये |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|
| वक्ष्यते स्वरवीणात | ३१६ |
| वक्ष्यामः स्वररन्ध्राणां | ४३१ |
| वक्ष्यामहे मुनिमतात् | ३६७ |
| वदनाभ्यां सह स्यातां | ६१२ |
| वदन्ति वादनं तस्याः | ६२३ |
| वधो तद्वन्धविन्यस्ते | ५६५ |
| वनमाला हंसनादः | १७२ |
| वपौ ह्रींभुक्तिकोऽङ्गुष्ठ | ५४६ |
| वर्णः पञ्चदशस्तद्वत् | ३६५ |
| वर्णग्रामविभागं च | ३६१ |
| वर्णभित्तो द्रुतो लो गः | १८१ |
| वर्णव्यक्तिः सुरेखत्वं | ६१० |
| वर्णा दिगिदिगीत्येते | ६०७ |
| वर्णानां टिरिकीत्येषाम् | ५७७ |
| वर्णानुकरणं ताल | ८२ |
| वर्णालंकारस्थात्वादि | ४४३ |
| वर्णालंकारनिष्पत्तिः | ४४२ |
| वर्तुलः सरलः श्लक्ष्णः | ४३० |
| वर्धन्ते च ह्रस्वते चेत् | ५६१ |
| वर्धमानाङ्गमित्यन्ये | १३३ |
| वर्धमानासारितं तु | १२४ |
| वर्धमानासारितानि | १५६ |
| वलये तान् गुणान् सम्पक् | ५१८ |
| वलिश्च बल्लिपाटः स्यात् | ५१० |
| वल्लीजं तर्जनीस्थीत्यं | ६२५ |
| वसन्तो न्मी विरामन्त | १६० |
| वसुरष्टाङ्गलः प्रोक्तः | ४३३ |
| वसुबंधो तु दण्डस्य | ४४७ |
| वसौ वंशे यवाघर्षेन | ४६३ |
| वस्तुतः सर्वेयन्त्रेषु | ४२५ |
| वस्तुमात्रैरनियुक्तं | ३५ |
| वस्तुनां भिन्नवाक्यत्वे | ३५ |
| वस्तुनामेकवाक्यत्वे | " |
| वस्त्वर्षेण्विह गीताङ्ग | १०२ |
| वा इत्यन्ते मुखानां स्यात् | १४३ |
| वांशिकस्य गुणानेतान् | ४८६ |
| वांशिकस्येति दोषाः स्युः | ४८० |
| वांशिकानामिति प्रायः | ४८१ |
| वाञ्छानुगो दुहो व्यक्ती | ४६६ |
| वादकैः प्रक्षितमुखः | ६०८ |
| वादको दशयेद् वाद्ये | ३६२ |
| वादकोद्धोषगम्भीरः | ५६६ |
| वादको वादकतां स्यात् | ६०० |
| वादनं करमुग्धन | ६२७ |
| वादनं कुटुषाभ्यां तु | ६१४ |
| वादनं नखरापेण | ५३५ |
| वादनं विविधं नागं | ५१२ |
| वादनरीयं परे प्राहुः | ५८४ |
| वादनं समुद्भूतं | ५४४ |
| वादयित्वा ग्रहात् नृपं | ४१६ |
| वादयित्वा निषादं च | ५०४ |
| वादयित्वा यति मध्ये | ५७५ |
| वादयेत् किंनरीवीणा | ३६१ |
| वादयेत्लघुहस्तत्वात् | ५६१ |
| वादे च वादनं कार्यं | ६०० |
| वाद्यं दक्षाध्वरध्वंसं | ३२१ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|
| वाद्यं पक्षिस्तं चेति | ३३८ |
| वाद्यं विच्छिद्य विच्छिद्य | ५८८ |
| वाद्यखण्डस्तालकला | ६०४ |
| वाद्यतन्वीततं वाद्यं | ३१८ |
| वाद्यते किरकिट्टेति | ६४३ |
| वाद्यते गुरुमुखायां | ३४४ |
| वाद्यते छण्डणोज्जे च | ५८२ |
| वाद्यते यल सा प्रोवता | ५५७ |
| वाद्यते लट्ठं तर्ज्जः | ३४४ |
| वाद्यप्रबन्धस्तद्भेद | ५६१ |
| वाद्यस्येति गुणाः प्रोक्ताः | ६४५ |
| वाद्यनामुभयेषां स्यात् | ५५० |
| वाद्यान्तरेष्वपि प्राज्ञैः | ५५१ |
| वाद्यान्यतस्तदादीनि | ३२२ |
| वाद्यान्याश्चावगादीनि | ४७४ |
| वाद्यावनहनार्थं तद् | ६३४ |
| वाद्येनाद्यं निबद्धं चेत् | ५५६ |
| वाद्ये समस्तभेदज्ञः | ४६८ |
| वाद्येकदेशवर्गात्तम् | ५६१ |
| वामं तु दक्षिणः सार्धं | ५१८ |
| वामश्चोच्छलितो हस्तः | ५३६ |
| वामस्य कवलान्तःस्थः | ५१८ |
| वामस्य चरणस्यापि | ५४६ |
| वामस्य तिसृमिस्ताभिः | ३६१ |
| वामस्य मध्यमाङ्गुल्या | ३३४ |
| वामस्यानामिकाङ्गुल्या | ४३६ |
| वामस्यानामिकावर्ज्या | ३८८ |
| वामहस्ताधृता सा च | ६२६ |
| वामाङ्गुलाग्रभागेन | ५१४ |
| वामाङ्गुल्येन तृध्यायः | ३५७ |
| वामास्ये दक्षिणस्थेन | ६१७ |
| वामेन तलहस्तेन | ५५३ |
| वामेन धारयेच्छक्ति | ६३६ |
| वामेन पीडनाद् वाद्ये | ५४० |
| वामेनादाय तत्कोणे | ४२८ |
| वामेनाद्यं निबद्धं चेत् | ५५६ |
| वामोरमुल्लालान्नाग्रं | ४२८ |
| विकटः सदृशः पाट | ५२४ |
| विकल्पो बहुधा तेषु | १२६ |
| विक्षिप्ताख्या पताका च | ७ |
| विक्षेपोऽधस्तलस्यास्य | ६ |
| विग्निका वाद्यशास्त्रेऽस्मिन् | ६२० |
| विजयानन्दसंज्ञे तु | १८५ |
| विजयो विजुमाली च | १२७ |
| वितस्तिमात्रं दीर्घं स्यात् | ६२२ |
| वितस्तिमात्रदैर्घ्यः स्यात् | ६२१ |
| वितस्तिमात्रदैर्घ्या स्यात् | ६२६ |
| वितस्तिमात्रद्वयं हस्तः | ३२३ |
| वितस्तिमात्रदैर्घ्यः स्यात् | ३६१ |
| वितालः स्याद् द्रुतलघुः | ५८५ |
| वितालस्त्वादिमव्यान्त | ५६० |
| विदारी स्यात् तृतीयाय्ये | ३७० |
| विदारीणां भवेदत्र | ८१ |
| विदारीभागयोः साम्यात् | ४० |
| विदार्यः स्युः स्तुतिपदः | १६० |
| विदार्योः पदवर्णादि | ४० |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|---------------------------|--------------------------------|
| विद्यावन्तः स्वसमये | ५७७ विलम्ब्य तदर्थः स्थं वा |
| विद्युद्विलासो भणितः | ५४१ विलम्ब्य तुर्यमान्दोल्य |
| विधाय तं पुनः प्रोच्य | ५८७ विलम्ब्य स्फुरितं तु द्विः |
| विधाय तुथुकरणे | ५१६ विलम्ब्यातोऽजरोद्देग |
| विधाय वादको वाद्यं | ५६६ विवादिनोऽल्पकान् कुर्याद् |
| विधाय सप्त रन्ध्राणि | ५१३ विविधः प्रतिवस्तु स्यात् |
| विधायान्गुलिसंचारी | ४६६ विविधश्चतुरश्रे स्यात् |
| विधायान्जनिकामेकां | ६२४ विविधाम्यां वैककाम्यां |
| विधिनैककलाद्येन | ३५ विविधैकैकसंयोगः |
| विधिविषयकोष्ठोक्तः | २६८ विविधोऽन्तिमस्त्वन्ते |
| विधेयो विविधो वेण्यां | ११४ विविधोऽज्याद्यभागे स्याद् |
| विपञ्चयादो यदा त्वस्याः | ३४४ विविधोऽज्याद्यमङ्गं स्याद् |
| विभक्ताङ्गमध्यवर्ती | १४० विविधो द्विविदारीकः |
| विभक्ताङ्गेषु तेषु स्युः | १३७ विविधो वा त्रिधानतोऽय |
| विरलव्याप्तिरारत्नात् | ४३६ विविधो वा प्रवृत्तं वा |
| विरलाङ्गुलिमिवाद्यं | ५३३ विविधो वैककं वज्र |
| विरामादिद्रुतो द्वौ च | १८७ विवृत्तः स्याद् विदारी तु |
| विरामान्तं बुधैस्तता | १६३ विशाला चैत्रव कला |
| विरामान्तं लघुतौ च | ” विशाला संगता वाद्या |
| विरामान्तद्रुतद्वन्द्व | १८० विशालाद्या संगता च |
| विरामान्तौ द्रुतौ बिन्दुः | १६३ विशालायां संगतायां |
| विलम्बिते गीतलये | ३६२ विशिष्टो घातुना तेन |
| विलम्बिते तृतीयेऽय | ४६६ विधेयः कथ्यते त्वेव |
| विलम्बिते द्वितीयेऽय | ४८२, ५१० विशेषोऽयं भवेदस्मिन् |
| विलम्ब्य कम्पयित्वाद्यं | ४६५ विशेषोऽयमिहान्तु |
| विलम्ब्य कम्पितं कृत्वा | ४६६ विश्रान्तियुक्तया काले |
| विलम्ब्य चाहतं कृत्वा | ४८६ विश्रान्तौ रङ्गसंस्थानां |
| विलम्ब्य तं द्रुतीकृत्य | ५०२ विश्लिष्टाङ्गुलिसंचारम् |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------|----------------------------|
| ४२१ | विश्वमूर्तिवदन्यतु |
| ४१४ | विश्वमूर्ते दण्डमानं |
| ४६३ | विषमायामूर्ध्वपङ्कती |
| ५०३ | विषमोऽर्थेऽपि संस्थे |
| ३७७ | विसर्जिता बहिर्यता |
| ४४ | विस्तारकरणाविद्धं |
| ११४ | विस्तारजञ्च संघातं |
| ७८ | विस्तारधातुना हीनः |
| १२० | विस्तारधातुभेदानां |
| ४७ | विस्ताराविद्धकरणं |
| ८५ | विस्तारो हस्तमात्रः स्यात् |
| ८२ | विस्तीर्णनादभेदत्वात् |
| ४० | वीणादण्डान्तककुम्भं |
| ८३ | वीणावाद्यं मानतालं |
| १२० | वीणाशीर्षाद्विस्तारच |
| ११४ | वृत्तं च विविदारीकं |
| ४० | वृत्तं तिस्रश्चतस्रो वा |
| १५० | वृत्तं सहरणेश्च स्यात् |
| ४७१ | वृत्तस्थानस्यया नाम्ना |
| १४२ | वृत्तित्रयेण चादृश्यं |
| १४६ | वृत्तिर्गुणप्रधानत्व |
| ३५७ | वृत्ते नवाङ्गुले गर्भं |
| ३११ | वृत्तेन व्यङ्ग्यगुलस्थूलं |
| ५२० | वृद्धस्य वृषभस्यास्य |
| ३६६ | वेगात् कृत्वाथ तुर्यं च |
| २७ | वेणावपि तदिच्छन्ति |
| ३२२ | वेणी तथा प्रवेणी स्यात् |
| ५३६ | वेष्टनाय कटेः कच्छा |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------|--------------------------------|
| ४६० | वैचित्र्यात् क्वापि विश्रान्तः |
| ४५४ | वैणवः खादितो दान्तः |
| २४४ | वैणवी यवविस्तारा |
| २६८ | वैपञ्चिकाद्याः कुर्युश्चेत् |
| ७ | वैहायसं विद्यातव्यं |
| ३४८ | वैहायसादिनिर्युक्तं |
| ” | वैहायसे तु निविशा |
| ३७४ | वोल्लावणी च चल्लाव |
| ३६४ | वोल्लावण्येव पाणिभ्यां |
| ३८१ | व्यक्तं प्रगल्भते वक्तुं |
| ३६५ | व्यक्तमुक्ताङ्गुलित्वेन |
| ३४८ | व्यङ्गुष्ठो दक्षिणो हस्तः |
| ३६३ | व्यञ्जद् गीतगतं गीतं |
| ३८४ | व्यत्ययाद् व्यापृतौ हस्तौ |
| ३६३ | व्यस्तैः समस्तं रचितं |
| १०२ | व्याख्याता ढक्वेनेव |
| ८० | व्यापकाक्षरमिष्टैस्तत् |
| ८३ | व्यापकाख्यैः षोडशाभिः |
| ३२७ | व्यापारा दक्षिणस्थेति |
| ३८५ | अ |
| ३५६ | अ |
| ६१६ | अ |
| ३२४ | शक्ता विवेक्तुमावपि |
| ६३३ | शङ्कुं तं भ्रामयेत् तावद् |
| ४८२ | शङ्खमागोऽङ्गसंश्लेषः |
| ३६२ | शङ्खादयश्च वाद्यस्य |
| १०८ | शतालप्राप्तं प्रादुरग्ये |
| ५१८ | शताशतासंनिपाताः |

३४६
४३०
२३८
३४५
१८
६०
८६
५४६
५५३
४५५
३४७
५३६
३६२
५३६
५६५
६१८
५८५
५६६
३३१
४०१
३६१
१२६
३२०
७०
६०

| पुटसंख्या | पुटसंख्या | |
|--------------------------|-----------------------------------|---------------|
| शताशतासमित्येकं | ८६ शिवे लिखे घनो नादः | ६३५ |
| शब्दं तादृशं शम्भ्ये | ३८ शीतोदकास्तथा स्नानं | ५६२ |
| शनिता माषघाते स्युः | ११५ शीतोदके निशामेकां | ६३४ |
| शम्यातालं द्विरन्ते च | १४७ शीघ्रं गीतकाले स्यात् | १२० |
| शम्यात्रयं ततस्तालाः | ३६७ शीघ्रं भेककलेन स्यात् | ५३ |
| शम्यात्रयेण प्रथमा | ३६६ शीघ्रं त्वरो माषघातः | ११० |
| शम्या दक्षिणहस्तस्य | ६ शुक्लवक्त्रः स्फुरितकः | ३३८ |
| शम्याद्वया तृतीया स्यात् | ३७० श्रुतिकं किञ्चिदुद्भिदं | ५१४ |
| शरीरं चतुरश्रं वा | १३० श्रुतिस्त्वङ्गुलविस्तारा | ६४२ |
| शरीरं प्रतिपादान्यं | १२० शुद्धकृतादिभिर्बद्धः | ५८४ |
| शरीराद्यकलाषट्के | ” शुद्धसालगगीतानां | ६०६ |
| शरीरे प्राक्कलास्तिलः | १२३ शुद्धैश्वर्यैः क्रमात् पाटैः | ५५४ |
| शाखायाः प्रतिशाखायाः | ५४ शुष्कं गीतानुगं नृत्तं | ३२१ |
| शाखायां पश्चिमं त्वाह | ५२ शुङ्गं यन्माहिषं प्लक्ष्णं | ५१६ |
| शाखावरा षडङ्गा स्याद् | १२६ शुङ्गजा दारवी वा स्यात् | ५१३ |
| शाखा वस्तुच्यते तस्याः | ५२ शुङ्गस्यानङ्गुल्याय | ५१६ |
| शाखेव प्रतिशाखा स्यात् | ” शेषं तु पूर्ववद् द्वण्डे | ४६३, ४७१ |
| शाखेव प्रतिशाखोक्ता | ८२ शेषं तु पूर्ववद् द्वण्डे | ४४७, ४५८, ४६२ |
| शाङ्गदेवः समाचष्टे | ४६६ शेषं तु पूर्ववद्वल्गु | ४७१ |
| शाङ्गदेवे द्वतद्वन्द्वं | १६७ शेषं तु मुनिवद्वण्डे | ४६३ |
| शाङ्गदेवोऽन्यथा वंशः | ४५५ शेषं प्राग्वदथादित्ये | ” |
| शाङ्गदेवोऽन्यथामानेन | ४६१ शेषकोष्ठाः परास्तां तु | २५७ |
| शास्त्रेण तेन कस्यापि | ४५१ शेषकोष्ठेष्वन्यत्पूर्वं | २५१ |
| शिखरं निर्मितं धातुं | ५१६ शेषस्यानेष्वानिविग्रान् | १०५ |
| शिरःप्राप्तौ पृथग्जातिं | ४४६ शेषाङ्गुलीः प्रसार्योर्ध्वात् | ४८३ |
| शिरः मुषिरवित्यस्तं | ६४० शेषा द्वादश लाः खण्डैः | ३६६ |
| शिववक्त्रोत्थपाटानां | ५२८ शेषेऽङ्गाश्रितपङ्क्तस्यङ्कु | ३०५ |
| शिवस्तुतो प्रयोज्यानि | ३४ शेषेषु द्वे चतस्रोऽष्टौ | ६ |

| | | |
|--------------------------------|-----------|---------------------------|
| | पुटसंख्या | |
| शोकार्तेषु प्रयुज्जीत | ४७५ | षट्स्वेवमन्यवंशेषु |
| श्रीकीर्तिविजयानन्दं | १६८ | षडङ्गुलं शिरस्त्वस्य |
| श्रीनन्दनश्च जनकः | १२७ | षडङ्गुलः षण्मुखः स्यात् |
| श्रीपर्णीदारुजः पट्टः | ६४३ | षडङ्गुलायतं सार्धं |
| श्रीयज्ञपुरवर्धन | ५१६ | षडङ्गुलोऽत्र परिधिः |
| श्रीरागस्य वृधेः प्रोक्तं | ५१० | षड्जं तु स्यायिनं कृत्वा |
| श्रीशाङ्गदेवोपदेशात् | ३६६ | षड्जग्रामस्वजात्यंशे |
| श्रीश्रीकरणनाथेन | ५४१ | षड्जतः स्यायिपयन्तात् |
| श्रुतिद्वयं त्वधंमुक्ते | ३७७ | षड्जाश्रुतिः प्रसज्येत |
| श्रुत्यादिक्रमतो गीतं | ३४१ | षड्जे ग्रहे द्वितीयं च |
| श्रेष्ठः पाटिहिकः सञ्चात् | ५४६ | षड्जे ग्रहे ममाहृत्य |
| श्लक्ष्णं द्वयङ्गुलविस्तारं | ४६४ | षड्जे चेन्न्यस्यते गौडं |
| श्लक्ष्णः समः सुवृत्तश्च | ३८६ | षड्जोऽन्यो वा स्वरो वंशे |
| श्लक्ष्णां स्नायुमयीं तन्त्रीं | ३२८ | षड्जोऽन्तर्गुर्नरितः |
| श्लिष्टा तन्त्री यदोऽन्य | ३३१ | षड्विंशत्यङ्गुला दैर्घ्ये |
| श्लिष्टा वरत्नमेषोभिश्चा | ३८६ | षण्मुखो यवपादाभ्यां |
| श्लेष्मला चेति तत्र स्यात् | ६३१ | षण्चङ्गुलपरीणाहं |
| श्लेष्मला वर्ज्यते शुष्के | ६३२ | षण्चङ्गुलो मध्यदेशः |
| | | षष्ठं कृत्वावच्छेदो |
| | | षष्ठं च पञ्चमं कृत्वा |
| | | षष्ठं यद्वद्वन्यूनं |
| षट्कोष्ठास्तद्वदन्ये स्तुः | २७० | षष्ठमागविहीनं स्यात् |
| षट्चत्वारिंशता पादं | ४५५ | षष्ठांशेन मध्यपर्व |
| षट्तालश्चान्तरकीडा | १२७ | षष्ठातः सप्तमान्तो वा |
| षट्विंशदङ्गुलं चक्रे | ३६५ | षष्ठी वा सप्तमी माता |
| षट्षितापुत्रकस्त्वध्रं | १३ | षण्मासिकस्य वत्सस्य |
| षट्सप्ताष्टाङ्गुला वंशाः | ४४३ | षण्मासिको मृतो वत्सः |
| षट्स्वरान् ग्रहमुच्चार्य | ४१६ | षोडशाङ्गुलको मध्यं |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------------------------|--------------------------------------|
| स्वलिता मूर्च्छनाख्यश्च | ३३६ स्थितं प्रवृत्तमपरं |
| स्वलिता मूर्च्छना चाथ | ३३८ स्थिततालयुतं तस्य |
| स्तोभभङ्गी विजानीयात् | १६६ स्थितप्रवृत्तहीनोऽयं |
| स्थानत्रयस्य निष्पत्तिः | ४३६ स्थितेन पत्रिकाधारः |
| स्थाने तु पञ्चमस्थाधः | ३०८ स्तुलहस्तोऽध्याधिपाणिः |
| स्थापयित्वा पराः षट् च | ३०० स्थीत्येड्गुप्यमिता गर्भं |
| स्थापयेदन्तरे किञ्चित् | ” स्थीत्येनालापिनी तुल्ये |
| स्थापितुं च कृत्वास्मात् | ४२२ स्नायुमांसविहीनं च |
| स्थापिनं तत्परं बोक्त्वा | ” स्निग्धता घनता रक्तिः |
| स्थापिनं तद्वत् बोक्त्वा | ५०६ सर्वाऽऽगुप्यकनिष्ठाभ्यां |
| स्थापिनं द्विगुणं षड्जं | ४६०, ५०६ स्पष्टतारमुपेतं यत् |
| स्थापिनं मध्यमाग्वारं | ४१५ स्पृष्ट्वा ग्रहात् परं पूर्वा |
| स्थापिनं मध्यमं कृत्वा | ४१७, ४८७ स्पृष्ट्वा ग्रहद्वितीयो च |
| स्थापिनं मध्यमं मन्द्रं | ४०२ स्पृष्ट्वा यदा ग्रहे त्यासः |
| स्थापिनं मध्यममुपमं | ४१३ स्पृष्ट्वा विलम्ब्य द्वितीये |
| स्थापिनि द्विगुणे षड्जे | ४६२, ५०१ स्पृष्ट्वा स्थापिनमेतस्मात् |
| स्थापिनि त्यस्यते यत् | ४६७ स्फुटप्रहारः सुभरं |
| स्थापिनि त्यस्यते रागः | ४११ स्फुरितः खसितञ्चेति |
| स्थपयिनोऽस्तुरीयं च | ४२२ स्फुरितं ग्रहतल्लुर्वो |
| स्थापिनोऽर्थात् समारुह्य | ४६७ स्फुरिते कम्पिता तन्वीः |
| स्थापिनो धैवतात् पूर्वं | ४११ स्फुरितेर्मूर्च्छनासङ्गैः |
| स्थापिनो धैवतात् प्राच्यात् | ४२४ स्फुरी स्फुरणकञ्चेति |
| स्थापिनो मध्यमात् पञ्चमं | ४२२ स्थापनामलगपाटौ द्वौ |
| स्थापिन्यासाद् देशवालं | ५०६ स्थात् तदङ्गसमं तालं |
| स्थापिन्यासाद् भवेदाद्यं | ४८५ स्थात् तदध्यात्नो भाणः |
| स्थपिपूर्वार्त्तरमागल्य | ५१४ स्थात् पादः प्रतिपादश्च |
| स्थापिस्वरान्तं यवाद् | ४८७ स्थात् सर्वाणिः साध्रं |
| स्थायन्तमवरोहेञ्चेत् | ४१०, ४१७ स्थावक्षरसमं मीतं |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------------------------|---------------------------------|
| स्यादस्माद्युद्धवीराणां | ६३० स्वरो द्वितीयो जायेत |
| स्यादावापोऽथ निष्क्रामः | ४ स्वरोऽयंऽथऽगुप्यतयः |
| स्याद् ग्राममूर्च्छनादीनां | ३४२ स्वस्थानप्रक्रियैवैष |
| स्याद् दशाङ्गुलदैर्घ्येण | ६२२ स्वस्थानं प्रथमं तोड्याः |
| स्याद्वस्तदैर्घ्येः परिधौ | ६१७ स्वस्थानं प्रथमं प्रोक्तं |
| स्याद् द्वादशकलं खण्डं | ३७३ स्वस्थानमादिमं रामं |
| स्याद् रूपशेषमोषश्च | ३४४ स्वस्थानमाद्यं भैरव्याः |
| स्याद् रेकः स्कन्धसञ्चन | ५४२ स्वस्थानमाद्यं मल्हारे |
| स्याद् वर्णसंख्येदो वा | ५७५ स्वस्थानवदपस्थाले |
| स्याद् वितस्तत्रयं दैर्घ्यं | ३८६ स्वदैर्घ्यमानदैर्घ्यं च |
| स्युरारोहावरोहाम्भ्यां | ३७१ स्वोदग्राहे यत् मुक्तिस्तत् |
| स्रोतोगताख्यया यत्वा | ५८६ |
| स्वपक्षसाधनं तद्वत् | ६०० ह |
| स्वपक्षस्तिस्थालिखेदङ्कान् | २४० |
| स्वपुटं पीडयेद् वामः | ५३६ हंसनादः सिंहनादः |
| स्वमतेऽभ्युपगम्यन्ते | ४६१ हंसीलीको विरामान्तं |
| स्वमानाद् दृश्यते तारं | ४७७ हननं छिन्नमाचष्टे |
| स्वमजयं विरम्याथ | ५०१ हन्ति विस्थानकं तन्वीं |
| स्वरद्वयं द्विरारुह्य | ४१७ हस्तकोणप्रहारजः |
| स्वरस्फुरणानुयाताम् | ४५१ हस्तप्राप्तेन ङकारः |
| स्वरस्फुरणकोऽपुल्यं | ५२४ हस्तव्यमिता दैर्घ्यं |
| स्वरस्थाने कम्पनेन | ३३१ हस्तद्वयकृता या सा |
| स्वरस्थाने द्रुतं कक्षां | ३३५ हस्तद्वयाधिका माने |
| स्वराः परे स्मः सारीणां | ३६५ हस्तयोश्च गुणानत्र |
| स्वरागयोगिजातेस्तु | ३७ हस्तलाघवसंपन्नः |
| स्वराणां किं तु वैषाणां | ३७१ हस्तवैषम्यसंजातः |
| स्वरार्धं स्यादूर्ध्वतया | ४६८ हस्तान्तरं ततो भिन्नं |
| स्वरो वंशे द्वितीयोऽय्य | ५१० हस्तेन चितताङ्गुलं |

अहुस्खलित, ५३१, ५३२
 अह्वाज, ५२१
 अतिकीर्ण, ३४७, ३५५
 अतिदूत, ३४५, ६०७
 अतिपात, ३४७, ६५५
 अतिमान्द, ४३५, ४६१
 अतीत, ३२, ३६०, ३६६
 अतीतग्रह, ३६७, ३६६
 अनुल, ३४६
 अघम, ५४६
 अधरमध्य, ३४७
 अधरमध्यद्विस्तर, ३५२
 अधरादि, ३४७
 अधरादिद्विस्तर, ३५२
 अधराद्युत्तर, ३४७
 अधराद्युत्तरान्त, ३५०
 अधराधर, ३४१
 अधरान्त, ३४७
 अध्वनी, ४५७
 अनङ्ग, १७२, १८६
 अनवृह, ५१६
 अनधिक, ३६०
 अनागत, ३२, ३६०
 अनागतग्रह, ३४७
 अनावृत्ति, ५७५
 अनिवद्ध, ५५५
 अनियुक्त, ३५
 अनुकृती, ३६७
 अनुकारित, ३६२
 अनुगत, ३१४, ३६०

अनुग्रह, ५११
 अनुच्छल, ५२४, ५२६, ५३१, ५३२
 अनुद्ग्राह, १६६
 अनुपम, ४६१
 अनुपाय, ६१०
 अनुबन्ध, ३४७, ३५२, ३५५, ३५७
 अनुबन्धज, ३४७
 अनुबन्धन, ३४७
 अनुयाय, ३६०
 अनुरणन, ४७६
 अनुवादो, ४१, ३७६
 अनुवृत्ति, ६१०
 अनुश्रवणिका, ५५०, ५५७
 अनुस्वन्ति, ३४७, ३५६
 अन्त, ८३, ११२, ११५, १२७, १४७
 अन्तर, ५६२, ५८८
 अन्तरकीड, १७२, १६३, १६४
 अन्तरपाट, ५६२, ५८८
 अन्तान्त, ६०
 अन्ताहरण, ८२, ६०, १०८, ११२, १६०
 १६२
 अन्ये, १४०, १६०, १६०, १६२, ३६७,
 ३८१, ५०२, ५६५
 अपन्यसन, ३८, ४०
 अपन्यास, ८०, ८१
 अपरान्तक, ३४, ५२, ६२, १०५, ११०,
 १२०, ३८३
 अपरे, १४०, १६६, ३४०, ३४६, ३५५,
 ३७५, ३८८, ५५६, ६४१
 अपवर्गद, ३२६

अपस्थान, ४७६
 अपाट, ५२७, ५४४, ५४५
 अपात, ३८, २८६, ३०२
 अपाताह, २८६
 अमङ्ग, १७२, १६०
 अभिघात, ३१८
 अभिघ, १६६
 अभिनन्द, १७२, १८७
 अभिव्यञ्जन, ३६६
 अभिषेक, ३२२
 अभिसूत, ३८२
 अभ्यस्त, ५२७, ५४५, ५७७
 अयुक्, ८३, ८७
 अयुग्म, २५, ८३, ८७, ८८, ११६
 अयुग्मस्थित, ६६
 अरिभयंकर, ६२६
 अर्गल, ६१८, ६२३
 अर्धकर्तरी, ३३१, ६३५, ३३८, ५२७,
 ५४१
 अर्धगण, १४०
 अर्धचन्द्र, ३३१, ३३६
 अर्धपाणि, ५२६, ५३६
 अर्धमात, १६६, १७३
 अर्धमूत, ४४२
 अर्धयव, ५२७
 अर्धलय, ६२
 अर्धवज्र, ५२१
 अर्धसञ्च, ५२७, ५४५
 अर्धसम, ५०४, ५३२
 अर्धसामुद्र, ४०
 अर्धाङ्ग, ६०८
 अर्धाङ्गल, ६४३, ६१
 अर्धाधिपाणि, ५३६, ५३५
 अर्धाधिलय, १४०
 अर्धाधिहस्त, ५३३, ५४३
 अर्धेन्दु, ४३६
 अर्धकार, ३४०, ३४६, ३८५
 अलमन, ५२४, ५२७, ५३०, ५४२, ५५४
 अलमनोत्सार, ५२४
 अलपत्र, ५३३
 अल्पगुह, ३२२, ३५२, ३५३
 अल्पनाद, ६३५
 अल्पमङ्गल, ५२२
 अवगति, ५८६
 अवगाढ, ८०, ११४
 अवघट, ५२४, ५२६, ५३०, ५३१,
 ५३७, ५५४
 अवच्छेद, ५७४
 अवत्सक, ५६२, ५८२, ५८३
 अवधान, ६१०
 अवनद्ध, ३१४, ३१७, ३१८, ३२०,
 ३२३, ३३३, ६३५
 अवपाणि, ३२, ११४, ६४६
 अवमूत, ३४७, ३५३, ३५७
 अवयति, ५३२
 अवर, १५८
 अवरोह, ८०, ८१, ३५६, ३७१, ३८८,
 ४१०, ४११, ४१४, ४१७,
 ४१८, ४२०, ४८६, ४८८, ४९०

अवलेख, ३३१, ३३२
 अवान्तर, ४०, ४७७
 अवान्तरविदारी, ४१
 अव्यवस्थित ४१
 अव्यवहार्य ५६५
 अशब्द, १८३
 अश्वमेध, ६३६
 अश्ववालिधि ४२६
 अष्टकल, ४६, ११४, ६०४
 अष्टाङ्ग १६०
 असम, १८६
 असमानविदारी, ४०
 अस्थिसमुद्भव, ३६४
 अस्वर, ५६४
 अस्वरत्व, ५२१

आ

आकार, १६०
 आकारान्तर १६०
 आकुञ्चन, ८, ३३०
 आकृति, ३२४
 आघात, ३५०, ३५१
 आचार्य, ३८८
 आतोद्य, ३६२
 आतोद्यध्वनि ६४६
 आदिकामोदिका, ४६६
 आदितार, ३५०
 आदिताल, १७१, १७६
 आदित्य, ४३४, ४४६, ४६३, ४७२

आदित्यवंश, ४३६, ४५०
 आद्यभर, १७२
 आद्यखण्ड, ३६५
 आधारगत, ३२५
 आधोरिका, ३४०
 आनन्दुह, ५१६
 आनन्दघन, ३१४
 आनुष्टुभ, १६२
 आन्तर, ५२०
 आन्दोल्य ४१४, ४१७, ४८५
 आभासक, १५३
 आभोग, १६६, ५८१, ५८८, ५९०, ६०५
 आभोगगोचर, ५८१
 आभ्रद्रुम, ६२८
 आभ्रपल्लव, ६३४
 आयत, ३२४
 आयस, ४३०, ३७२
 आरम्भविधि, ३६४, ३७२
 आरोह, ८१, ३७१, ३७६, ३८८, ४८७, ४९०
 आरोहिवर्ण, ८०
 आरोही ४२०, ४८८
 आर्द्रचर्म, ४२८
 आललि, ६००, ६०८
 आलापिनी, ३१६, ३८६, ३८८, ३९१, ४२७
 आवज, ६१२
 आवपण, ४, ५, ७, १८, २१, ७०
 आविद्ध, २५३, ३४७, ३५४, ३५६, ३५६, ३८१, ६१०

आविद्धकरण, ३७४, ३८१
 आविद्धधानु, ३५५
 आविद्धव्यञ्जन, ३४६
 आवृत्ति, २७, १२१, १४०, ३८५
 आवृत्तिविधुर, १४०
 आवृत्तिहीन, १४०
 आश्रावणा, ३६४, ३६६, ३७०, ४७४
 आसन्न, ३३०
 आसारित, १६, ३४, १३२, १३७, १४७, १५०, १५६, ३६४, ३८२, ३८५
 आसारिताभास, १४२
 आहत, ४६२, ४६८, ५०८
 आहति, ३३२, ५२६
 आहवनी, ५६५
 इ
 इन्दिरा, २२६
 इन्दु, ५२४
 इष्टकाचूर्ण ३६४
 इष्टताल, २०४, २४१, २४४, २५६
 इष्टस्थान, ४८०
 ईशान ५२४ ५३१
 ईशानवक्त्र, ५२४
 ईशानोद्भव, ५३१, ५३२
 उ
 उक्चय, ३४७, ३५३
 उच्चतर ५६६
 उच्छलित, ५३६
 उटुवण, ५६२, ५६३, ५६६, ५७१
 उटुवणी ५६१, ५६२
 उटुव, ५४६, ५५३ ५६२
 उटुखली ५३१
 उटुखलित, ५३१
 उत्कम, ६२३
 उत्साह, ६३१
 उत्क्षिप्त, ३३०, ३३१, ३३५
 उत्तर, १३४
 उत्तरादि ३४६, ३४७
 उत्तरपूर्वक, ३४७
 उत्तरादिद्विराधान्त, ३५१
 उत्तराद्यधरान्त, ३४५, ३५०
 उत्तराधर, ३४६, ३४७
 उत्तराधरान्त, ३५१
 उत्तान, ५६, ३२७
 उत्तुङ्गीकरण, ५४१
 उत्पात, ३२२
 उत्प्रेक्षा, ५६२, ३६२
 उत्कुल, ४३३, ५२४, ५२६, ५३१, ५३३
 उत्सव, १६८, १७२
 उत्सार, ५२४, ५३०, ६३१
 उत्सारित, ४५१, ६३१
 उत्साहकारि ३२२
 उत्सृष्टसारणा, ३३५
 उत्सेध, ३२७, ३६८, ६३५
 उदरपट्टिका, ६१२
 उदात्ता, ३५८
 उदारा, ६३५

उदारधीः, ५६७
 उदीक्षण, १७२, १८७
 उद्गीथ, १६६
 उद्गाह, १६६, ५६१, ५६६, ५७४, ७५७,
 ५७६, ५८०, ५८२
 उद्घट्ट, १३, २१, २२, ८५, १४७
 उद्घट्टन, ६४६
 उद्गली, ५२०, ५२१, ५५३, ६१२, ६१६,
 ६२४, ६२५
 उद्दिष्ट, २२५, २६२, २६३, ३०१,
 ३१३
 उद्धत, ५६५, ५७४, ५८५, ६१२
 उद्धतवाद्य, ६१०
 उद्गोध, ३४२
 उद्भट, ६३६, ६२६
 उद्भट, ३३५
 उधार, ६००, ६०८
 उन्निद्र, ५१४
 उन्मुष्ट, ३४७, ३५७
 उपद्रव, १६५
 उपनयन, ३२२
 उपपात, १०८, ११२, ११४
 उपरञ्जिका, ३४३
 उपरिपाणि, ३२, ६४४
 उपरिवाद्य, ३३८, ३३९
 उपरिथेनी, २७२
 उपवर्तन, ६८, ७०, १०८, ११०, ११२
 ११४, १२०
 उपशम, ५६२, ५६६, ५७८, ५७९
 उपाङ्ग, ५५५

उपालम्भ, ४५२
 उपोहन, ३५, ३८, ४४, ५२, ५३, ६२,
 ७०, १०२, १२०, १२५, १३६,
 १३९, १४०, १४३, १४७,
 १४३, १४७, १४९, १५२,
 १५४, १६१
 उभयवाद्य, ५६१
 उभयी, ३२०, ३२१
 उमा, ३२९
 उमापति, ४५८, ४३३, ४४५, ४७०
 उरःस्थल, ३३०
 उल्लेख, ३३१, ३३२, ३३८, ५२९
 उल्लोप्य, ३४, ८२, ८६, ९०, ९३, ११२,
 १२७, १५०, १६०, १६२
 उल्लोल, ५२७, ५३९
 ऊ
 ऊन, ४७७
 ऊर्ध्वघात, ५३४
 ऊर्ध्वथेनी, २६५, २६८,
 ऊर्ध्वहस्त, ५२६, ५३३, ५३४
 ऋ
 ऋच, ३४, १६३
 ऋच्युट, १६६
 ऋजु, ६४२
 ऋषम, ३८८, ४१४, ४१४, ४१७, ४३६,
 ४३९, ४८६, ४९१, ५०४

ऋषभस्वर, ४११

ऋषभादय, ४३९

ए

एक, ५२४, ५२९

एकक, ८२, ८३, ८५, ८७, ११४, १२०,
१२१, १६०, १६५, ३७४एककल, १०, १६, ३५, ३८, ५२, ५३,
८३, १२७, ५६०, ५६५

एककलमन्द्रक, ३७

एककलमपरान्तक, ६१

एककलयुग्म, १३५, ३६८

एकतन्त्रिका, ३२८, ३४२

एकतन्त्री, ३१९, ३६२, ४२६

एकतालिका, १८९

एकताली, १६२, १७२, ५६६, ५७७

एकद्वत, २४४

एकमिति, १५७

एककृपाक्षर, ५६३

एकवक्त्र, ६३०

एकवस्तुक, ३९, ४६, ५३, ६४

एकवाक्यस्व, ३५

एकविशतितन्त्री, ३६२

एकविस्तर, ३४९, ३७१

एकवीर, ४३९, ४४४, ४५६, ४६२,
४६९, ४७३, ५२४, ४५८,
४६१

एकसर, ५२४, ५२९, ६०१, ६०४, ६०५

एकस्वर, ३५६, ३५७

एकाक्षर, १६३, १६६

एकाङ्कयुक्त, २५१, २६८

एकाङ्ग, ८२, ८७

एकातस्त्रित, ८१

एके, ३८४, ५६५

एतावतिथ, २१५

ओ

ओंकार, १६३, १६६

ओष, ३४४, ३४५, ३६०, ३६१, ३६२,
४८४

ओज, २०

ओता, ५६२, ५६५, ५६९

ओवेणक, ३४, १०८, ११५

ओदार्य, ६१६

क

ककुभ, ३२४, ३२८, ३२९, ३८६, ३९१,
३९३, ३९४

कङ्काल, १७२, १८६, ३३८

कच्छा, ३९३, ५६५, ६१४, ६२३, ६२७

कच्छान्त, ६१७

कण्डिका, १४२, १४७, १४९, १५४,
१५६कण्डिकावर्धमान, १४२, १४८, १४९,
१५०

कट, ५१९

कटक, ६२६

| | |
|--|---|
| कटी, ६१४ | करपाट, ५४७ |
| कनिष्ठ, २०, १३२, १४०, १५०, १५६, ३२६, ३३४, ३३६, ४४४, ४४८ | कररन्ध्र, ५१७ |
| कनिष्ठासारित, १०२, १०५, १३२, १३३, १४५, १५७, १५८, ३८१ | करविर्त, ५४७ |
| कन्दर्प, १११, १७६ | करसञ्च, ५४७ |
| कन्दुक, १७२, १८६ | करसारणा, ३२३ |
| कफोपहत, ४७७ | करेणुवदन, ५१६ |
| कमलापति, ३२६ | कर्कटकहस्त, ५१७ |
| कम्पित, २३०, ३३१, ३३४, ४१६, ४२६, ४४२ | कर्णाटगोष्ठ, ५०६ |
| कम्बल ५१७ | कर्तरिका, ३३६ |
| कम्पा, ३२०, ३३५, ३४०, ३४१, ४२५, ४४१ | कर्तरी, ३३१, ३३४, ३३५, ३३८, ३३९, ५२६, ५३४, ५३६, ५५४, ५६१ |
| कम्पावतुष्टय, ६४१ | कर्तरीतुल्य, ३३५ |
| कम्पासारणा, ३३५ | कर्तरीव्रितय, ३४७ |
| कम्पिका, ३२६, ३३०, ३३१, ३३२, ४६१ | कर्तरीपद, ५६१ |
| कम्पिकावादन, ३४०, ६४१ | कर्पर, ३२७, ३८६, ६३० |
| कम्पिकावाद्य, ३४०, ३४१ | कल, ३४७, ३५६, ६४४ |
| कम्पा, ३२०, ५५१, ५७७, ६१४ | कलध्वनि, १७२, १६६, १६७ |
| कर्त्तातुल्य, ३४५ | कलप्रस्तार ६०४ |
| करचारणा, ५५०, ५५४ | कलश, ५१७, ५१९ |
| करण, १७२, १६३, १६४, २४७, ३४३, ३४४, ३५३, ३५८, ३७१, ३८५, ६१६ | कला, ३४७, १६३, १६५, १६६, ३४०, ३६८ |
| करणध्रुव, ३५३, ३७६ | कलाविधि, १, २२, ४३४, ४५०, ४५५, ४६४ |
| करणभेद, ३७१ | कलापात, १०५ |
| करणयति, १८२, १६२, १६३ | कलापूरक, १६६ |
| करलाम, ३३१ | कलाभिज्ञ, ४२६ |
| | कलाविद्, ३३६, ४३१ |
| | कलाविधि, ६० |
| | कलाष्टक, ३७५ |
| | कलाहीन, १५१ |

| | |
|--|--|
| कलिक, ४४, ५२, ६४ | कीर्ति, १४६, १८६ |
| कल्पन, ३३१, ४८०, ५४५, ६३६ | कीर्तिताल, १७२, १८६ |
| कवल, ५१८, ५२१, ६१६, ६२७ | कीर्तिधर, ४४३ |
| कविता, ५६१, ५७४, ५७५ | कील, ३६१ |
| कवितकार, ५६५ | कीलक, ३२८ |
| कांस्य, ४३० | कुचुम्बिणी, ५४६, ५५३ |
| कांस्यज, ६३०, ६३५, ६३८, ६४० | कुञ्चित, ३३६, ५२७, ५४८ |
| कांस्यताल, १६६, ३२०, ३३६, ४३१, ४३८, ६२८ | कुञ्चितकृति, ४२८ |
| कांस्यतालधर, २४ | कुडुवकक, १७२, १८२ |
| कांस्यपात, ६३० | कुडुवका, ३२०, ५४८ |
| कांस्यभाजन, ६२८ | कुहप, ६१४, ६१७, ६२२, ६२३, ६२६ |
| कांस्यमयी ६३६ | कुडुव, ३२०, ५५४, ६१०, ६१६, ६२३, ६२६ |
| कांस्योद्भूत, ६४० | कुडुवचारणा, ५५०, ५५४, ५५५ |
| काकमुख, ६३ | कुण्डली, ५२४, ५६५, ६२० |
| काकस्वर, ४४७ | कुण्डलीयुत, ६२० |
| काकी, ४७७ | कुण्डलीयन, ५४२ |
| काकुभ, ४६७ | कुण्डलीविशेष, ५२६ |
| काञ्चन, ४३० | कुण्डलीस्पर्श, ५५४ |
| कामिनी, ४७५ | कुण्डेन्दु, ६३४ |
| कामोदा, ४१६ | कुमुद, १७२, १६० |
| कापसिसुत, ३८७ | कुलक, ३५ |
| कार्मुक, ४२५ | कुविन्द, १७२, १७६ |
| काल, ४, २७ | कुविन्दक, १७६ |
| काशमयी, ५१४ | कुशल, २४ |
| काहला, ३२०, ५१३, ५१५, ५७७ | कुहर, ३३१, ३३६, ३३८ |
| किनरी, ३१६, ३८६, ३६१, ३६३, ४००, ४११ | कट, ५६६, ५७१ |
| किनरीवीणा, ३६१, ४०२ | कटबद्ध, ५८३, ५८६ |
| किरिकिट्ट, ६४२, ६४३ | कटमय, ५८२ |
| | कूटमिश्र, ५६६ |

कूटवर्ण, ५६२
 कूटसंज्ञक, ५६६
 कूर्मपृष्ठ, ३२५
 कूर्मोन्नत, ३२४, ३२५, ३८६, ३६३
 कृतप्रतिकृत, ३४४
 कृतार्थ २८८
 कृश, ४७७
 कृष्णा, ७
 कश्चित्, ११०, १२०, १६६, ३४७, ३६६,
 ४४४, ४४२
 केदार, ५६५
 कैकुटी, ३३८
 कैशिकी, ५०६
 कैश्चित्, १७७, ३८८
 कोकिलाप्रिय, १७२, १८५
 कोण, ४२९, ५२१, ५४४, ६१८, ६१६,
 ६२८, ६२६
 कोणघात, ५४०
 कोणप्रहार, ५५४
 कोणव्यवस्था ३४३
 कोणाद्रुमी, ३४३
 कोणाहत, ५२६, ५३२
 कोमल, ५७८, ५८५, ५७८, ६३३
 कोमलत्व, ४७६, ६३३
 कोमलनाद, ५७८
 कोलाहल, ५२७
 कोल्लक(ट), १६२
 कोविद, १६०
 कोष्ठ २४४
 कोष्ठक, २४४

कोतुक, ३२२
 कोशल, ४७२
 क्रम, ५२१, ५३४, ५५७
 क्रमपरिक्रम, ४५१
 क्रिया, ४, २७, १६६, ३३०, ३५३
 क्रीडा, १७२, १८५, १८६
 क्रैकार, ६१६
 क्रोध, ४७५
 क्लिब, ६३४
 क्षयापत्ति, ६४३
 क्षिप्र, २८
 क्षीरपाक, ५१४
 क्षुद्रघण्टिका, ३२०, ६४०
 क्षेत्रपाल ६१६
 क्षेप, ५, ३२८, ३४७, ३५४
 क्षोपादयः ५१४

ख

खण्ड, २५, १७३, १८५, १८६, ३६५,
 ३६६, ५५७, ५६२, ५६४, ५७१,
 ५७४, ५८१, ५८२
 खण्डकर्तरी, ५२७, ५८६
 खण्डच्छेद, ५६२, ५८६
 खण्डताल, १३८, १६३, ५५७
 खण्डपाट, ५६२, ५८६
 खण्डयति, ५८६
 खण्डहुल्ल, ५६२, ५८६
 खादिर, ३२४, ६३१
 खादिर, ३८६, ५६६, ६४१
 खम्, २७३

खयुक्त, २६२
 खलक, ५२६, ५३३, ५६२, ५६०
 खलित, ३३८
 खानि, ४४८, ४६२, ४६३, ४६४, ४६६,
 ४७२
 खानिमान, ४४७, ४५६, ४६३
 खुला, ५२४, ५३१, ५३२
 खुलान्त, ५२६
 खेटक, ४२५
 खोज, ५६२, ५८२

ग

गज, १७२, १६४
 गजकेश, ३६१
 गजसम्प, १७२, १६०
 गजरा, ५६२, ५६६, ५७१
 गजराजयव, ५४६
 गजकली, १७१, १८०, ३३८, ३३६
 गणकल्पन, १४७
 गणपति, १६२
 गणितशास्त्र, ४५६
 गतानुगति, ४६१
 गद्य, १६६
 गप्नुत, १६८
 गर्भरन्ध्र, ४५६
 गर्वनिर्णय, ५६२
 गातृ(ता) ३४
 गात्रनाद, ६३१
 गाथा, ३४, १६५
 गान्धर्व, २५
 गान्धर्वमार्ग, २५
 गान्धार, ३८८, ४०४, ४०७, ४०६
 ४१३, ४१५, ४२०, ४२४,
 ४३६, ४६४
 गायत्री, १६६
 गार्ग्य, १७२, १६३
 गीत, ३१७, ३२७, ३२२, ६०६
 गीतक, ८२
 गीतखण्ड, ४०
 गीतगत, ३६२
 गीतग्रह ६४५
 गीतनिष्पत्ति, ३२२, ३४१
 गीतनुत्त, ३२१, ३२२, ५८६
 गीतप्रधान, ३६०
 गीतब्रह्म, ५१६
 गीतमिलित, ३६२
 गीतवादन, ४३०, ४७६
 गीतानुग, ३२१, ३६१, ६००, ६०६
 गीतानुहरण, ३६२
 गीतालम्पित, १२०
 गीतालय, ३६२
 गीति, ११६, १२०, ३६०, ३६१
 गुञ्जामाल, ६३५
 गेय, १२०
 गुण, ४२६, ४७६
 गुणता, ३६०
 गुणप्रधान, ३५५
 गुणविपर्यय, ४८०
 गुम्फ, ४०८

गुरु, १७३, १७४, १६६, २७६
 गुरुमुक्जित, ५२७, ५४५
 गुरुवय, १७५
 गुरुद्वन्द्व, १८५
 गुरुमुखी, ३४४
 गुरुमेघ, १६६, २५६, २५६, २६१, ३०७,
 ३११
 गुर्जरी, ४१३, ४६१
 गुर्वीद, ३४४
 गुग्गुलु, ३८६, ३६४
 गोकुति, ६१६
 गोपालकेलि, ५१६
 गोपुच्छ, ३०, ३६०
 गोमृतिकावन्ध, ३६७
 गोलकगर्भ, ६४०
 गोशुङ्ग, ६२४
 गोष्ठी, ३२१, ५२१
 गोड, ४२२, ४२३
 गोडकपाट, ४२२
 गोडकृति, ४१८
 गोडकी, ५००
 गोरी, १७३, १६७
 गोरीमृत, १७४
 ग्रन्थप्रपञ्च, ६००
 ग्रन्थि, ३२४, ६३५
 ग्रन्थिभेद, ४३०
 ग्रह, ३२, ३६०, ४०५, ४०८, ४१३,
 ४१४, ४१५, ४१६, ४२०, ४२१,
 ४२३, ४८२, ४८७, ४६०, ४६१
 ग्रहत्यास, ४१३, ४८६, ४८७

ग्रहमोक्ष, ६०१, ६४५
 ग्रहस्वर, ४६४,
 ग्रहांश, ४०८
 ग्रहावधि, ४८७
 ग्राम, ३४२, ३६१, ४३०, ४७४
 घ
 घट, ३२०, ६१५
 घडस, ३२०, ६१६
 घण्टा, ३२०, ५५५, ६३६,
 घत्ता, १७२, १७६
 घन, ३१७, ३१८, ३२३, ५५६, ५८६,
 ६१५, ६३६, ६४४
 घनता, ४७६
 घनध्वान, ५५५
 घनरव, ५५०, ५५५, ६००
 घनबाध, ३२०, ६३५
 घनवेणु, ६४१
 घना, ६५८
 घर्षरिका, ६४०
 घर्षरिकाभेद, ७४०
 घर्षण, ६१६
 घात, ३३१, ३३२, ३३३, ३५६, ३५७
 घोष, ३३१, ३३४, ३३८, ३४२
 घोंकार, ६२८

च

चक्रिक, ५१४

चञ्चल्युट, ६, १०, ११, १६, १८, २०,
 २५, ४६, ११२, ३६६,
 ३७०, ३७३, ३८१, ५६०
 चञ्चरी, १७१, १८०
 चण्डण, ५६२
 चण्डताल, १७२, १६३, १६६
 चण्डनिःसारक, १५५, १५६, १८५,
 १८६
 चतुरक्षर, १६५
 चतुरङ्गी, २८८
 चतुरथ, १०, १०८, ११०, ११४, १३०,
 १७३, १८५, १८६, ५५६,
 ५५७, ५५६, ६००
 चतुर्थश्रवण, १८२
 चतुर्थक, १७१, १८५
 चतुर्दशकला, २५
 चतुर्विन्दु, १६७
 चतुर्मुख, १७२, १६०, ४३३, ४६१,
 ४६२, ४६८, ४७०
 चतुर्योग, २४४, २७६, २८०
 चतुर्योगभव, २७६
 चतुर्योगीश्वर, २८०
 चतुर्वेस्तु, ३५, १०२
 चतुष्कल, १०, ११, १२, १४, १८, ३८,
 ४२, ४६, ४६, ५०, ७०, ८१,
 ८६, ९०, १०२, ११०, १२७,
 १३५, ५६०
 चतुष्कलमात्रा, ८६, ९०, ९२, ९७,
 ९८, ९९, १००, १०१
 चतुष्कलोद्धट, १४
 चतुस्ताल, १६०
 चतुस्ताली, १७२
 चन्द्रकला, १०२, १६६, ५५०, ५६१
 चविका, ६१४
 चर्मकर्म, ६३४
 चमविनद्ध, ३१८
 चयमान, ६२३
 चलकीलक, ३६१
 चलशङ्कु, ३६०, ३६१, ३६४
 चत्तावणी, ५४६, ५४३
 चाचपुट, १०, ११, १४, १८, १४७,
 ५५३
 चाहुखली, ५२४
 चातुरीवण, ३६२
 चातुश्रवणिका, ५५०, ५५४
 चिक्कण, ५६५
 चिला, १६, १४०, १५७, ३१४, ३१६,
 ३४२, ३४३, ३५६, ३६०, ५५४
 चित्रपाट, ५२७, ५४८
 चित्रित, ६
 चिन्धनरामकी, ५०३
 चिर, २८
 चुक्का, ३२०, ५१५
 छत्रक, १२६, ५६५

| | |
|--|---|
| छण्डण, ५६२, ५६३, ५६६, ५७१, ५७०, ५७७, ५८२, ५८३, ५८८ | जातिमुख, ४४४, ४४७, ४४८, ४४६, ४५७, ४६१, ४६२ |
| छन्द, १६६, ३३८ | जात्यंश, ४१, ३८२ |
| छन्दक, ३४, १३० | जालक, ६३६ |
| छन्दसासारित, ३४ | जितथम, ४३०, ५४७ |
| छन्दम्, ५६६ | जितेन्द्रिय, ४३० |
| छान्तान, ६३० | जीर्ण, ६३४ |
| छायानट्टा, ४२०, ५०२ | जीवा, ३२८, ३२६, ३३० |
| छिन्न, ३३१, ३३३, ६३१ | जोडणी, ५२६, ५५७, ५६२, ५६० |
| छेद, ५८८ | जोडा, ६०१, ६०५ |
| छेदक, ३५ | ज्या, २, ४२६ |
| छोटिका, ६ | ज्येष्ठ, १३२, १३७, १४५ |

ज

| |
|--------------------|
| जक, ५३४, ५८८, ६०६ |
| जगण, १६३ |
| जगती, १६३ |
| जगन, १७२, १६३, ५३२ |
| जग्लुत, १६१ |
| जय, १७१, १८२ |
| जयघण्टा, ३२० |
| जयमङ्गल, १७२, १८५ |
| जयश्री, १७२, १८६ |
| जराक्रान्त, ६३४ |
| जलघर, ५६५ |
| जलाशय, ६३१ |
| जाठर, ५२० |
| जाति, ३५, ३५८, ४३० |

झ

| |
|--------------------|
| झंकार, ६२५ |
| झण्ट, ३६ |
| झडपणी, ५५०, ५५७ |
| झम्माताल, १७२, १६० |
| झल्लरी, ३२०, ६२६ |
| झंकार, ५२१ |
| झंझित, ६१६ |

ट

| |
|-----------------|
| टण्टकार, ६३५ |
| टाकणी, ६०४, ६०५ |
| टाकणीवाद्य, ६०१ |

| |
|----------------|
| टिडिकि, ५७७ |
| टीपा, ४३७, ४३६ |
| टीपी, ५७७ |

ड

| |
|------------------------|
| डक, ३२०, ५५१, ६२२, ६२३ |
| डक्कुली, ३२०, ६२४ |
| डमरक, ३२०, ५७७, ६२१ |
| डोम्बक्री, ४१६, ४६४ |
| डोम्बुली, १८२, १६० |

ढ

| |
|--------------------|
| ढक, ३२०, ६१८ |
| ढवस, ३२०, ६१७, ६१८ |
| ढंकार, ६१७, ६१८ |
| ढंकिता, १७७ |
| ढंकी, १७२ |

त

| |
|----------------------------|
| तंकार, ६२६ |
| तकार, ५२४, ५३०, ५३१, ६०७ |
| तगण, १६६ |
| तलं, ३१४, ३१७, ३१८, ३२२ |
| तलादि, ३२२ |
| तल्लुहण, ५२४, ५३०, ५३१ |
| तत्त्व, ३६०, ३६१, ३६२, ३८५ |
| तत्त्ववित्, ४३०, ४६१ |

| |
|--|
| तत्त्वादि, ३८५ |
| तत्त्वानुगत, ४७४ |
| तत्त्वोद्य, ३१४ |
| तद्व्याधय, ५६६ |
| तन्त्रिका, ३३५, ३६१, ४०० |
| तन्त्रिकाहति, ३३२ |
| तन्त्रिकाद्वय, ३६५ |
| तन्त्री, ३१८, ३२८, ३२६, ३३०, ३३१, ३३२, ३३४, ३३५, ३६१, ३६४, ४२७ |
| तन्त्रीकर्ष, ३३५ |
| तन्त्रीधर्ष, ३३४ |
| तन्त्रीघात, ३३४ |
| तन्त्रीताडन, ३३२ |
| तन्त्रीवय, ३५७ |
| तन्त्रीद्वय, ३४२ |
| तन्त्रीप्रान्त, ३२५, ३२७ |
| तन्त्रीमान, ४२६ |
| तन्त्रीवाद्य, ४२६ |
| तन्त्रीश्लेष, ३२८ |
| तन्त्रीसंलग्न, ३४० |
| तल, ३३५, ३४७, ३५६, ३७१, ५३४, ५३७ |
| तलघात, ६४१, ६४२ |
| तलपाट, ५२४, ५६२, ५४८ |
| तलप्रहार, ५२७, ५२४, ५४४, ५४८ |
| तलहस्त, ३३१, ३३६, ५३५, ५५३ |
| ताटवाद, ६०७ |
| ताम्रमय, ६२४ |
| ताम्रनिमित्त, ६२२ |

तार, ३३८, ३५०, ३८८, ६०६
 तारज, ५१४, ५१५, ६३०
 तारस्युत, ४८७
 तारस्पर्ध, ४३१, ४४८, ४५७
 तारस्वर, ४४३
 तारस्थान, ३४७, ३५०, ३५१
 तारान्त, ३५१, ५६६, ६००, ६०१, ६३८
 ताल, १७३, १८५, ३२०, ५६०
 तालकला, ६०७
 तालधारण, ६३६
 तालपात, ४२६
 तालपूरण, २१६
 तालसूत्रि २००, २८६
 तालमैद, १६६, २०६
 तालयुग, ६३६
 तालयोजन, ३६७
 तालरहित, ६००
 तालांश, १५६
 तालाङ्ग ३८४
 तालावृत्ति, ७२
 तालिका, ५४, ५६, ५७, ५८, ५९, ६१, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ७६, ७७
 तालित्तिरि ५१५
 तिर, २८०
 तिरश्ची, २७२
 तिर्यक्, ३२४, ३६३, ३६४
 तिर्यगानन, ६३६
 तिर्यग्रेखा, ६४२

तिर्यङ्मुखी, ६३६
 तीव्रालीन, ४४१
 तुङ्का, ५६२, ५८४, ५८५
 तुण्डक, ५६१, ५६१
 तुण्डकिनी, ३२०, ५१५
 तुलुकार, ५१६
 तुम्ब, ३२५, ३२७, ३२८, ३२९, ३७८, ३८६, ३९०, ३९१, ३९५, ४२७
 तुम्बकी, ३२०, ४७७, ६३१
 तुम्बछान, ४७७
 तुम्बिका, ३६१
 तुम्बु, ३२२, ६३६
 तुलङ्गलील, १७२, १८२
 तुस्तुरी, ५१५
 तुल्फ, ४२३
 तुलङ्कगीड ५०७
 तुल्यवस्तु, ६२
 तुल्यस्वर, ४८२
 तुलरीबीज ४८२
 तूर्ण, ३३५
 तुण्डशलाका, ६२२
 तुतीय, १७१, १७५
 तैक्षण, ८४०
 तोडी, ४८७
 त्यक्तभीति, ४३०
 टाटन, ६००
 त्रिक, ५४५
 त्रिकल, ४०, ६०, १३२, १६३, १६६
 त्रिकुली, ६२६
 त्रिगुण, ५५७, ५५६, ५६०

वितन्त्रिका, ३१६, ३४३
 वितय, ३२०
 वितुम्बिका, ३६१
 विपुट, १६६, ६२६
 विपुरा, ६२७
 विपुस्प, ४३३, ४४६, ४६२, ४७०, ५४८
 विप्रकार, ३६१
 विप्रहारभव, ३५२
 विप्रज्ञि, १७२, १८३
 विप्रिज, १७१, १८१
 विमाल, १७३, १६३
 विमिश्र, १७१, १८१
 वियोग, २५२, २६१
 वियोगज, २७६, २७७, २८०
 वियोगोत्थ, २८०
 विरधर, ३४७, ३५१
 विरुत्तर, ३४७, ३५१
 विवली, ३२०, ६२१
 विवल्ली, ५५१
 विवस्तु, ३५, १०२
 विविदारिका, १०२
 विवृत्, ३२७
 विष्णुङ्क, ६३६
 विसंख्या, १४०, ३८५
 विसञ्च, ५२७, ५४५
 विस्तार, ३५१
 विस्थानक, ३५७
 विस्थानत्व, ३४३, ४७६
 विहस्त, ३२४
 वेतामि ३२४
 व्यथ, १०, ८३, ८५, ६०, १३०, १३७, १७१, ५५७, ५५६, ६००, ६०१
 व्यथताल, ८५
 व्यथमैद १३,
 व्यथवर्ण, १८१
 व्यादिसंख्या, १८१
 थोकार, ६००
 द
 दक्षाध्वर, ३२१
 दक्षिण, १, ६, ८, ६२, १४०, १५७, ३५०, ५३१
 दक्षिणा, ३६०
 दक्षिण, ४१, ६३, ८३, १०५
 दण्ड, ३२४, ३२८, ३२९, ३८६
 दण्डक, ३३८, ३३६
 दण्डमान, ३६३
 दण्डहस्त, ५२६, ५२७, ५३४, ५४०, ५५०, ५५४
 दण्डांश, ३६३
 दन्तज, ५१४
 दन्तिदन्त, ६२४
 दपण, १७१, १७६
 दलवय, ६००
 दान्त, ४३०
 दारवाद्य, ६३१
 दारवी, ५१३
 दारुज, ३२४, ५३०

| | |
|--|--|
| दीपक, १७२, १८७ | देशीशास्त्र, ४७३ |
| दीप्त, १७३, १६०, १६४, १६६, ५६५, ५७४ | देशीसंसिद्ध, ३६३ |
| दीर्घ, १७३ | देशीस्थ, ५२० |
| दीप्तनर्तन, ५७१, ५७५, ५८२, ५८४, ५८५ | देहसौष्ठव, ४३० |
| दीप्तनृत, ५८१ | दोरक, ३२७, ३२९, ३८६, ६२४ |
| दुःख, ३२२ | दोरिका, ३२८, ३२९ |
| दुःखर, ५२४, ५२९ | दोषाच्छादन, ४७९ |
| दुन्दुभि, ३२०, ६२८ | द्राघयित्वा, ४६६ |
| दृढकोण, ६४१ | द्राघित, ४६६ |
| दंकार, ५२१, ५५१, ५५७, ५७३, ५६५, ६१२ | द्राघि ४२३ |
| दंक्रुति, ५६५, ५८८ | द्राघिगोड, ५०८ |
| देवकृति, ४१९, ५००, ५५१ | द्रुत, २८, १६९, १७३, १७४, १८०, १८१, १६६, २६५, ३३५, ३३८, ४७७, ४७८, ५७४, ५७७, ६०० |
| देवता, ६४२ | द्रुतचतुष्टय, १८५, १८२ |
| देवतार्चन, ६३६ | द्रुतलय, १६३, १६६ |
| देवतालय, ६२५ | द्रुतद्वन्द्व, १६०, १६७, १६३ |
| देवनलोद्भव ५१४ | द्रुतमित, २६५ |
| देवमुनि, ६४३ | द्रुतमेग, १६९, २४५, २५२ |
| देवी, १७४ | द्रुतयुग, १८७ |
| देशवालगोड, ५०६ | द्रुतरूप, ३६४ |
| देशाख्या, ४१५, ४६४ | द्रुतलय, ४७५, ४६६ |
| देशी, ४१५, ४६३, ५१६ | द्रुतवादन, ३६२ |
| देशीगत, १६८, ४५१ | द्रुतसंख्या, २०४ |
| देशीताल, २५, १६६, १७३ | द्रुतहीन, २४५, २८४, २८५, ३०१ |
| देशीपट्ट, ५२१ | द्रुताङ्क, २१६ |
| देशीराग, ४०८, ४१५, ४७६, ४८० | द्रुतादि, २४०, २७२, ६३६ |
| देशीवर्ण, ४६८ | द्रुतागत, २०६ |
| देशीवित्, ४१५, ४४४, ४५३ | द्रुतानुग, ३३०, ३२१ |

| | |
|--|---|
| द्रावणकल, ६२, ३६३ | धलासी, ४१४, ४६२ |
| द्विकल, १०, ११, १३, १४, १८, २२, ४४, ४६, ६२, ७०, ७६, १०५, ११०, ११२, १२०, १२७, १३४, १४६, १४७, ३७५, ३७८, ३८०, ५६० | धातु, १६४, २८४, ३१४, ३३८, ३४६, ३४७, ३४८, ३५०, ३५१, ३७७, ३८५, ४१४, ४७४, ४६३, ५१६ |
| द्विकलंयुग्म, ८५, ३६८, ३७० | धातुभेद, ३६४ |
| द्विकलीकृत्य, ३८० | धातुवृत्ति, ३१४ |
| द्विकलोत्तर, ११०, ३६७ | धात्वादि, ३६२ |
| द्विकलोद्घट्ट, १४ | धारा, १६४ |
| द्विगुणसं, १७५, ४६४, ४६६, ५०५ | धंकार, ६२४ |
| द्विगुणिकृत, १५२ | धंवर, ४०२, ४१०, ४११, ४१७, ४१९, ४२०, ४२१, ४२४, ४२५, ५०७, ५०४, ५७४ |
| द्वितीयक, १७१, १७५ | ध्व, १, ४, ६, १३६, ४७४, ५७५, ५८४, ५९० |
| द्विदण्डिक, ३२५ | ध्रुवक, १६६, ५६२, ५८५, ५९० |
| द्विदिन्दु, १७६ | ध्रुवका, ७८, |
| द्वियोगज, २७०, २७८, ७ | ध्रुवपात, ७, ३८ |
| द्विरधर, ३४७, ३५०, ३५२ | ध्रुवा, ७, ३६६, ७७३, ३७४, ३८४, ५८१ |
| द्विरधरोत्तरान्त, ३५१ | ध्रुवासारित, १४० |
| द्विरुत्तर, ३४७, ३५० | ध्वजि ६०० |
| द्विस्तराधरान्त, ३५१ | ध्वननादि, १६६ |
| द्विदिदारीक, ४० | ध्वनि, ३३४, ३४०, ४७५, ४७६, ५६५, ५६६, ५७१ |
| द्विसंख्यात, १४०, ३८५ | ध्वनिवृद्धि, ५१६ |
| द्वैसंयक, ४०, ४७ | ध्वनित, ५८१ |
| द्वयङ्क, २५७ | ध्वान, ५१६ |
| द्वयङ्ग, ८७, १०१ | |
| ध | न |
| धतूःकुसुम, ५१५, ५१६ | नकुल, ३१६, ३४०, ३६२ |
| धनाश्रीः, ३१४ | |

नख, ३३३
 नखकर्तरी, ३३१, ३३३
 नखाय, ५३५
 नखराघात, ५३३
 नखराहत, ५४०
 नगण, १८१, १९७
 नद्ध, ६३५
 नन्दन, १७२, १८६
 नन्दिकेश्वर, ५२६, ५३२, ५३३, ५५५
 नन्दी, ३२२
 नभोऽन्वित, २६९
 नयसा, १९३
 नरेन्द्र, ३२२
 नर्तकी, ६०८
 नर्तन, ५७४
 नर्तनारम्भ, ५७७
 नलिका, ३८६, ३९४, ५२४
 नलिनीदल, ६३८
 नष्ट, १९६, २१५, २२५, २६२, ३०२,
 ३०३, ३०४
 नष्टाङ्क, २१६, २८८
 नष्टप्रश्न, २१५
 नाग, ५१२
 नागफण, ४३६
 नागपाश, ३२८, ६२०
 नागबन्ध, ५२४, ५२६, ५२९, ५३७
 नागेश्वर, ४३३, ४४७, ४५२, ४६३,
 ४७१
 नाटक, ३२२, ५२१
 नाट्यरामकृति, ५०४, ५०५

नाद, ३२८, ३४०, ४३०, ४७६, ६३५,
 ६३६
 नादधृति, ६३६
 नादभेद, ३४७
 नादवृद्धि, ६४३
 नादसमायोग, ६००
 नादसिद्धि, ३३०
 नादानुरणन, ५७६
 नानाजाति, ३६१
 नानावाद्य, ५५६
 नानास्वरोदय, ४४१
 नान्दी, १७२, १८२, १८६, ३५६
 नाभि, ३२६
 नारद, ३२२, ६३८
 नालिकेर, ३२७
 नाशङ्कु, १७३, १५७, ३३५
 नाशङ्कुलीला, १७१, १७५
 नाशङ्कुवीणा, ३१६, ४२८
 नाशब्द, १८३, १८५
 नाशरण, ४१४
 नासाण, ३२०, ६३१
 नासाय, ५६५, ५६६, ६०६
 नासायक, १७२, १८५
 निकुट्टक, ५०६
 निजमाया, ३१४
 निघन, १९६
 निपीडित, ४४२
 निबद्ध, ३८८, ५५६, ५५८
 निम्न, ६३५, ६४२
 नियमापूज्य, ४०५

निरन्तरयति, ५८५
 निरर्थक, ३८३
 निर्गोतवाद्य, २६४
 निर्घोष, ५२७, ५४०
 निर्युक्त, ३५, ६०, ११४
 निवृत्त, ३०५
 निवृत्ति, २, २४२
 निषाद, ३६०, ४०७, ४१०, ४३६,
 ५०४, ५०७, ५०८
 निष्कल, ३४०
 निष्काम, ४, ५, २२
 निष्कोटित, ३३१, ३३५, ३३६, ३४७,
 ३५७
 निस्तुप, ३६३
 निस्तार, ३५३
 नीच, ५४६
 नीरदित, ३४७, ३५३
 नीरस, ६३१
 नृत्त, ४, ३२२, ३५३, ५८१
 नृत्तानुग, ३२१
 नैषाद, ३४०
 न्यास, ३७, ४०, ४१, ६२, ८०, ८१,
 ४०८, ४१३, ४१८, ४१९, ४८२,
 ४८४, ४८७, ४९०, ४९१, ४९२,
 ४९६, ४९९
 न्यासनियम, ४०८
 न्युनाधिक्य, ४७६
 प
 पञ्चपरिग्रह, ६००
 पश्चिस्त, ३३८, ३३९
 पञ्चकर्तरी, ४६०, ४६१
 पञ्चक, १७१
 पञ्चपाणि, १३, २०, ३८, ४२, ४६,
 ५३, ५४, ८२, ११२, १२०,
 १२७, ३७०, ५६०
 पञ्चम, १७१, १७५, ४१४, ४२२,
 ४२३, ४६२, ४६३, ४६६,
 ४६७, ५०२, ५०४, ५०९
 पञ्चमान्त, ४८८, ४९०
 पञ्चरन्ध्र, ६२४
 पञ्चवक्त्र, ४३३, ४४६, ४५८, ४६८
 पञ्चवक्त्रेद्भुव, ५३१
 पञ्चवस्तु, ५७, ६१, ६२
 पञ्चवस्तुक, ७७
 पञ्चसञ्च, ५४८, ५४९
 पञ्चसञ्चवृत्ति, ६४६
 पञ्चहस्त, ५६०
 पटह, ३२०, ३२२, ३२३, ५१७, ५१८,
 ५१९, ५२०, ५२६, ५२७, ५४४,
 ५४८, ५४९, ५५१, ५६६, ६३१
 पटहवाद्यक, ५४९
 पटहादि, ५२६, ५५६
 पट्ट, ३२०
 पट्टमयी, ५६५
 पट्टमूक, ३८७
 पट्टिका, ६१२, ६१३
 पताक, ७, ५३२, ५३४, ५६०
 पतित, ७, २८८, ३०२

पत्रिका, ३२५, ३२८, ३२९, ३८६, ३८९, ३९३
 पद, २८, ५३२, ५७५, ५७६
 पदनिर्मुक्त, ३५
 पदान्तर, १६०
 पदावृत्ति, ४७, ५४, ११५, १२१, १२७, १६३
 पद्यासन, ५२०
 परपक्ष, ६००
 परिक्रम, १७९
 परिघट्टन, ३६४, ३७९, ५४०, ५४५
 परिणाह, ३२४,
 परिधि, ३२४, ३८६, ३९३, ३९४, ३९८,
 ५८१, ६१४, ६१७, ६२६
 परिवर्तन, २७, १४७, ३३५
 परिवृत्त, ५२७, ५४२
 परिश्रवणिका, ५५०, ५५४
 परिसृत, ११४, ३८१, ३८३
 परिणाह ३२७
 परे, ३६९, ३७०, ४७०
 पर्याय, १७९
 पाट, ३२३, ३३३, ४९०, ४९१, ४९३,
 ४९४, ५२१, ५२३, ५२४, ५२७,
 ५२८, ५४३, ५४३, ५४४, ५४५,
 ५४६, ५४७, ५६०, ५६२, ५६५,
 ५७५, ५८९, ५९०, ५९६, ६१०,
 ६३१, ६३६, ६३८, ६४१
 पाटखली, ५२१, ५२६, ५३१
 पाटन, ६४६
 पाटनिष्पत्ति, ५३४

पाटप्रभव, ३२३, ३३३
 पाटबद्ध, ५८९
 पाटभेद, ५२३, ५९३
 पाटव, ६१०
 पाटवर्ण, ५४०, ६१५, ६१८
 पाटविन्यास, ५४९, ५५०
 पाटसंज्ञक, ५१२
 पाटस्खलित, ५३१
 पाटह, ६१२
 पाटहिक, १६, ३४, १६०
 पाटाक्षर, ५५८, ६२२
 पाटान्तर, ६३८, ६४१
 पाणि, ३३१
 पाणिक, १६, ३४, १६०
 पाणिघट्टन, २६४
 पाणिघात, ३६२
 पाणिशब्द, ५६०
 पाणिहस्तक, ५३६, ५२८, ५३७
 पाण्यन्तर, ५२६, ५३४, ५३९
 पात, ५, ३२१, ३३१, ६२१
 पातकला, १९, ४४, ४८, ३६६, ३६८
 पाताल, १९९, २४१
 पाद, १०८, ११०, ११२, ११४
 पादकम्प, ५३२
 पादभाग, १२, १८, २०, २७, ४४, ४६,
 ४८, १०५, १२३, १३६
 पात्रिका, ५१८
 पार्वतीलोचन, १६८, १७२, १९२,
 पार्वतीपति, ५२४
 पार्ष्वपाणि, ५२२, ५३५

पार्श्वलम्, ३३०, ३३३
 पाव, ३२०, ५१२
 पाविका, ३२०, ५१२
 पिण्ड, ३८६, ४६६, ६३९, ५१४, ६४१,
 ६३५
 पिण्डहस्त, ५२६, ५३४
 पितृला, ६३१, ६३२
 पितृकी, ३१९, ४२९, ४२६, ४२८
 पुटद्वन्द्व, ५३६, ५३८
 पुटद्वय, ६४०
 पुटबन्धन, ६३३
 पुरातन, ९०, १७३, २००, २८८, २९२,
 ३५६
 पुष्प, ३४७, ३५६
 पुष्करजम्, ५९५
 पूरक, ५२९
 पूरकान्त, ५२५
 पूरण, १६३
 पूरणसंख्या, २२५, ३३१
 पूरणापूरण, ४४१
 पूरिका, ५९४
 पूर्ण, १८९
 पूर्वार्चय, ४३७
 पृथु, ५२१
 पृथुल, ३६०, ५८१
 पृथुलम्, ३३४
 पेरान्तर्जन, ६४०
 पेणी, ४२८
 पैसार, ५६२, ५९१
 प्रकरण, ३४, ५६२
 प्रकरी, ३४, १०२, १०४
 प्रकृति, ३२८
 प्रगल्भता, ४७९
 प्रगल्भधी, ४३०
 प्रचुरता, ४२२
 प्रच्छादन, ३२२
 प्रतापशेखर, १७२, १९०
 प्रतिताव, १८२, १८६
 प्रतिनिधि, २४१, २४४, २५३,
 प्रतिपाद, १०८, ११०, ११६, १२०
 प्रतिफूकृति, ४७७
 प्रतिभेद, ३४४, ३४५
 प्रतिमण्ड, १७२, १९२
 प्रतिमुख, ७६, १३१, १३७, १६०, १६१,
 १६२, १७४, ३७५, ६६१
 प्रतिमुखी, ६००, ६०९
 प्रतिवक्त्रक, १३०
 प्रतिवस्तु, ४४
 प्रतिशाखा, ५२, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८,
 ५९, ६०, ६१, ६४, ६५, ६६,
 ६७, ६८, ७२, ७३, ७४, ७५,
 ७६, ७७, ७८, ७९
 प्रतिसुष्क, ३४४, ३४५
 प्रतिष्ठा २
 प्रतिहार, १६६
 प्रतिहारविशेष, ३४६
 प्रत्यङ्ग, १७१, १८०, ३४४
 प्रत्यय, १९९
 प्रत्युपोहन, ३५, ३८, ३९, ४४, ५३, ६२,
 ७०, १०२, १८९

| | |
|-----------------------------------|------------------------------------|
| प्रदेयिनी, ४१६, ४६६ | प्रान्तान्तर, ३२५ |
| प्रबन्ध, ३२३, ५६२, ५६३, ५७६, ५८६ | प्रवीण्य, २६२ |
| प्रमाद, २४ | प्राप्यकाङ्क्ष, २८६ |
| प्ररोह, ६३१ | प्रति, ३२५ |
| प्रवास, ४७५ | प्रौढ, ६०६ |
| प्रवीण, ३८८ | प्लुत, १०, १३, १६६, १७३, १६६, १६७, |
| प्रवीणता, ६१० | १६६, २००, २०६, २२५, २६१, |
| प्रवृत्त, ८०, ८३, ८५, ८७, ११०, | २६२, ३०१, ३११, ३४७, ३५४ |
| ११४, १२१ | प्लुतपञ्चकित, २७० |
| प्रवेणी, १०८, ११२, ११४, ११८ | प्लुतमेक, ४०५ |
| प्रवेश, ४, ६ | प्लुतलाम, ३०७ |
| प्रसार, ३३१ | प्लुतहीन, ३११ |
| प्रसारक, ३३६ | प्लुताकार, १२० |
| प्रसारण, ६ | प्लुतान्त, २०६ |
| प्रसारित, १६३, १६६, २००, २८४, | प्लुती, २१६, २८६, २८६, ३११ |
| ५३३ | फ |
| प्रस्तार, १३, १२०, १३३, १६६, २००, | कुलपूर्व, ५२४, ५२६ |
| २८४ | कुलविक्षेप, ५२६ |
| प्रस्तारसंख्या, १६६ | फल्कार, ४३१, ४३६, ४५१, ४५६, |
| प्रस्तारानुगुण, ६०४ | ४७६, ४७७, ५१६ |
| प्रस्ताव, १६३, १३६ | फल्कारप्रभव, ४२३ |
| प्रहर, ५२४, ५२७, ५४४ | फल्काररन्ध्र, ५१२ |
| प्रहरण, ५८१ | फल्कृति, ४७६ |
| प्रहार, ३५६ | ब |
| प्रहारलाघव, ३४८ | बङ्गाल, ४०४, ४१० |
| प्रहारविशेष, ३४६ | बङ्गालराग, ४८८ |
| प्राचाम्, ४५२ | बदरीबीज, ४३१, ४६० |
| प्राचार्य, ४२६ | बलिकोलाहल, ५२६ |
| प्राज्ञ, ४२६ | |
| प्रातिलोम्य, ३०४ | |

| | |
|----------------------------------|---------------------------------|
| बहुलीरामक्री, ४२१ | भङ्गुर, ६०० |
| बाणपुङ्ख, ३६६ | भञ्जन, ३४४ |
| बाह्याकार, ५१८ | भरत, ४१, ५२, १४३, ३७८ |
| बिन्दु, १७३, १७४, १८६, १६३, १६६, | भववल्लभ, ५५८, ५६८ |
| १६७, ३३१, ३३५, ३४७, ३५६, | भाग, ३२०, ६२७ |
| ३५६, ३६६, ५२७, ५४० | भात् (भगण) १८३, १८५ |
| बिन्दुध्यातु, ३८८ | भावशब्द, १८३ |
| बिन्दुमाली, १७६, १७२ | भाषादि, ५५१ |
| बिन्दुचतुष्टय, १६४ | भुवन, ३१४ |
| बिन्दुद्वय, १६६ | भूतगर्भ, ६३० |
| बिन्दुत्रय, १६६ | भूतिमिश्र, ५२५ |
| बिन्दुहस्त, ३८८ | भूपाली, ४१६, ४६४ |
| बीजकाण्ड, ६२५ | भूरिगु, ३५४ |
| बीजदाह, ६१५ | भूरिनाद, ६३४ |
| बीजवृक्ष, ५२४, ६१४ | भूरिश्रवास, ५१६ |
| बृन्द, ३२३, ४८१, ६११ | भूलम्न, ४२८ |
| बृहती, ३४६, ३६१, ३६३, ४०१ | मुक्ति, ६२० |
| बृहतीकिनरी, ३६१ | भेद, ५५५, ५५६ |
| बोडवाड, ६०० | भेरी, ३२०, ६२६ |
| बोल्लावणी, ५५१, ५५२, ५५३ | भोग, ३२६ |
| बोहण, ५६५, ६०० | भरव, ४२०, ५००, ५०१ |
| ब्रह्मगीत, १४४, १६३ | भैरवी, ४२०, ५००, ५०१ |
| ब्रह्मगुप्तिर, ३१४ | भ्रमर, ३३१, ३३३, ३३८, ५२७, ५४१, |
| ब्रह्महत्या, ३२६ | ५४८ |
| ब्रह्मा, १६६, ३२६, ५२४ | म |
| | मकरन्द, १७२, १८६ |
| | मगण, १८०, १८१, १६६ |
| | मङ्गल, ३२२, ६२६ |
| | म |
| | मन, १७३ |
| | मनताल, १६७ |

मण्ड, १८३, १८५
 मण्डक, १७२, १८६
 मण्डरूपक, १८५
 मण्डिका, १७२, १८६
 मण्डली, ५५३
 मण्डली, ६१२, ६१४, ६१६, ६२१, ६२३
 मण्डिकका, ३२०, ६२३
 मतङ्ग, ४७५, ६२०
 मतान्तर, ११४
 मतकोकिला, ३१६, ३४३, ३४४
 मदन, १७२, १६२
 मदनगोलक, ६२१
 मदनाक्त, ६१६, ५२
 मदनाञ्चित, ६२४
 मदनाम्बर, ५२१
 मद्रक, १२, ३४, ३६, ४१, ४४, ४६, १०२, १०५, १२०, १२१, ३७५
 मधुकरि, ३२०, ५१३, ५१४
 मधुर, ४७४, ६०१, ६०६, ६१०, ६४५
 मधुरध्वान, ३५७, ५१४
 मध्य, २८, ३२, १४५, ३८८, ४१३, ६००, ६०६
 मध्यगान्धार, ४१५
 मध्यदेश, ५१७
 मध्यभार, २८
 मध्यम, १३०, १३८, १४६, ४०२, ४०४, ४०५, ४०६, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२२, ४२४, ४२७, ४८८, ५०४

मध्यमग्रह, ४०२, ४०४, ४१६, ४१७
 मध्यमग्राम, ४०५, ४१५, ४१६, ४१७
 मध्यमा, ३०, ३३२, ३६३, ३६८, ४३६
 मध्यमादि, ४०४, ४०७, ४८२
 मध्यमादिग्रह, ४०५, ४०७
 मध्यमासारित, १३४, १४६, १४७, १५३
 मध्यमृषभ, ४१३
 मध्यलय, ६००
 मध्यषड्ज, ४१३, ४१४, ४१८, ४१९
 मध्यस्थान, २८
 मध्यस्थानमन्द्रक, ३५२
 मध्योत्तर, ३४७
 मनु, ४३४, ४४५, ४५७, ४६०, ४६२
 मनुषण्ड, ४४६
 मन्त्रपद, १६२
 मन्त्रतोष, १६६
 मन्द्र, ३५०, ३५१, ३५२, ३५४, ३८८, ४०२, ४१६, ४३६, ६०६
 मन्द्रतार, ३५०, ३५१
 मन्द्रषड्ज, ४२०
 मन्द्रसप्तक, ४२०
 मन्द्रस्थ, ४१६
 मन्द्रस्वर, ३२०, ३५०, ३५१
 मन्द्राद्यन्त, ३५२
 मन्द्रान्त, ३५०
 मर्दल, ३२०, ३२३, ३३३, ५५१, ५५३, ५५४, ६००, ६१४, ६२४
 मर्दलधारी, ६११
 मर्दलादि, १६४
 मर्मर, ६४०, ६४१

मलप, ५२७, ५८५, ५६१
 मलपाङ्ग, ५२७, ५६२, ५८७
 मलपपाठ, ५२७, ५६२, ५८७
 मलपोपम, ५८७
 मल्ल, १७२
 मल्लताल, १८६
 मल्लिकामोद, १७२, १८५
 मल्हार, ४२१, ५०५
 मसृण, ३२७
 महती, ४०
 महागात्र, ६२८
 महाजनिक, ८३, ८५, ८८, ६४, ६६, ६७, ६८, ६९, १००, १०१
 महाध्वनि, ६२७
 महानन्द, ४३३, ४४८, ४५५, ४६३, ४७१
 महिषचर्म, ६३०
 महोदर, ६१५
 मांस, ६३४
 मांसविहीन, ६३४
 मागध्री, ३६०
 माणिकवल्लो, ४३०, ५२४, ५३०, ५३१
 माता (ः), ६१२
 मात्रा, ६, १२, ४४, ७६, ८१, ८२, ८६, १०२, १०४, १०५, १२३, १६०, ३७५
 मात्रावितय, १६६
 मात्रापूर्व, ७६
 मात्रामात्र, ६०

मात्रायुत, १७४
 मात्रावृत्त, १६५
 मात्रिक, ६, १७३, १६१
 मात्रिका, १६०
 माधुर्य, ३८२, ४००, ४५१, ४६१, ४६८, ४७६, ४७९
 माया, ३१४
 मायामात्र, ५१७
 मार्ग, १, ४, ६, २८, १२६, १३६, १५७, ३६०, ३६१, ४७६, ५१७
 मार्गताल, १६७
 मार्गपट्ट, ५१७, ५२१
 मार्गभेद, २८
 मार्गराग, ४७६
 मार्गसंभव, ५१६
 मार्गासारित, ३६४, ३८१
 मार्दल, ६३१
 मार्दलिक, ३२३, ६००, ६१०, ६३१
 मालतीकलिका, ५१४
 मालवगीडव, ५०६
 मालवश्रीः, ४८५, ४८६
 मालवी, ४२३
 माषघात, १०८, ११०, ११५, १२३
 माषमात्र, ५१७
 माहिष, ५१६
 मिति, ४, १६६, ३२३, ४७१
 मिश्र, ८३, ८५, १८१, १८५, ५५५, ५५७, ५६०, ५६६, ६०१
 मिश्रकरण, ३८६
 मिश्रलोह, ३२५

| | |
|----------------------------------|---------------------------------|
| मिश्रवर्ण, १८१ | मुष्टिप्राद्य, ६२७ |
| मिश्रान्त, ६७ | मूर्च्छना, ३३१, ३३५, ३३८, ३३९, |
| मिश्रित, ३७१ | ३४२ |
| मुकुन्द, १७२, १९६ | मूर्ति, ३१८, ५९६ |
| मुक्त, ४३७, ४४२ | मृगशृङ्ग, ६४२ |
| मुक्तशब्द, ६०० | मृदङ्ग, ५९५ |
| मुक्ति, ५७४ | मृदङ्गशब्द, ५९५ |
| मुख, ७९, १३०, १३१, १३६, १४३, | मृदु, ४७५ |
| १६०, ३७४ | मृदुला, ५१४ |
| मुखताल, १३० | मेघनिर्घोष, ६२८ |
| मुखरन्ध्र, ४३१, ४३२, ४३३, ४३९, | मेघोदुष्ट, ६३४ |
| ४७०, ५१३, ५१७ | मेढक, ३११, ३९४, ३९८, ४००, ५१४ |
| मुखरी, ६००, ६०९, ६११ | मेरु, १९९ |
| मुखबाध, ६१० | मेरुकोष्ठ, २८८ |
| मुखवैणिक, ३४५ | मेखोधि, २८४ |
| मुख्यवीणा, ३४४ | मेलापक, ५६२, ५७७, ५७८ |
| मुख्यवैणिक, ३४४ | मेलापिनी, ५७७ |
| मुख्यसंयोग, ४३९ | मेघपारी, ६२४ |
| मुख्यामुख्य, ३४५ | मेघान्त, ३८६ |
| मुद्रित, ४३६, ४६८, ४६९, ४८६, ४९४ | मोक्ष, ४२२ |
| मुद्रितमण्ड, १८५ | |
| मुनि, १७, ६३, ११२, १७४, १८४, | य |
| ४३३, ४६२, ४६३, ५९५ | |
| मुनिजन, १६५ | यक्ष, ५१२, ६४२ |
| मुनिदण्ड, ४४७ | यगण, १८०, १८२ |
| मुनिमत, ३४७ | यज्ञपुर, ३५८, ३७० |
| मुनिवर, ४२७ | यति, १, २८, १७२, ३६०, ३६१, ५६२, |
| मुनिसंमत, १६३ | ५६३, ५६४, ६४५, ६१० |
| मुरज, ५९५ | यतिताल, ६४६, ४९८ |
| मुरली, ३२०, ४३९, ४६५, ५१३ | यतिमनोहर, ३३८ |

| | |
|--|----------------------------|
| यतिलम्, १७१, १८० | युग्मयुक्त, ८३ |
| यतिसम, ६४५, ४९८ | युग्मायुग्म, ७७ |
| यथाक्षर, १०, १३, १६, ४४, ५४, ६२, | युग्मसंज्ञक, १४९ |
| ८२, ८५, ११२, १२०, १३२, | युग्मस्थित, ६८, ११० |
| १४०, १४७, १५३, १५७, | युग्मान्तर, ३६४ |
| १६०, ३६७, ३७०, ३७३, | युग्मोत्तर, ३६४ |
| ३७८, ३८०, ३८५ | युद्ध, ३२२ |
| यथाक्षरोद्घट्ट, १३ | योग, २५७, ५५६ |
| यथाक्षरोत्तर, ११० | योगज, २७१ |
| यमल, ४७७, ५१५ | योगाङ्क, २७१ |
| यमलहस्त, ५२७, ५४१ | योजन, १८७ |
| यवमात्र, ६२५ | योन्याकार, ३२५ |
| यवविस्तर, ३२८ | |
| यवाकृति, ६३० | र |
| यवाधिक, ३९४ | रक्त, ६४४ |
| यवार्ध, ३९५ | रक्तचन्दन, ३८७, ५९६, ६३१ |
| यबोदर, ३९३ | रक्ति, ३४६, ४००, ४५१, ४६८, |
| यबोन, ३९९ | ४८६, ६१० |
| याज्ञवल्क्य ४२९ | रक्तिविशेष, ४७५ |
| यावतिथि, २८० | रगण, १८६, १८७, १९०, १९३ |
| यात्रा, ३२२ | रङ्ग, १७१, १७९ |
| युक्त, ८३, ८७ | रङ्गप्रवीण, १७१, १८१ |
| युक्तप्रहार, ६४७ | रङ्गमृमि, ६०८ |
| युक्तायुक्त, ४४३ | रङ्गसंज्ञित, ६३६ |
| युगहस्त, ६२६, ५३४ | रङ्गसंस्थ, ३२२ |
| युग्म, २५, ८५, ८७, ११०, १४६, १४७ | रङ्गाभरण, १७२, १८३ |
| युग्मज, ३६७ | रङ्गोद्योत, १७१, १८१ |
| युग्मताल, १३७ | रत्ननाभेद, १६९ |
| युग्मप्रवृत्त, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, | रति, १७२ |
| १००, १०१, ११० | रतिताल, १९९ |

रतिलील, १७६, १६२
 रवि, ३२६, ५२४
 राक्तचन्दन, ४३०, ५६६, ६३१
 रागवर्धन, १७२, १६३, १६४
 रागवेदिन् ४८५
 रागाभिप्रेक्षित, ४०८
 रागोद्भूति, ४७६
 राजचूडामणि, १६८, १७१, १८१
 राजताल, १७१, १८१
 राजती, ५१५
 राजनारायण, १७२, १६३
 राजमाताण्ड, १७३, १६७
 राजमृगाङ्क, १७३, १६७
 राजलील, ३३८
 रामकृति, ४१८, ४१६, ५०३
 रायवङ्काल, १७२, १६०
 राला (सं) लिप्त, ४२६, ६४३
 रास, १७५
 रिमोणी, ५६२, ५७१, ५७३
 रिमित, ३४७, ३५३, ३५५, ३६४,
 ३७१
 संकारजनन, ६२०
 सञ्ज्ञा, ३२०, ६२०
 सद्, ४३३, ४५६, ४६३
 सद्दण्ड, ४७२
 सद्बन्ध, ४४६, ४५५, ४५६
 सद्बल्लभ, ६४३
 स्रक्ष, ४७७
 रूप, २४०, ३४४, ६४६
 रूपक, २७०, ५८८

रूपक्रिया, ३४४
 रूपनिर्यय, २१६
 रूपमृति, २६८
 रूपशेष, ३४४, ३४५
 रूपानि, २८६
 रेखा, ६४६
 रेचित, ५२७, ५४१
 रेफ, ३३१, ३३४, ३३८, ३३९, ३४७,
 ३५६, ५२७, ५३४, ५४२
 रोमाञ्च, ४३०
 रोचिन्दक, ३४, १२०, १६०
 रौद्र, ३२२
 रोष्य, ४३०

ल

लक्ष्म, ३८६
 लक्ष्महीन, ५६२
 लक्ष्मगोचर, ४६१
 लक्ष्मप्रधान, ४०४
 लक्ष्मवर्त्म, १६६
 लक्ष्मवेदिन्, ४६४, ५०२, ६०६
 लग्न, १८२, १८५, २००, २०६
 लघु, ४, ६, ३७, १७४, २८६, २९३,
 ३०६, ३४४, ४६२, ४६८, ६४७
 लघुकिनरी, ४०१
 लघुगुरुप्लुत, १८१
 लघुता, ५०१
 लघुदूत, १६६
 लघुद्वन्द्व, १८५, १८८, १६६

लघुद्वय, १६६
 लघुप्लुत, १५३
 लघुमेरु, १६६, २५१, २५७, ३०२,
 ३०६, ३१३
 लघुशेखर, १७२, १६०
 लघुस्थान, २५७
 लघुहीन, २५३
 लघुपाय, १६६
 लघ्वन्त, २०६
 लघ्वादि १६६, १७५, १८२
 लघ्वी, ३८६, ३६१, ३६३, ४०७
 लघ्वीकिनरी, ३६१
 लप्लुत, १६३
 लयत्रय, ५५५
 लयमार्ग, १२६
 लयस्कन्द, १७२
 लयान्तर, १३२, १३३, १३७, १४०,
 १४५, १५८, ३८२
 लयान्तराभास, १५२
 ललित, १७२, १६३, ४७४, ५७१, ५७४
 ललितध्वनि, ४७५
 ललितप्रिय, १७२, १६३
 ललितता, ३५६, ४२४, ५०६, ५७१
 लालित्य, ४७६
 लिपि, १७४
 लीला, १७२, १६२
 लीलाकरण, १७२
 लीलाकृत, ३६४, ३८२, ३८३
 लुलित, ५५३
 लोकरीति, ५१२

लोकवर्त्म ५०३
 लोल, ५३६
 लोहकोण, ६४२
 लोहज, ३२५, ६३६, ६४२
 लोहपतिका, ५१८
 लोहमण्डली, ६२७
 लोहमयी, ३६१
 लौकिक, १६३
 लोही, ३८६, ३६३
 लोह्य, ३६४

व

वंश, ३२०, ३४१, ४२५, ४३०, ४३२,
 ४३३, ४३५, ४३६, ४३७, ४४३,
 ४४६, ४४८, ४४७, ४५०, ४५२,
 ४५३, ४८२, ५१४
 वंशगीति, ४४२
 वंशगोचर, ४६५, ५००
 वंशपद्धति, ४६६
 वंशरूप, ४६१
 वंशवाद्य, ४७४
 वंशविद्, ४३५
 वंशवीणा, ४७४, ४७५
 वंशश्रेणी, ४६१
 वंशस्वरूप, ४६६
 वक्त्र, ३२६, ४५१, ५२०
 वक्त्रपाणि, ३६४, ३७४
 वक्र, १७३, १७४, १६३, १६६
 वज्र, १०८, ११०, ११४

वत्स, ५१८, ६३३
 वदन, ३२४, ३२७
 वध, ५६५, ६२८
 वधकल्पना, ६३३
 वधद्वय, ५६५
 वनमाली, १७२, १८२
 वराटी, ४११, ४६०
 वर्ण, ४०, १८१, ३६१, ३६५, ३८५,
 ५७७, ६०६, ६२०
 वर्णग्राम, ३६६
 वर्णताल, १७१
 वर्णमित्र, १७१, १८१
 वर्णमण्डिका, १७२, १८७
 वर्णयति, १७२, १६४
 वर्णव्यक्ति, ६१०
 वर्णसर, ५६५, ५६६, ५७४, ५७५,
 ५७७, ५८२, ५८४
 वर्णाङ्ग, ११२, ३७४
 वर्णानुवर्ण, ८२
 वर्णालंकार, १६१, १६६, ३८५, ४४२,
 ४४३
 वर्णोद्बोध,
 वर्णोद्भव, ५२१
 वर्तुल, ३६१, ४३०, ६३५
 वर्धन, १७२, १६३
 वर्धमान, ३४, १३३, १५२, १५०, १५२,
 १५६
 वर्धमानाङ्ग, १३३, १४२
 वर्धमानाभास, १५८
 वर्धमानासारित, १४४, १५६

वलन, ५४५
 वलय, ५, १८, ५१६, ६१४, ६१७,
 ६१६, ६२८, ६३६
 वलिकोलाहुल, ५२६
 वलित, ४४२, ५२४, ५२७, ५३०, ५३१,
 ५४१, ५४४, ५४८
 वल्लि, ५५५, ५५६, ५८१, ६१२
 वल्लिपाट, ५५५, ५५६
 वल्लीज, ६२५
 वल्लीवलय, ६१७
 वसन्त, १७२, १६०, ४१३, ४६२
 वसु, ४३३, ४५८, ४६३
 वसुवंश, ४४३, ४४७, ४८१
 वस्तु, ५०, ५५, ५७, ६१, ६२, ६३, ६४,
 ६५, ६७, १०७, ११०, १३६,
 ३३७, ३३८
 वस्तुद्वय, ४१
 वस्तुद्वय, ३८, ४४
 वस्तुमात्र, १०२
 वस्तुविद्, ३३८
 वस्तुान्धल, ६३५
 वस्त्वर्ध, ७०
 वांशिक, ३६१, ४८१
 वाक्य, २८
 वाङ्मय, ५२०
 वाच (क्), ३१४
 वाचछानुग, ६४७
 वातला, ५७१, ६३१, ६३२
 वादक, ३२३, ३६२, ५६६, ५६६, ६००,
 ६४६

वादन, ३३७, ३४१, ४८१, ५१२, ६०७
 वादनकर्ता, ६००
 वादनक्रम, ४०२
 वादनचाप, ४२६
 वादनधन्वा, ४२६
 वादनप्रकार, ६०७
 वादनभेद, ३२३, ६००
 वादनविधि, ६०७
 वादी, ३७६
 वाद्य, ३, ३१७, ३१८, ३२०, ३२३,
 ३३८, ३३६, ३६१, ३८५, ४७४
 वाद्यखण्ड, ५६३, ५७७
 वाद्यगुणता, ६८८
 वाद्यज्ञ, ३३६, ५७५
 वाद्यतन्त्री, ३१८
 वाद्यताल, ३८२,
 वाद्यपुट, ५२५
 वाद्यप्रधान, ३६०,
 वाद्यप्रबन्ध, ५६१, ५६३, ५७६, ५६१,
 ५६६, ६०८
 वाद्यभाण्ड, ३२३
 वाद्यवादक, ३२३
 वाद्यशास्त्र, ६२०
 वाद्यसंज्ञक, ६०५
 वाद्यसंवादक, ४४३,
 वाद्यसंश्रय, ३२३, ५६२, ५६३, ५६४
 वामकुण्डली, ५६५
 वामतन्त्री, ३३५
 वामदेव, ५२६, ५२६
 वामदेवता, ५२४
 वामदेवोद्भव, ५२६
 वामाङ्घ्रिसञ्च, ५४६
 वामुरन्ध्र, ४५५
 वार्तिक, ६, ८, ७०, १५०, १५७, ३६०,
 ३७२
 वामुकि, ३२६
 विकट, ५२४, ५३०, ५३१
 विकलादि, १६६
 विक्षिप्त, ७
 विक्षेप, ४, १८, ५२४, ५२६
 विमिका, ५६५, ५६५, ६१४, ६२०
 विचुष्ट, ६४५
 विचक्षण, ३१६, ४३५
 विचित्र, ३१४
 विच्छुरित, ५२८, ५४७
 विजय, १७२, १८६
 विजयानन्द, १६८, १८५
 विजातीय, ३५४
 वितण्डा, ६००
 वितन्त्रिका, ३१६
 वितस्ति, ३२३, ३२४, ३३०, ३८६,
 ३६१, ६२२, ६२६
 विताल, ५६२, ५८५, ५६०
 विज्ञास ६३०
 विदारिका, ८०, ३७०, ३७५
 विदारी, ४०, ४१, ८१, १६०, १६३,
 १६३, ३४५, ३६६, ३७०, ३७५
 विद्या, २, ५७७
 विद्युत् ५२७
 विद्युद्विनसित, ५४१

विद्युद्विलास, ५२७, ५४१.

विधि, १४३

विन्ध्यवासिनी, ६२२

विन्यास, ८०

विपञ्चिका, ३४३

विपञ्ची, ३१६, ३४२, ३४४, ३४५

विपर्यास, २८०

विप्रयोग, ५२१

विप्रहृति, ३२६

विरक्त, ६४४

विरति, १६४, ३६२

विराम, १६७, १७६, १६४, ३६१, ५६२

विरामवत् १६

विरामवान् १६६

विरामादि, १८६, १८७

विरामान्त, १७०, १७४, १७५, १८०,

१८२, १८५, १८६, १८७,

१८६, १८०, १८३, १८४,

१६७

विरिञ्च, १७४

विलम्ब, २८

विलम्बित, ३०, ३२, ४२१, ४२२, ४८२,
४६६, ५०४, ५१०, ६००

विलम्बितलय, ३४५

विलास, ५२७

विलीन, ३२१

विलोकित, १७२, १६३, १६४

विवरद्वय, ३२५

विवादी, ३७७

विवाह, ३२२

विविध, ४०, ४४, ४७, ६३, ८२, ८३

८५, ८७, ११४, १२०, १६५

विवृति, १३४, ३५२

विवृत, ४०

विशाखिल, ५२, ८१, ३६४, ३८४

विशाला, १४२, १४३, १४६, १४७,

१४८, १४९, १५०, १५२,

१५४, १५६, ६३६

विश्रान्त, ३२२, ३४६

विश्रान्ति, २७

विश्राम, ५२४, ५३०

विश्वमूर्ति, ४५४, ४६०, ४६४, ५४५

विषम, १७२, १८७, १८६, २४४, २६६,

२६८, ५२६, ५२७, ५३२, ५३६,

४४५, ६०६

विषमकर्तरी, ५२६, ५३६

विषमकोष्ठ, २४४, २८६

विषमखली, ५२४, ५३०, ५३१

विषमपाठ, ५२७

विषमपाणि, ५२६, ५३६

विषमस्खलित, ४३०, ५३०

विषमोदित, २६८

विष्णु, ५२४

विसर्जित, ७

विस्तार, ३१४, ३४७, ३४८, ३४९,

३५८, ३६४, ३७१, ३७४,

३७७, ३८१, ३८०

विस्तारज, ३४७, ३४६

विस्तारतत्त्व, ३१४

विस्तीर्ण, ३४८

विस्वर, ४७७

वीणा, ३१८, ३१९, ३२८, ३३८, ३४५,

३४७, ३८८, ४२६

वीणादण्ड, ३८७, ३६३, ३६८, ४००

वीणावादन, ४२६

वीणावाद्य, ३४६, ३८४

वीणावीथि, ३८५

वीणावीर्य, २६३

वीर, ३२२

वीरबिरुद, ५१५

वीरविक्रम, १७१, १८६

वृत्त, ८०, ८३, १२०, १६३, ३२५

वृत्तगुरु, ३०३

वृत्ति, ६२, १४०, ३१४, ३५६, ३६०

वृत्तिलय, ३८५, ४७४

वृत्तिलय, १

वृत्तिसम, ३५८

वृत्तिस्थान, ३२७

वृद्धल, २८३

वृषभ, ६३३

वैणी, १०८, ११२, ११४

वैणु, ३६२, ६३१

वैणुदण्ड, ३८६

वैणुप्रावीण्य, ३६२

वेलावली, ४६५

वैण, ३४१, ३६४

वैणव, ३८६, ४३०

वैणवी, ३२८, ५१२

वैणुशरीर, ४३६

वैणिक, ४२०

वैपञ्चिक, ३४५

वैदिक, १६३

वैदिकसाम, १६६

वैलोम्य, ६०६

वैहायस, ८१, ८२, ६०, ६२, ६४, ६५,

६६, ६७, ६८, ६९, १००

(वोल्गावर्गी, ५४६, ५५२, ५५३)

व्यक्ति, ४२६, ४७६, ४७६

व्यक्तिसंश्रित, २७२

व्यञ्जन, १६३, १७३, ३४७, ३५३,

३५६

व्यञ्जनधातु, ३७४, ३७६

व्यस्त, २००, ५६५, ५७१

व्यवहृति, ३५६

व्यापक, १७३

व्यापकाक्षर, ५८८, ५८६, ५९०

व्यापकाक्षरमिश्र ५८५

व्यापार, ३३१

व्योम, १७३

व्युत्क्रम, ५२१, ५३४

व्रण, ४२४, ६३३

श

शंकरवल्लभ, ५३६

शंकरानुचर, ५५७

शंभु, १७४, ३२१, ३२६

शकल, ३७३, ३८१

शक्ति, ३२०, ६३६

शङ्कु, ३२५, ३८६, ३६१, ३६४, ६२२

| | |
|------------------------------------|---------------------------------|
| शङ्खकुस्थान, ३२४ | शीर्षक, ३५, ३८, ४४, ४६, ४६, ५३, |
| शङ्ख, १२६, ३२०, ५१६, ५१७ | ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, |
| शङ्खमार्ग, १२६ | ६१, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, |
| शम्या, ४, ६, १६, २१, ३८, १०५, १२३, | ७२, ७३, ७४, ७६, ७७, ७८ |
| १३०, १३७, ३६६, ३७३, ३७४, | ११०, १२७, १२८, १३०, |
| ३८८ | १६०, १६२ |
| शम्याताल, १४७, ३६७ | शुकतुण्ड, ५३३ |
| शम्यातय, ३६७ | शुकवक्त्र, ३३१, ३३५, ३३८ |
| शम्याद्वय, ३६८ | शुक्ति, ३२०, ४१४, ५१४, ६४२ |
| शरभलील, १७२, १८२ | शुद्ध, ५५४, ५७४, ५७५ |
| शरीर, १२०, १२३, १२६, १२७, | शुद्धकूट, ५६४, ५६६, ५८२, ५८४ |
| १३०, १३१, १३७, १६०, | शुद्धमट्टा, ४६८ |
| १६२ | शुद्धवराटी, ४६४ |
| शर्व, ५२४ | शुद्धसंज्ञक, ५६६ |
| शाकदास, ३८६ | शुद्धसावग, ६०६ |
| शान्ति, २ | शुद्धादि, ५७८ |
| शान्त्यतीत, २ | शुद्धि, ५२४, ५३०, ५३१ |
| शाङ्गदेव, १७३, १६७ | शुद्धिपाद, ५२६ |
| शाङ्गविद्या, ४६६ | शुभाकृति, ६३५ |
| शिखर, ५१६, ५१७ | शुष्क, ३२१ |
| शिखा, ४२५, ४२६ | शुष्कवाच, ३६४ |
| शिविल, ४३१ | शृङ्ग, ३२०, ५१६ |
| शिरस्थल, ४३१ | शृङ्गज, ५१३ |
| शिव, ३१४, ६३६ | शृङ्गार, ४७६ |
| शिववक्त्र, ५२८ | शुभाति, ४७५ |
| शिववक्त्रोद्भव, ५२६ | शोभानुग, ५६५ |
| शिवस्तुति, ३४ | श्रमजय, ६१० |
| शिष्याभ्यास, ३४१ | श्रमहनी, ६०४ |
| शीतोदक, ५३४, ५६२ | श्रवणोत्सव, ५६६, |
| शीर्ष, ४४, ४६, ११० | श्रावकत्व, ४७६ |

| | |
|------------------------------------|-----------------------------------|
| श्रीकरण, ४०२, ४५५, ४७६, ५६२ | षट्ताल, १७२, १६३, १६४ |
| श्रीकीर्ति, १६८, १७२, १८०, १८६ | षट्पितापुत्रक, १३, २२ |
| श्रीनन्दन, १७२, १६३ | षट्प्लुत, २२५ |
| श्रीनिःशङ्क, ३८८ | षड्ज, ४०२, ४०७, ४१६, ४१७, ४२२, |
| श्रीपर्णी, ६४४ | ४३६, ४३७, ४३६, ४८५, ४८६, |
| श्रीमत्सोद्वल, ३३३ | ४६०, ४६२, ४६७, ५०१, ५०४, |
| श्रीयज्ञपुर, ५१६ | ५०६ |
| श्रीरङ्ग, १७१, १८६ | षड्जग्राम, ४८२ |
| श्रीराग, ५१० | षड्वस्तु, ५७, ६०, ६५, ६६, ६८, ७४, |
| श्रीश्रीकरणनाथ, ५४१ | ७५, ७७ |
| श्रुति, ३१८, ४३०, ४७४ | षण्मुख, ४३३, ४४६, ४५८, ४६२, ४७१ |
| श्रुतिजाति, ४२६ | षोडशाङ्ग, १६० |
| श्रुतिदेश, ३४२ | |
| श्रुतिनिधि, ४३५, ४६५ | स |
| श्रुतिवीणा, ३१८ | |
| श्रुत्यादि, ३१७, ३४१ | संकीर्ण, २५ |
| श्रेणीसंख्या, ३०५ | संकृति, १६६ |
| श्लक्ष्ण, ३२४, ३२५, ३२८, ३३४, ३८६, | संख्या, १६६, २०६, २८०, २८८ |
| ३६१, ४३०, ५१६, ६१५, ६३५, | संख्याङ्क, २१६, २२५, २४०, ३३१ |
| ६४०, ६४१ | संख्यानिघम, ४१ |
| श्लक्ष्णमृति, ३०५ | संखोटना, ३६४, ३७७, ३८८ |
| श्लक्ष्णसूत्र, ३२७, | संगत, १४२, १४६, १४७, १४८, १४९, |
| श्लघ, ५१८ | १५१, १५३, १५४ |
| श्लिष्ट, ३३१, ५८६ | संघातज, ३४७, ३५० |
| श्लेषण, ३६५ | संचारविखली, ५२४, ५२६ |
| श्लेषमत, ६३१, ६३२ | संदष्ट, ४७७ |
| | सदिग्ध, ३२७ |
| | सधि, १०८, ११० |
| | संघित, ३३१, ३३३ |
| षट्कल, ११, १५२, १६३, ३७३ | संनिपात, ४, ६, २२, ८६, १३२, १३७, |
| षट्कलमुखी, २५२ | १४०, १४७, १५४, ३६३ |

| | |
|---|--|
| संनिविष्ट, ३३०, ३३१ | सम, ३२, ११०, १७२, १८५, १८६ |
| संन्यास, ३७, ८० | समकर्तरी, ५२६, ५३६ |
| संपक्वेष्टाक, १३, २२, १४६, ३७६, ३८० | समकोष्ठ, २६५, ३६६ |
| संपक्वेष्टाकताल, ३८० | समग्रह, ३६७, ५२६, ५३७ |
| संषिष्ट, १०८, ११०, ११४, ११५, १६०, २७७, ३७६, ३८० | समनख, ५२८, ५४० |
| संषिष्टकल, ३८० | समपाणि, ३२, ५२६, ५२७, ५३६, ५३७, ५४२, ५५४ |
| संबन्ध, १६६ | समप्रहार, ५५०, ५५४ |
| संभ्रम, ३२२ | समवायज, ३४७, ३५०, ३५२, ५६१ |
| संभ्रात, ५२६, ५३२ | समविग्रह, ६२६ |
| संभावित, ३६० | समस्तलघु, २६७ |
| संमित, ४७१ | समस्खलित, ५२६, ५३१ |
| संमिश्रण, ३५२ | समस्खली, ५३०, ५३१ |
| संमृग्ध, ४२५ | समा, ३०, ३२, ३६, ३८६, ३८१, ५८६, ६३५, ६४० |
| संयोग, ५२१ | समाकृति, ४३१ |
| संयोगमर, १६६, २६५, २६६, २८० | समाविग्रह, ६४६ |
| संलेख, ३३१, ३३२ | समुदाय, ५६० |
| संवादी, ४१, ८१, ३४५, ३७६ | समल, १७३, ३२४, ४३० |
| संहरण, ८२, ८३, ६३, १०२, १०५ | सरस्वती, ३२६ |
| संहार, १३७ | सरस्वतीकण्ठाभरण, १७३, १६७ |
| सकल, ३४० | सरिका, ६४३ |
| सकलप्लुत, २६८ | सरिगमादयः, ४५१ |
| सकलाभिध, ३४० | सरी, ५२४, ५३० |
| सगण, १७६, १८३, १८५ | सर्पाकृति, ६४२ |
| सजातीय, ३५२ | सर्पिणी, ७ |
| सदसत्त्व, २५३ | सर्वगुरु, २६८ |
| सप्तकल, १५४ | सर्वदेवमयी, ३२६ |
| सप्तवस्तु, ५७ | सर्वदेवात्म, ६३६ |
| पलस्वरोदय, ४३७, ५६१ | सर्वद्रुत, २८० |
| यन्त्राङ्ग, १६६ | |

| | |
|---|---|
| सर्वद्रुतान्त, २४४, २४५ | सालगणौड, ५०८ |
| सर्वद्रुतावधि, २०० | सालगनट्टा, ५०२ |
| सर्वप्रस्तार, २८४ | सावधानता, ४७६ |
| सर्वमङ्गला, ३२६ | सावधानमना, ४३० |
| सर्वलान्त, २५३ | सिक्थ, १६६ |
| सविरति, १६३ | सिह, १७२, १६५ |
| सगन्ध, ७ | सिहन्न्दत, १७२, १८३ |
| सगुन्य, २७० | सिहनाद, १७२, १८२ |
| सस्वर, ५२१, ५६६ | सिहलील, १७१, १७६ |
| साम, १६६ | सिहविक्रम, १७१, १७६ |
| सामगान, १६६ | सिहविक्रीडित, १७१, १८२ |
| सामलक्षण, १६८ | सीवन, ५६५ |
| सामाङ्ग, १६३, १६५ | सुकुमाराक्षर, ५७७ |
| सामानि, ३४ | सुधांशु, ३२६ |
| सामुद्रग, ४० | सुनन्दा, १४२, १४६, १४७, १४८, १४९, १५४ |
| सामोक्त, १६६ | सुपक्व, ६१५ |
| सामोद्भव, १६६ | सुभर, ६४५ |
| सार, ३२४ | सुमुखी, १४६, १४७, १४८, १४९, १५७ |
| सारणा, ३३०, ३३१, ३३४, ३३५, ३४०, ४२८ | सुमुखीकण्डिका, १५४ |
| सारणाभ्यास, ४७६ | सुरागता, ४६७ |
| सारस, १७२, १६६ | सुरेख, ६०८, ६१० |
| सारिका, ३२६, ३८६, ३८६, ३९०, ३९१, ३९४, ३९५, ३९६, ४०० | सुवृत्त, ३२४, ३२८, ३८६ |
| सारी, ३६४, ३६५ | सुषारीर, ४३० |
| सार्यक, ३८३ | सुषिर, ३१४, ३१७, ३१८, ३२०, ३२३, ३२४, ३३३, ३८६, ४३०, ४३१, ४५६, ४६३ |
| सार्धत्रिमात्रा, २०६ | सुस्थान, ४७६ |
| सार्धत्रिवस्तु, १०२ | सुस्थानवत्, ४७६ |
| सार्धमात्र, २०६ | सूक्ष्म, ३४० |
| सालग, ४२३, ४६३, ५६३, ६०६ | |

| | |
|---|---|
| सूक्ष्मा, ३८६ | स्थित, ८३, ८५ |
| सूरिमत, १८४ | स्थितप्रवृत्त, ८७, ९७, १०१ |
| सेल्लुका, ३२०, ६२५ | स्थिरगङ्गु, ३९१ |
| सोमोज्ज्व, १७३ | स्थिरासन, ३३० |
| सोक्तुमार्य, ३७२ | स्थूलहस्त, ५२६, ५३५ |
| स्कन्द, १६६ | स्नानगर्व, ५६२ |
| स्कन्ददेवत, ५१९ | स्नायु, ६२०, ६३४ |
| स्कन्ध, ५४१, ५५५, ६२० | स्नायुमयी, ५२६, ५३५ |
| स्कन्धपट्टिका, ६१२ | स्निग्ध, ३७६, ६३६, ५१६, ६३६ |
| स्कन्धसञ्च, ५२२, ५४५, ५४९ | स्निग्धता, ४७६ |
| स्कन्धावज, ६१२ | स्फुटप्रहार, ६४५ |
| स्खलित, ३३१, ३३५, ३३८, ३३९, ४७७, ५३१ | स्फुरण, ५३० |
| स्तुतिपद, १६० | स्फुरणक, ५२४, ५२६ |
| स्तोक, ३७४, ४७७ | स्फुरित, ३३१, ३३४, ३३८, ३३९, ४७७, ४९३, ४९७, ५०६ |
| स्तोकवक्त्र, ६१५ | स्फुरी, ५२४, ५३० |
| स्तोभ, १६३, १६६ | स्फूर्ति, ५९६ |
| स्तोभभङ्गी, १६६ | स्रोतोगत, ३०, ३४७, ३६०, ५८९ |
| स्तोभाधर, १६३, १६५ | स्वरघात, ३५१ |
| स्थापन, ५६५, ६००, ६०१ | स्वरदेश, ३१९ |
| स्थापिता, ४९३ | स्वरधसाधन, ६०० |
| स्थायिन्यास, ५०६ | स्वरपञ्चक, ४८२ |
| स्थायिपूर्व, ४१४ | स्वरभङ्ग, ४६४, ४५४ |
| स्थायिस्वर, ४८७ | स्वरभेद, ३४२ |
| स्थायी, ३९१, ४०२, ४०४, ४०७, ४१०, ४११, ४१३, ४१४, ४१५, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२२, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९२, ४९३, ४९७, ४९८, ५००, ५०१, ५०२, ५०६, ५१० | स्वररन्ध्र, ३४१, ३५१ |
| | स्वरविभाग, ४३२ |
| | स्वरविवेचन, ४३२ |
| | स्वरवीणा, ३१९ |
| | स्वरव्यक्ति, ३९१, ४५१ |
| | स्वरव्यञ्जक, ३४५ |

| | |
|--|---|
| स्वरसंभूति, ४२५ | हस्तघात, ६२२ |
| स्वरसंवादी, ४३९ | हस्तचतुष्टय, ५१५ |
| स्वरसिद्धि, ४५७, ५१२ | हस्तत्रय, ५१५ |
| स्वरस्थान, ३२८, ३३१, ३३५, ४२६ | हस्तद्वय, ६२७ |
| स्वरहेतु, ४७४ | हस्तद्वय, ५१३, ५१५, ६०० |
| स्वरलपमङ्गल, ३२२ | हस्तमात्र, ७२७, ६४३ |
| स्वस्तिक, ५२६, ५३७ | हस्तलाघव, ५८९ |
| स्वास्तिकपाठ, ५२९ | हस्तवैषम्य, ५४५ |
| स्वाती, ३२२ | हस्तागन्ध, ५१३ |
| स्वेवहीन, ६४७ | हस्तास्वस्तिक, ५५३ |
| ह | हस्तान्तर, ५३६ |
| हंस, १७२, १९४ | हस्तोज्ज्व, ३९६, ५२३ |
| हंसनाद, १७२, १८३ | हाहूवर्ण, ५ |
| हंसलील, १७१, १८० | हिकार, १६६ |
| हकार, १६३ | हिमसंकाश, ६३४ |
| हनन, ३३३ | हुडुकक, ३२०, ३२३, ३२७, ५५०, ५५१, ६१२, ६१६, ६१८, ६२२ |
| हर, ३१४ | हुदयस्फूर्ति, ३२२ |
| हरप्रिय, ३३८, ४६८ | होमादि, ५१८ |
| हस्त, ५५७, ६०० | होडुकक, ५४२, ५६१ |
| हस्ताष्ट, ४३२, ५३२, ५२४, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३६, ५४०, ५४२, ५४५, ५६०, ६२२ | होडुनिकक, ५४९ |
| हस्तकोण, ६४७ | ह्रस्व, १७२ |
| | ह्लाद, ३४७, ३५३ |

उदाहृतप्रमाणवाक्यानामनुक्रमः

| | | | |
|--------------------------|-----|------------------------------|-----|
| अकर्तरि च कारके | ४ | कलिका द्वे चतस्रो वा | ४७ |
| अक्रियत्वात् क्रियाभावः | १७८ | कालस्तस्य प्रमाणं हि | ४८ |
| अङ्गुष्ठपर्वद्वयं यत् | ४५१ | किनर्यामात्मवीणायां | ४२६ |
| अतो विरामसहितः | १७८ | कुटिलाक्षितिका व्यथा | १० |
| अत्रोच्यते कल्लिनाथः | १७६ | कृत्वा श्रुत्वा वाद्यकाले | ३८५ |
| अथबोपोह्यते यस्मात् | ३६ | क्रियाविश्रान्तिरूपस्य | १६८ |
| अघस्तनैर्निषादादौः | ४०६ | गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च | १६७ |
| अन्तर्वहिश्च दृश्यन्ते | ४१६ | गीतिषु समारख्या | १६७ |
| अन्योपात्त्यनुपपद्यते | २४१ | गुरुवः पञ्च वक्त्राणि | १६६ |
| अन्योन्यान्तरैर्यत्र | ४१७ | गुरुलाघवसंयुक्तं | ३६ |
| अपिः पदार्थसंभावना | ४५६ | चच्चतुष्टुश्रावणपुटः | १० |
| अलपयः स एव स्यात् | ४३५ | चटुला चेति संप्रोक्ता | ॥ |
| अस्मदो द्वयोश्च | २६ | चतुर्ला गश्चतुर्लागः | १८६ |
| अस्य व्यावर्तितस्थाने | ॥ | चन्द्ररेखाकृतिर्भाति | ४८० |
| अस्यापि मिश्रभावाच्च | २६ | तत्स्वीकारे त्वतिव्याप्या | १८८ |
| आम्नीडिता विलम्बा च | १० | तत्सुष्टुवा तदेवानु प्रविशत् | ३१६ |
| आख्यतवदेकस्मिन् | २०२ | तयोश्चच्चतुष्टो युगम् | ६ |
| आनन्दो विषयानुभवः | ३१६ | तस्मादुपोहनं ज्ञेयम् | ३६ |
| आलापो गमकालितिः | ४८० | तस्मादुपोहनं होतुः | ॥ |
| इत् स्मरणे | ३१५ | तालज्ञाप्रयासेन | ४४० |
| उपोह्यते स्वरो यस्मात् | ३६ | तालो धन इति प्रोक्तः | २७ |
| एकतोऽङ्गुलिबंधाते | ४४० | तालो हि मिश्रभेदोऽयः | २६ |
| एतद्धो ध्यमुन्नयतरस्याम् | ३० | तेन मानेन वंशेषु | ४५२ |
| कलापातलवान्वितः | २७ | तो द्वावव्यप्रकारार्थः | १० |

उदाहृतप्रमाणवाक्यानामनुक्रमः

७५१

| | | | |
|---------------------------|-----|---------------------------|-----|
| विष्टुप् च जगती चैव | १६८ | यवेनाभ्यधिकं मानम् | ४६४ |
| व्यथोऽथ चतुरश्रश्च | ६ | यस्याङ्गुल्यः करतले | ४३५ |
| दण्डे सप्तदश स्यात् | ४६४ | रुद्रवीणादि यवास्य | ४२६ |
| दध धारणे | ३६२ | रुद्रवीणादिवीणानां | ३८५ |
| द्विव्योश्च धमुञ् | ३० | लक्ष्यानुसारतः पौनः | १७६ |
| धृतिश्चातिधृतिश्चैव | १६७ | लघुलः स्यात् | १२ |
| नत्कुटो नत्कुटी चैव | १० | वर्तमानसामीप्ये | २७ |
| निमेषकालो मात्रा स्यात् | ६ | वस्तु प्रमाणं कर्तव्यं | १०४ |
| निमेषाः पञ्च विज्ञेयाः | ६ | विकृतिः संस्कृतिश्चैव | १६७ |
| निरन्तरे त्वस्मिन् लघुरेव | २२२ | वितस्तिः परिधिर्भवेत् | ३२८ |
| निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च | २२ | विरूपत्वाद् विरागो न | १७८ |
| न्यायागतधनस्तत्त्वं | ३ | विशेषसाम्यादप्रस्तुतस्य | २ |
| पञ्चाङ्गकयोगादन्योऽङ्गः | २४१ | वीणावादनतरङ्गः | ४३० |
| पदरुजविशस्पृशो धञ् | ४ | व्यावर्तिताख्यकरणम् | ४३५ |
| पताको निम्नमध्यो यः | ४४० | शक्वरी सातिपूर्वा च | १६७ |
| पलगागलपार्श्ववः | १४ | शान्त्यतीतेति विज्ञेया | २ |
| पारे मध्ये षष्ठ्या वा | ५४६ | शेषाभ्यनुज्ञा विशेषत्वात् | ३७ |
| पुंसि संज्ञायां वः | ३२ | श्राद्धकृत्य सत्यवादी च | ३ |
| पूर्वरङ्गे सदा ज्ञेयम् | ३६ | षट्पितापुत्रककृतः | २६ |
| प्रकरी वस्तु षण्मात्रं | १०४ | षट्पितापुत्रकश्चैव | २६ |
| प्रगुणोक्त्य लघुं | ११ | षड्दुता नवलाश्चेति | १७६ |
| प्रत्येकमङ्गुलद्वन्द्वं | ४६४ | षडन्यास्तदधोऽयः | ४०६ |
| प्रस्तारादिकमेतद् | १७८ | सेव प्रयोगशब्देन | ४८० |
| प्लुता यत्र त्वयोऽजीणि | १६१ | सो ब्रह्मन्धोऽयो | ४२६ |
| मध्यमध्यमयारभ्य | ४०६ | हृत्तोऽनन्तराः संयोगाः | ४२६ |
| मध्यस्थानस्थषड्जेन | ॥ | हेला च त्रिगता चैव | १० |

शोधनम्

पु. पं.

१०- ६

१०- ७

२५-१६

८३- १

६६- ३

१४७- ४

" "

१६८-१५

२५५- ८

३२४-१२

३२७-११

३३१- ३

३३१- ६

३३२-१८

३४७-१७

३४८- १

" १०

३४६- ४

३५१-१४

३६६- २

३६१-१०

४०८-१७

४१४-१७

४२३- ३

४२८- ८

४४१-१६

पु. पं.

४४४- ३

४६०- २

४६३- १

४६७-१४

४७१- ४

" १४

४७१-१३

५०८-११

५१८-२०

५२४- ६

५२४-१६

५२४-२२

५२६-१६

५२८- ३

५३०- ३

" १५

५४४- २

५६४-१०

५६१-११

६०३- ४

६१०-१४

६२२- ७

६२४- ८

६४४- ४

शीघ्रमन्थर°

॥ ४६०-४६४- ॥

पृथक् प्रदेशौ

यवाघ्न

आदि कामोदिका

एकोनविंशतिः

पृथगष्टमु

॥ ६६१ ॥

॥ ८६८ ॥

वामस्य वल्लस्यान्तः

वल्लिकोलाहलः

वल्लीभेदाः

स्वस्तिकपाटस्य

ईश्वरपञ्चवक्त्रोद्भवाः

विद्युद्विलासः

विषमखली

वलितः

दांखुखुदांखुखुगंधो

दर्शं वै गि यो टे

स्तिवत्वारिणत्

होडुकवाद्यानि

तालन

मधुरोद्धत

मुखे

मण्डलीं

अरुचनीदयं